3.5

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ



साहित्य : सामान्य

साहित्य के वाद

हिन्दी साहित्य का इतिहास और प्रवृत्तियाँ

पृष्ठ

भाषा और लिपि

कला

विज्ञान

राजनीति और इतिहास

महान् व्यक्तित्व

अर्थशास्त्र

पृष्ठ

दर्शन और मनोविज्ञान

शिक्षा और संस्कृति

पृष्ठ

सामाजिक

मिश्रित

———०———

साहित्य का प्रयोजन

आदिम काल से साहित्य की रचना होती रही है और आज भी ऐसा कोई लक्षण वर्त्तमान नहीं, जो यह सूचित करता हो कि साहित्य की रचना भविष्य में नहीं होगी। वैसे यह ठीक है कि किसी काल में साहित्य समृद्धि-शाली रहा है और किसी काल में इसका ह्रास हो गया है। लेकिन बहरहाल यह साफ है कि साहित्य-रचना युगों से होती आयी है और यही बात सिद्ध करती है कि साहित्य का प्रयोजन बराबर रहा है; क्योंकि किसी प्रकार की भी मानव-क्रिया निष्प्रयोजन नहीं होती और वह भी युग-युग से चली आनेवाली प्रक्रिया।

इससे पहले कि साहित्य के प्रयोजन के बारे में कुछ कहा जाय, यह जानना जरूरी होता है कि साहित्य किस प्रकार की क्रिया है, इसकी रचना क्योंकर संभव होती है और इसका प्रभाव-क्षेत्र कौन-सा है।

साहित्य मानव-जीवन के भाव और अनुभूति से तैयार होता है। यहाँ साहित्य से मतलब उस विशेष प्रकार के साहित्य से है जिसका सम्बन्ध हमारे भाव-जगत् से रहता है। वैसे साहित्य की एक व्यापक परिभाषा भी है, वह है मानव-जीवन की तमाम उपलब्धियों का लिखित भंडार। लेकिन विशेष रूप में साहित्य उसे कहते हैं, जो भावों, अनुभूतियों को एक साँचे में ढालकर पाठकों या श्रोताओं को प्रभावित करता है, लीन करता है और उसके सम्मुख कलात्मक भ्रम की सृष्टि करता है। यह भ्रम कलात्मक ही होता है; क्योंकि इस भ्रम का रसानुभव करने के बाद पाठक जीवन की सुन्दरता की ओर ही बढ़ता है।

इस परिभाषा के विस्तार में जाने पर यह ज्ञात होगा कि साहित्य में सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों, दृश्यों और मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में, साहित्य-रचना ऐसी मानव-क्रिया है; जो सामाजिक जगत् से सामग्री ग्रहण कर उसे एक विधान में इस तरह गुम्फित करती है

कि व्यक्ति उसे पढ़कर या देखकर मुग्ध हो जाय, उसमें तल्लीन हो जाय अर्थात् रसमग्न हो जाय। जो कृति इतना काम नहीं कर सकती, उसे साहित्यिक कृति नहीं कहेंगे; नहीं तो, फिर ज्ञान-संबंधी कृतियों और साहित्यिक कृतियों में भेद नहीं रह जायगा। समाजशास्त्र की एक किताब ज्ञान का वाहन बन सकती है, भाव का नहीं, जब कि एक कवि की रचना भाव का वाहन होती है, ज्ञान का नहीं। यह दूसरी बात है कि भाव के ग्रहण के बाद पाठक को कवि के जीवन-संबंधी निष्कर्षों का बोध हो, कवि का संदेश उसे प्राप्त हो या जीवन को परखने का एक दृष्टिकोण उसे मिले। लेकिन ये सब व्यक्त भावों के बोध के बाद ही प्राप्त होते हैं। इन उपलब्धियों के सहारे पाठक का ज्ञान विकसित हो, यह भी संभव हो सकता है। लेकिन हर हालत में आरम्भ भाव-ग्रहण से ही होगा।

साहित्य की यही विशेषता उसका एक बुनियादी स्वरूप है। इससे दो बात साफ हो गयीं: साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र भाव-जगत् है और यह सामाजिक जगत् की एक वस्तु है।

यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्यों साहित्यकार पाठक या दर्शक को रसमग्न करने के लिए रचना करता है? यह प्रश्न हमें साहित्य के प्रयोजन पर ले आता है।

साहित्य विभिन्न सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का ही एक पहलू है। और, इन क्रिया-कलापों का सर्वदा उद्देश्य रहता है मानव को उच्च से उच्चतर बनाना, उसे परिष्कृत करना। साहित्य का भी यह कर्म होता है; लेकिन 'मानव को परिष्कृत करना' यह एक अस्पष्ट वाक्यांश है। परिष्कार के मानदंड बहुत तरह के हो सकते हैं। इसलिए यहाँ इस मानदंड को स्पष्ट करना होगा, खास तौर से साहित्य-कर्म को ध्यान में रखकर।

साहित्य का स्रष्टा संवेदनशील व्यक्ति होता है, या अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसमें भावों और अनुभूतियों को पकड़ने की शक्ति ज्यादा होती है। सिर्फ अनुभूति की पकड़ काफी नहीं खुद वह अनुभूति और भाव-धारा से

उत्तेजित होता है, झंकृत होता है। तभी उस साहित्यकार की वाणी फटती है। सामाजिक अनुभूति तो उसकी सामग्री रहती है; लेकिन जब तक वह आत्मानुभूति नहीं बन जाती, तब तक वास्तविक साहित्य-रचना नहीं होती है। मान लीजिए कि एक महान सामाजिक घटना घटित हुई। मिसाल के तौर पर पंजाब-हत्याकाण्ड को लीजिए। बर्बरता की यह नग्न घटना संवेदनशील साहित्यकार को बहुत प्रभावित करती है और उसके मानव-सम्बन्धी मूल्यों पर गहरा धक्का लगता है। अगर वह सचेत साहित्यकार है, तो इस धक्के को वह चुनौती मानेगा और फिर उस घटना के प्रभाव से जो अनुभव होगा, उसे वह अपनी रचना में व्यक्त करेगा। ऐसा करने के लिए तब तक वह प्रवृत्त नहीं होगा, जब तक कि उसके अन्दर यह प्रेरणा पैदा नहीं होगी कि मानव को ऐसे पतन से अवगत किया जाय, इससे उसे बचाया जाय। दूसरे शब्दों में, सामाजिक अनुभूति जब आत्मानुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त होती है, तब सामाजिक मंगल की भावना भी उसमें जुड़ जाती है। कम-से-कम सच्चे साहित्य के बारे में तो यही बात मानी जाती है। रामानन्द सागर का उपन्यास "और इन्सान मर गया" इस बात का अच्छा प्रमाण है : पंजाब-हत्याकाण्ड में मानवीय मूल्यों का जो पतन हुआ, उससे लेखक की आस्था डोल गयी और वह यह कहने को मजबूर हुआ कि "इन्सान मर गया"। लेकिन अगर यह किताब इतना ही प्रभाव छोड़ती, तो शायद हम उसे निष्प्राण यथार्थवादी कृति ही कहकर छोड़ देते। इस उपन्यास को तह में जाने पर यह स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है कि "यद्यपि लगता है कि इन्सान मर गया, तौभी ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अब भी आशा की किरणें वर्त्तमान हैं।" इस स्वर में मंगल की ध्वनि स्पष्ट है। इसीलिए हमने कहा कि आत्मानुभूत सामग्री के आधार पर रची रचना में सकारात्मक स्वर का समावेश अनिवार्य रहता है, अनुभूति का यही तकाज़ा होता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि ऐसे लेखक और कवि हो गये हैं, जिन्होंने साहित्य को सिर्फ मनोरंजन और आनन्द के साधन के रूप में पेश किया है। मनोरंजन को हम भी साहित्य का अनिवार्य प्रयोजन मानते

हैं; लेकिन हमारे मुताबिक दूसरे प्रयोजन की इतिश्री इसीसे नहीं हो जाती है, बल्कि असली प्रयोजन तो इसके बाद ही सिद्ध होता है।

पहले कहा जा चुका है कि पाठक या दर्शक को तल्लीन करना, रसमग्न करना साहित्य का पहला कर्म है। इसे साहित्य का पहला प्रयोजन भी कह लीजिये। लेकिन हम इसे प्रयोजन न भी कहें, तो काम चल जायगा; क्योंकि रस की उत्पत्ति तो साहित्य का बुनियादी कर्म है। इसी कर्म के कारण तो साहित्य साहित्य कहलाता है। इसलिए इसे हम तो साहित्य की एक बुनियादी बात मानते हैं।

रसमग्न करने की शक्ति ही तो पाठक या दर्शक को साहित्य की ओर प्रवृत्त करती है। रस और आनन्द की माँग हमारी सांस्कृतिक जरूरतों में से एक है। इस जरूरत की पूर्ति किये बिना मानव-जीवन फीका हो जाता है।

लेकिन रस के लिए 'रस' की उत्पत्ति साहित्य नहीं करता और न मानव की जरूरत मात्र रस-ग्रहण से ही पूरी हो जाती है। जिन साहित्यकारों ने साहित्य को सिर्फ मनोरंजन का माध्यम बनाया, वे नाकामयाब रहे हैं, उनका साहित्य अवकाश-प्राप्त वर्ग के चन्द लोगों तक सीमित होकर रह गया या फिर उनका साहित्य इतना दुरूह हो गया कि रसोद्रेक की शक्ति भी उसकी खत्म हो गयी और क्रमशः इस प्रकार का साहित्य वास्तविक जीवन की अनभूतियों से विच्छिन्न हो गया। जब-जब और जिन-जिन कलाकारों ने साहित्य को भावों के विलास और ऐयाशी का माध्यम बनाया, तब-तब उनका हश्र ऐसा हुआ है; क्योंकि मनोरंजन कोई निर्विशेष वस्तु नहीं। यह एक सापेक्ष प्रवृत्ति है। व्यक्ति सर्वदा जीवन से पलायन के लिये मनोरंजन नहीं चाहता, या यों कहिए कि बिना व्यापक सामाजिक अनुभूति से उसका लगाव स्थापित किये मनोरंजन होता ही नहीं, कोरे काल्पनिक जगत् के तथ्यों से कुछ क्षणों के लिए वह बहलाया जा सकता है, जिस तरह नानी की कहानियाँ बच्चों को बहलाती हैं। लेकिन पाठक को अनुभूति से झंकृत नहीं किया जा सकता और बिना इसके रस का उद्रेक नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि जिस रचना से वास्तविक मनोरंजन हो, उसमें वह तत्व भी जुड़ा रहता

है, जो पाठक या दर्शक को व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि पर ला खड़ा करता है और जो सामाजिक मंगल का स्वर भी बलन्द करता है। साहित्य का यही असली प्रयोजन है।

वस्तुतः साहित्य की विशेष महत्ता इसी प्रयोजन के कारण है। आदमी को बदलने, समाज को बदलने के लिए जो अनेक तरह की प्रक्रियायें हैं, उनमें साहित्य भी एक है और काफी महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाकर नयी सामाजिक व्यवस्था कायम करने के बाद ही अनिवार्य रूप से नया आदमी पैदा होगा, यह सिद्धान्त गलत साबित हो चुका है। आज सब विचारक यह मानते हैं कि जहाँ सामाजिक व्यवस्था को बदलने की कोशिश की जाय, वहाँ साथ ही आदमी को भी बदलने के लिए सांस्कृतिक आन्दोलन चलाये जायँ। और, साहित्य सांस्कृतिक आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है। तात्पर्य यह कि साहित्य आदमी को बदल कर, उसे अच्छा-से-अच्छा बनाकर अपना कार्य पूरा करता है। इसी अर्थ में वह सामाजिक मंगल का विधायक है। यह क्योंकर संभव होता है?

ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र मानव का भाव-जगत् है। रसोद्रेक के बाद इस क्षेत्र में विस्तार होता है। साहित्य मानव को सुख-दुःख के विभिन्न प्रसंगों में रमाकर, उसकी मार्मिकता में विभोर कर उसे संकीर्णता, क्षुद्र स्वार्थपरता से ऊपर उठाता है, सामान्य अनुभूति से परिचित कराता और इस तरह सामान्य मनुष्यता का भाव मानव के अन्दर भर देता है। इसी को हमने भावों का परिष्कार कहा है। देश, राष्ट्र की सीमा को पारकर विशाल मानवीयता के लिए प्रेम जगत् से हमारा भावात्मक परिष्कार होता है।

भावात्मक परिष्कार के अतिरिक्त सामाजिक मंगल की साधना साहित्य और भी कई तरह से करता है।

हरेक युग की अपनी-अपनी माँगें रहती हैं। ये माँगें सामाजिक प्रगति से सम्बन्धित रहती हैं और सामाजिक प्रगति का मतलब होता है ह्रासकालीन जीवन-मूल्यों का अन्त कर ऐसे नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करना, जो जीवन को

अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाये। इन नये मूल्यों के अलावा कुछ मूल्य ऐसे होते हैं, जिनकी स्थापना के लिए सदियों से चेष्टा की जा रही है; मगर सफलता नहीं मिली है। इन जीवन-मूल्यों की स्थापना की साहित्य पर बड़ी भारी जिम्मेदारी है। आज मानव-संस्कृति संकट में पड़ गयी है। वर्गभेद, जातिभेद, नस्लभेद, व्यक्तिगत पराधीनता, असमानता, स्वार्थपरता की अग्नि के कारण संस्कृति के सामने विकट प्रश्न उपस्थित है। अब इन भेदों का अन्त कर नवीन विश्व-भ्रातृत्व, समता और व्यक्ति की पूर्ण मुक्ति का स्वर बुलन्द करना है। ये ऐसे मूल्य हैं, जिनके लिए साहित्य जो कुछ भी करता है, वह थोड़ा है। इन मूल्यों के प्रति व्यक्ति में अटूट मोह पैदा करना, उसको अपने जीवन-दर्शन का अंग बनाने के लिए प्रवृत्त करना, व्यक्ति को इन मूल्यों का हिमायती बनाना साहित्य का कार्य है। यह सामाजिक मंगल का ही एक पहलू है। पहले कहा गया है कि आदमी को अधिक-से-अधिक अच्छा बनाने का जरिया साहित्य है। इस अच्छा बनाने की प्रक्रिया से ही साहित्य का उक्त कर्म जुड़ा हुआ है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि क्या सब प्रकार की रचना द्वारा मंगल-साधना होती है या हो सकती है? शंका बहुत उचित है। पुराने भंडार में ऐसा साहित्य है, जिससे सामाजिक मंगल नहीं होता। इसलिए वह सत्साहित्य में नहीं रखा जा सका। उदाहरण के लिए बिहारीलाल की कवितायें। आधुनिक युग में ऐसी काव्य-रचनायें मिलती हैं, जिनमें कवि की बिलकुल निजी अनुभूति (प्राइवेट फीलिंग) व्यक्त रहती है और चूँकि वह बहुत निजी होती है, उसका रूप-विधान, उसको मूर्त्त करने के तरीके भी बहुत दुरुह होते हैं, रूप-चित्रण के लिए ऐसे उपमा चुने जाते हैं, जिनका व्यंजित अर्थ पाठक की समझ में ही नहीं आता। एकांतिकता को इस हद पर पहुँचाने से साहित्य निष्प्रयोजन हो जाता है और फिर वह चन्द लोगों की ही वस्तु हो जाता है, सामाजिक मंगल उससे सिद्ध नहीं होता। जाहिर है, ऐसे साहित्य को सत्साहित्य नहीं कह सकते, गर्चे आज दुनिया की तमाम भाषाओं में इस तरह के साहित्यकार मिलते हैं, खास तौर से कविगण। इस तरह की रचना साहित्य

के प्रयोजन की महत्ता ही खत्म कर देती है। लेकिन साहित्य को प्रयोजन से युक्त वस्तु मान लेने पर निष्प्रयोजन साहित्य के लिए जगह ही नहीं रह जाती है। इसलिए इस प्रयोजन--सामाजिक मंगल--का स्पष्ट बोध साहित्य की परख के लिए आवश्यक है।

साहित्य के प्रयोजन-सम्बन्धी मत

जिस दिन आदि-कवि के मुख से कविता की पहली पंक्ति निःसृत हुई, संभवतः उसी समय से लोगों के हृदय में इसके प्रयोजन को जानने की जिज्ञासा हुई। और, तभी से साहित्य के प्रयोजन की छानबीन होती रही है। प्रत्येक युग के साहित्यकों, आलोचकों और विद्वानों ने इस गूढ़ विषय पर चिंतन के पश्चात् अपना-अपना मत प्रकट किया है। ज्ञान-विज्ञान के अन्य अंगों के प्रयोजन की भाँति साहित्य का प्रयोजन भी विवादास्पद है। अब तक साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में देश-विदेश के विद्वानों के जितने भी मत हैं, उनको हम मोटे रूप में दो भागों में बाँट सकते हैं: (१) कला कला के लिये, (२) कला जीवन के लिये।

कलावादियों का मत है कि साहित्य की एक अपनी स्वतन्त्र दुनिया है, इसके अपने नियम, उपनियम हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि साहित्य की निरपेक्ष सत्ता है। ब्रेडले ने अपने एक प्रसिद्ध लेख "Poetry for potery's sake" में लिखा है—

"For its (poetry's) nature is to be not a part, nor yet a copy, of the real world (as we commonly understand that phrase), but to be a world by itself, independent, complete, autonomous and to possess it fully you must enter that world, conform to its laws, and ignore for the time the beliefs, aims, and particular conditions which belong to you in the other world of reality."

(Oxford lectures on poetry)

"क्योंकि इसकी प्रकृति वास्तविक दुनिया का न तो एक अंग होना ही है और न उसकी नकल ही, प्रत्युत अपने-आपमें एक दूसरी दुनिया, स्वतंत्र, पूर्ण

स्वायत्त। और, कविता के रसास्वादन के लिये आपको उसकी दुनिया में जाना होगा, उसके नियमों का पालन करना होगा तथा कुछ काल के लिये वास्तविक दुनिया की धारणा, विश्वास या उसकी किसी खास शर्त्त को भूल जाना होगा।"

स्पष्ट है कि ब्रेडले साहित्य में धर्म, नीति या उपदेश को कोई महत्त्व नहीं देते। उनके अनुसार कविता स्वयं अपना साध्य है, कविता में सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक तत्त्व हो सकते हैं; पर उनसे काव्य का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है, उससे काव्य के उत्कर्ष या उसके सौंदर्य में कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि साहित्य और मानव-कल्याण में कोई विरोध है, वस्तुतः साहित्य भी एक तरह का मानव-कल्याण ही है। सिर्फ इसका मार्ग भिन्न है। साहित्य से हमारा सौंदर्य-बोध बढ़ता है, हमारी कलात्मक दृष्टि का विकास होता है और यह सौंदर्य-बोध, यह कलात्मक दृष्टिकोण स्वयं प्रगति का एक उपादान है।

क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' में बहुत कुछ उसी तरह के मत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अभिव्यक्ति को मूर्द्धन्य स्थान पर आसीन कर दिया है। उनके अनुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं और जब तक दोनों का सफल सामंजस्य नहीं होता, तब तक कविता हो ही नहीं सकती। मात्र अनुभूति को तो वे कविता मानते ही नहीं। ज्यों ही अनुभूति अभिव्यक्ति से विच्छिन्न होती है, त्यों ही कविता का स्वरूप नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये हम महादेवी वर्मा की दो पंक्तियों को लें:—

तुम विद्युत् बन आओ पाहुन!
मेरी पलकों में पग धर-धर!

अगर हम इसीको कहें कि हे 'पाहुन, तुम बिजली के रूप में मेरी पलकों पर पैर रखकर आओ' तो क्रोचे के अनुसार यह कविता नहीं होगी; क्योंकि समुचित अभिव्यक्ति के विना कविता का सारा सौंदर्य बिखर जाता है।

क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न ने 'नवीन आलोचना' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

We have done with all moral judgment of art........

some said that poetry was meant to instruct, some merely to please; some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete.

अर्थात्, हमलोगों ने कला का नैतिक विचार त्याग दिया है। कोई कहता है कि कविता का काम शिक्षा देना है और कोई कहता है, आनन्द देना; कोई दोनों। वस्तुत: कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

दूसरे वर्ग के विचारक कला को जीवन के लिये मानते हैं। उनके अनुसार कला का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह जीवन के उन्नयन का, उसकी प्रगति का एक साधन है। अत: जिस साहित्य से जीवन की प्रगति न हो, जीवन का कल्याण न हो, वह साहित्य साहित्य नहीं है। महाकवि तुलसीदास ने साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहा है—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

अर्थात् कीर्ति, कविता और वैभव वही उत्तम है, जिससे गंगा की तरह सबकी भलाई हो।

प्रसिद्ध उपन्यासकार टाल्स्टाय का मत है:—

"In every age and in every human society, there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art."

अर्थात्, प्रत्येक युग और प्रत्येक मानव-समाज में अच्छे और बुरे का एक धार्मिक मानदंड रहता है। यही धार्मिक दृष्टिकोण कलागत भावना का मूल्यांकन करता है।

प्रसिद्ध प्राचीन रूसी साहित्यकार तथा समीक्षक चेरनिश्वेस्की कला के उद्देश्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि कला का उद्देश्य उन सभी वस्तुओं तथा व्यापारों की अभिव्यक्ति है, जिनमें लोग रुचि रखते हों और जिनका सम्बन्ध मानव-मात्र के हित से हो।

मैथ्यू आनल्ड का विचार है कि जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है, वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है।

अतः दूसरे वर्ग के विचारक धर्म, नीति और उपदेश को कला का आवश्यक अंग मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य का प्रयोजन मानव को पलायनवादी या निष्क्रिय बनाना नहीं, प्रत्युत उसे जीवन-संग्राम में रत होने के लिये प्रोत्साहित करना है। इस वर्ग के साहित्यकारों ने मानव को कल्याण-पथ का-पथिक बनाया है और इसीमें उनके साहित्योद्देश्य की सिद्धि भी है। कला वादियों से इनका विरोध यही है कि ये उनकी तरह मानव-कल्याण को अगौण नहीं, वरन् साहित्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं।

साहित्यिकों और आलोचकों का एक तीसरा वर्ग भी है, जो उपर्युक्त मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों मत न तो सर्वथा ग्राह्य हैं और न अग्राह्य। दोनों में अपने-अपने गुण और दोष हैं। अतः यह तीसरा वर्ग दोनों के गुणों को ग्रहण करता है और दोषों का परिमार्जन। इस वर्ग में प्रसिद्ध आधुनिक कवि और आलोचक टी० एस० इलियट और संस्कृत के आचार्य मम्मट का नाम लिया जा सकता है। एलियट पहले तो कहते हैं कि कविता में नीति, धर्म और शिक्षा का कोई स्थान नहीं है; पर फिर पीछे कहते हैं:—

"Poetry as certainly has something to do with morals, and with religion and even with politics perhaps though we cannot say what."

अर्थात्, कविता का नीति, धर्म और राजनीति से कुछ सम्बन्ध है; पर वह व्याख्येय नहीं।

मम्मट ने भी साहित्य का प्रयोजन बतलाते हुए अन्त में 'कांता संमति' उपदेश का उल्लेख किया है। अर्थात्, कांता का उपदेश जितना मधुर और प्रभावशाली होता है, कविता का उपदेश भी उतना ही मधुर और प्रभावशाली होना चाहिये, इसीमें उसके उपदेश की सिद्धि है।

——:o:——

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का सम्बन्ध ढूँढ़ने की जैसी प्रबल चिंता समालोचकों में पायी जाती है, वैसी साहित्य-सर्जक कलाकारों में नहीं। साहित्यकारों की ऐसी जो भी प्रवृत्ति है, वह उनकी अन्तश्चेतना का अंग बनकर रहती है और उनके द्वारा रचित साहित्य में प्रकट होती है और तभी आलोचकों को विभिन्न साहित्यकारों की कृतियों में समाज की झलक भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलती है। हिन्दी में इस प्रकार के अनुसन्धान की चेष्टा अपेक्षाकृत नयी है; क्योंकि हिन्दी का आलोचना-साहित्य ही अपेक्षाकृत अल्पवयस्क है। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि आलोचना रचनात्मक साहित्य के निर्माण के बाद ही आ सकती है।

अस्तु, इस प्रश्न को लेकर आलोचकों के कई वर्ग बन गये हैं और सभी वर्गों के अपने मतवाद हैं। पर सब-के-सब कम-से-कम इस बात पर एकमत हो सकते हैं कि साहित्य मनुष्य की लौकिक चेष्टा है और इसकी उत्पत्ति भी लोकगत है। इसके दो मुख्य कारण हैं: (१) सभी प्रकार के साहित्य को—वह मौखिक, अलिखित लोक-साहित्य हो, अथवा लिखित कविता, कहानी और उपन्यास—वाणी अथवा भाषा और लिपि का आश्रय लेना पड़ता है। वाणी, भाषा और लिपि स्वतः सामाजिक जीवन की उपज हैं। इस प्रकार साहित्य को अपने अस्तित्व के लिए जिन मौलिक और प्रथम माध्यमों का सहारा लेना पड़ता है, वे माध्यम समाज की देन हैं! (२) साहित्य-सर्जन करनेवाला व्यक्ति कितना भी व्यक्तिवादी क्यों न हो, वह अन्ततः सामाजिक प्राणी है। वह अपनी अनुभूतियों को अपने और आसपास के जीवन से ग्रहण करता है। यह सर्वथा अलग का सवाल है कि कौन साहित्यकार कितनी दूर तक अपनी अनुभूतियों को सारे समाज की अनुभूतियों का प्रतिनिधि बना पाता है और कौन नहीं।

अन्य कलाओं की भाँति साहित्य की एक मूल प्रवृत्ति प्रेषणीयता है; क्योंकि इंसान अपने हर्ष-शोक, आशा-आकांक्षा को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इसलिए कला में कलाकार के मनोभावों और अनुभूतियों की झलक मिलती है। जिस कृति में इन मनोभावों का जितना अधिक साधारणीकरण हुआ रहता है, उसकी अपील भी उतनी ही व्यापक होती है। साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन अपेक्षाकृत सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इसकी पद्धति और स्थिति अधिकांश में प्रतिबिम्बिक है।

पर यह प्रतिबिम्ब क्या केवल साहित्यकार के निजी मनोभावों का होता है? आखिर किसी भी व्यक्ति की अनुभूतियाँ कहाँ जन्म ग्रहण करती हैं? समाजगत जीवन में ही तो? पर सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब साहित्य में सीधे नहीं उतर आता; बल्कि वह साहित्यकार के मनोभावों, विचारों का रंग लेकर उतरता है। इसलिए साहित्य में लोक-जीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है, वह बड़ा ही सूक्ष्म और तीर्यक् रहता है। फिर, जो लेखक जितने बड़े दायरे से अनुभूतियों का बिम्ब ग्रहण करता है, उतनी ही व्यापक उसकी कला की प्रेषणीयता होती है, इसलिए साहित्य के कलात्मक उत्कर्ष के लिए उसका व्यापक सम्बन्ध समाज-जीवन से रहना आवश्यक है।

पर इस सामाजिक सम्बन्ध का स्वरूप कैसा हो? क्योंकि उस पर ही बिम्ब-ग्रहण की क्षमता निर्भर करती है। यह सम्बन्ध मूलतः रागात्मक ही होना चाहिए। सामाजिक प्राणी के लिए यह अनिवार्य भी है; क्योंकि समाज-संघटन के पूर्व से ही जबकि मनुष्य प्रकृति का अंगमात्र था और अहेरी का जीवन बिताता था, प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से उसके हृदय में रागात्मक वृत्तियों का उन्मेष हुआ। जिन पशुओं से उसे आहार मिला, जो निरीह होकर उसके पास आये, उन्हें वह प्यार करने लगा; जो खतरनाक थे, उनसे डरना सीखा और उनपर आघात करना भी। जिन फूलों के रंगों और गंध से उसकी इन्द्रियों को तृप्ति मिली; जिन वृक्षों से शीतल, सघन छाया और मधुर फल मिले, उन सबके प्रति उसकी आसक्ति बढ़ गयी। उसी प्रकार विषैले, कड़वे फलों और कंटीली झाड़ियों से विराग उत्पन्न हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि

मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों की उद्भावना समाज-संघटन के पूर्व बन गयी थी। उनके आग्रह पर मनोभावों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा उत्पन्न हुई। फिर संकेतों और भावसूचक ध्वनियों का जन्म हुआ। संकेतों की चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता तथा भावों के अर्थ की स्थापना जब ध्वनियों में हो गयी, तो सार्थक शब्द और भाषा बनी। यहाँ स्मरण रहे कि संकेतों और भावों की प्रतीकात्मकता की स्थापना का अर्थ है अनेक व्यक्तियों पर उन संकेतों और भावों के निश्चित अर्थ ही का ज्ञापित हो जाना, अर्थात् उनका सबके लिए बोधगम्य, ग्राह्य और मान्य होना। यह निरन्तर के व्यवहार और अभ्यास से ही हुआ होगा।

पर यदि भाषा सामूहिक जीवन की उपज है, तो हमें मानना पड़ेगा कि भाषा निश्चय ही समाज-संघटन में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई होगी। उसी प्रकार, प्रारम्भ में मनुष्य का भावकोष सीमित था, शब्द थोड़े थे, उनके अर्थ भी सरल थे; क्योंकि जीवन की परिस्थितियाँ सरल और गिनी-चुनी थीं। जैसे-जैसे समाज का जीवन जटिल होने लगा, भावों, अनुभूतियों और भाषा में संश्लिष्टता का प्रवेश होने लगा। इस प्रक्रिया को विभिन्न काल के साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। जैसे, वैदिक ऋषियों की ऋचाओं और मंत्रों में भावाभिव्यक्ति की योजना नितान्त सरल और सीधी है; क्योंकि उस काल का जीवन ही सरल और सीमित था। पर, ज्यों-ज्यों समाज-संस्थाएँ संघटित होती गयीं, त्यों-त्यों मनुष्य के भावलोक में भी जटिलता आती गयी। साथ ही, शब्द-कोष और अर्थकोष में भी अभिवृद्धि होती गयी। फलतः साहित्य में क्रमशः संश्लिष्ट भावों की योजना होने लगी।

इस विवेचन से हम दो स्पष्ट निष्कर्षों पर पहुँचते हैं: (१) समाज का जीवन जितना जटिल होता जायगा, साहित्य में उतनी ही संश्लिष्टता आती जायगी; (२) साहित्य में जितने प्रकार के भावों की योजना आयगी और जितनी व्यापक अनुभूतियों का बिम्ब ग्रहण होगा, उसकी अपील, उसकी प्रेषणीयता उतनी ही व्यापक, विशद और मार्मिक होगी।

इसलिए साहित्य समाज-जीवन को किसी भी स्थिति में छोड़कर नहीं चल सकता। साहित्यकार की स्थिति हारिल-जैसी है। वह व्योम में कितनी ऊँची उड़ान क्यों न ले, उसके चंगुल में धरती का एक तिनका अवश्य ही होना चाहिए अन्यथा वह उड़ नहीं सकेगा, या उड़ेगा भी, तो पुनः धरती पर लौट नहीं सकेगा!

किन्तु साहित्य में समाज की प्रतिच्छवि किस प्रकार उतरे? इस प्रश्न पर मतों का परस्पर घोर विरोध है। एक ओर तो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को तोते की तरह दुहरानेवाले प्रगतिवादी आलोचक हैं। दूसरी ओर, वैसे लोगों का गिरोह है, जिन्हें साहित्य की स्वतन्त्र, शाश्वत सत्ता का इतना प्रबल आग्रह है कि उस पर किसी भी मौलिक तत्व की छाया उन्हें सह्य नहीं। इन विरोधी मतवादों के कारण साहित्य के स्पृहणीय मूल्यों का प्रश्न बेतरह उलझ गया है; क्योंकि दोनों दल अपने प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपादित मूल्यों का वहिष्कार और खंडन करके चलने में अपनी विजय मानते हैं। पर, क्या जीवन कभी बहिष्कार के मार्ग पर चलकर पनप सकता है? वह तो विरोधों को समेट कर विस्तार और गति पाता है।

प्रगतिशीलता का दम्भ करनेवालों के विश्वास की आधारशिला मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या है। मार्क्स का मत है कि जीवन की अभिव्यक्ति विरोधी पदार्थों के द्वन्द्व के माध्यम से होती है। पदार्थ जड़ और भौतिक है, सदा परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाला और परिवर्तनशील है। उसका परिमाण ही परिवर्त्तित होते-होते गुण में परिणत हो जाता है और जड़ चेतन में। इस क्रम में शाश्वत कुछ नहीं है, है केवल परिवर्तन की प्रक्रिया। इस गतिशील समाज-संघटन को धारण करनेवाली मौलिक शक्ति है उस समाज की आर्थिक व्यवस्था। आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद पर ही समाज-संस्थाओं जैसे, राज्य, सरकार, धर्म, विवाह, आचार--विचार आदि का ढाँचा खड़ा होता है। सामाजिक जीवन में ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं, जो आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित नहीं हो।

अब देखिए हमारे प्रगतिवादी आलोचक किस प्रकार इस समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का साहित्य में प्रयोग करते हैं।

उनका कहना है कि समाज में व्यक्ति-व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध आर्थिक स्वार्थों के अनुसार स्थापित होता है। इसलिए अन्ततः साहित्य में वर्ग-स्वार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। जो साहित्य शोषित वर्ग के, अर्थात् बहुमत के स्वार्थों की हिमायत करता है और वर्ग-संघर्ष की अग्नि में प्रभु-वर्ग के विरुद्ध घृणा और आक्रोश, वासना और जुगुप्सा का घी डालता है, वही स्वस्थ साहित्य है और जो साहित्यकार और साहित्य इस लकीर से रंचमात्र भी अलग होता है, वह हेय और त्याज्य है।

वस्तुतः यह कुत्सित समाजशास्त्रीयता न मार्क्सवाद के साथ न्याय करता है और न साहित्य के साथ। एक तो मार्क्स ने कहीं भी आग्रह नहीं किया है कि समाज के आर्थिक विश्लेषण का साहित्य में इस प्रकार से यांत्रिक प्रयोग किया जाय और न यह बुद्धिगम्य ही दीखता है कि १९ वीं सदी में प्रतिपादित सिद्धान्त को ज्यों-का-त्यों आज भी हम स्वीकार कर लें और अन्य उद्घाटित 'सत्यों' और अनुभवों को व्यर्थ जाने दें; दूसरे, साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब तो होता है; पर इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य और इतिहास, साहित्य और अर्थशास्त्र में कोई मौलिक भेद नहीं बच जाय। साहित्य समाजगत जीवन की अनुभूतियों को भावलोक में ग्रहण करता है। इसलिए उसमें मतवाद के आग्रह पर किसी शिष्ट सिद्धान्त का मौलिक निरूपण कदापि स्पृहणीय नहीं। यदि उसमें बहुमत अर्थात् शोषित वर्ग के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, जन-जीवन का बिम्ब नहीं उभर पाता, तो इन तथाकथित प्रगतिवादी मित्रों को, यदि उन्हें अपने मत पर पूर्ण आस्था है, निश्चिन्त रहना चाहिए कि वैसा साहित्य स्वतः सीमित और प्रभावहीन बनकर रह जायगा।

जो लोग प्रगतिवादियों के मत के विपरीत साहित्य की शाश्वत सत्ता का नारा बुलन्द करते हैं, वे भी दूसरे छोर से ही बातें करते हैं। वे साहित्य को भावविलास का क्षेत्र मानते हैं। उन्हें साहित्य में किसी भी भौतिक तत्व या शक्ति की अभिव्यक्ति कबूल नहीं। उनके लिए भौतिक जीवन का कोई

साहित्यिक उपयोग नहीं। वे यह भी शायद नहीं मानते कि मनुष्यों के रागात्मक सम्बन्ध और उनके मनोभावों पर जीवन की आर्थिक परिस्थितियों का कोई असर पड़ता है। वह मत न केवल समाजशास्त्र के विपरीत है, बल्कि मनोविज्ञान के भी। हाँ, यह केवल सौंदर्य-शास्त्र और रचना के शिल्पविन्यास को अपना पथप्रदर्शक मानता है। इस कसौटी पर खड़ी उतरनेवाली रचना ही उन्हें मान्य है।

पर इस मत को लेकर चलनेवाले साहित्यकार बहुधा अपने व्यक्तिगत मनोभावों को लेकर इतना उलझ जाते हैं कि उनकी रचना की प्रेषणीयता बिल्कुल शून्य हो जाती है।

अतः इन दोनों प्रकार के मतवाद के कारण प्रतिक्रियात्मक साहित्य का ही निर्माण हो सकता है। समाज और साहित्य के सम्बन्ध का अगर अर्थ है तो केवल तात्कालिक रूप में। जैसे आज के मशीन-युग में रहकर हम मध्ययुगीन भावों की अवतारणा करें, तो निश्चय ही उसमें जीवन की अभिव्यक्ति रहेगी; पर ऐसे जीवन की, जो विगत हो गया है, और जिसकी अनुभूतियाँ साहित्यिक सांस्कृतिक परपम्परा का अंग बनकर रह गयी हैं, वैसे साहित्य से जन-जीवन का रागात्मक तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता।

उसी प्रकार साहित्य की शाश्वत सत्ता का कोई अर्थ हो सकता है, तो यही कि साहित्य मनुष्य की एक विशिष्ट चेष्टा है। सामाजिक जीवन की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब उसमें सतत उतरता रहता है और उसको जरिए मनुष्य अपने भावकोष की अभिवृद्धि भी करता है।

——o——

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य में केन्द्रीय महत्त्व का अधिकारी है मनुष्य। यही इसका प्रेरक, सर्जक और पाठक है—यही इसका विषय और भोक्ता है। मानव प्रकृति की विशेषताओं का उद्घाटन और साहित्य का एकमात्र नहीं तो सर्वप्रमुख लक्ष्य अवश्य रहा है। मानवेतर प्रकृति का भी जो चित्रण इसमें उपलब्ध होता है, वह मानव प्रकृति के माध्यम से ही। मनुष्य ने अपने मन के केन्द्र से ही वाह्य जगत् पर वृत्त खींचे हैं। इसीसे बर्ट्रेण्ड रसल ने कहीं यह टिप्पणी दी है कि कला का आनन्द हमारी अपनी वासना का आनन्द है और गणित का शुद्ध सत्य का। फूलों की हँसी हममें निवास करती है, फूलों में नहीं। इसी प्रकार क्रुद्ध प्रभंजन का क्रोध उसका मनोविकार न होकर हमारा मनोविकार है।

मनुष्य की जो प्रकृति साहित्य में अभिव्यक्त होती है, मनोविज्ञान में उसीका विश्लेषण होता है। मनोविज्ञान हमारी मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। कुछ वर्ष पूर्व तक यह दर्शन-शास्त्र का ही एक अंग था, किन्तु फ्रायड, पावलोव आदि व्यक्तियों के प्रयत्नों ने इसे एक स्वतंत्र विज्ञान कहलाने का अधिकारी बनाया है। मनोविज्ञान के आधुनिक विकास ने साहित्य के सभी अंगों को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है और इसे वह चिन्तन-पद्धति दी है जिसके आधार पर प्राचीन तथा नवीन साहित्य का नये सिरे से मूल्यांकन सम्भव हो सका है। इसने अनेक नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाया है और अनेक प्रचलित धारणाओं का खण्डन किया है। वस्तुतः मनोविज्ञान की खोजों ने साहित्य को समझने में हमारी बड़ी सहायता की है। उदाहरणार्थ, फ्रायड ने काम को मनुष्य-जीवन की परिचालक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है और यह कहा है कि नारी-पुरुष के सभी प्रकार के सम्बन्धों के मूल में काम या संभोगेच्छा ही वर्तमान है। यह न केवल पति-पत्नी या

प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्ध के मूल में अवस्थित है, वरन् माता के प्रति पुत्र, बहन के प्रति भाई और पिता के प्रति पुत्री के प्रेम का भी मूल है। फलतः उसने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि पुत्र के हृदय में माता के प्रति आसक्ति और पिता के प्रति प्रतिद्वन्द्विता तथा विद्वेष का भाव होता है। इसे ही उसने 'ओडीपस-ग्रन्थि' कहा है। इस ग्रंथि के आलोक में अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटक 'हैमलेट' को बड़ी दूरी तक समझा जा सकता हैं। हैमलेट अपने चाचा को घृणा की दष्टि से देखता है जिसने उसके पिता की मृत्यु के बाद उसकी माता से विवाह कर लिया है। अपनी माता के प्रति अतिशय आसक्ति की ही प्रतिक्रिया है माता के प्रति उसकी घृणा। हैमलेट मातृ-आदर्श के विध्वंस की ट्रेजेडी है। हैमलेट प्रत्येक स्त्री में स्वकल्पित आदर्श से च्युत अपनी माता का दर्शन करता है। 'कमजोरी का ही दूसरा नाम औरत है' आदि उक्तियों का अभिप्राय उसकी इसी प्रतिक्रिया के आधार पर समझा जा सकता है। उसकी प्रेयसी आफेलिया की ट्रेजेडी का यही कारण है, क्योंकि उसके पीड़न में हैमलेट की माँ या नारीमात्र के प्रति प्रतिहिंसा की भावना तृप्त होती है। हैमलेट में सक्रिय इस ग्रंथि की यथार्थता की पुष्टि व्यावहारिक जीवन के दृष्टान्तों द्वारा की जा सकती है। प्रसिद्ध फ्रेंच कवि बोदलेयर के पिता की मृत्यु १८२७ ई० में हुई थी। उस समय कवि की अवस्था छः वर्षों की थी और प्रायः दो वर्षों तक वह अपनी माता के संसर्ग में बड़ी प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करता रहा। बाद में भी इस छोटी अवधि का उल्लेख वह अपने जीवन के सबसे सुन्दर काल के रूप में करता रहा। किन्तु उसकी माता ने एक प्रसिद्ध सैनिक से विवाह कर लिया और बोदलेयर ने उसके इस आचरण को बड़ा अनुचित समझा। कहा जाता है कि विवाह की रात्रि में अपनी माता और सौतेले पिता के मिलन को असम्भव बनाने के उद्देश्य से उसने उनके शयन-कक्ष की कुंजी चुराकर बाहर फेंक दी।

फ्रायड के अनुसार काम ही कलाओं का मूल है। उसका यह मन्तव्य है कि अतृप्त काम-भावना ही अपने को दिवा-स्वप्नों के रूप में कविता, संगीत आदि के माध्यम से तृप्त करता है। उसने इस दृष्टि से प्रसिद्ध चित्रकार

लियोनार्डो डा विंची के जगत्-विख्यात चित्र 'मोनालिसा' का विश्लेषण किया है। यह स्वीकार करने पर भी कि उसका मन्तव्य अव्याप्तिदोष से ग्रस्त है, यह मानना पड़ेगा कि प्रसाद के 'आँसू' पंत की 'ग्रंथि' और महादेवी की कविता को समझने में यह बड़ा सहायक सिद्ध होता है। महादेवी का अति-लौकिक प्रियतम उनके भौतिक प्रियतम का ही उन्नीत रूप है। उनका अतृप्त प्रेम ही उनकी रहस्य-भावना का आधारभूत तत्त्व है। प्राप्त कथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी की ईश्वर-भक्ति भौतिक जीवन में अतृप्त काम-भावना का ही रूपान्तर है।

यदि मनोविज्ञान ने साहित्य को समझने में सहायता पहुँचायी है तो साहित्य ने भी मनोविज्ञान को मनुष्य प्रकृति से सम्बन्धित असंख्य मूल्यवान तथ्य दिये हैं। इसका कारण यह है कि मनोवैज्ञानिकों से बहुत पूर्व से ही साहित्यकारों ने मानवमन का अध्ययन और परीक्षण किया है और जान-अनजान में बहुत-से मनोवैज्ञानिक तथ्यों को अनमित तथा पूर्वाशित (anticipate) किया है। उदाहरणार्थ, हम बालमनोविज्ञान के जिन तथ्यों का उल्लेख मनोविज्ञान की इस शाखा में करते हैं, सूर के बालवर्णन में वे अनायास ही समाविष्ट हो गये हैं। बालकों के विषय में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित है कि वे बड़े सरल और अपने अस्तित्व से अनभिज्ञ होते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनका अहं भी उतना ही प्रखर होता है जितना बड़ी अवस्थावालों का और वे भी उतनी ही प्रबलता से अपने अस्तित्व को चरितार्थ करना चाहते हैं जितनी प्रबलता से कोई बड़ी अवस्थावाला। एक पद—

खेलत में को काको गोसैंयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाति हम तें बड़ नाहीं नाहिन बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

खेल में श्रीकृष्ण हार गये हैं और श्रीदामा जीत गये हैं, किन्तु वे अपनी हार मानने को तैयार नहीं। इस पर श्रीदामा को यह आशंका हो आती है कि श्रीकृष्ण मुझ से बड़े परिवार के होने के कारण अपनी हार

नहीं मान रहे हैं और वे क्रुद्ध होकर अपने मित्र की श्रेष्ठता-भावना प्रत्याख्यान करते हैं। वे यह सिद्ध कर देते हैं कि तुम किसी भी प्रकार मुझ से बड़े नहीं। तुम्हारी श्रेष्ठता-भावना बहुत कमजोर धरातल पर टिकी हुई है। श्रीदामा की यह समत्व-भावना उनके अहं या आत्मचरितार्थता-भावना का ही रूपान्तर है।

यद्यपि बालमनोविज्ञान के विकास के पूर्व ही सूर ने बालक के मनोजगत् के गम्भीर तथ्यों का उद्घाटन किया है और मनोविश्लेषण की पद्धति अस्तित्व में आने के पूर्व ही टाल्सटाय और डास्टायवस्की ने अपने पात्रों के हृदय का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है, फिर भी यह सत्य है कि मनोविज्ञान का अध्ययन हमारे साहित्य-बोध का स्तर उच्च करता है। उदाहरणार्थ, साहित्य के दो मूल्य हैं—रस या आनन्द और प्रभाव। रस या आनन्द के मूल्य को प्रमुखता देनेवाले कला को कला के लिये स्वीकार करते हैं। वे इसके प्रभाव-मूल्य का निषध करते हैं। किन्तु मनोविज्ञान इसके प्रभाव-मूल्य के समर्थन में हमारी सहायता कर सकता है। साहित्य के शिव अशिव रूपों का हम पर प्रभाव पड़ता है, और हम जो कुछ पढ़ते हैं, वह हमारे अवचेतन में प्रवेश कर जाता है। जगत्प्रसिद्ध मनोचिकित्सक डा० श्टेकेल की एक डाक्टर मरीज थी जो अपन गुरुजनों के सामने लाल स्याही द्वारा रेखांकित रोगियों का इतिहास पढ़ने में असमर्थता का अनुभव करती थी। ऐसे स्थूलों पर आकर वह हिचक और लज्जा का अनुभव करती थी। श्टेकेल ने उससे प्रश्न किया—"क्या आपने हाथॉर्न का 'स्कारलेट लेटर' पढ़ा है?" उसने उत्तर दिया—'नहीं।' लेकिन जब यह उपन्यास उसे दिया गया तो इसे पढ़ते ही उसे याद हो आया कि यह उसकी पढ़ी हुई पुस्तक है और उसके पिता के व्यक्तिगत पुस्तकालय में पड़ी हुई है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनावश्यक नहीं होगा कि इस उपन्यास की नायिका को अपनी दुश्चरित्रता के अपराध में लाल रंग के 'ए' अक्षर से अंकित पोशाक पहनना पड़ा है। इस बात के सचेत बोध ने उसकी इस ग्रंथि को दूर कर दिया।

आज रचनात्मक साहित्य और आलोचना, दोनों मनोविज्ञान द्वारा गम्भीर

रूप में प्रभावित हुए हैं। उपन्यास, कहानी और कविता में चेतना के प्रवाह (Stream of consciousness) को अभिव्यक्त करने की चेष्टा बढ़ती जा रही है। इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय पर मनोविश्लेषण का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। समालोचना के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक समालोचना की एक नवीन पद्धति ही चल पड़ी है जिसके अन्तर्गत नगेन्द्र-जैसे समालोचक आते हैं। अपने को इसके अन्तर्गत नहीं माननेवाले साहित्यकार भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं।

साहित्य और दर्शन

सतही तौर पर विचार करने से ऐसा पता चलता है कि साहित्य और दर्शन में कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यकार और दार्शनिक, दोनों के व्यक्तित्व में काफी अन्तर है। अगर दार्शनिक शुष्क तर्क और रसहीन सत्य की खोज में व्यस्त रहता है, तो साहित्यकार भावों के इन्द्रधनुष, कला की रंगीनी के पीछे पागल। एक तार्किक होने की चेष्टा में रत और दूसरा भावनाओं को छूने में लीन।

लेकिन यह विभिन्नता सिर्फ ऊपर से देखने को मिलती है। दरअसल दोनों में काफी गहरा रिश्ता है। दोनों एक-दूसरे पर अपना असर डालते हैं। यह कभी नहीं भूलना है कि साहित्य और दर्शन दोनों इन्सान की क्रिया-शीलता, सृजनात्मकता के दो रूप हैं। कलाकार जब पच्चीकारी और कारीगरी से ऊपर उठकर अपने विषय का चूनाव करता है, तब वह जीवन और अस्तित्व के बारे में अपनी राय पेश करता है—उनका चित्र भी देता है और तब वह कल्पनाशील ढंग से दार्शनिक बन जाता है। ठीक उसी तरह दार्शनिक परिभाषाओं, अनुसन्धान और सामंजस्य से ऊपर उठकर जब जिन्दगी का नक्शा खींचता है, वह सारे मानव अनुभवों की पष्ठभूमि में एक बौद्धिकताके साज-संगीत का निर्माण करता है, नवीन और विशाल कविता को जन्म देता

है। प्लेटो के मुताबिक सुकरात का कहना हैं कि दर्शन एक उच्च कोटि का संगीत है। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों में से कोई भी एक-दूसरे की अवहेलना नहीं कर सकता। इसलिए यह देखा भी गया है कि उच्चकोटि के लेखक के पास एक जीवन-दर्शन रहता है और उच्चकोटि के दार्शनिक में साहित्य का प्राचुर्य। एक बात और है, दार्शनिकों द्वारा बताये हुए ज्ञान और आचार उतना मनोहर नहीं जान पड़ते जितना कि साहित्यकार की कलाकृति में; क्योंकि उनमें हृदयग्राहिता की कमी दीखती है। साथ-साथ अच्छी कलाकृति में यह ताकत होती है कि वह इन्सान को बेहतर बनाये।

हो सकता है, कुछ लोग दशन की 'आत्मा' और साहित्य की देह में संघर्ष देखते हों। लेकिन, यह एक भ्रान्तिपूर्ण बात है; क्योंकि शरीर और आत्मा को अलग-अलग दरबों में रखकर नहीं समझा जा सकता। सन्त्याना ने कहा है कि सौंदर्य सुख का निर्वैयक्तिकरण किया हुआ स्वरूप है। इस संसार में जहाँ बहुत कुछ करना बाकी है, बहुत से काम के पूरा होने में बहुत सारी मंजिलें तय करनी हैं--साहित्य और दर्शन को साथ मिल कर, सामंजस्य स्थापित कर आदर्श और लक्ष्य की ओर आगे ढ़ढ़ना है।

वस्तुतः प्रत्येक युग का अपना दर्शन होता है, और उस दर्शन पर आधारित उसका साहित्य। युग दर्शन बनाता है वैज्ञानिक अनसंधानों और टेकनोलाजी के क्षेत्र की क्रान्तियों के बल पर। आर्थिक और औद्योगिक विकास में ये सहायक होती हैं और समाज में एक जबरदस्त परिवर्त्तन आता है। और, सामाजिक उथल-पुथल और परिवर्त्तन के बाद नयी मान्यताएँ स्थापित होती हैं, नये मूल्य जन्म लेते हैं। इन्हीं मान्यताओं और मूल्यों का शिखर दर्शन होता है और फिर वही मान्यताएँ और मूल्य दर्शन के पर्वत-शिखर से नीचे उतर कर साहित्य की नदी द्वारा देश-देश में, जन-जन में व्याप्त हो जाते हैं। मान्यताएँ और मूल्य ऊपर चढ़कर दर्शन बन जाते हैं, और फिर नीचे उतर कर साहित्य बन जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है—अमुक दर्शन से अमुक साहित्य का कोई रिश्ता नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिये कि वैसे दर्शन और साहित्य का जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं।

उदाहरण के लिये फासिज्म का दर्शन और गेरहार्ड हापुरमान का साहित्य जन-जीवन को दबाने के लिये बने। लेकिन ऐसे दर्शन और साहित्य अधिक दिनों तक चल नहीं सकते, टिक नहीं सकते। फिर भी, इस उदाहरण से दर्शन और साहित्य के रिश्ते का अन्दाज मिल सकता है। अगर फासिज्म नहीं आता, तो गेरहार्ड हापुरमान की रचनायें भी वैसी नहीं होतीं। एक मिसाल और। अगर रूस में 'साम्यवाद' का जीवन-दर्शन नहीं बनाया जाता, तो माइकेल सोलोकोव द्वारा 'वर्जिन स्वाइल अपटर्नंड' या 'क्वाएट फ्लोज-दी डान' जैसी पुस्तकों की रचना नहीं होती। रूसी क्रान्ति के पहले के रूसी उपन्यास को देखिए, उनके विषय और उनका 'प्रतिपादन' एककदम भिन्न था। दास्तावस्की या तुर्गनेव के उपन्यास सोलोकोव अथवा एलेक्सी टाल्स्टाय से एकदम भिन्न हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस तरफ दास्तावस्की और तुर्गनेव में और दूसरी तरफ सोलोकोभ और एलेस्की टाल्स्टाय में युग-दर्शन की समानता है। दोनों कोटि के लेखक दो युग, दो भिन्न जीवन-दर्शन, दो भिन्न प्रवृत्तियों से प्रभावित थे; उनके अनुभवों के क्षेत्र भी भिन्न थे, उनके अनुभव भी भिन्न।

आधुनिक समाज को मोटे तौर पर तीन युगों में बाँटा जाता है—सामन्तकालीन युग, पूँजीवादी युग और समाजवादी युग। आज समाज पूँजीवादी युग और समाजवादी युग की संधिवेला में खड़ा है। सिद्धान्ततः पूँजीवादी युग का खात्मा हो रहा है और आनेवाला युग जनतान्त्रिक समाजवादी ही होगा। इन तीनों सिद्धान्तों के अपने खास-खास जीवन-दर्शन हैं। अगर हम इन तीनों सिद्धान्तों अथवा युगों के साहित्य या साहित्यिक प्रवृत्ति की ओर नजर डालें, तो पता चल जायगा कि जिस तरह से ये तीनों सिद्धांत एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, इनका साहित्य भी एक दूसरे से अलग और भिन्न है। अगर सामन्तवादी युग में राजा-महाराजाओं के प्रेम से साहित्य ओत-प्रोत था, विलास और वैभव की ही तस्वीर साहित्य में मिलती थी, तो पूँजीवादी दर्शन-धारा के अन्तर्गत साहित्य ने व्यक्ति की पूजा का, व्यक्तिगत आज़ादी का पुष्टिकरण किया। और, आनेवाले समाज़वादी समाज के लिये जो

"प्रगतिशील" साहित्य रचे गये हैं, उसमें दीन-दुखियारे सर्वहारा की प्रतिष्ठा की गई है, उन्हें सम्मिलित संगठित करने का आह्वान किया गया है। व्यापक सामाजिक कार्यक्रम का विशद नक्शा खींचा गया है। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य पर दर्शन का प्रभाव अवश्यंभावी रूप से पड़ता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य है। ठीक इसी तरह महान साहित्यकार दार्शनिक बन जाते हैं, और अपनी रचनाओं द्वारा नवीन जीवन-दर्शन की अनुभूति समाज को कराते हैं। उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजली' और जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' पर्याप्त होगी। फिर भी 'गीतांजली' और 'कामायनी' पढ़ते समय यह न भूलना है कि ये किताबें भारतीय रिनेसाँ के कारण ही लिखी जा सकीं और रहस्यवाद और छायावाद की अन्तिम सीढ़ियाँ ये इसलिये बन सकीं कि भारतीय समाज और साहित्य में वह अपने को ढूंढ़ने को है। आज जमाना स्वतंत्रता को बौद्धिक और भावुक ढंग से अपनाने का है। आज के जमाने में हिन्दुस्तान में 'गीतांजली' और 'कामायनी' जैसी पुस्तकों का लिखा जाना अगर असंभव नहीं, तो कठिन जरूर है। यह इसलिए नहीं कि अब 'प्रसाद' और रवीन्द्रनाथ जैसी प्रतिभा नहीं हैं, बल्कि इसलिये कि अब ऐसी पुस्तकों के लिये भारतीय इतिहास कदापि तैयार नहीं। आज भी प्रतिभावान व्यक्ति पैदा हो सकते हैं; लेकिन उनकी प्रतिभा रवीन्द्रनाथ और 'प्रसाद' की प्रतिभा जैसी नहीं होगी। मनुष्य की प्रतिभा का भी संचालन युग-दर्शन ही करता है।

——:o:——

साहित्य और विज्ञान

साहित्य और विज्ञान, दोनों ही मनुष्य की सूक्ष्म मानसिक क्रिया के द्योतक हैं। दोनों ही विकसित सभ्यता के सूचक है और कारण भी। जब सभ्यता अविकसित अवस्था में थी, तब साहित्य की रचना में वह विविधता, वह सूक्ष्मता, वह व्यापकता और वह कलात्मकता नहीं थी, जो विकसित

सभ्यता के काल के साहित्य में मिलती है। इसी तरह वैज्ञानिक चिन्तन भी सभ्यता के विकास के साथ अधिक सूक्ष्म होता गया है। लेकिन इस स्थल पर दोनों में थोड़ा बुनियादी अन्तर है।

सभ्यता और विज्ञान

विज्ञान सभ्यता के विकास का सबसे बड़ा कारण है। एक वैज्ञानिक आविष्कार सभ्यता में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है। अगर हम सभ्यता के विकास के इतिहास पर नजर दौड़ावें, तो यह पता चलेगा कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने निर्णयात्मक कार्य किया है। जब मनुष्य को लोहे का प्रयोग मालूम हुआ, तो उसने हल बना डाला और हल से कृषि होने लगी। कृषि से मनुष्य के जीवन-स्तर में विकास और वृद्धि हुई। इतना ही नहीं, लोहे के आविष्कार ने हमारे जीवन को अनेक तरह से सुसमृद्ध किया। वह युग-सभ्यता के विकास का एक महान् युग था। इसी तरह क्रमशः एक के बाद एक आविष्कार होता गया। बहुत पीछे न जाकर, हम पिछले दो-तीन सौ वर्षों की कहानी पर दृष्टिपात करेंगे। स्टीम इंजिन के आविष्कार ने औद्योगिक क्रान्ति ला दी और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव-सभ्यता का अद्भुत विकास हुआ। फिर बिजली का विकास और अब अणुशक्ति (एटम शक्ति) का आविष्कार। आज हम अणु-युग में रह रहे हैं। कहाँ हमारा प्राचीन गुफा और कहाँ एम्पायर स्टेट बिल्डिग; कहाँ बैलगाड़ी और कहाँ हवाई जहाज! इस तरह आज वैज्ञानिक आविष्कार ने वे वस्तुएँ उपलब्ध कर दी हैं, जिनकी प्राचीन काल में कल्पना भी नहीं की गयी थी। इन आविष्कारों के फलस्वरूप हमारी सभ्यता अति विकसित अवस्था में है और रोज इसका विकास होता जा रहा है और यह सब विज्ञान के कारण। सभ्यता के विकास के अन्य कारण भी हैं; पर विज्ञान प्रमुख है।

सभ्यता और साहित्य :

साहित्य सभ्यता के मामले में ऐसा पार्ट अदा नहीं करता है। साहित्य के प्रधान उपकरण हैं भाव, चिन्तन। भावना, कल्पना उसके सहायक अंग हैं।

हर युग के अच्छे साहित्य में इसी 'भाव' का प्रस्फुटन विभिन्न रूपों में होता रहा है। एक युग के साहित्य में और दूसरे युग के साहित्य में जो प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है, वह वस्तुतः युग की बदली हुई मान्यताओं के कारण उत्पन्न होता है। युग की मान्यताओं के अनुरूप हमारे भावों के स्वरूप बदलते रहते हैं और इसीलिए हमें अन्तर दीखता है।

साहित्य और विज्ञान के सामाजिक कार्य :

प्रश्न उठता है, युग की मान्यताएँ कैसे निर्धारित होती हैं। सभ्यता का दौर तो बहुत लम्बा होता है। मिसाल के तौर पर, औद्योगिक क्रान्ति के बाद से हम औद्योगिक सभ्यता के दौर से गुजर रहे हैं; लेकिन इसी दौर में कई युग आये-गये, कितनी ही मान्यताएँ बदलीं। आखिर इस परिवर्त्तन का क्या कारण है? एक सभ्यता के दौर से गुजरने का मतलब होता है निरन्तर विकासशील सभ्यता के दौर से गुजरना। औद्योगिक सभ्यता के दौरान में नई-नई आवश्यकताएँ और समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। वे ही नई मान्यताओं की माँग करती हैं और इसीलिए मान्यताओं का वह परिवर्त्तन-चक्र है।

हमारे इस विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट लक्षित हो रही हैं। एक यह कि साहित्य सभ्यता या युग की आवश्यकताओं को पूरा करने, समस्याओं को हल करने और उनके तकाजों का जवाब देने की चेष्टा करता है। इस माने में वह विज्ञान की तरह युग या सभ्यता के विकसित होने में मदद पहुँचाता है; लेकिन यह मदद बहुत सीमित दायरे में होती है। इसीलिए इसका प्रभाव विकास के मार्ग में वैसा निर्णयात्मक नहीं होता है, जैसा विज्ञान का। लेकिन निर्णयात्मक प्रभाव डालने की संभावना और क्षमता साहित्य में भी अवश्य है। अब तक सिर्फ इस क्षमता और संभावना का साहित्यिकों ने आविष्कार नहीं किया है। आधुनिक युग के कुछ यूरोपीय साहित्यकार अवश्य इस आविष्कार में लगे हैं। खैर, यह तो संभावना की बात हुई।

दूसरी बात, जो स्पष्ट है, वह यह कि साहित्य के मूल उपकरण, भाव और वस्तु युग के परिणाम होते हैं। आज सभ्यता जिस अवस्था में पहुँच

गयी है, आज युग की जो अनुभूतियाँ हैं, उन्हीं का उल्लेख तो प्रधानतया आज के साहित्य में होगा और पूर्वकाल में भी ऐसा ही होता रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य सभ्यता के परिणामों की अभिव्यक्ति करता है, जब कि विज्ञान में परिणाम की अभिव्यक्ति के साथ-साथ नये विकास का सूत्र भी निहित रहता है। एक परिणाम है, तो दूसरा कारण। एक कृति है, तो दूसरा कर्त्ता।

पहले जो हमने कहा है कि सभ्यता के मामले में साहित्य विज्ञान की तरह पार्ट अदा नहीं करता है, उसका तात्पर्य उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह साहित्य और विज्ञान के सामाजिक कार्य (Social functions) का विवरण है। इस प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य का जिक्र करना आवश्यक है।

विज्ञान-जनित विकास का मूल्यांकन और साहित्य :

यह ठीक है कि सभ्यता का विकास टेकनोलाजी, जो वैज्ञानिक जगत् की विजय है, के विकास के अनुरूप होता है; लेकिन जब हम इस विकास के मूल्यांकन पर विचार करना चाहेंगे, तो केवल वैज्ञानिक मानदंडों से काम नहीं चलेगा, वल्कि साहित्य में उसके परिणामों की जो अभिव्यक्ति हुई है, उस पर भी हमें गौर करना होगा। वैज्ञानिक मानदंडों से तो यह पता चल जायगा कि अमुक टेकनोलोजी किस हद तक विकास का सूचक है। पर प्रश्न है, उस विकास के गुण-अवगुण क्या हैं, उसके सिक्के के दोनों रुख कैसे हैं। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक विकासजनित सभ्यता के भौतिक मूल्यांकन के लिए हमें साहित्य की ओर जाना पड़ेगा।

अमुक युग के अच्छे साहित्य में मानव जिस रूप में व्यक्त होता है, उससे युग की अच्छाई-बुराई का पता मिल जाता है। टेकनोलोजी के परिणामस्वरूप जो सभ्यता बनी, उसमें इन्सान का कैसा स्वरूप बना, इसका दिग्दशन तो साहित्य ही में मिलता है। साहित्य ही हमें बताता है कि अमुक युग के मानव की क्या दशा रही है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान का मनुष्य-जीवन, मनुष्य के भाव और वृत्तियों पर कैसा प्रभाव पड़ा, उसका चित्र हमें

साहित्य में मिलता है और उस चित्र से हमें गुण-दोष तथा नैतिक मूल्य का पता चल जाता है। साहित्य यहीं रुक नहीं जाता है। वह जब किसी युग के मानव के दो पहलुओं को सामने रखता है, तो उसके साथ-साथ वह नई समस्याएँ भी उपस्थित करता है। ये समस्याएँ भौतिक विज्ञान और मानव विज्ञान, दोनों के लिए चुनौती होती हैं। दोनों को अपनी दिशा का संकेत मिलता है। यह साहित्य का एक प्रमुख कार्य है, जहाँ तक कि विज्ञान से इसका सम्बन्ध है। इस तरह यह स्पष्ट है कि विज्ञान की नैतिक कसौटी साहत्य है। अमुक टेकनोलोजी के भले-बुरे का दिग्दर्शन समाज-विज्ञान और साथ-साथ साहित्य में होता है। यह क्योंकर होता है, अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

साहित्य की पद्धति :

अगर स्थूल मनोविज्ञान की भाषा में बात करें, तो कहना पड़ेगा कि साहित्य भाव-जगत् की वस्तु है, जब कि विज्ञान बुद्धि-जगत् की। लेकिन यह स्थूल कथन ही होगा। गहराई में जाने पर भाव और बुद्धि-जगत् का ऐसा अलगाव नहीं दीखता है। साहित्य की प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर ही इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। "गोदान" उपन्यास का उदाहरण ले लीजिए। वह कौन-सी प्रेरणा थी, जिसने इस रचना के लिए प्रेमचन्द को मजबूर किया ? वह प्रेरणा थी प्रेमचन्द के अन्दर जागरूक नैतिक भावना। समाज में विषमता है, अन्याय है, शोषण है, आर्थिक विषमता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा की भावना है। इन सबका परिणाम है हमारी वर्त्तमान दुखद जीवन-दशा। प्रेमचन्द पर इस दशा का गहरा प्रभाव पड़ा। इसे देखकर उनकी बुद्धि और नैतिक भावना बेकरार हो उठी और मानव-कल्याण-प्रेम और नैतिक अपील से उत्तेजित होने के कारण उन्हें 'गोदान' रचने की प्रेरणा मिली। दूसरे शब्दों में, प्रेमचन्द की बुद्धि, भावना और चरित्र ने उन्हें 'गोदान' रचने के लिए प्रेरित किया।

जब उन्होंने रचना आरम्भ कर दी, तब भी केवल भावप्रवणता के सहारे ही उन्होंने यह कार्य पूरा नहीं किया। अपने बुद्धिबल से जीवन-दशाओं का

विश्लेषण भी उन्हें करना पड़ा। फिर, जो विषय-वस्तु उन्होंने उठाई, उसके प्रति उन्हें एक दृष्टिकोण बनाना था। इस तरह बुद्धि, भाव और दृष्टिकोण के सम्मिलित प्रयास से "गोदान" का निर्माण हुआ। और, हरेक अच्छी साहित्यिक रचना के पीछे यही प्रक्रिया रहती है।

विज्ञान की पद्धति :

विज्ञान की पद्धति बिल्कुल दूसरे प्रकार की है। वैज्ञानिक पहले समस्या का बयान करता है, फिर वह जाँच-पड़ताल तथा पयवेक्षण कर के तथ्य-संग्रह करता है। अन्त में उन्हीं तथ्यों से जो निष्कर्ष निकलता है, उसी को वह स्पष्ट कर देता है। इस पद्धति में वैज्ञानिक के व्यक्तित्व का लोप होता है, सिर्फ तथ्य का व्यक्तित्व रहता है। वैज्ञानिक में व्यक्तित्व की सूक्ष्मता और भिन्नता नजर नहीं आ सकती है, सिर्फ उसकी समझ और पर्यवेक्षण की शक्ति में भेद नजर आता है। विज्ञान की इस पद्धति में एक लीक है, जबकि साहित्य की प्रक्रिया का प्रस्फुटन कैसा होगा, पहले से कोई रचनाकार भी नहीं बता सकता है। प्रत्यक्ष रूप से लगता है कि विज्ञान की पद्धति में भाव का कहीं भी पुट नहीं रहता, सिर्फ बुद्धि का ही वह चमत्कार है। यह ठीक है कि विज्ञान में बुद्धि पर जोर है; पर जैसा कि कहा जा चुका है, मनोवैज्ञानिक भाषा में बुद्धि ऐसा कोई कम्पार्टमेंट नहीं, जो भाव से बिलकुल ही अलहदा हो। दोनों का कुछ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

साहित्य और विज्ञान में भिन्नता :

जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि साहित्य और विज्ञान की कार्यपद्धति बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। इसी भिन्नता के कारण जहाँ विज्ञान कारण बन जाता है, वहाँ साहित्य उस कारण के परिणाम का दिग्दर्शन कराता है, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव :

साहित्य और विज्ञान के सम्बन्ध में और एक बात पर विचार करना समीचीन होगा। वह है साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव। यह निर्विवाद है कि

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में पड़ता है। एक है, साहित्यकार के जीवन-दर्शन का क्षेत्र, दूसरा है साहित्य की विषय-वस्तु। जो युग वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित होता है उसमें लेखक के दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता का जोर स्वाभाविक है, जैसा कि आज है। आज का लेखक, कवि वैज्ञानिकता को छोड़ नहीं सकता है। कविता में जो पहले निराकार उड़ान मिलती थी, कल्पना का जो विलास मिलता था, कल्पना में जो चित्रात्मकता मिलती थी, वह आज नहीं मिलेगी। आज की कविता में चित्रात्मक कल्पना मिलेगी। उपमान यथार्थ जगत् के रहते हैं और कल्पना कल्पना के लिए नहीं की जाती है, उससे एक ध्वनि ही निकालने का प्रयास आज का कवि करता है। यह है विज्ञान का प्रभाव, जहाँ तक वस्तु के निर्वाह का सम्बन्ध है।

विषय-वस्तु पर भी विज्ञान का प्रभाव पड़ता है। आज के साहित्य में विज्ञान-जगत् के अनेक ऐसे विषय आने लगे हैं, जो पहले के साहित्य में नहीं आ सकते थे। पहले का साहित्यकार रेल की इंजीन, फैक्टरी के भोंपे को साहित्य की मर्यादा के अनुकूल विषय नहीं मानता था; पर आज ऐसी बात नहीं। आज किसी भी प्रकार के विषय पर प्रतिबन्ध नहीं है। यह वैज्ञानिक युग की ही देन है।

साहित्य और राजनीति

प्रत्येक युग की एक-एक आधिकारिक प्रवृत्ति होती है, जिसका उदगम सामाजिक शक्तियों के बीच से होता है। मध्ययुग की वह आधिकारिक प्रवृत्ति धर्म थी, १९ वीं सदी में अर्थव्यवस्था और वर्त्तमान सदी में राजनीति है। अन्यत्र यह बात कहाँ तक लागू है, यह विवादास्पद प्रश्न हो सकता है; पर अपने देश और समाज में तो क्या धर्म, क्या संस्कृति, क्या शिक्षा, क्या साहित्य सब जगह राजनीति की छाया पड़ रही है। अन्य क्षेत्रों में इसकी कैसी

प्रतिक्रिया है, यह हमारा प्रतिपाद्य नहीं है; पर हम इतना अवश्य जानते हैं कि साहित्य के पिछले खेवे के जो जीवन्त लेखक-आलोचक हैं, वे अथवा आज के भी अनेक लेखक राजनीति के इस प्रभाव से अत्यधिक चिन्तित और सतर्क हैं। वे इस प्रभाव को साहित्य के लिए सर्वथा घातक मानते हैं। इस तरह के रुख के लिए उनके पास पर्याप्त ठोस दलीलें भी हैं। प्रमाण के रूप में वे छायावाद के उतार और प्रगतिवाद के ज्वार के साथ आनेवाली अनेक अधिकारी लेखकों की रचनाएँ-कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास और आलोचनाएँ पेश करते हैं।

पर यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि पुराने साहित्यिकों और नये लेखकों के, जो कि साहित्य में राजनीति के प्रभाव को घातक मानते हैं, तर्कों में अन्तर है। पुराने साहित्यिक राजनीति के प्रवेश से इसलिए घबराते हैं कि राजनीति के मूल्य अन्ततः साहित्य के मूल्यों पर छा जाते हैं, साहित्य की "शाश्वतता" नष्ट हो जाती है और साहित्य-रचना के नाम पर पार्टियों के प्रचार-साहित्य और पैम्फलेट लिखे जाते हैं।

राजनीति से घबरानेवाले जो आज के लेखक हैं, वे वास्तव में कोरे सिद्धान्तों के जरिये ही जीवन की गुत्थियों को सुलझाना चाहते हैं। वे अपनी बौद्धिकता का दामन पकड़ कर बढ़ते हैं और भूल जाते हैं कि तात्कालिक सामाजिक सत्यों से दूर रहनेवाली बौद्धिकता उन्हें हवा-महल में ले जाकर छोड़ देगी। सामाजिक सत्यों से तात्पर्य जन-जीवन को आन्दोलित करनेवाली शक्तियों से है। उन शक्तियों के आवर्त्त में घूर्णित होनेवाले गँदले फेन और तिनकों से जिसे वितृष्णा हो जाती है और जो जीवन-धारा में उतरना नहीं चाहती, वैसी ही बौद्धिकता आज के जीवन और साहित्य में राजनीति की छाया देखकर साहित्यकार को युक्तिपोषण (**Rationalization**) की ओर प्रेरित करती है। फिर वे साहित्य में राजनीति के प्रवेश को दलबन्दी का परिणाम समझने लगते हैं।

इन दोनों दृष्टिकोणों में कुछ-न-कुछ तथ्य अवश्य है। राजनीतिक पूर्वग्रहों के कारण डा० रामविलास शर्मा की आलोचनाएँ कुत्सित समाजशास्त्रीयता की

दलदल में जा फँसी है और यशपाल जैसे प्रौढ़ और अनुभवी कथाकार की उपन्यास-कला की परिणति "मनुष्य के रूप" और "पार्टी कामरेड" में हुई है। कविता की तो और भी दयनीय दशा हुई। इसका साक्षी कविवर नागार्जुन की कविताएँ हैं। कविता की यह मात्र दुर्दशा नहीं, बल्कि उसका भविष्य भी सदिग्ध हो गया है; क्योंकि प्रगतिवादी आन्दोलन ने काव्यवस्तु को इतना परिसीमित कर दिया कि कविता के नाम पर पिट-पिटाये भावों और खोखली भावुकता का प्रदर्शन होने लगा। अनुभूत भावों की दुहराहट से घोर मोनोटोनी (एकरसता) की सृष्टि हुई, जिसने एक ओर पाठकों को कविता-मात्र से वितृष्ण कर दिया, दूसरी ओर कवियों को भी कला के दायित्वों से मुक्ति दे दी। जब भावों में ही नवीनता और नयी अनुभूतियों का आवेग नहीं रहा, तब फार्म और टेकनीक को नवीनता और काव्य-शिल्प की संभावनाओं की खोज व्यर्थ ही है।

एसी कुंठा और बन्ध्यता से विरक्त आज के कुछ लेखकों ने, जिनके विचारों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, प्रतिक्रिया में बिलकुल उल्टी दिशा पकड़ ली है। इसके कई कारण हैं; पर उनका उल्लेख एक तो हमें विषय-वस्तु से दूर ले जायगा; दूसरे, हम पर भी कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दोषारोपण करने की गुंजाइश हो जा सकती है।

अस्तु, जब हम साहित्य में राजनीति के प्रवेश करने के सवाल पर विचार करें, हमें प्रतिक्रियाओं के रपटीलें पथ से यथासंभव दूर ही रहना चाहिए। इस प्रयास में साहित्यिक मूल्यों की सत्ता को प्रधानता देते हुए समाज-जीवन को आवेश-उद्वेग प्रदान करनेवाली शक्तियों को समझना होगा। उनसे दामन बचाकर चलने की कोशिश में हम आत्मलीन और असामाजिक होकर रह जायँगे। यह भय हमें सप्तक पर राग आलापनेवाले कवियों की अनेक रचनाओं को देखकर होता है, और वह भी इसीलिए कि आज ये ही कवि कुछ सक्रिय और संघटित रूप से लिखते हैं और इनका ही (अच्छे से अधिक बुरा) प्रभाव उदीयमान कवियों पर पड़ता है।

साहित्य में राजनीति का प्रवेश केवल राजनीतिक दलों के प्रचार की आवश्यकता पर नहीं हुआ है। इसका कुछ दूसरा ही बुनियादी कारण है। वह कारण तभी स्पष्ट होगा, जब हम समझ लेंगे कि साहित्य के क्षेत्र में राजनीति के आने का अर्थ किसी भी राजनीतिक पार्टी-विशेष के आदेशानुसार प्रचार-साहित्य तैयार करना नहीं, बल्कि जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए जनता का राजनीतिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार से अधिक सचेष्ट होना और फिर उसकी अनुभूतियों को, जिसका रंग और टोन (**tone**) राजनीतिक है, साहित्य में ग्रहण करना है। साफ शब्दों में कह सकते हैं, आज हमारे जीवन में किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन राजनीति के माध्यम से ही संभव है। इसलिए वर्त्तमान सामाजिक गतिरोध को (जिसकी तह में मुख्यतया आर्थिक स्वार्थों का विकार है) दूर करने के लिए जनता राजनीति का भरोसा रखती है। इस राजनीति का साहित्यिक मूल्य इतने भर के लिए है कि यह नये समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील जनता की आशा-आकांक्षा, सुख-दुःख को व्यक्त करती है। इस अर्थ में ही साहित्य की राजनीति-उन्मुखता सामयिक परिस्थिति का परिणाममात्र नहीं है, यह तो प्रगतिशील जीवन की चेष्टा है।

यह कोई नयी प्रवृत्ति भी नहीं है। चिरकाल से ही साहित्यकारों ने युग की आवश्यकताओं से प्रेरणा ली है। मध्य युग में धर्म के कारण जीवन के सूत्र उलझ गये थे, प्रेरणाएँ अवरुद्ध हो चली थीं। समस्याओं का निदान हमेशा धार्मिक सुझावों के जरिए हो पाता था। इसका असर साहित्य पर किस तरह पड़ता है, यह तुलसी के "रामचरित मानस" में स्पष्ट है। उसी प्रकार आज राजनीतिक क्षेत्र में ही सामाजिक जीवन के अनुभव-केन्द्र हैं, जिनकी अवहेलना साहित्य के लिए हानिकारक ही होगा? हाँ, यह अलग सवाल है कि क्या जनता का राजनीति की ओर इतना झुक जाना वांछनीय है? यह सवाल वस्तुतः साहित्य का प्रश्न नहीं रह जाता।

आज हमारे साहित्य में राजनीति की इतनी प्रमुखता जो आ गयी है, वह केवल सिद्धान्त रूप में नहीं। यह तो यथार्थ अनुभति का परिणाम है। संवेदनाशील हृदय जिन अनुभव-स्थलों को छूता है, वे राजनीतिक प्रेरणाओं से

ओत-प्रोत हैं। इसलिए साहित्यकार को जग-जीवन की अनुभूतियों से झगड़ना नहीं है; बल्कि आवश्यकता है उन अनुभूतियों की संतुलित अभिव्यक्ति की। साहित्य भाव-जगत् की वस्तु है। यदि भाव-विधान में परिवर्त्तन हो गया है, तो नयी भाव-वृत्ति को ही ग्रहण करना साहित्यकार का धर्म है, वह फिर जिस क्षेत्र से भावों को ग्रहण करना चाहे, करे। यदि उसने राजनीति की महत्ता को ग्रहण कर लिया है, तो ठीक ही है। पर इतने से उसका काम तो नहीं ही चलेगा; क्योंकि अच्छे-बुरे साहित्य की जाँच की कसौटी केवल विषय-वस्तु अथवा भाव-जगत् नहीं है। उनकी परख तो साहित्यिक मूल्यों के आधार पर भी करनी होगी। तभी साहित्य निरा "प्रचार का माध्यम" नहीं रहेगा।

साहित्य का भविष्य

कहना कठिन है कि साहित्य का भविष्य कैसा है। कौन-से साहित्य का भविष्य? अपने साहित्य का? या सारे साहित्य मात्र का? दोनों का जवाब देना है, तो पहले साहित्य के भविष्य पर ही विचार किया जाय। साहित्य का जन्म कैसे हुआ? कौन-सी सामाजिक शक्तियों ने साहित्य को जन्म दिया? इसके बारे में मतैक्य नहीं है। निर्विवाद हम इतना ही कह सकते हैं कि इन्सानी जरूरतों, इच्छा-आकांक्षाओं की भित्ति पर ही साहित्य की सृष्टि हुई। और जब-जब मानवीय आवश्यकताओं, इच्छाओं में परिवर्त्तन आया, साहित्य में भी तदनुसार परिवर्त्तन हुआ। जीवन और साहित्य, दोनों एक दूसरे के पूरक रहे हैं। हाँ, साहित्य में व्यक्त जीवन वास्तविक जीवन से कुछ भिन्न होता है। इसके कई कारण हैं। साहित्य का जीवन कुछ अनहोना-सा, आदर्शोन्मुख रहता है।

साहित्य की रचना क्योंकर संभव हुई? अभिव्यक्ति के लिये और कई सामाजिक कारणों की वजह से। साहित्य से पहले, समाज-वैज्ञानिकों की

ऐसी धारणा है, चित्र, नृत्य, और संगीतकला जन्म लेकर प्रौढ़ हो चुकी थीं। आदिम मनुष्य चित्र शायद इसलिए बनाता था, विशेष कर, जानवरों के, कि उन्हें पहिचाना जा सके, उनको मारने या उनका सामना करने के लिए पर्याप्त शिक्षा दी जा सके। संगीत और प्रथम कविता का प्रादुर्भाव भी शायद आदिम मनुष्यों में हिम्मत और जोश भरने के लिये, डर भगाने के लिए, सम्मिलित शक्ति का अन्दाजा लगाने के लिए, सामूहिक ताकत का आह्वान करने के लिये और अन्त में निराशा और थकान मिटाने के लिये हुआ होगा।

कई मानों में कविता और साहित्य के सम्बन्ध में आज भी यही कुछ बातें कही जा सकती हैं। यों तो मानव-प्रगति और विकास की हद ही नहीं। इन्सानी हरारत और कर्म बेतरह आगे बढ़े हैं; लेकिन उसका भाव अभी तक आदिम है, कहीं कुछ तबदीली नहीं हुई है। और, क्या यह खतरनाक बात नहीं? इसकी तरफ हमारा ध्यान जाना चाहिये। और, जब भावों का परिष्कार संभव नहीं हो पाया, तब इसका अर्थ यही हुआ कि ऐसी शक्तियाँ जो भावों का परिष्कार कर सकती हैं, अभी अपने में कारगर होने के लिए ताकत नहीं ला पाई हैं। साहित्य उनमें से एक तो अवश्य है।

साहित्य-चिंतन की प्रक्रिया पर एक सरसरी नजर डालें। मनुष्य में आदिम तटस्थता थी, फिर आदिम आत्मनिष्ठता आई। तटस्थता और आत्मनिष्ठता के स्वरूप से मानव की पहिचान आज भी पूर्ण रूप से हो पायी है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह आदिम मनुष्य के लिये असंभव था कि अपने बारे में कदाचित् गंभीर होकर सोचे। प्रकृति की आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखना, उनके बारे में कुछ निश्चित मत निर्धारित करना ही मानव-मस्तिष्क का शायद पहला बौद्धिक काम हुआ। इसीलिये हम देखते हैं कि सबसे पहले ज्योतिष-शास्त्र (astronomy) का विकास हुआ। चाँद, तारे और सूरज आदि के बारे में सर्वप्रथम मानव-जिज्ञासा जगी थी; उनको मानवीय रूप दिया गया। संध्या और ऊषा का नारीकरण, मानवीकरण, इस बात का प्रमाण है कि आदिम मनुष्य की वस्तुनिष्ठता वैज्ञानिक होकर काल्पनिक थीं। लेकिन इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि आदिम

मनुष्य ने चिंतन के पहले प्रहर में अपने बारे में कुछ नहीं सोचा। अपनी दुनिया से जो चीजें शायद सबसे ज्यादा दूर हैं, उनके बारे में सोचा—आसमान के ग्रहों और नक्षत्रों के बारे में। हाँ, उनका रूप मानवीय दिया; क्योंकि संस्कृति और सभ्यता के बचपन में सोचने की प्रक्रिया और रुचि का केन्द्र सोचनेवाला स्वयं है। ज्योतिष के बाद पदार्थ-विज्ञान का विकास, उसके बाद रसायनशास्त्र का, उसके बाद जीवशास्त्र का, उसके बाद मानवशरीर-शास्त्र का, उसके बाद समाज-शास्त्र का, उसके बाद मनोविज्ञान का, इत्यादि। विकास की इस रेखा का अगर हम अध्ययन करेंगे, तो पता चलेगा कि दूर से अपने नजदीक आने की कोशिश मानव की हमेशा रही है। इस क्रम में उलट-फेर की कोई गुंजाइश नहीं है।

साहित्य की प्रक्रिया भी कुछ ऐसी ही चली है। यह समानता कुछ अकारण नहीं है। यह इसलिये है कि सोचने की प्रक्रिया इसी तरह चली है चलती है। साहित्य में सबसे पहले प्रकृतिवाद (naturalism) आया। कुछ साहित्य के मर्मज्ञों का कहना है कि साहित्य में सबसे पहले यथार्थवाद (realism) का समावेश हुआ। यह एक अनुसंधान का विषय है। मेरी समझ से तो प्रकृतिवाद का यथार्थवाद से पहले आना लाजिमी है। स्मरण रहे, मैं यहाँ पर साहित्य के तार्किक विकास की रेखा बतलाने की कोशिश कर रहा हूँ। गो, यह भी ठीक है कि साहित्य के विकास की रेखा तार्किक विकास की रेखा के अगल-बगल होकर ही चलती रही है। प्रकृतिवाद के दौर में साहित्य में मानव-चित्रों और मूल्यों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। वर्णन और किस्सापन इस आन्दोलन के प्रमुख टेकनीक रहे हैं। एक उदाहरण देने से बात साफ हो जायगी। एक ड्राइंग रूम को लीजिये। प्रकृतिवादी 'ट्रिटमेन्ट' के मुताबिक ड्राइंग रूम के करीब-करीब सारे 'डीटेल' मिल जायेंगे। कुर्सियाँ कितनी हैं, कहाँ पर हैं, टेबुल कैसा है, कहाँ पर है, किस माप का है, किस रंग का है, कितना दाम हो सकता है; पियानो के रूप-रंग से लेकर आवाज तक की तस्वीर मिलेगी। कमरे में कितने चित्र हैं, उन चित्रों की विशद व्याख्या भी मिल जायगी। किनका कमरा, कौन-कौन व्यक्ति इसमें

अक्सर बैठते हैं, आदि, सब चीजों के बारे में काफी जानकारी मिल जा सकती है। "ट्रिटमेन्ट" कुछ ऐसा होता है कि मानव-पात्रों को भी हम कुरसी या टेबुल या पियानो की तरह वस्तुओं के अन्तर्गत ही शुमार करने लग जाते हैं; मनुष्य नहीं, वस्तु के रूप में। उनके दुःख और सुख, हास और रुदन, अर्थात् उनके मानवीय गुणों से हमारा परिचय कदापि नहीं होता है। प्रकृतिवाद के वाद को आदिम वस्तुनिष्ठा का एक अभिन्न रूप हम मान सकते हैं। अपने बारे में लिखते हुए भी, अपने को प्रमुख स्थान देते हुए भी अपने को निरी वस्तु बनाकर विश्लेषण करना प्रकृतिवाद का ध्येय था।

साहित्य की प्रगति में दूसरा स्थान आता है यथार्थवाद का। ऊपर दिये गये उदाहरण को ही लें। यथार्थवाद के अन्तर्गत प्रकृतिवाद की सारी चीजें तो रहीं, साथ-साथ मानव-स्थितियों के वर्णन, चित्रण को भी जगह मिली यथार्थवादी अन्दाज में। इसमें कल्पना और आदर्श के लिये कोई गुंजाइश नहीं। दुनिया में, आसपास में जैसा होता है, जैसी जिन्दगी बिताई जाती है, उसीका चित्रण यथार्थवादी आन्दोलन में किया जाय। पात्र अथवा चित्रण में कोई अस्वाभाविकता न आये। ऐसा न हो कि साहित्य स्वर्ग की परियों के प्रेमोच्छ्वास की कहानी बन जाय। यथार्थवाद ने एक कदम आगे रखा; पर जमाने की रफ्तार ने इसे भी पुराना और निकम्मा बना दिया। एक तो इसकी आदर्शहीनता, स्वप्न की कमी; दूसरे यह एक गलत किस्म के प्रकृतिवाद में आगे जाकर परिणत हो गया—एक तरह की पत्रकारिता में। साथ-साथ यह सवाल उठा कि यथार्थ चित्रण क्यों? मानव-जीवन की प्रगति में विश्वास रखनेवाले साहित्यिक ऐसा तर्क करने लगे कि इंसान की तरक्की का एक मरकज हो, मकसद हो और साहित्य अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा उस मकसद को हासिल करने में मदद दे। वह काल्पनिक चित्र तो कभी न रखे, यथार्थवादी चित्र पेश करे और साथ-साथ विकास के कार्यक्रम में दिलचस्पी लेकर उसी दिशा में सहायक बने। इन प्रेरणाओं की वजह से एक नये वाद का जन्म हुआ, जिसे समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं। रूसी क्रान्ति के जमाने में लेनिन और गोर्की ने इसी विचारधारा का प्रचार किया। अच्छी चीज साबित

हुई यह। लेकिन बाद में चलकर इसका भी यथार्थवाद के घेरे में पतन हो गया। पतन को अगर छोड़ भी दें, तो भी समाजवादी यथार्थवाद में 'दूसरी जमात' (secondary group)—राजनीतिक और आर्थिक संकट, विषमता संगठन आदि का चित्र पेश किया; लेकिन पहली जमात (primary group) ने परिवार, पड़ोसी, प्यार, मैत्री, ममता, खेल आदि से साहित्य को वंचित रखा। यह स्मरण रहे, पहली जमात ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाती-सँवारती है। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य की प्रगति रुक गई। आज की दुनिया का साहित्य यहीं पर आकर रुक गया है। सबसे उन्नत और समृद्धिशाली साहित्य का भी यही हाल है। विश्व-कम्युनिस्ट-आन्दोलन ही साहित्य के इस पतन के लिए जिम्मेदार है।

एक नवीन साहित्य-दर्शन की आवश्यकता है। वह ऐसा साहित्य-दर्शन हो, जिसमें दोनों सामाजिक जमातों, प्राथमिक और दूसरी जमातों की संगठित और संतुलित तस्वीर मिले। आदर्श हो, मानवीयता भी हो, वर्ग-संघर्ष भी हो और साधन और साध्य की शानदार तस्वीर भी मिले। ऐसे आन्दोलन को हम समाजवादी मानवतावाद कह सकेंगे। यही साहित्य का भविष्य है।

हिन्दी का वीर-काव्य--राष्ट्रीय काव्य

हिन्दी-साहित्य का आदि रूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा प्रचारित होनेवाले वज्रयान-तत्त्व में मिलता है। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में से हुए। अपने मत का संस्कार कर डालने के लिए वे संस्कृत भाषा के प्र ोग के साथ-साथ अपनी अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा का भी प्रयोग करते थे। वह मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मगही भाषा थी। इसके प्रथम कवि सरहपाद या सरहा हुए। मागधी से निकलने के कारण डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहा को बंगाली का प्रथम कवि माना है; पर नालन्दा और विक्रमशिला की भाषा स्पष्टतः बिहारी है (यह संध्याभाषा के नाम से प्रसिद्ध है) और उपर्युक्त स्थान भी बंगाल में नहीं है। काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार संध्याभाषा

मिथिला के निकट संवत् ६७० के आसपास प्रचलित थी और उसका साहित्यिक रूप संवत् ८०० के आसपास प्रगट हुआ।

पर हिन्दी-काव्य की सुदृढ़ परम्परा का आरम्भ वीर-काव्य से होता है। संसार के समस्त साहित्य का सूत्रपात ही वीरभावना से हुआ है। ग्रीक, लैटिन, अँगरेजी, संस्कृत इत्यादि के साहित्य इसके प्रमाण हैं। हिन्दी-काव्य तो वीरता की गोद में खेलकर ही बड़ा हुआ है। अपनी अबोधावस्था में ही उसने अपने आँगन में लोहा बजते देखा था।

प्रथम उत्थान

वीर-काव्य का प्रथम उत्थान ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में शुरू होता है। उसका आरम्भिक रूप खुमान रासो, वीसलदेव रासो इत्यादि में मिलता है। इस काल के काव्य के दो रूप हैं—प्रबन्ध-काव्य (खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द्र प्रकाश, जयमयंक जसचन्द्रिका इत्यादि) और मुक्तक (बीसलदेव रासो, आल्हा खंड इत्यादि)। एक में लम्बे जीवन-वृत्त प्रस्तुत किये गये हैं और दूसरे में वीर-गीत (Ballads)। इस काल के काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(१) इस समय के कवि राज्याश्रित होते थे। उन्हें राज्य की ओर से संरक्षण और पसाव (दान-धन) मिलता था, उपाधियाँ भी मिलती थीं। इसलिए दिल्ली, कन्नौज और महोबा न केवल राजनीति के गढ़ थे, वरन् साहित्य के भी। यदि दिल्ली में पृथ्वीराज और चन्दवरदाई थे, तो कन्नौज में जयचन्द और जगनिक। अतः तत्कालीन साहित्य में अभिभावकों के कीर्त्तिगान का स्वर है। यह 'ख्यालख्यात' (प्रशंसात्मक काव्य) है।

(२) इस समय भारत में किसी केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। देश खंड-खंड हो गया था। छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। मुसलमानी आक्रमण के समय देश के पश्चिमोत्तर भाग में, जहाँ प्रथम आक्रमण हुआ, चौहान, चदेल, गहरवार, परिहार इत्यादि के अपने-अपने राज्य थे। इन राज्यों में परस्पर विरोध और वैमनस्य भी था। अतः तत्कालीन साहित्य में विदेशी

आक्रमणों से जो देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई, वह राज्याश्रित कवियों द्वारा रचित ग्रंथों में देशव्यापी न होकर व्यक्ति-प्रधान हो गई और उनमें परस्पर वैर-फूट की भावना का मिश्रण हो गया।

पर गौरव की बात यह हुई कि फट का प्राबल्य होते हुए भी भारत के सपूतों और ललनाओं ने अद्वितीय वीरता का परिचय दिया और देश के लिए प्राणों पर खेल गये। इस काल के ग्रंथ इस वीरता के परिचायक भी हैं। आल्हाखंड में हम उन वीरों का नारा इस रूप में सुनते हैं—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ
औ तेरह लै जिए सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ
आगे जीवन के धिक्कार ।।

(३) उस समय के कवि न केवल कवि थे, वरन् राजाओं के अन्तरंग सखा एवं सामंत भी थे। वे अपने आश्रयदाताओं के साथ आखेट और युद्ध-भूमि में भी साथ रहते थे। अनेक कलम और तलवार दोनों चलाने में निपुण थे। चन्दवरदाई एक ऐसे ही कवि थे। अतः इस काल के ग्रंथों में युद्धों का आँखों-देखा हाल वर्णित है। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज और शाह के युद्ध का, जिसमें शाह पराजित होकर पकड़ा गया, सजीव वर्णन है—

हुए वरंग रक्त वर भयो जुद्ध अति चित्त।
निस-बासर समुझि न परत को हार नह जित्त।
जीत भई पृथिराज की, पकरि साह लै संग।
दिल्ली दिसी मारगि लगौ, उतरि घाट गिरिगंग।
वर गोरी पदमावती गहि गोरी सुलतान।
निकट नगर दिल्ली गये, पृथ्वीराज चहुँआन।

(४) पर ये ग्रंथ विशुद्ध वीर-काव्य के ग्रंथ नहीं हैं। वे वीर रसाभासी (**Pseudo heroic**) हैं। वे प्रेम-वीर काव्य हैं; क्योंकि उनमें वीरता के साथ शृंगारिकता का भी पर्याप्त वर्णन है। शायद उस समय का जीवन ही ऐसा था। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की बहन का नखशिख वर्णन हुआ है।

वीसलदेव रासों में संयोग-वियोग-गाथा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—

कुँवरि कहइ सुणि, साँमस्या राव।
काई स्वामी तू उलगई जाइ ?
कहेउ हमारउ गइ सुणेउ,
थारइ छइ सार अँतेवरी नारि ।।
कड़वा बोल न बोलिस नारि।
तू मो मेल्हसी चित्त बिसारी ।।

जीभ न जीभ विगोयनो,
दव का दाधा कुपली मेल्हइ ।।
जीभ का दाधा न पाँगुरइ।
नाल्ह कह सुणजिइ सव कोइ।

(५) पर एक दृष्टि से इस काल का साहित्य हिन्दी के समस्त साहित्य में अभूतपूर्व महत्त्व रखता है। इसमें नारियों की वीरता का जयघोष हुआ है। यह एक महत्त्वपूर्ण देन है। एक ऐसी नारी का पति युद्ध में गया है। वह सोचती है कि यदि पति बिना मरे या बिना विजयी हुए घर आयेंगे, तो पग-पग पर चूड़ियाँ तोड़कर फेंक दूँगी; मैं वीर क्षत्रिय-बाला हूँ—

बिण मरियाँ बिन जीतियाँ, जो धव आवै धाम।
पग-पग चूड़ी पाछटूं, तो रावत री जाम ।।

(६) इस काल के ग्रंथों के प्रधान छंद हैं दोहा और छप्पय। वैसे फुटकल रचनाओं में गीत छंद का प्रयोग भी सुन्दर है। अलंकारों में वर्णनात्मक कविता में सजीवता लाने के हेतु सादृश्यमूलक अलंकारों—उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। हाँ, इनमें एक और खास अलंकार प्रयुक्त हुआ है—पयण सगाई। यह शब्दानुप्रास-परिवार का ही ही एक अलंकार है। कुछ दिनों तक इसका इतना प्रचार हुआ कि यह डिंगल के कवियों की प्रतिभा की कसौटी बन गया था। आगे चलकर सूर्यमल नामक कवि ने भावों की स्वच्छंदता के नाम पर इसका विरोध किया।

(७) ये ग्रंथ प्रामाणिक नहीं हैं; क्योंकि इनमें दी हुई युद्ध इत्यादि की तिथियाँ इतिहास की तिथियों से मेल नहीं खातीं। इनमें परवर्ती रचनाओं और घटनाओं का भी वर्णन हुआ है। इनकी भाषा भी रचना-काल से बाद की मालूम होती है।

इस काल का प्रथम ग्रंथ दलपत विजय रचित खुमाण रासो है। इसमें मेवाड़ के अधिपति खुंमाण द्वितीय का वर्णन है। खुंमाण द्वितीय का राज्यकाल सं० ८७० से ९०० तक माना जाता है। अतः दलपत विजय का समय भी यही रहा होगा। पर खुंमाण रासो की भाषा सं० १७०० से पहले की नहीं जान पड़ती, जैसे—

महाराज राज राजेश्वरी, दलपति सूँ कीजे दया।
धन मोज महिर मातंगिनी, माय करो मोसूँ मया।।

अतः इस ग्रंथ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ है बीसलदेव रासो। इसके रचयिता हैं नरपति नाल्ह, जिनके गोत्र इत्यादि के सम्बन्ध में अभी तक कुछ निश्चय नहीं हो सका है। इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। किसी में रचना-काल सं० १२१२ लिखा है और किसी में सं० १०७३। चूंकि बीसलदेव चतुर्थ का काल सं० १२०० से १२२१ तथा नाल्ह को उनका समकालीन माना जाता है, इसलिए लोग पहले रचना-काल (१२१२) को ही उचित मानते हैं। इसमें बीसलदेव के साथ मालवा के भोज की पुत्री राजमती का विवाह, बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा जाना और फिर लौटना वर्णित है। कथा अनैतिहासिक है। भाषा बोलचालवाली राजस्थानी है और पग-पग पर छंदोभंग है। हाँ, इसकी राजस्थानी में हिन्दी का सुन्दर मेल हुआ है जैसे, 'मोती का आखा किया'; 'चन्दन काठ को माँड़वो', 'सोना की चोरी', 'मोती का माल' इत्यादि। स्थान-स्थान पर काव्य में बड़ी सरसता आई है, जैसे—

परणवाँ चाल्यो बीसलराव
पंच सखी मिलि कलस वन्दावि।
मोती का आखा किया।

कूँ कूँ चन्दन पाका पान।
अमली समली आरती।
जाई बधेरइ दियों मिलाण।

सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है चन्दवरदाई का पृथ्वीराज रासो। चन्दवरदाई जाति के भाट थे। इनके पिता का नाम वेणु और गुरु का गुरु प्रसाद था। इनका जन्म लाहौर में हुआ। जन्म और मृत्यु की तिथियाँ अनिश्चित हैं। पर चूँकि यह प्रसिद्ध है कि आप पृथ्वीराज के साथ ही जनमे और मरे (इक्क दहि उत्पन्न इक्क दीहै समय क्रम), इसलिए जन्म-संवत् १२०५ और मत्यु-संवत् १२४६ माना जाता है। आप पृथ्वीराज के सखा और सामंत थे। षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, छंद-शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत इत्यादि में निपुण तथा अश्वारोहण, शब्दवेधी वाण चलाने इत्यादि में सिद्धहस्त थे। कहा जाता है कि आपको जालंधरी देवी का इष्ट था और इसलिए अदृष्ट काव्य भी कर लेते थे। इनकी दो पत्नियाँ—कमला और गौरी, एक कन्या और दस पुत्र थे।

पृथ्वीराज रासो में अग्नि से चौहानवंश की उत्पत्ति और चौहानों की अजमेर में राजस्थापना से लेकर पृथ्वीराज के बंदी होने और दिल्ली की गद्दी पर पृथ्वीराज के पुत्र नारायण सिंह के बैठने तथा उनकी हत्या के बाद दिल्ली के पतन होने तक की कथा है। इसमें ढाई हजार पृष्ठ और ६९ सर्ग हैं। प्रमुख छंद हैं छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जिस तरह कादम्बरी को वाणभट्ट के पुत्र ने पूरा किया, उसी तरह पृथ्वीराज रासो को चन्द के पुत्र जल्हन ने।

अन्य ग्रंथों की तरह इसकी प्रामाणिकता में भी संदेह किया जाता है और इसे समसामयिक रचना नहीं माना जाता। अप्रामाणिकता के पक्ष में निम्नलिखित तर्क हैं—

(१) इसमें वर्णित घटनाएँ इतिहास, शिलालेखों तथा पृथ्वीराज के समकालीन कवि जयानक-लिखित 'पृथ्वीराज विजय' में उल्लिखित घटनाओं से मेल नहीं खातीं। इसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी लिखा है।

सोमेश्वर का दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना, पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद में जाना, समर सिंह का पृथ्वीराज के समकालीन होना संयोगिताहरण इत्यादि बातें जो रासो में लिखी हैं, अब अनैतिहासिक सिद्ध हो चुकी हैं। इसमें चौहानों की उत्पत्ति अग्नि से मानी गयी है, जब कि चौहान अपने को सूर्यवंशी मानते हैं।

(२) इसमें पृथ्वीराज के बाद के राजाओं का भी आरम्भ से उल्लेख हुआ है।

(३) इसकी तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। इसमें पृथ्वीराज का जन्म-संवत् ११०५ माना गया है, जबकि शिलालेखों और दानपत्रों के अनुसार उनका समय सं० १२२४ और १२४४ के बीच ठहरता है। रासो में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में होनेवाले युद्ध का समय सं० ११५८ माना गया है, जब कि फारसी तावारीख के अनुसार वह सं० १२४८ ठहरता है।

(४) भाषा भी कई प्रकार की, यानी कई कालों की जान पड़ती है—

प्राचीन भाषा—त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाषारिअइं हय।
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय।

बाद की भाषा—मनहु काम कामिनि रचिय, रचिर रूप की रास।
पशु पंछी सब मोहिनी, सुर नर मुनियर पास॥

द्वितीय उत्थान

हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन की मृत्यु के साथ ही जैसे देश की स्वतन्त्रता खो गई। मुसलमानी राज्य के पाँव अत्यन्त सुदृढ़ हो गए। देश की भावना राष्ट्रीयता से हटकर भगवान के चरणों में खेलने लगी। अकबर की दूरदर्शिता काम कर गई। भारत दरिद्र हो गया। किन्तु इसी दरिद्र भारत की कोख से एक ओर राजनीति के क्षेत्र में महाराणा प्रताप पैदा हुए और दूसरी ओर काव्य के प्रांगण में सूर और तुलसी। रामायण में स्थान-स्थान पर राजनैतिक चेतना का तीखा स्वर मिलता है—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

—जैसी पंक्तियों पर कुछ ही वर्ष पहले प्रतिबन्ध लगने जा रहा था। मानस के लक्ष्मण उस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं, जो कहते हैं—

यहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं।
जो तर्जनि देखत मरि जाहीं॥

अथवा

रघुबंसिन्ह महुँ, जहँ कोई होई।
तेहि समाज अस कहइ न कोई॥

सूरदास जी ने भी बाल गोपाल के शोभा-वर्णन के साथ युद्धरत भीष्म की कठिन प्रतिज्ञा का आग्नेय उल्लेख किया है—

आजु जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजों गंगा-जननी को सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खण्डि महारथ खण्डौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करो सपथ मोहि हरि की, छत्रिय गतिहि न पाऊँ॥
पांडव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

पर ऐसे वर्णन एक-आधा ही हैं। वे स्वभाव से भक्त थे और उनके काव्य का प्रमुख रस शान्त ही है। केशवदास ने भी 'रतनबावनी' में रत्नसिंह की वीरता पर अनेक छप्पय लिखे और भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के विलास-वैभव के बीच चारणकाल की परम्परा को प्राण देनेवाले उन्हीं भाटों के कवि गंग ने अनेक वीररसपूर्ण कवित्त लिखे—

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत मान
एक न तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बलकी बयारि लगे
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की।
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं
रही न निसानी कहूँ मोह में गरद की।

गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी,
गौरिपति गही पूँछ लपकिं बरद कीं ।।

किन्तु इन कवियों का काव्य चमत्कार-प्रधान ही रहा। इनमें कविताई दिखलाई गई थी। इनमें वह बल न था, जो प्राणों में उद्वेलन भर दे।

तृतीय उत्थान

इसी बीच एक घटना घट गई। अदूरदर्शी औरंगजेब के अनाचारों एवं अत्याचारों ने मर्माहत भारतीयों को एक बार फिर उभाड़ दिया। उधर गुरु गोविन्दसिंह, छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रशाल के तीर और तलवार चमके और इधर भूषण, लाल, मान, हरिकेश, सूदन इत्यादि के कवित्त एवं सवैया आग उगलने लगे। जिस तरह शंकर ने बसन्त के बीच कामदेव को भस्म करने के लिए तृतीय नेत्र खोला था, उसी प्रकार रीतिकाल की विलास-बाँसुरी को निस्पंद करने के लिए भूषण ने वीर-काव्य का शंखनाद किया। जिस तरह सर इकबाल ने औरत पर एक भी कविता नहीं लिखी, उसी तरह भूषण ने शृंगार पर कोई कवित्त नहीं लिखा था। केवल एक छंद शृंगारपरक समझा जाता है; किन्तु उसका रूपक भी वीरप्रधान ही है। भूषण का काव्य व्यक्तिप्रधान नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उन्होंने शिवाजी और छत्रशाल की प्रशस्ति कही है। भूषण का नायक है राष्ट्र। वे शिवाजी की प्रशंसा इसीलिए करते हैं कि—

'शिव जी न होते, तो सुनत होति सबकी' ।

और इसलिए भी कि शिवाजी 'हिन्दुआन की ढाल' हैं। सही है कि भूषण की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता है—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत ।
रामनाम राख्यो, प्रति रसना सुघर में ।।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की।
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में ।।

पर उस समय किसी भिन्न राष्ट्रीयता की कल्पना भी कैसे की जा सकती थी। तब मुसलमान आज के राष्ट्रीय मुसलमान (Nationalist

Muslims) नहीं थे । वे आक्रमणकारी थे, देशवासी नहीं । अतः भूषण की राष्ट्रीयता जातीय (Communal) नहीं, वरन् सांस्कृतिक (Cultural) है ।

भूषण वीररस के आचार्य हैं । युद्ध और वीरता का जैसा लोमहर्षक वर्णन उन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट मैं ।
ताहि समै सिवराज हुकुम के हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला बीरवर जोट मैं ।।
भूषण भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौ कहौं,
किम्मत इहाँ लगि है जाकी भट-ओट मैं ।
ताव दै दै मूछन कँगरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट मैं ।।

चतुर्थ उत्थान

वीर-काव्य अथवा राष्ट्रीय काव्य का चतुर्थ उत्थान १९ वीं शताब्दी में हुआ । १७०७ ई० में औरंगजेब का देहान्त हुआ और १७०८ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार शुरू हुआ । १७५७ के पलासी-युद्ध के बाद सामान्यतः अँगरेजी राज्य की स्थापना हो गई । कम्पनी के शासन में भारत का व्यापार नष्ट हुआ, धन विदेश जाने लगा, ऊँचे सरकारी पदों पर विदेशी बैठने लगे और किसी प्रकार से दोष लगाकर देशी राज्यों को भी अँगरेजी राज्यमें मिलाया जाने लगा । १८५७ में होनेवाला विद्रोह एक विस्फोट मात्र न था, उसके पीछे कम्पनी के शासन का लगभग एक शताब्दी का इतिहास था, जिसे जौन ब्राइट ने 'पाप के सौ वर्ष' (A hundred years of Crime) कहा है । विदेशी शासन के दमन और शोषण, प्राकृतिक प्रकोप, टैक्स और दुर्भिक्ष के कारण गिरती हुई आर्थिक दशा तथा शोषण के चक्र से निकलने-वाली क्रान्ति की चिनगारियों ने हिन्दी-साहित्य की कल्पनाओं के गढ़ को ढाह

दिया। साहित्य में जीवन के प्रति, जीवन-दात्री धरित्री जन्मभूमि के प्रति संवेदना उत्पन्न हुई। अतः वह साहित्य जो अभी-अभी किसी काल्पनिक नायिका का अभिसार सजा रहा था, अब वास्तविक जीवन के सुख-दुःख, आशा और त्रास को वाणी देने लगा। इस काल के साहित्य का प्रतिनिधित्व किया भारतेन्दु ने। भारतेन्दु बाबू १८५० में उत्पन्न हुए और १८८५ में चल बसे। जब वे सात साल के थे, तब आधुनिक भारत की पहली क्रान्ति हुई थी और जिस साल उनका देहान्त हुआ, उसी साल अ० भा० राष्ट्रीय महासभा (All India National Congress) का जन्म हुआ। ऐसा लगा, मानों वे क्रान्ति से निकले और विद्रोह की प्रलयवह्नि जलाकर उसीमें समा गए। भारतेन्दु ने अपनी मुकरियों में राजसत्ता की जोंक-नीति के प्रति प्रबल क्षोभ व्यक्त किया—

भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन चूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहीं अंग्रेज।

और इस शोषण एवं पीड़ा के कारण क्या थे? तत्कालीन अँगरेजी शासन की आर्थिक नीति एवं कुछेक पदलोलुप भारतीयों का देशद्रोह. जो पदवियों और पदों के लिए शासन की बागडोर मजबूत कर रहे थे। स्वभावतः तत्कालीन साहित्य में शासन की उस आर्थिक नीति के प्रति, जो धार्मिक स्वातंत्र्य एवं व्यापार के भ्रमजाल में देश का रक्त चूस रही थी तथा उन देशी पदाधिकारियों के प्रति, जो वैयक्तिक लाभ के लिए देश का गुमान बेच रहे थे, विद्रोह एवं भर्त्सना का स्वर आया—

काहे तू चौका लगाय जयचंदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाय
काहे चोटि कटवा बुलाये जयचन्दवा॥—भारतेन्दु

पंडित प्रतापनारायण ने देश-सेवा को सबसे बड़ी शिक्षा और पोषष माना था। इन पंक्तियों में हम उनकी भीतरी वेदना पढ़ पाते हैं—

पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरें न देश कलेस।
जैसे कंता घर रहे, तैसे रहे विदेस॥

इस काल की साहित्यिक राष्ट्रीयता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) यह राष्ट्रीयता पहली बार देशव्यापी हुई; क्योंकि इंडियन एसोसियेशन (Indian Association) की स्थापना से राजनैतिक चेतना ने एक देशव्यापी रूप धारण कर लिया था। इसी देशव्यापी राष्ट्रीयता से प्रभावित होकर भारतेन्दु ने पहली बार समस्त भारतवासियों को देश की गिरी हुई दशा पर आँसू बहाने को आमंत्रित किया था—

आवहु सब मिलि कै रोवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

प्रेमघन ने राष्ट्र को सबल बनाने के लिए हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का नारा लगाया—

हिन्दू मुस्लिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती भ्रात॥

(२) यह राष्ट्रीय क्षोभ से ज्यादा आप्लुत है, रोष से कम। इसमें हृदय का मंथन और आँसू ज्यादा है, विद्रोह के शोले कम। कारण यह है कि तब तक क्रान्तियाँ छिट-फुट हुई थीं। वे जीवन में समा नहीं पाई थीं और साहित्य में जीवनव्यापी भाव ही सामान्यतः आते हैं। फिर १८५७ की क्रांति के बाद दमन का जो भीषण चक्र चला था, उसमें जीभ खोलना भी गुनाह था—

कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाई सकत कहुँ भारतवासी॥

स्वभावतः भारतेन्दुकालीन साहित्य में क्रान्ति के अंगार नहीं, क्षुब्ध लोचनों की गर्म धार है।

(३) इस राष्ट्रीयता में देश-प्रेम और राजभक्ति का विचित्र मेल है। इसका कारण यह है कि कम्पनी के शासन के अंत और विक्टोरिया के तत्कालीन घोषणापत्र का तत्काल अच्छा प्रभाव पड़ा। एक स्वर गूँजा— 'महारानी चिरंजीवी हो।' फिर विद्रोह के बाद शासन-सम्बन्धी अनेक सुधार हुए, रेल, नहर, सड़क इत्यादि बने। अतः जहाँ भारतेन्दु ने अँगरेजी राज्य की जोंक-नीति की भर्त्सना की, वहाँ यह भी कहा कि—

वृटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात ।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने कहा—

धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महरानी ।

पंचम उत्थान

इस परम्परा के काव्य का पंचम उत्थान गाँधीजी के १९२० वाले स्वदेशी आन्दोलन से आरम्भ होता है। इस काल के प्रतिनिधि कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल, 'सनेही', सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, निराला पंत, प्रसाद, अनूप शर्मा, दिनकर, श्यामनारायण पाण्डेय इत्यादि।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में अपनी लेखनी को सम्बोधित करके लिखा था—

निर्भीकता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो।
जग जायँ तेरी नोंक से सोये हुए हों भाव जो ॥

और वस्तुतः 'भारत भारती' एवं 'स्वदेश संगीत' ने उत्तर भारत के नवयुवकों के सोये भाव जगाये। वह कौन अभागा नवयुवक होगा, जो 'भारत भारती' के अतीत-खंड को पढ़कर करुणा एवं देशभक्ति से अभिभूत न हो उठता हो? कितनी तरुणाई उभारी होगी, कितने शहीदों की टोलियाँ सजाई होंगी और कितने वलिपंथियों को प्रेरणा दी होगी इस एक 'भारत भारती' ने, कौन कह सकता है? यह राष्ट्रीयता 'भारत भारती' से 'अजित' तक क्रमशः विकसित और परिष्कृत होती गई। कुछ लोग इन्हें राष्ट्रीय कवि न कहकर हिन्दू-कवि कहते हैं; क्योंकि इनके ग्रंथों के नायक हिन्दू हैं। किन्तु ऐसा कहना उस कवि के साथ अन्याय करना है, जो कहता है कि—

कोई हिन्दू कोई म्लेक्ष हो तो होता रहे यथेच्छ।
हिन्दू मुसलमान की प्रीति मेटे मातृ भूमि की भीति ॥

वे तो भारत की तीस कोटि जनता में तीस कोटि भगवान् देखते रहे—

भजो भारत को तनमन से,
बनो जड़ हाय न चेतन से।

करते हो किस इष्टदेव का।
आँख मूँदकर ध्यान?
तीस कोटि जनता में देखो
तीस कोटि भगवान्॥

'हिमकिरीटिनी' में संग्रहीत माखनलाल की कविताएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। 'पुष्प की अभिलाषा', 'कैदी और कोकिल' इत्यादि कविताएँ प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय आत्मा' की रचनाओं में राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का अभूतपूर्व संयोग मिलता है। वे भगवान् को एक सर्वथा नवीन परिवेश में देखना चाहते हैं—

उठा दो वे चारों करकंज।
देश को लो छिगुनी पर तान।
और मैं करने को चल पड़ूँ,
तुम्हारी यूगल मर्त्ति का ध्यान।

गाँधीजी की अहिंसा और आध्यात्मिक बलिदान का मर्मभेदी स्वर इन्हीं की रचनाओं में सुनाई पड़ता है—

बिगुल बज गई, चला सब सैन्य,
धरा भी होने लगी अधीर;
खाइयाँ खोदी रिपु ने हाय!
पार हो कैसे सैनिक वीर?
'पूर दें इनको मेरे शूर,
शरीरों से'—'दे दिये शरीर?'

पंत ने 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में; निराला ने अपनी अनेक कविताओं में तथा प्रसादजी ने अपने नाटकों के अनेक गीतों में राष्ट्रीयता के उद्बोधन गीत गाए हैं। पंत की 'भारतमाता ग्रामवासिनी ! निराला की 'वीनावादिनि वर दे' तथा प्रसाद की 'हिमाद्रितुंग शृंग से' तथा 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसी रचनाएँ अनमोल राष्ट्रीय गीत हैं। हिन्दी-साहित्य को छायायुग की ये अमल्य देन हैं।

नवीन उस कोटि के कवि हैं, जो गाँधीजी की रचनात्मक क्रान्ति में विश्वास न रखकर ध्वंस में निर्माण ढूँढ़ते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे
जिससे उथलपुथल मच जाये।
बरसे आग, जलद जल जाये।
भस्मसात भूधर हो जाये।।
नाश, नाश की, महानाश की
प्रलयंकर आँखें खुल जायें।।

दिनकर गाँधीवादी कोटि में हैं। वे भविष्य में विश्वास करते और आशा के साथ क्रान्ति के मार्ग पर बढ़ना चाहते हैं। उन्होंने कभी कहा था—

मंजिल दूर नहीं अपनी, दुःख का बोझा ढोनेवाले।
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोनेवाले।।

लेकिन उनकी विद्रोह-भावना भी कम प्रबल नहीं—

क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या, जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो?

स्व० सुभद्राकुमारी चौहान राष्ट्रीय काव्य-कानन की कोकिला थीं। 'वीरों का कैसा हो वसन्त', 'जालियाँवाला बाग में वसन्त', 'झाँसी की रानी' इत्यादि कविताओं में उस कोकिला की दाहभरी पुकार छिपी है।

अब देश स्वतन्त्र हो चुका है। अब हमारा स्वर ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक है। हमारे काव्य में भी अब निर्माण का मंगल-स्वर होगा। हमें यों कहना है—

जलधि ने बाँध दी सीमा, अवधि पर कूल लहराया।
तमस के पंथ को रोके दिवा का मान चढ़ आया।।
धरा को भेदनेवाली विभा ने रागिनी पाई।

प्रलय से खेलनेवाले सजन की मानिनी आई ।।
समर के सूरमा तूणीर में उपचार के नव वाण तुम भर लो ।
तलातल फोड़कर नवधार का सम्मान तुम कर लो ।
भवानी पूज ली गृह-देवता की आरती कर लो ।
पुरातन छंद टूटे आजकल की भारती वर लो ।।
—के० कु०

हिन्दी का सन्त-साहित्य

संत-साहित्य संत-मत की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। यद्यपि संत-मत की प्रतिष्ठा १५ वीं शताब्दी में महात्मा कबीर के द्वारा हुई; फिर भी बीज-रूप में यह आठवीं शताब्दी में सिद्धों की वाणी में मिलता है। कालान्तर में यही बीज नाथपंथ में अंकुरित हुआ, जो विशाल संत-मत के रूप में परिणत हुआ। अतः सिद्ध, नाथ और संत-मत में एक ही भावधारा दिखाई पड़ती है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने जब बौद्ध सहजयान के सिद्धाचार्यों के प्रति विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया, तो जाना गया कि बहुत-से सिद्धगण और नाथपंथ के आचार्य एक ही हैं। इस सूची में निर्गुण मत के संतों का नाम भी जोड़ दिया जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी मानते हैं कि "यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध-धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।" वस्तुतः सिद्धमत में ही हमें संत-मत का प्रारम्भिक रूप मिलता है, नाथपंथ दोनों को मिलानेवाली मध्यम कड़ी है।

जब बौद्ध-धर्म का ह्रास हो गया और शंकराचार्य ने पुनः हिन्दू-धर्म की पताका गाड़ दी, तो बौद्ध-मत के अनुयायियों ने बंगाल, बिहार और आसाम को अपना अड्डा बनाया। बौद्ध-धम की अन्तिम शाखा वज्रयान और सहजयान संप्रदाय बिहार से लेकर आसाम तक फैल हुआ था।

ये सिद्धपंथी घट के भीतर योग-क्रिया के द्वारा अनहद नाद सुनते थे, जिसकी आवाज डमरू की तरह होती थी—

"नाड़ी शक्ति दिअ धरिअ रवदे। अतह डमरू बाजइ वीरनादे।
कान्ह कपाली जोगी पइठ अचारे। देह-नअरी विहरई एकारे॥"

इसीका वैज्ञानिक और विकसित रूप हमें नाथपंथ के हठयोग में मिलता है, जिसमें साधक जब कुंडलिनी शक्ति को उद्बुद्ध कर सदाचार में ले जाता है, तो अमृतरस की वर्षा होती है। कबीर ने भी अपने संतमत में इसको स्थान दिया है।

इस तरह कबीर के पहले ही संतमत की पृष्ठभूमि तैयार थी। स्वयं कबीर का जन्म योगियों के उसी कुल में हुआ था, जिस पर सिद्ध और नाथपंथ का प्रभाव था। अतः हठयोग की साधना तथा वेदपाठ, तीर्थ-स्नान, छुआछूत आदि बाह्य अनुष्ठानों के प्रति अविश्वास की भावना उन्हें योगियों से विरासत में मिली थी। इसके अतिरिक्त कबीर ने रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया था और उन्हीं के संसर्ग से अद्वैतवाद, भक्ति और अहिंसा से वे प्रभावित हुए थे। दूसरी ओर सूफी मत की प्रेमभावना का भी उन पर गहरा रंग था। उपर्युक्त सभी मतों और वादों और धारणाओं की परिणति संतमत में हुई। पर यह नहीं समझना चाहिये कि कबीर की अपनी कोई मौलिकता नहीं थी। वस्तुतः कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने सभी धर्मों को अपनी आत्मा की कसौटी पर परखा और सत्य को ग्रहण कर एक ऐसे मत की नींव डाली, जहाँ पाखंड और वाह्याचार को स्थान नहीं था, जहाँ जाति-पाँति का बखेड़ा नहीं था, जहाँ परमात्मा से मिलने का रास्ता सबके लिये खुला था; अखंड आत्मविश्वास और अहेतुक भक्ति के सामने कबीर ने समस्त रूढ़ियों और बाह्याचारों का खंडन किया। वे समस्त पाखंडों और संस्कारों को विध्वंस करनेवाले क्रान्तिकारी थे। उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों की क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठकर निराकार ब्रह्म की उपासना की, जहाँ ईश्वर और खुदा का बखेड़ा नहीं है—

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरूक दहूँ नहीं नेरा ।
राखूँ व्रत न महरम जाना, तिसकी सुमिरूँ जो रहे निदाना ।।

कबीर ने जहाँ एक ओर हिन्दुओं और मुसलमानों के पाखंडों की आलोचना की, वहीं दूसरी ओर योगियों की क्लिष्ट साधना को भी व्यर्थ बताया। जिस दिन से महागुरु रामानन्द ने कबीर को भक्तिरूपी रसायन दी, उसी दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टंटों को नमस्कार किया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी--

साधो, सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी, दिन-दिन अधिक चली ।

सम्पूर्ण संत-साहित्य प्रेम-रस से आप्लावित है। परन्तु संत-कवियों का प्रेम रीतिकालीन कवियों की तरह ऐन्द्रिक और वासनामय नहीं, वरन् निरिन्द्रिय और आध्यात्मिक है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि संत-कवियों की भक्ति-साधना का केन्द्रविन्दु प्रेमलीला है। भक्त-रूपी प्रिया ने भगवान-रूपी प्रियतम पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। भगवान के विरह से भक्त जल रहा हैं । उसके हृदय में उसीसे मिलने की अमिट लालसा है।

कबीर ने भी इस प्रेमलीला को एक बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में स्वीकार किया है। राम के वियोग में उनकी तड़पन अत्यन्त ही हृदयद्रावक है---

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहीं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया ।

कबीरदास की भक्तिरूपी अभिसारिका आरती सजाकर प्रिय को ढूँढ़ने निकल पड़ती है, प्रेम-रस की बूँद से उसकी चुंनरी भीजती रहती है--

भीजै चुनरिया प्रेमरस-बूंदन ।
आरती साज के चली हे सुहागिनि,
प्रिय अपने को ढूँढ़न ।

साधना और प्रेम की यह मीलित झंकार समस्त संत-साहित्य में सुनाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त गुरु-महत्ता, बाह्याचार-खंडन और निर्गुण ब्रह्म की

उपासना इसके आवश्यक अंग हैं। कबीर में भी उपर्युक्त तत्त्व हमें असंदिग्ध रूप से मिलते हैं। संत-कवि दादू कहते हैं कि गुरु की कृपा से जब अन्तर के पट खुले, तो प्रभु की सारी साधना का भरोसा छोड़कर साधक निश्चिन्त हो गया। नाम के सहारे भी साधक भँवर-कमल को खोलकर आनन्द-सरोवर में किल्लोल करने लगता है और उसका रोम-रोम उस रस में सराबोर हो जाता है—

भँवर कँवल रस वेधिया, सुख सरवर रस पीव।
तहँ हँसा मोती चुणैं, पिउ देखै सुख जीव।

कबीर की तरह दादू की साखियों में भक्तरूपी विरहिन की तड़पन दिखाई पड़ती है—

वाला सेज हमारी रे तूँ आव
हौं बारी रे, दासी तुम्हारी रे।

दादू ने भी सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी वाह्याचारों की आलोचना की है; पर कहीं भी वे कबीर की तरह उग्र नहीं हुए हैं। अपनी बात उन्होंने अत्यन्त नम्रता से और प्रेम-भरे स्वर में कही है। दादू की समस्त रचना पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव है।

संत-कवियों में गुरु नानक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो सिख-मत के आचार्य माने जाते हैं।

संतों के लिए अन्तर्मुखता, दीनता, सेवा, वंदगी—ये चार बातें वे अत्यन्त आवश्यक मानते थे। 'जपु जी' सिखों की एक गीता है। उससे गुरु नानक के संप्रदाय में नाम-साधना का महत्त्व प्रकट होता है। उनका कथन है कि नाम वह साबुन है, जो लाख-लाख जन्मों के पाप को धो डालता है। नाम ही से मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। नानक देव ने गाया है—

रे मन राम से कर प्रीत
श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत।

नाम सुमरन, हरीकीरतन और प्रेम भगति नानक की साधना का केन्द्रविन्दु है। वाह्य आडम्बर की उन्होंने भी कबीर के समान कटु आलोचना की थी—

"जटा जनेऊ कंठि धर, छापा तिलक लगाय।
लक्षण ना वैराग के, जौं लौं भोग सुहाय ।।"

संत रैदास मीरा के मार्गदर्शक कहे जाते हैं। प्रेम और वैराग्य की आप प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने अपने प्रभु को 'माधो' नाम से संबोधित किया है। निर्गुण भगवान के चरणों का अनन्य आश्रय ही उनकी साधना का प्राण है। उनकी वाणी से सरलता और भोलापन टपकता है।

दादू के शिष्यों में सुन्दरदास सबसे अधिक शास्त्रीय ज्ञान-सम्पन्न महात्मा थे। इसलिये उनकी वाणी में वह स्वाभाविकता और तड़पन नहीं मिलती है, जो संतसाहित्य की अपनी विशेषता है। ईश्वर को उन्होंने भी प्रियतम के रूप में देखा हैं। दिल की सेज पर जीवात्मा जगकर हरि के अधरों का अमृत पीकर छका हुआ है। परम प्रेम की यही मनोहर क्रीड़ा है।

इसके अतिरिक्त मलूकदास, चरनदास, बुल्ला साहब, रज्जब, दरिया साहब, वीरू साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि संत-कवि हो गये हैं, जिन्होंने निर्गुण प्रेम की धारा बहायी हैं। इनकी वाणी में संत साहित्य की सामान्य विशेषतायें मिलती हैं।

संतसाहित्य की एक दूसरी शाखा है, जिसे हम प्रेममार्गी कहते हैं। इसके रचयिता सूफी संत थे, जिनकी साधना का मूल है। प्रेम ही उनका कर्म प्रेम है, प्रेम ही धर्म है और प्रेम ही ईश्वर भी है। प्रेम के फुहारे उनके बाग को हमेशा सींचते रहते हैं। जिस प्रकार हमारे यहां कर्मकाण्ड, उपासनाकांड, ज्ञानकांड तथा सिद्धावस्था है, उसी प्रकार सूफी साधना की चार अवस्थायें हैं:—शरीअत, तरीकत, हकीकत, मारिफत।

जायसी इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' प्रेमगाथा-परम्परा की सबसे प्रौढ़ रचना है। जायसीके पहले चार काव्यों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इन सभी पुस्तकों में प्रेम की अखंडता दिखाकर प्रेमतत्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया गया है। पद्मिनी के रूपवर्णन में जायसी ने कहीं-कहीं उस अनन्त सौन्दर्य की ओर, जिसके विरह में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है बड़े सुन्दर संकेत किये हैं:—

बसनि बान अस ओपहँ बेधे रन बन ढाख।
सौंजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पांख ।।

संत-साहित्य अपने दूसरे रूप में महादेवी आदि की रहस्यवादी कविताओं में आज भी जीवित है।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य सुदूर प्राचीन काल से चली आती हुई प्रेम-कहानियों की परम्परा में आते हैं। भारत में प्रेमकाव्य की प्राचीन परिपाटी रही है। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में अनेक प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है। कालिदास ने 'मेघदूत' में उदयन और पद्मावती की प्रेमकथाओं को कहने में निपुण ग्रामवृद्धों (उदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धान्) की चर्चा की है। नवीं सदी में कौतूहल नामक प्राकृतभाषा के कवि ने 'लीलावती' नामक प्रेमकाव्य लिखा। दसवीं सदी में मयूर ने 'पद्मावती कथा' की रचना की। सिकन्दर शाह के समकालीन ईश्वरदास ने १५०० ई० में 'सत्यवती कथा' लिखी। जायसी ने पद्मावत में अनेक प्रेमकथाओं का उल्लेख किया है जिनमें बहुत-से काव्य-रूप में प्राप्त हैं और शेष लोककथाओं के रूप में प्रचलित रही होंगी।

सूफियों के पूर्व उत्तरी भारत में अनेक प्रकार की प्रेमकथाएँ मिलती हैं; जैसे, पौराणिक (उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती आदि), ऐतिहासिक-अर्द्धऐतिहासिक (ढोलामारू, हीर-रांझा, देवलदेवी-अलाउद्दीन, रत्नसेन-पद्मावती आदि) और विशुद्ध लौकिक अर्थात् लोककल्पना द्वारा रचित (माधवानल-कामकंदला, मधु-मालती आदि)। इन कथाओं को कभी-कभी आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार का माध्यम भी बनाया जाता था। पर ये प्रेमाख्यान विशुद्ध प्रेमकाव्य ही रहे हैं। यह कहना असंगत न होगा कि प्रेमाख्यानों की परम्परा को सूफी कवियों ने ही चरम उत्कर्ष पर पहुँचाया। इन्होंने सभी प्रकार की परम्परा-प्राप्त कहानियों का उपयोग किया और कभी-कभी उनके आधार पर स्वयं भी कहानियाँ गढ़ीं। किन्तु प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना के पीछे इनका उद्देश्य

अपने सिद्धान्तों का प्रचार रहा। फलत: इनकी रचनाओं में अर्थ का विधान दो स्तरों पर किया गया— लौकिक और अतिलौकिक। एक ओर इनके प्रबन्ध लौकिक प्रेमी-प्रेमिकाओं की कहानियाँ हैं तो दूसरी ओर आत्मा-परमात्मा के विरह-मिलन के रूपक।

सूफीमत इस्लाम की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कृत्रिमता की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ और दोनो सम्प्रदायों का संघर्ष दीर्घकाल तक चलता रहा। यह मत अद्वैतवादी है और इस्लाम एकेश्वरवादी। एकेश्वरवादी के अनुसार ईश्वर रचयिता है और जगत् तथा आत्मा उसकी रचनाएँ। उसकी सत्ता जगत् और आत्मा की सत्ता से पृथक् है। लेकिन अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म, जगत् और जीव अभिन्न हैं। इसके अनुसार आत्मा ही परमात्मा है। मंसूर कहता है—"मैं ही बह्म हूँ (अनलहक)।" वायजीद नामक सूफी संत की उक्ति है—"मैं ही शराब पीनेवाला हूँ, मैं ही शराब हूँ और मैं ही साकी।' सफी माधुर्य भाव से ब्रह्म की उपासना करते हैं। ये ईश्वर को प्रेमिका मानते हैं औलर जीव को प्रेमी। प्रेमिका के सौन्दर्य की एक झलक पाते ही प्रेमी उससे मिलने के लिये तड़प उठता है और गुरु की सहायता से साधना-मार्ग की कठिनाइयों की झेलता हुआ उसे प्राप्त कर लेता है। प्रेमतत्व की व्यंजना ही सूफी कवियों का उद्देश्य रहा है।

हिन्दी में रहस्यपरक अर्थात् सूफी प्रेमाख्यानक काव्य का आरम्भ अलाउद्दीन के काल में मुल्ला दाऊद के प्रेमकाव्य 'चन्दायन'[१] से होता है।[२] इतिहासकार अलबदाउनी ने इस ग्रंथ को अपने समय की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना माना है और इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि 'यह समस्त

---

१. चन्दावत या चन्दावन भी।

२. यों ईसा की ८वीं शताब्दी में मुसलमानों के भारत पर आक्रमण और विजय का आरम्भ हुआ। ११वीं शताब्दी में यहाँ जोरों से इस्लाम का प्रचार हुआ। १३वीं शताब्दी तक भारत में सूफियों के अनेक सम्प्रदाय भी स्थापित होने लगे थे।

आख्यान एक ईश्वरीय सत्य है, पढ़ने में मनोरंजक है, प्रेमियों को आनन्दभरे चिंतन की सामग्री देनेवाला है, कुरान की आयतों का उपदेश देनेवाला है और हिन्दुस्तानी गायकों—भाटों के गीत-जैसा है। जनता में इसे गाने से बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ता है।'१

'चन्दायन' का रचना-काल उक्त ग्रंथ२ के अनुसार ७८१ हिजरी अर्थात् १३७६ ई० है—

बरस सात सय होवे एकासी ।
तेही कवी संरसिउ भासी ।।

'चन्दायन' में लोरिक या नूरक और चन्दा की जो प्रेम-कथा वर्णित है, वह भारतीय लोक-भाषाओं में अनेक रूपों में चलनेवाली प्रेम-कहानी ही है।

'चन्दायन' के बाद दूसरा प्राप्त सूफी प्रमाख्यान कुतुबनकृत 'मृगावती' है जिसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी, की रिपोर्ट में किया गया था। ज्ञातव्य है कि सभावाली प्रति इधर अनुपलब्ध थी पर हाल ही में पटना कालेज के प्रो० अस्करी को दिल्ली में 'मृगावत' की एक प्रति मिली है। कुतुबन जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह के आश्रित शेख बुरहान के शिष्य थे। चूंकि शेरशाह के पिता हुसैनशाह के समकालीन थे इसलिए कुतुबन का समय सं. १५५० के लगभग है। मृगावती या मृगावत का रचनाकाल १५०३ ई०३ है। कथा संक्षेप में यह है। कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की बेटी मृगावती पर चन्द्रनगर के राजा गणपति का पुत्र मोहित होता है। अनेक कष्टों को पारकर वह मृगावती के पास आता है। मृगावती उड़ना जानती थी। एक दिन वह धोखा देकर उड़ गई। उसकी खोज में राजकुमार योगी बनकर निकलता है। मार्ग में वह एक राक्षस से रुक्मिणी नामक एक स्त्री का उद्धार करता है। रुक्मिणी का पिता राजकुमार से रुक्मिणी का ब्याह कर

---

१. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (डा० कमल कुलश्रेष्ठ)
२. प्रो० अस्करी को प्राप्त मनेर की खंडित प्रति।
३. ९०९ हिजरी।

देता है। रुक्मिणी को लेकर राजकुमार उस नगर में लौट जाता है जहाँ पिता की मृत्यु के बाद मृगावती राजसिंहासन पर बैठी राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२ वर्षों तक रहता है। पता मिलने पर राजकुमार का पिता दूत भेजता है। तब मृगावती और रुक्मिणी के साथ वह चल पड़ता है। बहुत दिनों तक आनन्द करने के बाद एक दिन आखेट में हाथी से गिरने के कारण उसकी मृत्यु होती है। दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। यद्यपि दोहों-चौपाइयों में लिखे इस ग्रंथ में विशेष काव्य-सुषमा नहीं है पर ईश्वर-विषयक संकेत पर्याप्त हैं। सती होने के दृश्य को उपस्थित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ देखिए—

रुकमिनि पुनि वैसेहि मरि गई।
कुलवंती सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई।
घर बाहर को रहै न जोई।
बिधि कर चरित न जानै आनू।
जो सिरजा सो जाहि निआनू।

त्यों जायसी ने अपने 'पद्मावत' में अनेक प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है—

बिक्रम धँसा प्रेम के बारा।
सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधूपाछ मुगधावति लागी।
गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ।
मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साध कुवर खंडावत जोगू।
मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा।
उषा लागि अनिरुद्ध बर बाँधा॥

पर इस बात पर विद्वानों में मतभेद है कि जायसी-द्वारा उल्लिखित

उपर्युक्त रेखांकित प्रेमाख्यान वस्तुतः लिखित प्रेमाख्यान थे अथवा लोक-जीवन में प्रचलित प्रेमकहानियाँ मात्र। इनमें 'मृगावती' और 'मधुमालती' प्राप्य हैं, हालाँ कि उसकी रचना 'पद्मावत' के बाद हुई हैं, पर अन्य अप्राप्य हैं।

फलतः ऐतिहासिक दृष्टि से सूफी प्रेमाख्यानों 'चन्दायन' और 'मृगावत' के बाद 'पद्मावत' ही आता है, और यह उन सब में सर्वोपरि स्थान रखता है। जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। जायस नामक स्थान में बसने के कारण ये जायसी कहवाए। इनकी रचनाएँ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। इनका जन्म हिजरी सन् की नवीं शताब्दी में हुआ था।[१] इनके जन्म के समय एक बड़ा भूकम्प हुआ था[२] और एक बड़ा सूर्यग्रहण पड़ा था।[३] जायसी दूसरी जगह से आकर जायस में बसे थे। इनकी बायीं आँख खराब थी[४] और बायाँ कान भी।[५] देखने में भी ये कुरूप थे। इनकी मृत्यु १५४२ ई० में हुई—ऐसा माना जाता है।

सूफी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि जायसी की सर्वश्रेष्ठ रचना 'पद्मावत' है। इसकी कथा संक्षेप में यह है। सिंहलदेश की राजकुमारी पद्मावती के हीरामन नामक सुग्गे से उसके रूप का वर्णन सुनकर चित्तौड़ के राजा रतनसेन उसे पाने के हेतु अपनी पत्नी नागमती को छोड़कर घर से योगी बनकर निकल

१। भा औतार मोर नौ सदी।—आखिरी कलाम।

२। आवत उघत-चार विधि ठाना।
भा भूकंप जगत अकुलाना॥

३। सूरज अस सेवक ताकर अहै।
आठो पहर फिरत जो रहै।
सो अवपुरं गहनै लीन्हा।
औ धरि बाँध चंडालै दीन्हा॥

४। एक नयन कवि मुहम्मद गुनी।
सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी।

५। मुहम्मद बाईं दिसि तजा एक सखन एक आँखि।

पड़ता है। इधर नागमती विरह में पीड़ित है। कालोपरान्त रतनसेन पद्मावती को लेकर लौटता है। दिल्ली का बादशाह अल्लाउद्दीन पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर उसके लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई करता है। युद्ध में रतनसिंह की मृत्यु होती है और दोनों रानियाँ हँसते-हसते सती होती हैं। इस प्रकार 'पद्मावत' की कथा का पूर्वभाग कल्पित है और उत्तर-भाग में किंचित ऐतिहासिकता का समावेश हो गया है। 'पद्मावत' में नागमती का विरह-वर्णन, पद्मिनी का रूप-वर्णन, गोरा-बादल जैसे योद्धाओं का युद्ध-वर्णन आदि प्रसंग अत्यन्त रोचक और काव्य के रसंपूर्ण संदर्भ हैं, यह पुस्तक रहस्यवाद का भी एक अन्यतम प्रबंध है। पुस्तक के अन्त में कवि नें सम्पूर्ण ग्रंथ का प्रतीकार्थ इस प्रकार उपस्थित किया है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हियसिघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेइ पंथ देखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥

पद्मावत फारसी की मसनवी पद्धति पर रचित है। इसके प्रारम्भ में ईश्वर-महिमा, मुहम्मद साहब और उनके चार मित्रों का उल्लेख, समकालीन राजा का प्रताप-वर्णन और गुरु की प्रशंसा—वे सभी रूढ़ियाँ मिलती हैं जिनका मसनवियों में पालन किया जाता है। इसमें प्रेमतत्त्व की अपूर्व व्यंजना मिलती है। रत्नसेनरूपी साधक गुरुरूपी सुग्गे से परमतत्त्वरूपी पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर व्याकुल हों जाता है, और असंख्य कठिनाइयों का सामना करता हुआ उसे प्राप्त करता है। जायसी ने विश्व को परमतत्त्व के सौन्दर्य का प्रतिविम्ब माना है। सृष्टि परमात्मा का दर्पण है—सबै जगत दरपन कर लेखा। पद्मावती की आँखें जहाँ-तहाँ देखती हैं, वहाँ-वहाँ कमल

के फूल उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी हँसी हंस वन जाती है और उसके दाँतों की ज्योति नग तथा हीरे--

नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ।।

'पद्मावत' का रचनाकाल विवादास्पद वना हुआ है। कवि ने इस सम्बन्ध में यह लिखा है--

सन् नौ सै सत्ताइस अहा । कथा अरंभ बैन कवि कहा ।

अलाओल नामक कवि ने १६५० ई० के आसपास पद्मावत का बँगला में अनुवाद किया और उसमें स्पष्ट शब्दों में नौ सौ सत्ताइस हिजरी (संख्या सप्तविंश नवशत) का उल्लेख किया है। किन्तु पद्मावत के प्रारम्भ में सम-कालीन राजा के रूप में शेरशाह की प्रशंसा है जो ९४७ हि० में गद्दी पर वैठा था। इस प्रकार इस सम्बन्ध में विद्वानों का यही तर्क है कि उपर्युक्त पंक्ति का पाठ 'सन् नौ सै सत्ताइस अहा' न होकर 'सन् नौ सै सैंतालिस अहा' है। अब तक पद्मावत की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं उन पर क्रमश: ९२७ हि०, ९३६ हि०, ९४५ हि०, ९४७ हि० और ९४८ हि० अंकित है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह सम्मति प्रकट की है कि पद्मावत की रचना ९२७ हि० में ही हुई, किन्तु कवि के जीवन-काल में उसकी समयानुसार प्रतिलिपियाँ तैयार होती रहीं और समय की आवश्यकता के अनुसार शाहेवक्तवाला अंश परिवर्त्तित होता रहा।

'पद्मावत' के बाद[1] की रचनाओं में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मंझन-कृत 'मधु-मालत' या 'मधुमालती' है। मंझन[2] के विषय में अभी तक कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। 'मधुमालती' की प्राप्त प्रति भी खंडित है। इसमें कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र कुमार मनोहर और महारस

१। पं. रामचन्द्र शुक्ल इसे 'पद्मावत' के पूर्व की रचना मानते हैं। पर हाल के शोध के अनुसार मंझन जायसी के परवर्त्ती ठहरते हैं।

२। एक और कवि मंझन नाम के हुए हैं, पर बाद में, जो कवित्त-सवैया लिखते थे।

नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम-कहानी है। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में संवत् १६६० के आसपास की अपनी जीवनचर्य्या का उल्लेख करते हुए कहा है कि उस समय हाट-बाट छोड़कर 'मृगावती' और 'मधुमालती' पढ़ा करता था। इससे जाहिर है कि यह पुस्तक अपने समय की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना थी। अन्य ग्रंथों की तरह इसमें भी ईश्वरीय प्रेम-विरह का रहस्यपूर्ण वर्णन है---

विरह-अवधि अवगाह अपारा।
कोटि माहिं एक परै न पारा॥
विरह कि जगत अँबरिथा जाही?
विरह रूप यह सृष्टि सबाही॥

अन्य सूफी कवियों में गाजीपुर के वासी तथा जहाँगीर के समकालीन कवि उसमान अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी काव्य-पुस्तक 'चित्रावली' है जिसकी रचना सन् १६१३ ई० में हुई थी। इसमें नैपाल के राजा धरणीधर के पुत्र सुजानकुमार और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेम-कथा का वर्णन है। अन्य सूफी प्रेमाख्यानों और 'चित्रावली' में एक भेद यह है कि इसमें पक्षी-रूढ़ि के स्थान पर चित्र-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में, 'चित्रावली' के नायक और नायिका एक दूसरे की प्रशंसा सुनकर नहीं बल्कि एक दूसरे का चित्र देखकर एक दूसरे पर मुग्ध होते हैं।

१७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जान कवि (न्यामत खाँ) नाम के एक सिद्ध सूफी कवि हुए। आप हाँसी-निवासी शेख मुहम्मद चिश्ती के शिष्य थे। आप बड़े प्रतिभाशाली थे और दो-ढाई पहर से १२ दिनों तक के समय में ही एक पूरी किताब लिख लेते थे। आपके लिखे ७० ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं। इनमें १५ प्रेमाख्यान हैं। 'कनकावती', 'कामलता', 'मधुकर मालती', 'रत्नवती' और 'छीता'।

१७वीं शताब्दी के कवि शेखनबी का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने ज्ञानदीप और देवयानी की प्रेमकथा को लेकर 'ज्ञानदीप' नामक ग्रंथ रचा।

१८वीं शताब्दी के कवियों में कासिमशाह, नूर मुहम्मद तथा शेख निसार विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। कासिमशाह दरियाबाद के निवासी तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के समकालीन थे। आपने 'हंस-जवाहिर' (राजकुमार हंस और राजकुमारी जवाहर की प्रेम-कहानी) नामक प्रेमाख्यान लिखा है और कथा का सारांश बताते हुए कहा है—

कथा जो एक गुपुत मँह रहा।
सो परगट उघारि मैं कहा॥
हंस जवाहिर विधि औतारा।
निरमल रूप सो दई सँवारा॥

नूर मुहम्मद भी दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे। आपकी दो पुस्तकें 'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' प्रसिद्ध हैं। 'इन्द्रावती' में कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कथा का वर्णन है—

आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कह दीन्हा अलख मिलाय॥

'अनुराग बाँसुरी' एक विलक्षण रचना है। इसमें जीवात्मा और उसकी मनोवृत्तियों को लेकर एक आध्यात्मिक रूपक-कथा लिखी गई है। नूर मुहम्मद फारसी के अच्छे विद्वान् थे पर 'अनुराग बाँसुरी' की भाषा इतनी संस्कृतगर्भित है कि इन्हें इस बात की शिकायत सुननी पड़ी कि 'तुम मुसलमान होकर हिन्दी भाषा में रचना करने क्यों गए' और इन्हें मुसलमान होने की सफाई देनी पड़ी—

हिन्दू-मग पर पाँव न राखेऊँ।
का जो बहुतै हिन्दी भाखेऊँ॥

आलमशाह के समकालीन शेख निसार (असली नाम गुलाम असरफ) ने 'यूसुफ जुलेखा' (युसूफ और जुलेखा की कथा) नामक प्रेमकथा लिखी। इनके लिखे अन्य ग्रंथ हैं 'मेहर निगार', 'रसमनोज', 'दीवान', 'अहसन जौहर' आदि।

बाद के कवियों में (१६ वीं और २० वीं शताब्दी के कवियों में) शाह नजफ अली सलोनी (रचना—'अखरावटी' (अप्राप्य) और 'प्रेम-चिनगारी' (हजरत मूसा और एक गड़ेरिया की कथा)), ख्वाजा अहमद (रचना—'नूरजहाँ' (सरनदीप के राजकुमार खुरशेद शाह और खुतनशहर की राजकुमारी नूरजहाँ की प्रेमकथा), शेख रहीम (रचना— 'भाषा-प्रेम-रस' (रूपनगर की राजकुमारी चन्द्रकला और मंत्री के पुत्र प्रेमसेन की प्रेमकथा)) और नसीर (रचना—'प्रेम-दर्पण' (यूसुल-जुलेखा की कथा) की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार १४ वीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक ('भाषा-प्रेम-रस' का रचना-काल १६०५ ई० और 'प्रेम-दर्पण' का १६१७ ई० है) प्रेमाख्यानों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है।

मुसलमानों की तरह कुछ विद्वानों ने भी प्रेमाख्यान लिखे, जिनमें अपेक्षाकृत प्रसिद्ध हैं हरिसेवक मिश्र-कृत 'कामरूप की कथा' (सं. १८०१), प्रेमचन्द-कृत 'चन्द्रकला' (सं. १८५३) तथा मृगेन्द्रकृत 'प्रेमपयोधि' (सं. १६१२)। इन रचनाओं में स्वभावतः मसनवी सिद्धान्तों के निरूपण की चेष्टा नहीं है। ये कथा-कौतुक को उपस्थित करनेवाले शुद्ध प्रेमकाव्य हैं।

वैसे कुछ संतों ने भी अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए प्रेमकथाओं का सहारा लिया है। संत धरणीदास (१६ वीं शताब्दी) का 'प्रेम प्रगास' और 'संत दुखहरण' (१७ वीं शताब्दी) की 'पुहुपावती' इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं।

१४ वीं शताब्दी के 'चन्दायन' से लेकर २० वीं शताब्दी के 'प्रेम-दर्पण' तक के सूफी प्रेमाख्यानों के आधार पर इनकी निम्नलिखित सामान्य विशेषताएं जानी जा सकती हैं :—

१। इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु ('युसुफ जुलेखा', 'प्रेम-चिनगारी' और 'प्रेम-दर्पण' जैसे कुछ आख्यानों को छोड़कर) भारतीय हैं।

२। सभी प्रेमाख्यान राजकुल से सम्बन्ध रखते हैं और राजकुमारों एवं राजकुमारियों की प्रेम-कहानी उपस्थित करते हैं।

३। इनमें वर्णित प्रेम भारतीय परम्परा का सामाजिक प्रेम न होकर लोकबाह्य एवं एकांतिक है किन्तु फिर भी इसमें सामाजिकता का कहीं विरोध नहीं है। नायक-नायिका का प्रेम विवाह में परिणत भी होता है। फिर नायक और नायिका दोनों एक दूसरे के लिए व्याकुल रहते हैं। इस प्रकार इनमें भारतीय एवं मसनवी प्रेमपद्धति का मेल है।

४। इन प्रेमाख्यानों में प्रायः गुण-श्रवण, चित्रदर्शन अथवा स्वप्न से प्रेमारम्भ होता है। दूसरे शब्दों में, पूर्वानुराग की परिस्थिति में ही प्रेमावस्था आ जाती है। नायक अथवा नायिका मूर्च्छित हो जाती है। इस प्रकार इनका प्रमारम्भ मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं है।

५। इन प्रेमाख्यानों में सौंदर्य मूलप्रेरणा है और शृंगार प्रमुख रस। इनके नायक एवं नायिका असाधारण रूप से सुन्दर हैं। कुरूपा की रूप-साधना की खोज इनमें करना वृथा है। इनमें शृंगार के उभय पक्ष—संयोग और वियोग का वर्णन है। पर वियोग-वर्णन जितना मार्मिक हुआ है उतना संयोग-वर्णन नहीं।

६। ये प्रेमाख्यान प्रेम-कथाओं के व्याज से आध्यात्मिक रूपक उपस्थित करते हैं। इनके नायक साधक जीवात्मा के प्रतीक हैं और नायिका ब्रह्म के।

७। इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु शृंगारपरक उद्देश्य आध्यात्मिक प्रेम-व्यंजना और शिल्प लोककथावाला है। इनमें भारतीय लोककथाओं की रूढ़ियों—रूमानीपन (दूर देश की राजकुमारी की प्रशंसा सुनकर योगी बनकर निकल पड़ना आदि), साहसिकता (नायक का समुद्र, तूफान आदि में पड़कर किसी दूर देश में पहुँच जाना एवं वहाँ किसी स्त्री का राक्षस से उद्धार कर उससे विवाह करना), आश्चर्यतत्त्व (पशु-पक्षियों की वोली समझना, पक्षियों द्वारा संदेश भेजना, नायिका का उड़ना जानना, मंत्रोपचार, देवता, राक्षस आदि का समावेश)—का प्रयोग हुआ है।

८। इनकी भाषा वोल-चाल की अवधी है और छंद दोहा-चौपाई है।

९। इनकी लिपि अरबी है।

कृष्ण-काव्य परम्परा

भारतीय वाङ्मय में कृष्ण का आविर्भाव भक्त-कवियों के हृदय से उनकी अवतार-स्वरूप लीलाओं के माधुर्य के प्रति प्रेम की अजस्र स्रोतस्विनी के गति-प्रवाह में हुआ। अपने इष्टदेव के प्रति निवेदित इन गायक भक्तों के कंठ से भक्ति के अमंद आवेगके जो छंद निःसृत हुए, उनसे बाल-गोपाल के क्रीड़ा-कलापों के रूप की रेखाओं में रंग भरते गए और उनका व्यक्तित्व निश्चित होता गया।

हिन्दी गीति-साहित्य अथवा काव्य-साहित्य में श्रीकृष्ण का यह रूप भले ही भक्त-कवियों के काल में परिपुष्ट हुआ हो, श्रीकृष्ण की भावना का संबोधित श्रीकृष्ण का एक नाम वासुदेव भी था।

सर्वप्रथम श्रीकृष्ण का उल्लेख वैदिक साहित्य में एक ऋषि के रूप में मिलता है। वहाँ बतलाया गया है कि इन ऋषि कृष्ण ने ऋग्वेद के अष्टम मंडल की रचना की थी। छांदोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आते हैं। उन्हें वहाँ 'घोर आंगिरस' ऋषि का शिष्य बतलाया जाता है।

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व 'सात्वत' नामक एक क्षत्रिय वंश था। इस जाति का नाम 'वृष्णि' भी कहा जाता है। वासुदेव इसी 'सात्वत' जाति के एक महापुरुष थे। इनकी मृत्यु के पश्चात् उनके वंश के लोगों ने वासुदेव को ही साकार रूप से ब्रह्म मान लिया। कहते हैं, भगवद्गीता इसी कुल का ग्रंथ है।

'महानारायण उपनिषद्' में विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। अतः, वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, पश्चात् विष्णु और अन्त में गोपाल कृष्ण।

कृष्ण नामक एक गोत्र का भी उल्लेख मिलता है। इस गोत्र का पूर्व पुरुष कार्ष्णायन है। वासुदेव को उस कार्ष्णायन गोत्र का भी कहा जाता है। अतः वासुदेव का नाम कृष्ण हो गया। इसी प्रकार ऋषि कृष्ण और देवकी-पुत्र वासुदेव सम्बद्ध हो गये।

महाभारत में कृष्ण का दैवी अवतार मिलता है। सभापर्व में भीष्म श्रीकृष्ण को अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्त्ता कहते हैं—"एवप्रकृतिव्यक्ता कर्त्ता चार्चव परश्च सर्व भूतेभ्यः तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः।"

महाभारत में आगे चलकर कृष्ण को ब्रह्म भी कहा गया है—

"एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकंक वशः
एतदक्षरम् एतत् वै शाश्वतमहः।"

भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण की की गई इस प्रशंसा में कृष्ण द्वारा गोकुल में की गई लीलाओं का आभास अथवा निर्देश नहीं है। स्पष्ट है कि महाभारत में परब्रह्म कृष्ण की भावना तो है; परन्तु गोपाल कृष्ण की भावना नहीं।

महाभारत में कृष्ण के लिये गोविन्द नाम भी आता है। परन्तु इस शब्द को गो से सम्बन्ध रखनेवाले गोपाल का पर्यायवाची अथवा समानार्थक नहीं माना जा सकता। शान्ति-पर्व में वासुदेव कृष्ण ने अपना गोविन्द नाम बतलाते हुए पृथ्वी के उद्धार की बात कही है, न कि गोपालन की।

महाभारत में विष्णु के महत्त्व का पूर्ण वर्णन है; क्योंकि विष्णु की भावना में अवतारवाद है। इसमें कृष्ण विष्णु के ही अवतार माने गये हैं।

महाभारत के पश्चात् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का पूर्ण परब्रह्म रूप ही है—

"मत्तः परतरम् नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय !
मयि सर्वमिदम् प्रोक्तम् सूत्रे मणि गणा एव।'

महाभारत के विष्णु-अवतार श्रीकृष्ण भगवद्गीता में ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित किये गये हैं। विष्णु या कृष्ण की ब्रह्मपद पर स्थापना इस बात का द्योतक है कि कृष्ण ब्रह्म के साकार रूप माने गये हैं।

'नारायणीय' के अनुसार विष्णु-संसार में चार रूप से अवतरित होते हैं और उन्हीं के अवतार की सृष्टि होती है। 'नारायणीय' में अवतार-भावना का यथेष्ट विस्तार है। इसमें अन्य अवतारों के साथ कंस-वध के निमित्त वासुदेव के अवतार का वर्णन तो मिलता है; पर गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का कोई संकेत नहीं।

गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का उद्भव हरिवंश पुराण, वायु पुराण और भागवत पुराण में हुआ है। 'नारायणीय' के छः अवतारों में राम और वासुदेव कृष्ण का भी उल्लेख है। हरिवंश में भी नारायणीय के छः अवतारों का ही उल्लेख है। भागवत पुराणों के दस अवतारों में भी हरिवंश के छः अवतारों का उल्लेख है।

नृसिंह पुराण के एक श्लोक में इस प्रकार कहा गया है कि पृथ्वी को भारमुक्त करने के हेतु विष्णु ने अपनी दो शक्तियों, श्वेत और काली, को पृथ्वी पर भेजा। श्वेत शक्ति राम नाम से प्रसिद्ध हुई और काली शक्ति कृष्ण के नाम से--

"प्रेषयामास द्वेशीक्त सित कृष्णे स्वके नृप।
तयोः सिता च रोहिण्यां वासुदेव वाद्बभूव ह।
तद्वत् कृष्णा च देवक्याम् वसुदेवाद्बभूव ह।
रौहिणेयोऽथ पुण्यात्मा रामनामाश्रितो महान्।
देवकीनन्दनः कृष्ण........।।"

हरिवंश पुराण में गोपाल कृष्ण की भावना का विकास इस प्रकार होता है कि उस पुराण में एक स्थल पर कृष्ण अपने पिता नन्द से गोवर्द्धन-पूजा की प्रार्थना करते समय अपने को पशुपालक कहते हैं, और 'गोधन' को ही अपना वैभव मानते हैं।

हरिवंश पुराण के ही एक श्लोक से कृष्ण का निवास-स्थान ब्रज और वृन्दावन ज्ञात होता है।

द्वितीय और तृतीय शताब्दी में ब्रज-वृन्दावन क्षेत्र में आभीर नामक एक जाति रहती थी। अनुमान किया जाता है कि गोपाल-कृष्ण इसी जाति के देवता रहे होंगे। ईसा की द्वितीय और तृतीय शताब्दी में आभीरों ने महाराष्ट्र के उत्तर में भी अपने राज्य की स्थापना की थी। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी यह जाति अपने साथ गोपाल-कृष्ण को ईश्वर के रूप में ले आई। भण्डारकर का अनुमान है कि आभीर जाति का कृष्ण शब्द पश्चिम के 'क्राईस्ट' शब्द से सम्भवतः उद्भूत हुआ हो। इसी कृष्ण को आभीर जाति ने

वेद, उपनिषद् और महाभारत के वासुदेव कृष्ण से संबद्ध रख दिया। इस प्रकार महाभारत तक से ब्रह्म के अवतार वासुदेव कृष्ण का रूप आभीरों के गोपाल कृष्ण रूप में परिवर्त्तित हो गया और गोपाल कृष्ण की वाल-लीलायें पुरातन कृष्ण के चरित्र में सन्निहित कर दी गईं।

नारद पंचरात्र की ज्ञानामृत-सार-संहिता में कृष्ण की वाल-लीलाओं का उल्लेख मिलता है। इस संहिता का रचनाकाल लगभग वही है, जिस समय आभीर अत्यन्त प्रभावशाली थे और उसी प्रभाव के कारण वासुदेव कृष्ण की पृथक् सत्ता गोपाल कृष्ण के बाल-चरित में विलीन हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व कृष्ण की भावना में देवत्व की भावना आ गई थी। उदाहरण-स्वरूप, 'पाणिनि के व्याकरण में वासुदेव और अर्जुन देव-युग्म हैं।'

प्रथम-प्रथम कृष्ण को पूर्ण अवतार के रूप में हम 'महाभारत' में देखते हैं। यों तो अवतारों की भावना देश में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी, जो कि सगुण-उपासना-प्रणाली का आधार थी; लेकिन महाभारत-काल नें प्रणीत भागवत में कृष्ण की लीलाओं का विशद उल्लेख हुआ। और सब सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्तों ने भागवत के माधुर्य-रूप कृष्ण की लीलाओं को ही अपनी उपासना और भक्ति का आधार-स्वरूप बनाया।

यद्यपि भागवत-धर्म का उदय महाभारत-काल में हो चुका था; पर वैष्णव-धर्म के सांप्रदायिक रूप का संघटन दक्षिण में ही हुआ। 'भागवत' के श्रीकृष्ण का मधुर रूप होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में गोप-गोपियों के ढंग का माधुर्यभाव-प्रधान उपासना का द्वार उन्मीलित हुआ। इसके प्रचार में दक्षिण की देवदासी-प्रथा विशेष रूप से सहायक हुई।

ऊपर हम देख आये हैं कि वेद से लेकर पुराणों तक आते-आते मानव और ऋषि श्रीकृष्ण देवता के पद पर प्रतिष्ठित होते हैं और 'भागवत' में ही श्रीकृष्ण के माधुर्य-रूप सम्बन्धी नाट्य-लीला-वर्णन प्राप्त होते हैं।

भक्ति के क्षेत्रमें, 'भागवत पुराण' के आधार पर प्रथम सम्प्रदाय 'माध्व सम्प्रदाय' है, जिसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना पर विशेष जोर

दिया गया है। इस सम्प्रदाय के पश्चात् 'विष्णुस्वामी' और 'निम्बार्क' सम्प्रदायों की स्थापना हुई। 'निंवार्क' सम्प्रदाय में जयदेव हुए, जिन्होंने कृष्ण की बिहार-लीलाओं पर प्रांजल संस्कृत की सुगम शैली में एसी भावपूर्ण रचना की कि अन्य सम्प्रदायों के भक्त-कवि उनके इस काव्य-माधुर्य के रस-रंग से अछूते न रह सके।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' का मूल्य न केवल काव्य की दृष्टि से है, प्रत्युत उसका महत्त्व इस दृष्टि से भी अल्प नहीं कि पुराणों आदि में भी जिस राधा की चर्चा अथवा उल्लेख नहीं होता, या नहीं के बराबर होता, उसे उसने कृष्ण की प्रेयसी के रूप में चित्रित कर विद्यापति और सूरदास के काव्य के प्रधान अंग बना दिया, और आनेवाले युगों के लिये राधा को कृष्ण के साथ ही अमर करने में प्रबल रूप से सहायक हुआ।

यों तो कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना गया है; लेकिन विद्यापति पर 'गीतगोविन्द' के ललित पदों के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से माना जा सकता है।

जयदेव के श्रीकृष्ण क्रीड़ा-कला और विलास-लीलाओं के आचार्य से हैं। 'गीतगोविन्द' में जयदेव ने राधाकृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलाएँ और प्रेम की मादक अनुभूति अत्यन्त सरस और मधुर शब्दावली में प्रस्तुत की है। 'गीतगोविन्द' में कामदेव के वाणों की मीठी पीड़ा है।

लौकिक शृंगार से यदि आध्यात्मिकता का संकेत माना जाय, तब अन्यथा 'गीतगोविन्द' में आध्यात्मिकता का यों कोई संकेत नहीं मिलता। यहाँ कृष्ण को 'हरि' कहकर दिखलाया गया है, बस। उनकी लीला और चेष्टाएँ कामसूत्र के संकेतों के आधार पर 'परिरंभन' विलास और क्रीड़ा की हैं:—

बिहरति हरिरिह सरस वसंते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरंते।
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलि कुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे ॥ इत्यादि

जयदेव के श्रीकृष्ण का मूल-रूप इसी पंक्ति से स्पष्ट है—

'गोपी-पीन-पयोधर मर्दन चंचल-कर-युग-शाली ।'

यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जयदेव से कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ नहीं माना जाता, तथापि यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी के कवियों को राधा-कृष्ण सम्बन्धी रचनाओं के प्रणयन के लिये उनके 'गीतगोविन्द' ने अत्यधिक प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया। इन क्षेत्र में, अतः, वे हिन्दी के कवियों के लिये आधार-स्वरूप हैं।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' का प्रभाव विद्यापति के काव्य पर कितना पड़ा, इसका अनुमान तो विद्यापति के 'अभिनव जयदेव' विशेषण से ही लगाया जा सकता है। इन मैथिल कवि ने परम्परागत कृष्ण के केलि-कला-निपुण स्वरूप में कोई नवीन उद्भावना नहीं की, प्रत्युत परम्परा का ही पालन किया।१ अवश्य इन्होंने राधा-कृष्ण के जीवन-तत्त्व को प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहने दिया। श्रीकृष्ण और राधा-संबंधी जो पद इनके कोकिल-कंठ से निःसृत हुए, उनमें भक्ति न होकर वासना ही प्रधान है। संकेत रूप से भी कहीं कृष्ण का स्वरूप नारायण, विष्णु अथवा परब्रह्म का द्योतक बनकर नहीं आया। विद्यापति के कृष्ण-काव्य का प्रधान स्वर श्रृंगार है और कृष्ण एक कामी नायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। सख्यभाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन-मदोन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन में मतवाली एक मुग्धा नायिका:—

सुतलि छलौं हम घरवा रे
गरवा मोती-हार।

---

१. जयदेव की 'विहरति हरिरिह सरस बसन्ते' इत्यादि पंक्तियों की तुलना विद्यापति की इन पंक्तियों से कीजिए—

बिहरहिं नवल किशोर।
कालिंदी तट कुंज नव शोभन, नवनव प्रेम विभोर।
× × ×
नव युवतीजन चित उनमाइत, नव रस कानन धाय ।।

राति जखन भिनसरवा रे
पहुँ आओल हमार
कर-पंकज कर कँपइत रे
हरवा उर टार
कर-पंकज उर थपइत रे
मुख-चंद निहार। इत्यादि

शंकर के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाने के लिये रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त-दार्शनिक अथवा आचार्य हुए, उन्होंने सगुणोपासना के आधार-स्वरूप अवतारों के अक्षर-ब्रह्म के दार्शनिक तत्त्व को अक्षुण्ण रखा।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रवर्त्तकों ने भी श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही माना, जो सब दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। उनकी दृष्टि से आनन्द का पूर्ण रूप, यही पुरुषोत्तम रूप है। अतः इसी रूप को श्रेष्ठता मिली।

इस प्रकार की उपासना के आधार पर वल्लभाचार्य ने जिस वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, उसमें उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई, जिसमें भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही।

सब सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त 'भागवत' में वर्णित कृष्ण के मधुर रूप को ही आधार लेकर चले। उन्होंने प्रेम-लक्षणा भक्ति के लिये माधुर्य रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप की आवश्यकता ही नहीं समझी। अतः कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को उन्होंने नहीं अपनाया।

ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि सूरदास इसी वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी रहे। निष्कर्ष स्पष्ट है कि सूर के उपास्य का रूप भी वही रहा, जो इस सम्प्रदाय की सगुणोपासना का था। सूर ने भी राधा-कृष्ण के माधुर्य रूप को ही अपनी भक्ति से ओत-प्रोत गीतों का आधार बनाया।

हम पहले ही कह आये हैं कि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' ने राधाकृष्ण-आश्रयी भक्त-कवियों के भक्ति-निवेदन-स्वरूप पद-रचनाओं पर अत्यधिक प्रभाव

डाला। पूरब में विद्यापति और जयदेव ने कृष्ण-चरित्र के यशोगान में जिस गीति-काव्य की सरस धारा बहाई, उसका अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया। गीत की अजस्र भाव-धारा का सम्भवतः इतना प्रभाव पड़ा कि कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव की बाल यौवन-लीलाओं में ही अपने को भुला दिया।

यद्यपि ब्रज के इन अंध-गायक सूर ने भागवत के दशम-स्कंध में वर्णित कृष्ण की लीलाओं का ही ब्रज-बोली में माधुरी से स्नात छंदों में सुविस्तृत वणन किया, फिर भी भक्ति के रस और माधुर्य, और कृष्ण के गोप-गोपियों के संग क्रीड़ा-रत स्वरूप की कमनीयता और सौंदर्य में वे यह न भूले कि उनका कृष्ण अवतार है और पूर्ण-ब्रह्म का प्रतीक। वात्सल्य-रस में आकंठ डूबे उनके पदों में भी यद्यपि बाल-गोपाल दही-माखन-मिश्री चुराकर खाने की लौकिक-क्रीड़ायें करते हैं, तथापि यशोदा को अपना मुख खोलकर यह भी दिखला देते हैं कि सकल ब्रह्मांड को धारण करनेवाले अक्षर ब्रह्म के स्वरूप भी वे ही हैं।

सूर के कृष्ण उनके सखा हैं; लेकिन 'पुरुषोत्तम' अवतार भी। वे गोप-गोपियों के संग कालिंदी के पुलिनों पर रास के रचयिता भी हैं और शस्त्र ग्रहण करनेवाले भी।

कृष्णकाव्य के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं नन्ददास। इन्होंने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की और सूरदास की तरह अपने 'भंवरगीत' तथा 'रास-पंचाध्यायी' को भागवत के दशम स्कंध के आधार पर लिखा। हाँ, उन्होंने कला-पक्ष पर अधिक ध्यान दिया और इसीलिये 'जड़िया' कहलाये।

अन्य भक्त कवियों में श्रेष्ठ स्थान पानेवाली मीरा की उपासना भी माधुर्य भाव की थी। मीरा ने कृष्ण को अपने पति या प्रियतम के रूप में देखा है। लेकिन भक्ति के आवेश में सदा लीन रहनेवाली मीरा के गीतों में वैसी शृंगारिकता नहीं आ पाई, जो ब्रज-भाषा के अन्य कृष्णोपासकों में आई है। इनका प्रधान स्वर आत्म-निवेदन और समर्पण का ही है। कृष्ण अवतार

हैं और भक्तों के प्रति उदार; इसी भाव की नाना प्रकार से आवृत्ति मीरा के गीतों में पाई जाती है—

'बसो मेरे नैनन में नन्दलाल', अथवा 'मेरो तो गिरिधर गोपाल' आदि में कृष्ण 'प्रभुजी' हैं, भगवान हैं, केलि-कला-प्रवृत्त शृंगारिक नायक नहीं।

मुसलमान कवियों में रसखान और कवयित्री ताज का नाम उल्लखनीय है। दोनों ही कृष्ण के रूप-गुण पर मुग्ध हैं। यदि रसखान ने कहा—'वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारों', तो ताज ने कहा—

नन्द के कुमार कुरबान ताड़ी सूरत पै ॥
तांड नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ॥

चूँकि व्रज के भक्त कवियों ने भावविभोर होकर कृष्ण के मधुर रूप का, पुष्टि माग के आधार पर, ऐसा सरस और राग-रंजित चित्रण किया, रीति-कालीन कवियों ने उसी रूप को आधार बनाकर शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त उद्दाम यौवन और शृंगार के वर्णन से अपने काव्य को अभिभूत कर दिया। कृष्ण को अवतार तो उन्होंने भी माना; लेकिन काव्य-रचना के समय रस और भावाधिक्य के कारण वे राधा-कृष्ण के स्थूल रूप और हाव-विभावों पर ही मुग्ध रह गये। फलतः विद्यापति और जयदेव की शृंगारिकता के नाना हाव-विभावों में, या अन्तर्दशाओं में कुछ नवीनता तो नहीं ला सके, कामुकता और कहीं-कहीं ग्राम्य अश्लीलता तक का समावेश कर उस परम्परा को बनाये रखा। नख-शिख वर्णन इनका प्रधान क्षेत्र और काव्याधार भी रहा। विद्यापति के कामुक युवक कृष्ण और मुग्धा राधा की काम-सूत्रिक जो चेष्टाएँ और केलियाँ तीन सौ वर्षों तक, भक्ति-काल में, निश्चेष्ट पड़ी रहीं, उन्हें पुनरुज्जीवित करने का उत्तरदायित्व रीतिकालीन कवियों को ही है। इनके काव्य के कारण कृष्ण और राधा साधारण कोटि के नायक-नायिकाओं के प्रतीक बन गये। कवियों का साध्य काव्य का चमत्कार दिखाना और लौकिक प्रेम का वर्णन करना था। भिखारीदास ने उस समय की मनोवृत्ति का इन पंक्तियों में बड़ा सटीक वर्णन किया है—

आगै कै कवि रीझि हैं तो कविताई नतु
राधाकृष्ण नाम सुमिरन को वहानो है ।

आधुनिक काल में भारतेन्दु, सत्यनारायण, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्रभृति ने कृष्णकाव्य का प्रणयन किया। इनकी कविताओं में नवीनता का उन्मेष मिलता है; पर कृष्ण के प्रेमी रूप की यही परम्परा 'हरिऔध' के समय तक भी थी। यहाँ तक कि हरिऔध के व्रजभाषा में लिखे पदों में राधा और श्रीकृष्ण भी परम्परागत स्वरूप में ही आये हैं।

लेकिन, जैसा कि 'प्रियप्रवास' की भूमिका में हरिऔध स्वयं कहते हैं, उनका विचार वदला––

"मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में 'श्रीमद्भागवद्गीता' का यह श्लोक मानता हूँ––

'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदुर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ।

अतएव जो महापुरुष हैं, उसका अवतार होना निश्चित है।...आधुनिक विचार के लोगों को यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति में तो भगवान श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चरित्र लिखने के समय 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम् समर्थः प्रभुः' के रंग में रँगकर ऐसे कार्यों का कर्त्ता उन्हें बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे। संभव है कि मेरा यह विचार समीचीन न समझा जावे; परन्तु मैंने इसी विचार को सम्मुख रखकर इस ग्रंथ को लिखा है और कृष्ण-चरित्र को इस प्रकार अंकित किया है, जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सकें।"

'प्रिय-प्रवास' की कृष्ण-भावना परम्परागत कृष्ण-भावना से मूल रूप में इस प्रकार भिन्न है कि जहाँ गतानुगतिक कृष्ण-भावना कृष्ण को परब्रह्म का अवतार मानती रही है, वहाँ 'प्रियप्रवास' में उन्हें एक अत्यन्त सुविकसित नर-पुंगव माना गया है। और, स्पष्ट रूप से यों कहना चाहिये कि अब तक कृष्ण आकाशवादी थे जो पृथ्वी पर उतरते थे, 'प्रियप्रवास' के कृष्ण पृथ्वी-वासी हैं,

जो अपने शौर्य और अपूर्व नरत्व के कारण आकाश तक ठेंक जा सकते हैं—

चरित्र ऐसा उनका विचित्र है।
प्रविष्ट होती जिसमें न वुद्धि है।
सदा बनाती मन को विमुग्ध।
अलौकिकालोक-मयी गुणावली। (१३।२३)

लेकिन उनका चरित्र वास्तविक अर्थ में अलौकिक नहीं है। देवत्व के जितने गुणों की कल्पना की जा सकती है, उनमें हैं; लेकिन वैसे नहीं, जो मनुष्योचित न हों और असम्भव हों। वे एक महान् आत्मा हैं, नररत्न हैं, 'कर्तुम-अकुर्तुम् समर्थः' नहीं। वे देश-प्रेमी, जन-हितैषणारत पुरुष हैं। स्वयं तो अत्यन्त सुसंस्कृत मनोवृत्ति के हैं ही, उनका व्यक्तित्व भी ऐसा है कि उनके प्रभाव से गोप भी शिक्षित और सभ्य हो गये—

अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित की समुच्चता।
बना दिया सभ्य समग्र गोप को।। (१३।२४)

वे जन-सेवा, समाज-सेवा में प्रवृत्त रहनेवाले हैं। दीन-दुखियों की सहायता उनका पहला धर्म है। विपत्ति आ जाने पर विचलित नहीं होते, प्रत्युत बड़ी धीरता और गम्भीरता के साथ उसका सामना करते हैं और आई हुई विपत्ति के निवारण के लिये प्रयत्नशील रहते हैं—

दिवस एक प्रभंजन का हुआ।
अति प्रकोप घटा नभ में घिरी।
बहु भयावह गाढ़ मसी समा।
सकल लोक प्रकंपित-कारिणी।। १२।१८

तब हरिऔध के नृरत्न कृष्ण ने इस जल-प्लावन की विपत्ति से बचने की यह युक्ति निकाली—

इसलिये तज के गिरि-कंदरा।
अपर यत्न न है अब त्राण का।

उचित है इस काल सयत्न हो।
शरण में चलना गिरि-राज की ।। (१२।३६)

लेकिन जल-प्लावित ब्रज-धरा में रहनेवाले अनेक बाल-वृद्धों के लिये गिरि-कंदरा में जाना सम्भव नहीं था। उस समय—

यदि ब्रजाधिप के प्रिय लाड़ले।
पतित का कर थे गहते कहीं।
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल-बाहर मग्न को ।। (१२।५३)

अतः—

लख अपार प्रसार-गिरीन्द्र में।
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उंगली पर श्याम ने ।। (१२।६७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के कृष्ण आदर्श नृरत्न हैं। उनमें कहीं हम अलौकिकता न पढ़ लें, इसलिये कवि ने एक स्थान पर ऐसा भी कहा है—

संसार में सकल काल नृरत्न ऐसे।
हैं हो गये अवनि है जिनकी कृतज्ञा।
सारे अपूर्व गुण हैं हरि के बताते।
सच्चे नृरत्न वह भी इस काल के हैं ।। (१२।७८)

हरिऔध की कृष्ण-भावना बुद्धिवाद पर आधारित है। कृष्ण के स्वरूप का आधार हरिऔध का कोई व्यक्तिगत दार्शनिक सिद्धान्त नहीं। जीवन के ठोस और वास्तविक सत्यों की अनुभूति से, मानवता के मौलिक गुणों से अलंकृत एक महान् व्यक्ति की कल्पना को ही हरिऔध ने कृष्ण का रूप देना चाहा है।

हरिऔध की एक ऐसी भावना पर निश्चय ही युग-धर्म का भी प्रभाव पड़ा है। गाँधीवाद के आदर्शों से अनुप्राणित कृष्ण का यह स्वरूप वस्तुतः

साहित्य के कृष्ण के स्वरूप में एक मौलिक उद्भावना है। लेकिन गाँधीवाद के आदर्शों में कर्म-प्रधान और कर्त्तव्य-प्रधान जीवन के कुछ तत्वों का भी समावेश कृष्ण के स्वरूप में किया गया है। गाँधीवाद का आदर्श है अहिंसा। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण अहिंसा के व्यापक-रूप को मानते हैं; लेकिन इतनी विशिष्टता के साथ—

समाज-उत्पीड़क धर्म-विप्लवी।
स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव प्राणि-पुंज का
न है क्षमा-योग्य वरंच बध्य है।। (१३।२०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रियप्रवास' में परम्परागत कृष्ण के अवतार-स्वरूप की नाना लीलाओं की असंभाव्यता को मनुष्योचित संभाव्यता के स्तर पर लाकर 'परमात्मा' से 'नृरत्न' और 'महान आत्मा' बना दिया गया है। कृष्ण का यह नवीन रूप 'सर्वभूत हिते रतः' एक महापुरुष का रूप है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'प्रियप्रवास' के कृष्ण अहिंसा में विश्वास तो करते हैं; लेकिन सत्याग्रही अहिंसा में नहीं, प्रत्युत पौरुषपूर्ण अहिंसा में। अनावश्यक रूप से प्राणी को उत्पीड़न पहुँचाने में उनका विश्वास नहीं; लेकिन देशद्रोही और स्वजाति कुल-नाशकों का वध करना ही वे श्रेयस्कर समझते हैं। इस दृष्टि से हरिऔध की कृष्ण-भावना बरबस भगवद्गीता के कृष्ण की याद दिलाती है। स्पष्ट है कि हरिऔध की कृष्ण-भावना का निर्माण गाँधीवाद और गीता के दो तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ है।

इधर गीतों में कृष्ण और राधा के अनेक चित्र उपस्थित किये गये हैं। 'राधा' नामक एक प्रबन्ध-काव्य आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रस्तुत कर रहे हैं और 'कृष्णायन' नाम के दो कृष्णकथा सम्बन्धी महाकाव्य भी लिखे जा चुके हैं।

रामकाव्य की परम्परा

रामकथा के मूल-स्रोत के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। लासेन के अनुसार राम-कथा आर्यों के दक्षिण-अभियान का रूपक है। वेवर के अनुसार रामायण आर्य-सभ्यता के दक्षिण-विस्तार का रूपक तो हो सकता है; पर रामकथा के दो मूल-स्रोत हैं—'दशरथ जातक' और होमर का काव्य। वेवर का कहना है कि रामकथा का मूल रूप 'दशरथ जातक' में वर्त्तमान है, जिसमें न तो सीताहरण का उल्लेख है, न राम-रावण-युद्ध का और जो शायद होमर के काव्य में वर्णित पैरिस द्वारा हेलेन के हरण तथा यूनानी सेना के साथ होनेवाले त्राय के युद्ध पर क्रमशः आधारित है। पर विद्वान लोग इस सिद्धांत को नहीं मानते; क्योंकि 'दशरथ जातक' स्वयं वाल्मीकि की रामकथा के बिगड़े स्वरूप को उपस्थित करनेवाला है और होमर के काव्य तथा अन्य यूनानी रचनाओं से कोई अन्य समानता न मिलने के कारण रामायण और होमर के काव्य का सम्बन्ध भी निराधार है। याकोबी के मत में रामकथा के दो भाग हैं। दोनों आगे चलकर एक हो गये। प्रथम भाग अयोध्या-सम्बन्धी घटनाओं का है और दूसरा रावण-सम्बन्धी घटनाओं का। याकोबी के मत में प्रथम भाग ऐतिहासिक है, मूलतः किसी इक्ष्वाकु वंश के निर्वासित राजकुमार की कथा पर आधारित। दूसरे भाग का सम्बन्ध वैदिक देवताओं से है। इस मत के अनुसार वेद में वर्णित कृषि की देवी सीता (जिसका अर्थ हल जोतने से खेत में बननेवाला वह चिराव भी होता है, जिसमें बीज बोया जाता है) ही विकसित होकर रामायण की सीता बन गई। सीतापति इन्द्र राम बन गए। इन्द्र द्वारा वृत्रासुर-वध, रावण-वध में परिवर्त्तित हो गया और इन्द्र की कृषक प्रजा की गायों का पणियों द्वारा होनेवाला हरण सीता-हरण का रूप ले बैठा। दिनेशचन्द्र सेन भी रामकथा के दो स्वतन्त्र भागों और उसके दो भिन्न स्रोतों को मानते हैं। पर उनका कहना है कि जहाँ प्रथम भाग का आधार उत्तर का 'दशरथ जातक' है, वहाँ दूसरे भाग का संबल दक्षिण में प्रचलित रावण-आख्यान है। आज के अधिकांश विद्वान यह मानते

हैं कि यद्यपि रामकथा में आगे चलकर उत्तर-दक्षिण तथा विभिन्न युगों की कथाओं और प्रवृत्तियों का सम्मिलन हो गया; किन्तु आरम्भिक रूप में यह सार्वदेशिक गाथा रही होगी, जिसके रूपक आगे चलकर सत्ता-रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। याकोबी ने इसी सिद्धान्त के आधार पर रामकथा की व्याख्या की है, जो ऊपर संक्षेप में दी गई है। इस रूपक के साथ कालक्रम से कुछ ऐतिहासिक तत्त्व भी मिल गए। वैदिक काल में आगे चलकर विष्णु इन्द्र से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए और धीरे-धीरे इन्द्र के स्थान पर समासीन हो गए। शायद और आगे चलकर विष्णु के अवतारी रूप में राम प्रतिष्ठित हुए। अतः राम के साथ सीता और इन्द्र की समस्त घटनाएँ जुड़ गईं।

वेद में रामायण के अनेक पात्रों, जैसे—इक्ष्वाकु, परशुराम, दशरथ, राम और सीता के उल्लेख मिलते हैं; पर रामकथा अथवा इन पात्रों के परस्पर सम्बन्ध के नहीं। राम की गणना ऋग्वेद में दानी और पराक्रमी यजमानों (अर्थात् सम्भवतः राजाओं) में की गई है—

प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्ररामे वोचमसुरे मघवत्सु।
येयुक्त्वाय पंच शतास्मयु यथा विश्राव्येषाम् ॥

ऋग्वेद की सीता कृषि की देवी है। अनेक स्थलों पर खेती के प्रसंग में उसकी वन्दना की गई है और उसे इन्द्रपत्नी कहा गया है—

इन्द्रः सीतं निगृह्णातु तं पूषाभि रक्षतु।
सा न पयस्वती, दुहामुत्तरामुत्तरां सभाम् ॥

(यहाँ भी सीता का एक अर्थ खेत का कूड़ा वा चिराव हो सकता है और शायद इसी अर्थ में कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में सीता शब्द का प्रयोग दिया है—

सखीभिरश्रोत्तरमीक्षितामिमां
वृषेव सीता तदवग्रह क्षताम्।

ऋग्वेद में दशरथ का उल्लेख एक ऐसे राजा के रूप में मिलता है, जिनके चालीस भूरे घोड़े सहस्र घोड़ों के आगे-आगे चलते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' और

'छांदोग्य उपनिषद' में अश्वपति कैकेय का विवरण कैकेय देश के ऐसे राजा के रूप में दिया गया है, जिनके पास पंडित ब्राह्मण भी ज्ञान की शिक्षा के लिए जाते थे। राजा जनक के, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में रामायण के अन्य पात्रों की अपेक्षा ज्यादा है, अनेक प्रसंग 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण', 'वृहदारण्यक उपनिषद' आदि में मिलते हैं। सभी स्थलों में वे एक ज्ञानी राजा के रूप में चित्रित हैं। इस प्रकार रामकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है और उनके चरित्रों की प्रमुख विशेषताएँ भी निर्दिष्ट हुई हैं; किन्तु उनके परस्पर सम्बन्ध का आभास नहीं मिलता।

बौद्ध त्रिपिटक के आधार पर कहा जा सकता है कि राम-गाथाएँ वाल्मीकि के पहले ही प्रचलित हो चुकी थीं; क्योंकि न तो ये गाथाएँ ही वाल्मीकि की राम-कथा पर आधारित होती हैं और न वाल्मीकि-रामायण ही बौद्ध-गाथाओं पर, बल्कि दोनों ही किसी पुरानी रामकथा सम्बन्धी गाथा पर निर्भर जान पड़ती हैं। अनुमान किया जाता है कि छठी शताब्दी ई० पू० तक ये गाथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं। इन्हीं गाथाओं अथवा रामाख्यान-काव्यों को समेटकर वाल्मीकि ने अपनी रामायण लिखी। इस रामायण में कुल पाँच काण्ड थे (वालकांड और उत्तरकांड नहीं थे) और अयोध्याकांड से युद्धकांड तक की कथा वर्णित थी। इसमें अवतार का उल्लेख भी न था। पर आगे चलकर इसमें वहुत-से प्रक्षिप्त अंश जुट गए। बालकांड और उत्तरकांड निस्सन्देह रूप से नए हैं; क्योंकि उनकी शैली रामायण की मुख्य कथावस्तु की शैली से मेल नहीं खाती। फिर उत्तरकांड में ही अवतारवाद और ब्राह्मणों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक, जिसमें रामायण का प्रक्षेपयुक्त स्वरूप मिलता है, रामकथा हो चुकी थी। ग्रंथों में राम अवतार मान लिये गये थे। संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों में इसके प्रमाण मिलते हैं। 'हरिवंश' में, जो चौथी शताब्दी के अन्त-काल की रचना है, तथा बाद के ग्रंथों, जैसे—'विष्णु-पुराण', 'वायु पुराण', 'भागवत पुराण', 'ब्राह्मण पुराण', 'गरुड़ पुराण', 'स्कंद पुराण' इत्यादि में रामकथा का विवरण मिलता है और इनमें राम को अलौकिक अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है।

नाट्यरूप भी प्रस्तुत होने लगा था। 'हरिवंश' में लिखा है कि बहुत पहले से ही राम के जीवन-वृत्त को लेकर लोग नाटक खेला करते थे। बाद में तो अवतारी राम की महिमा ऐसी बढ़ी कि रामायणों की रचना का एक सिलसिला-सा बँध गया। 'अध्यात्म रामायण', 'अद्भुत रामायण', 'आनन्द रामायण' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। रामचरित को लेकर धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त संस्कृत में जिन विशुद्ध साहित्यिक काव्यों का निर्माण हुआ, उनमें कालिदास का 'रघुवंश' अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसके बाद की रचनाओं में 'भट्टिकाव्य', कुमारदास का 'जानकी-हरण', अभिनन्दन का 'रामचरित', क्षेमेन्द्र का 'रामायण मंजरी', साकल्यमल्ल का 'उदारराघव' इत्यादि हैं और बाद की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। नाटकों में भासकृत 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटक, भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'महावीर चरित', राजशेखरकृत 'बाल-रामायण', 'महानाटक' वा 'हनुमान नाटक' तथा जयदेवकृत 'प्रसन्न राघव' प्रसिद्ध हैं। कथा-साहित्य में रामवृत्त कम है। हाँ, सोमदेवकृत 'कथासरित-सागर' में इसका उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है।

संस्कृत-काल के उपरान्त संस्कृत की सभी उत्तराधिकारिणी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामायण की रचना हुई। तामिल में कंबन ने, कनारी में नरहरि ने, मराठी में एकनाथ ने उड़िया में बलरामदास ने और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण लिखी। गुजरात, आसाम और बंगाल कृष्णप्रधान प्रान्त रहे हैं, अतः इन प्रान्तों ने अपेक्षाकृत रामकाव्य की रचना कम हुई। फिर भी इनमें वाल्मीकि-कृत रामायण का अनुवाद और रामकथा-सम्बन्धी अनेक रचनाएँ हुई हैं। बंगला की कृत्तिवासकृत 'रामायण' और आसामी की दुर्गावरकृत 'गीतिरामायण' तो काफी प्रसिद्ध हैं।

भारतवर्ष से बाहर तिब्बत, स्याम, हिन्दचीन, बर्मा, जावा इत्यादि में रामकथा-सम्बन्धी साहित्य मिलता है और इससे विदित होता है कि किस प्रकार रामाख्यान व्यापक होकर पड़ोसी देशों को प्रभावित कर रहा था। इन ग्रंथों में तिब्बती भाषा में लिखी 'रामायण', 'रामायण काकाविन' (हिन्देशिया)

'सेतरकांड' (जावा), 'रेंग्रामकेर' (हिन्द-चीन), 'रामकियेन' (श्याम), इत्यादि प्रमुख हैं।[1]

हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास और उनकी रामायण का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी के मुसलमान कवि अब्दुरहीम खानखाना ने ठीक ही कहा था कि

रामचरितमानस विमल सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को वेदसम जमनहिं प्रगट कुरान॥

उसी प्राचीन कवि के कथन को हाल के एक विदेशी आलोचक डा० जे० एम्० मैक्फी, एम० ए०, पी-एच० डी० ने अपनी पुस्तक 'दि रामायण आफ तुलसीदास ऑर दि बाइबिल आफ नार्दन इंडिया' में एक बार फिर दुहराया है।

वस्तुतः पक्का साहित्य इसी प्रकार का सर्वव्यापक और सर्वकालीन प्रभाव डालता है। तुलसी का 'रामचरित मानस' हिन्दी का 'क्लासिक' है। जिस रचना में भाषा, मस्तिष्क और समाज-भावना की व्यापक परिपक्वता होगी, वह 'क्लासिक' कहा जायगा।[2]

हिन्दी-साहित्य के चार कालों में (वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में) भक्तिकाल सर्वश्रेष्ठ काल है। वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग है। उस युग में हिन्दी के दो अमर कलाकार पैदा हुए—एक सूर और दूसरे तुलसी। दोनों महान् हैं और दोनों की रचनाएँ (खासकर, 'सूर-सागर' और 'रामचरितमानस') हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। पर तुलना की दृष्टि से तुलसी का व्यक्तित्व महानतर लगता है। सूरदास ने केवल गीत लिखे, तुलसीदास ने गीतों ('गीतावली' इत्यादि) के साथ प्रबंध-काव्य ('रामचरितमानस') भी लिखा। इस प्रकार सूरदास में जहाँ केवल गीति-प्रतिभा का परिचय मिलता है, वहाँ तुलसीदास में गीति और प्रबन्ध दोनों की प्रतिभा मिलती है। फिर सूरदास ने कृष्ण के केवल बाल और किशोर रूपों का चित्रण किया है, उनके समस्त जीवन का नहीं। अतः उनकी कला

---

१. 'रामकथा' रेवरेंड फादर कामिल बुलके।
२. 'ह्वाट इज क्लासिक?'—टी० एस० इलियट।

समस्त जीवन-व्यापिनी कला नहीं है। यह सही है कि अपने क्षेत्र में अर्थात् वात्सल्य और श्रृंगार-वर्णन में सूरदास उस्ताद हैं; पर इससे क्षेत्र की संकीर्णता की बात कटती नहीं। दूसरी ओर, तुलसीदास ने राम के जीवन में सम्पूर्ण मानव-जीवन को उपस्थित किया है। उनकी भावुकता जीवन का कोना-कोना झाँक आई है, उनके मानस में जीवन का कोई पक्ष, मानव के चरित्र का कोई पहलू अछूता नहीं रहा है। उनमें मानव-जीवन का आदि-मध्य-अंत सभी वर्णित हैं—

यही मँह आदि मध्य अवसान

इसी विस्तार के कारण तुलसीदास में सूरदास के प्रतिकूल (जिनमें केवल दो रसों—वात्सल्य और श्रृंगार की प्रधानता है) सभी रस अपनी पूर्णावस्था को आ गये हैं। बालकाण्ड के आरम्भ में वात्सल्य-रस है और जनकपुर के प्रसंग में मर्यादित श्रृंगार है। लक्ष्मण-परशुराम सम्भाषण में रौद्र और वीररस हैं। लंकादहन में अद्भुत, भयानक इत्यादि हैं। इस प्रकार यदि चन्दवरदाई और भूषण वीररस के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हैं और सूरदासजी वात्सल्य और श्रृंगारके उस्ताद हैं, तो तुलसीदासजी सभी रसों के रससिद्ध कवीश्वर हैं। एक बात और। सूरदास का अधिकार केवल ब्रजभाषा पर है; पर तुलसीदास का अधिकार ब्रजभाषा ('विनयपत्रिका' इत्यादि) और अवधी (रामचरित-मानस') दोनों पर समान रूप से सुदृढ़ है।

इलियट ने कवि की तुलना रंगमंच से की है। जिस तरह रंगमंच के आगे तरह-तरह के शिक्षित अर्द्धशिक्षित, विविध सिद्धान्तवादी रहते हैं, उसी तरह कवि के श्रोता और पाठक तरह-तरह के व्यक्ति होते हैं। सफल कवि वह है, जो अधिक-से-अधिक पाठकों तक अपने को पहुँचा पाता है। इस कसौटी पर हिन्दी के कवियों में केवल तुलसीदासजी ही ठहरगे। एक ओर कबीरदास, केशवदास, निराला, प्रसाद इत्यादि हैं, जिनकी वाणी पाठकों की एक बड़ी संख्या समझ नहीं पाती; दूसरी ओर, कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी सरलता में विज्ञ पाठकों को केवल सस्तापन और तुकबंदी मिलती है, जीवन के घने अस्तित्व नहीं। किन्तु तुलसीदास के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही

जा सकती; तुलसीदास की पहुँच झोपड़ी से महल तक है। उनका 'रामचरित मानस' सबका कंठहार है। एक ओर 'अपढ़-गँवार व्यक्ति भी उसकी पंक्तियों से रस निचोड़ लेता है।' गाँव का अक्षर-ज्ञान-हीन आदमी भी उठते-जागते तुलसीदास के वाक्यों का अनजान ही प्रयोग किया करता है। ऐसे वाक्य गाँवों में लोकोक्ति और मुहावरे बन गये हैं—

(१) का बरखा जब कृषि सुखानी।
समय चूकि पुनि का पछतानी ॥
(२) दुहुं न एक संग होंहि भुआलू।
हंसब ठठाई फुलाइब गालू ॥ इत्यादि।

दूसरी ओर, तुलसीदास की अर्द्धालियों का गूढ़ार्थ लगाने में बड़े-बड़े विद्वद्चक्रचूड़ामणि भी चक्कर खा जाते हैं। तुलसीदास के एक-एक वाक्य के असंख्य अर्थ लगाए गए हैं और अब भी विद्वानों को संतोष नहीं होता। यह कथन उचित ही है कि बालकाण्ड का आरम्भ, अयोध्या का मध्य और उत्तर का अन्त अथाह है। उसकी थाह लेना किसी भी पंडित के लिए सम्भव नहीं। वस्तुतः कवि की वाणीं सत्य है कि—

राम चरित जे पढ़त अघाहीं ॥
रस विशेष जाना तिन नाहीं ॥

कविता के दो पक्ष हैं—भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष। श्रेष्ठ कवि में इन दोनों पक्षों का समाहार रहता है; यानी उसकी वाणी में ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित रहते हैं। श्रेष्ठ कवि में तीन गुण होते हैं—जीवन के मर्म-स्थलों की पहचान, उनके अनुरूप अनुभूति और सम्यक् अभिव्यक्ति। ये तीनों गुण महाकवि तुलसीदास में जिस पुष्ट रूप में मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। एक 'रामचरित मानस' को ही लें, तो उसमें जीवन के इतने रस-स्थल मिलेंगे, जिनकी गणना करना भी कठिन हो जाय। यदि एकमात्र चित्रकूट-प्रसंग को ही लिया जाय, तो उसमें मानव-जीवन के असंख्य सम्बन्ध जुड़े दीखेंगे—माता-पुत्र का सम्बन्ध, भाई-भाई का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, पिता और विवाहिता पुत्री का सम्बन्ध, सास-पुत्रवधु का सम्बन्ध, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध,

राजा-प्रजा का सम्बन्ध इत्यादि। शुक्लजी ने ठीक ही चित्रकूट की सभा को रामायण की एक आध्यात्मिक घटना कहा है। पर किसी ग्रंथ में रसपूर्ण स्थलों और मार्मिक संबंधों की योजना कर देने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता। कवि तो वह है, जो उन स्थलों, पात्रों और उनकी परिस्थितियों में डूब जाता है और उनके अनुरूप अनुभव करता है। तुलसीदास में परिस्थिति की गहरी और ईमानदार अनुभूति है। यही कारण है कि रामायण में सभी पात्रों का, चाहे वे साधु हों या खल पात्र, चित्रण स्वाभाविक हुआ है; यहाँ तक कि रावण का पक्ष भी गिरने नहीं पाया है। फिर, तुलसीदास वाणी के धनी हैं। उनमें अनुभूति के गाम्भीर्य के साथ उसके प्रकाशन की प्रबल क्षमता है। इसीलिए रामायण में सभी घटनाओं का प्राणपूर्ण प्रकाशन हो सका है। यदि हास्य के अनुरूप शब्दावली देखना चाहते हों, तो नारद-मोह का प्रसंग पढ़िये, जहाँ बन्दर का मुँह लेकर नारद सभा में बैठे हैं; पर उन्हें पता नहीं है। सभी हँसते हैं, नारद अकुलाते हैं—

देख दसा हरगण मुसकाहीं।

यदि रौद्र के अनुरूप पौरुषेय शब्द देखना चाहते हों, तो लक्ष्मण-परशुराम संवाद देखिये—

भाषें लखन कुटिल भई भौंहें।
रद-पद फरकत नैन रिसौहें॥

यदि करुणा से भींगी भाषा देखना चाहते हों, तो दशरथ-मृत्यु का हाल देखिए, जिसे देखकर दुख को दुख लग गया था और 'धीरज' का भी धीरज छूट गया था—

सुन विलाप दुखहू दुख लागा।
धीरज हू कर धीरज भागा॥

तुलसी के एक-एक शब्द में लाक्षणिकता बैठी है। एक उदाहरण लीजिए। हनुमानजी लंका गए हैं। वहाँ उन्होंने विभीषण के घर में राम-नाम अंकित देखा। वे मुग्ध हो गये। इसी घटना का वर्णन महाकवि ने इस प्रकार किया है:—

राम-नाम अंकित गृह, सोभा वरनि न जाइ।
नव तुलसी के वृन्द बहु, देखि कपी हरषाइ ।।

यहाँ एक 'नव' शब्द को देखिए। 'नव' शब्द बहु-अर्थी है। इसके अनेक अर्थ होते हैं। 'नव' का एक अर्थ होता है नवा हुआ, दूसरा अर्थ होता है नया, तीसरा अर्थ होता है नौ। यदि पहला अर्थ लें, तो तात्पर्य यह निकलेगा कि विभीषण के आँगन में तुलसी का बिरवा पुराना था। यदि दूसरा अर्थ लें, तो निष्कर्ष होगा कि पौधा अभी-अभी का लगाया हुआ था। यदि तीसरा अर्थ लें, तो विश्वास करना होगा कि भविष्य मंगल के लिए नौ (जो एक शुभ अंक) बिरवे रोपे गये थे। इस प्रकार यहाँ एक शब्द के द्वारा गोस्वामीजी ने विभीषण के परिवारके भूत, वर्त्तमान और भविष्य की धार्मिक वृत्तियों को एक साथ प्रकाशित कर दिया है।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध कवि पोप ने कहा था कि कविता में केवल स्वर-माधुरी ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसमें तो ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिये, जिनके उच्चारण मात्र से काव्य का अर्थ झंकृत हो जाय—**The sound must echo the sense.** काव्य का यह गुण भी हिन्दी के अन्य कवियों की अपेक्षा तुलसीदास में ही अधिक मात्रा में मिलता है। तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की निम्नलिखित अमर पंक्ति को देखिए—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।

अथवा, इस पंक्ति को—

दामिनि दमकि रही घन मांही ।।

आपको पढ़ने मात्र से ही मालूम हो जायगा कि प्रथम पंक्ति में शब्दों के उच्चारण से ही आकाश में घिरते-घुमड़ते बादलों का दृश्य रूप गति (**motion**) के साथ खिंच जाता है। दूसरी पंक्ति में 'दमकि' शब्द पढ़ते ही ऐसा लगता है, जैसे चंचल बिजली पलभर को चमक कर अकस्मात् बादलों में खो गई हो।

अर्थ और शब्द का यह संयोग हिन्दी के कवियों में विरले है। यह तुलसीदासजी की ही विभूति है।

यदि हम केवल छंदों को ही लें, जिनकी चर्चा भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रही है, तो भी तुलसी ही बाजी मार लेंगे। चन्दवरदाई छप्पय के उस्ताद थे, सूर पदों के, नंद रोला के, भूषण घनाक्षरी के, रसखान सवैया-कवित्त के और विहारी दोहों के। पर तुलसीदास? उनका अधिकार तो इन सभी छंदों पर समान है। शायद ही उनसे अपने समय का कोई प्रचलित छंद छूटा हो। और, खूबी तो यह है कि बड़े सधे हाथों से उन्होंने इन छंदों को पकड़ा है, ढीले हाथों से नहीं।

छंदों की चुस्ती के साथ अलंकारों की उपयुक्तता भी कविता की कसौटी रही है। इस कसौटी पर भी तुलसीदास ही सबसे अधिक खरे उतरेंगे। जिस तरह संस्कृत में, 'उपमा कालिदासस्य' कहा जाता है, उसी तरह हिन्दी में 'उपमा तुलसीदास की' कहना चाहिए और यह कहना गलत नहीं होगा। तुलसीदास की उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ सटीक होती हैं; क्योंकि वे जीवन से ली गई हैं और जिन्दगी की सही अनुभूति के आधार पर खड़ी की गई हैं। उदाहरण तो असंख्य मिलेंगे—

(१) छुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोड़े धन खल बौराई॥
(२) दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
वेद पढ़त जनु बटु समुदाई॥
(३) वर्षा बूँद सहहिं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे॥ इत्यादि।

और, फिर तुलसी-साहित्य में कोई अलंकार छूटा ही नहीं है। वह तो विचारों के साथ अलंकारों का ,अथाह महासागर है। मेरा विश्वास है कि एक ऐसा समग्र अलंकार-ग्रंथ लिखा जा सकता है, जिसमें सभी अलंकारों के उदाहरण केवल 'रामचरित मानस' से दिये जायें। सुनते हैं कि पटने के एक व्यक्ति (शायद सुमतिजी) ने ऐसा ग्रंथ लिखना चाहा भी था। खेद है कि वह प्रकाश में न आ सका।

आज कविता की एक नई कसौटी बनी है—जीवन के प्रति जागरूकता।

उस कवि को प्रगतिशील कहा जाता है, जो जीवन के संघर्षों और मानव-प्रयत्नों के प्रति जाग्रत हो। आज रीतिकालीन कविता की अवहेलना इसीलिए होती है कि उसमें जीवन के प्रति जागरूकता नहीं है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिन दिनों यह कसौटी नहीं बनी थी, उन दिनों में उत्पन्न तुलसीदास की प्रतिभा यहाँ भी चमक उठी है। तुलसीदास जी का जन्म भारतवर्ष की परतन्त्रता के काल में हुआ था। चारों ओर शोषण हो रहा था। जनता पिस रही थी। अकाल और प्लेग इत्यादि भी आ धमके थे। भारतवर्ष के भीतरी जीवन में भी फूट आ गई थी। धर्म के क्षेत्र में भी दलबन्दियाँ शुरू हो गई थीं। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थिति की स्पष्ट झाँकियाँ दी हैं। उनके ग्रंथों में तत्कालीन अकाल इत्यादि का संकेत मिलता है। तत्कालीन राजकीय-शोषण के प्रति एक विपुल विद्रोह का स्वर उनमें मिलता है।

जैसे——

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।।

उस समय समाज में प्रचलित जात-पाँत के भेदभाव को भी उन्होंने जोरों से झकझोरा——

मेरे जाति पाँति न चाहौं काहू की जाति-पाँति।

अपने समय में प्रचलित सगुण-निगुण, शैव-वैष्णव के भेद-भावों को भी धक्का देकर दूर करने की उन्होंने कोशिश की थी——

'अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा' और 'शिवद्रोही मम दास कहावें' इत्यादि पंक्तियों से यही प्रमाणित होता है। इस प्रकार समाज के भेद-भाव को दूर कर और इस तरह आन्तरिक दुर्बलताओं से मुक्त कर तुलसीदासजी एक सबल राष्ट्र की नींव साहित्य के माध्यम से देना चाहते थे। शोषक राजा की निन्दा करके तथा रामराज की प्रशंसा करके तुलसीदासजी ने जनता को तत्कालीन निरंकुश शासन के प्रति उभाड़ा है और उसे राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए प्रेरित किया है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि यदि

तुलसीदास न होते, तो गाँव के किसानों की क्या दशा होती, कहा नहीं जा सकता। तुलसीदास हमारे प्रथम राष्ट्रकवि हैं। उन्होंने मृतप्राय जन-जीवन को अमृत दिया था। आज के राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की निम्नलिखित पंक्ति में अत्युक्ति नहीं है—

पैठ संस्कृत सिंधु में पाये जहाँ रत्न।
ग्रथित करने में उन्हें करके अलौकिक यत्न।
हार जो इस देश को तुमने दिया उपहार।
कौन कर सकता है उसके मूल्य का निरधार।
... ...
जिस कमंडलु के अमृत ने थे बचाये प्राण।
वह तुम्हारे हाथ में था दास तुलसी दास।
जी उठी फिर भावना दृढ़ हो गया विश्वास।

हम रामायण को 'क्लासिक' इसलिए भी कहते हैं कि भाषा और भाव के जिस क्षेत्र में इस प्रकार के 'क्लासिक' की रचना हो जाती है, वह क्षेत्र बहुत दिनों के लिए बंजर हो जाता है और बहुत दिनों तक उसमें साहित्य की फसल नहीं होती, जैसे उसका सारा रस निचुड़ गया हो। रामायण में भी मानों भाषा (अवधी) और भाव (रामकाव्य) का सारा रस निचुड़ आया और इस प्रकार कि आज तक रामकाव्य के क्षेत्र म दूसरी कोई रचना उसकी बराबरी की नहीं हुई।

वैसे तुलसीदास के समकालीन सूरदासजी ने भी 'सूरसागर' में रामचरित लिखा और कुछ अन्य समसामयिक जनों ने भी; पर वह समग्रता नहीं आई। रामकाव्य के साथ अमर संबंध जोड़नेवाले गोस्वामीजी ही हुए। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' में केवल चमत्कारवाद है; वह अनुभूति नहीं, जो चमत्कारों को काव्यात्मक बना देती है। यही नहीं, इसमें तो प्रबंध-योजना भी त्रुटिपूर्ण है।

आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' है। 'साकेत' की रचना पर रामकाव्य सम्बन्धी अनेक पूर्ववर्त्ती ग्रंथों का प्रभाव है।

इसमें कवि ने तुलसी से कथा ली, वाल्मीकि से चरित्र लिए, कालिदास से प्रकृति-चित्रण की प्रेरणा ली, भवभूति से वस्तु-निर्माण की योजना ली, माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद व्रध' से पाप-पुण्य का संघर्ष लिया और नवीनचन्द्र सेन से (जो स्थान के नाम पर पुस्तकों का नामकरण किया करते थे) नामकरण की शैली ली है।

चूँकि 'साकेत' 'रामचरित मानस' के अयोध्याकाण्ड पर विशेष रूप से आधारित है, इसलिए इसपर तुलसीदास का प्रभाव सर्वाधिक है। 'साकेत' में तुलसीकृत रामायण की असंख्य पंक्तियाँ प्रतिध्वनित और अनगिनत उद्धृत हैं, विशेषतः अयोध्या-वर्णन और मंथरा-कैकेयी-संवाद में। जैसे,——

तीर-तीर देवन के मंदिर। (तुलसी)
तीर पर हैं देव मंदिर सोहते। (गुप्त)

... ...

जनु प्रेम अरु अनुराग तनु धरि मिलत हम देखत हरि। (तुलसी)
प्रीति से आवेग मानों आ मिला।
और हार्दिक हास आँखों में खिला। (गुप्त)

... ...

फारइ जोगू कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा।।
हमहुँ कहब अब ठकुर-सुहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती।।
कोउ नृप होइ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।।
(तुलसी)

लगे उस मेरे मुंहमें आग।
मुझे क्या; मैं होती हूँ कौन?
नहीं रहती हूँ फिर क्यों मौन?
देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात,
निकल ही जाती है कुछ बात।
(गुप्त)

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई ।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि विषम भाँति निहारई ।। (तुलसी)

सरल नृप को छलकर इस भाँति,
गरल उगले उरगी जिस भाँति,
भरत-सुत-मणि की माँ मुद मान,
माँगने चली अभय-वरदान। (गुप्त)

वस्तुयोजना के अतिरिक्त अवतारवाद का विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त भी 'साकेत' ने 'मानस' से ग्रहण किया है।

निर्गुण ब्रह्म सगुण भये कैसे । जल हिम-उपल विलग नहिं जैसे । (तुलसी)

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है। (गुप्त)

कालिदास के 'रघुवंश' की तरह गप्तजी के 'साकेत' में इक्ष्वाकु-कुल के मंगलमय संवत्सरों के निर्देशक यज्ञ-स्तम्भ खड़े हैं। 'रघुवंश' की मंदाकिनी की अनुरूपता में 'साकेत' की गंगा भी द्रवित मोतियों का हार बनकर पृथ्वी के गले में पड़ी है। कालिदास की तरह साकेतकार को भी तीर्थराज प्रयाग को देखकर शरद्-ऋतु का ध्यान हो जाता है। चित्रकूट का वृषभ-रूप तो कालिदास की गुहार कर ही रहा है—

मंदाकिनी-वर्णन

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा
सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मंदाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ।। (रघु० १३४८)

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,
स्वर्ग-कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी !
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी ।।
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी ।। (साकेत)

तीर्थराज-वर्णन

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभि—
छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा
रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशे ।। (रघु० १३।५६)

देखो भाभी, तीर्थराज की यह छटा,
वर्षा से आ मिली शरद की-सी छटा ! (साकेत)

चित्रकूट-वर्णन

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ
शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः
वध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षु—
दृप्तः कुकुद्मानिव चित्रकूटः ।। (रघु०, १३।४७)

जिनकी शृङ्गावली विचित्र बढ़ी-चढ़ी,
हरियाली की झूल, फूल-पत्ती कढ़ी ।
गिरि हरि का हरदेव देख वृषवन मिला,
उनके पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला । (साकेत)

पात्रों का आवेश और गंगावतरण वाल्मीकि का ध्यान कराते हैं। पर, यदि 'साकेत' अनुकरणमात्र है, तो फिर उसका महत्त्व क्या ? कला का मूल उत्स आनन्द है और अंधानुकरण में अपेक्षित आनन्द नहीं होता। और, सच तो यह है कि अनेक स्थलों में यह अनुकृति पीछे छूटकर अपने को शिथिल प्रमाणित कर चुकी है। यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि तुलसी के राम-केवट-संवाद में, केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन में जो हृदयोल्लास है, आनन्द-विभोर मन की जो भक्तिविह्वल उमंग है, साढ़साती के ग्रहभार और मति फेर जानेवाली गिरा की प्रेरणा से बोझिल मंथरा की कटूक्तियों में भी नारी-जीवन के कठोर पक्ष का जो प्रमाणपूर्ण मार्मिक उद्घाटन है, जो मर्मस्पर्शी व्यंग्य है, वह गुप्तजी के 'साकेत' में नहीं है। अपने व्यंग्य को

स्वभावोक्ति से परम ग्रास्वादनीय बना देनेवाली 'मानस' की मंथरा 'साकेत' में अधीर हो उठी है।

कालिदास के प्रकृति-चित्रण की सहज कला—वह 'मधुमंजरी', जो वाणभट्ट ने कालिदास की पंक्तियों में पाई थी, गुप्तजी के अकृश-बोझिल, व्याख्या-संकुल और श्लेषलोलुप वाक्यों में कहाँ? वाल्मीकि की यथार्थता ने लक्ष्मण द्वारा की गई विमाता कैकेयी की भर्त्सना में (जिसमें उसे 'अनार्यों की जनी' कहा गया है) कैकेयी की छाती में अंकित शत्रुघ्न के मुष्टिका-प्रहार में नीतिहीन असत् वस्तुवाद का रूप धारण कर लिया है। अतः इन ग्रंथों की तुलना की तुला में तौलकर हम 'साकेत' की मर्यादा का मूल्यांकन नहीं कर सकते। यह 'साकेत' की अनुकरण-वृत्ति नहीं, उसकी मौलिकता थी, उसका नवीन पथ-निर्देश था, जिसने उसे समादृत किया और उसके अनुकरण में 'साकेत संत' आदि प्रवंध लिखवाये। अतः 'साकेत' के गौरव के मूल्यांकन की कसौटी वे उद्भावनाएँ हैं, जिनमें मैथिलीशरणजी ने दीन, मूक पात्रों को महा-प्राण बनाया है, उपेक्षित जीवन-प्रान्तर में नये मर्मस्थल बसाये और पूर्वजीवनादर्शों का मूल्यांकन किया है। हाँ, 'साकेत' न तो रामकथा की अनुकृति है, न विरोध; वह उसका पुनर्मूल्यांकन है, उसके सूत्रों की आधुनिक व्याख्या है। 'साकेत' की ये उद्भावनाएँ मुख्यतः पात्र-वस्तु-आदर्श-विषयक हैं। पूर्व-कथाओं में हमने उर्मिला को विदेह-नगरी के स्वयंवर में वधूवेष में देखा था। रघुराजकुल के अन्तःपुर में प्रवेश करने के बाद उसके दर्शन हुए नहीं। भवभूति के काव्य में एक बार सीता ने चित्रशाला में उर्मिला की छवि पर तर्जनी रखकर लक्ष्मण से पूछा था—"वत्स, यह कौन है"; फिर रामकथा की विस्तृत चित्रशाला में किसी की तर्जनी उर्मिला की छवि पर न पड़ी। इस उपेक्षिता उर्मिला को मैथिलीशरणजी ने अपने महाकाव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। वह सीता से भी अधिक सम्मान और संवेदना का अधिकार रखती है; क्योंकि—'सीता ने अपना भाग लिया, पर उसने वह भी त्याग दिया'। वनगमन के उपरान्त दशरथ, माताएँ, गुरु वशिष्ठ आदि सभी उर्मिला का ध्यान रखते हैं। कवि राम को चित्रकूट पहुँचाकर उर्मिला के पास लौट आता

है और अन्त तक उसके साथ रहता है। इस भाँति साकेतकार ने रामकथा के आकर्षण-केन्द्र को ही स्थानान्तरित करने की चेष्टा की है। वाल्मीकि के काव्य के आकर्षण-केन्द्र 'नरचन्द्र' राम हैं, तुलसी के मानस के भगवान राम और भवभूति की करुणा की आत्मा सीता है। गुप्तजी की चिन्ता की काव्यश्री उर्मिला हैं। एक बार स्वर्गीय डा० इकबाल ने लाहौर में देवेन्द्र सत्यार्थी से कहा था कि 'यह तो मैं भी कहूँगा कि वाल्मीकि की कलम से उर्मिला के साथ भारी बेइन्साफी हुई है और मैं समझता हूँ कि उर्मिला का हक उसे मिलकर रहेगा। ऐसी जिन्दा कहानियाँ, जिनसे एक तरह से मुल्क की तवारीख पनपती है, हमेशा शायरी की नई-से-नई पोशाक पहनने की आदी रही है।' गुप्तजी ने रामकाव्य की कहानी को न केवल एक नई रागिनी में गाया है, वरन् अन्तरा में पड़ी उर्मिला को टेक के सम पर खड़ा किया है।

आधार-ग्रंथों में लक्ष्मण के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्नायु भी स्पष्ट नहीं है। वाल्मीकि के लक्ष्मण स्त्री के वशवर्त्ती राजा को बाँधकर और भरत को माता-समेत मारकर राम का राज्याभिषेक करना चाहते हैं; पर इससे उनका निजत्व प्रगट नहीं होता; क्योंकि यह आवेश तो वहाँ सभी पात्रों में समान रूप से बैठा है। तुलसी के लखनलाल तो शेषावतार ही थे, जिसके भारभंजन के लिए रामावतार हुआ था। स्वभावतः वे एक कठोर आदर्शवादी सेवक के रूप में चित्रित किये गये हैं, जो स्वामी के सामने निज योग-क्षेम को सदा भूला रहता है। उस 'कुसुमायुध योगी' के व्रत-कठोर आवरण के भीतर जो मृदुता और मर्मस्पर्शी क्रंदन था, उसकी ओर गुप्तजी ने ध्यान दिया। गुप्तजी ने पहली बार लक्ष्मण को हृदयपक्ष से युक्त किया है। 'साकेत' के लक्ष्मण शौर्यवादी ही नहीं सौन्दर्यवादी भी हैं। मानस की कल्पना विराट् है, साकेत की कोमल।

और कैकेयी? वह तो गुप्तजी की भावुक कल्पना की सबसे ऊँची चोटी है। कैकेयी साकेत-धाम का आकाशदीप है। दूर भविष्य में जब साकेत के अनेक अंश दूर से दिखाई न देंगे, यह ज्योति नवागंतुकों को साकेत-दर्शन की प्रेरणा देती रहेगी। आधार-ग्रंथों में कैकेयी एक व्यक्ति नहीं, टाइप है—

रावण की प्रतिरूपिणी। साकेतकार ने उसकी महत्त्वाकांक्षा को विराट् वात्सल्य और उत्कट महत्त्व का पर्याय बनाकर, उसके संस्कारजन्य दर्प को परिस्थिति-परक बनाकर तथा उसके अस्पृश्य पाप को वंदनीय पश्चात्ताप देकर कैकेयी को एक व्यक्ति बना दिया है, जिसके कलंक को तुलसीदास अध्यात्म की ओट देकर भी न छिपा सके, उसे गाँधीयुग के एक उदार वैष्णव ने ममत्व और ग्लानि के संयोग से कला के कपोल का सौन्दर्यचिह्न बना दिया है। आदिकवि की कैकेयी विद्वानों की राय में सीताहरण और सीता-परित्याग की तरह भाग्य-बहेलिये के तीखे तीरों का प्रतीक-भर है। मानस की कैकेयी देवताओं का उपादान और सरस्वती का शापमय वाहन है। उसमें व्यापार का अभाव है। 'दुरमति' दूर होने पर भी वह अनुताप नहीं करती। 'साकेत' में उर्मिला और कैकेयी दोनों वेदनामयी हैं; पर दोनों की वेदना में अन्तर है। उर्मिला की वेदना तरल तो है; पर वह निष्क्रिय है। कैकेयी के अनुताप में वह सक्रियता है, जो भूले-भटकों और निराश जनों को बल देती है। हाँ—
'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

गुप्तजी ने रावण में सहृदयता खोज ली है और सुमित्रा को क्षात्र-तेज दिया है—'हम परभाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी'। साकेतकार ने मानस के निषादराज का मध्यकालीन हीन-परिज्ञान (**Inferiority complex**) दूर किया है।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि यद्यपि आदिकवि और मानसकार ने उर्मिला को भुला दिया, लोकमानस ने उसे निर्वासित नहीं किया। महा-काव्यों से परिच्छिन्न उर्मिला युगों से अपना सम्पूर्ण यौवन-विलास और अकथ वेदना लेकर लोकगीतों में बैठी हुई है। कहीं वह जँतसार में पिसनहारियों के साथ रो रही है—

के रे देल गोहुमा हो रामा, के रे देल चँगरिया ?
कउनी बइरिनिया हो रामा, भेजल जँतसरिया ?
सासु देल गोहुमा हो रामा, ननदी चँगरिया !
गोतनी बइरिनिया हो रामा, भेजल जँतसरिया !

जँतवो न चलइ हो रामा, मकरी न डोलई !
जाँत के धइल हो रामा, रोवइ जँतसरिया !
घोड़वा चढ़ल हो लछमन करइ पूछसरिया—
केकरी तिरियबा हो रामा, रोवइ जँतसरिया ?
तोहूँ नय जानल हो लछुमन तोहरे तिरियवा
जँतवा के दूख हो रामा, रोवइ जँतसरिया ?

'उर्मिला की नींद' आन्ध्रभाषा का एक लम्बा लोकगीत है, जिसे देवेन्द्र सत्यार्थी ने प्रकाशित कराया है। 'विरह की पीड़ा को सुलाती उर्मिला स्वयं सो गई और चौदह वर्षों तक सोयी रही; लक्ष्मण ने आकर उसे जगाया ।' इस गीत में शान्ता और सीता का ननद-भाभी-विनोद भी अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित है।

इस प्रकार जिस पारिवारिक रस और सम्मिलित भारतीय परिवार के विनोद और विचार को साकेतकार ने उपस्थित किया है, वह आधारग्रन्थों में नहीं, लोकगीतों में मिलता है।

इस प्रकार कवि ने रामकाव्य की कठिन रागिनी को कोमल सुर में गाया है। यह उसका गौरव है, यही उसकी धन्यता है; पर जैसे एकतान संगीत (Concert) में विविध वाद्ययंत्र बजते हैं और उनमें से प्रत्येक अपने चरम सुर का प्रकाश करता हुआ भी समग्र संगीत को रूप देने के लिए उसके ऐक्य में लय हो जाता है और श्रोता को उसकी पृथक् सत्ता का बोध नहीं होता, उसी प्रकार 'साकेत' में रामकाव्य की विभिन्न विचित्रताओं में से प्रत्येक ने अपना चरम कर्त्तव्य करते हुए भी ऐक्य की रागिनी में अपने को विसर्जित कर दिया है, इसमें सन्देह है। साकेतकार के काव्य की खण्डताओं की अपेक्षा उसकी समग्रता अधिक प्रत्यक्ष नहीं होती। यही उसका अभाव है।

'साकेत' में भक्ति, गुणगान, गामिता और काव्यचेतना का समाहार न हो सका। उसमें अनेक विवादी सुर सुनाई पड़ते हैं। उर्मिला 'साकेत' का केन्द्र-बिंदु तो बनी; पर भक्ति ने रामकाव्य का सम्पूर्ण अपवर्ग उतारकर मानों

उसके स्वत्वों का अपहरण कर लिया है। 'साकेत' में कथा की दो अन्तर-धाराओं (राम-सीता की कथा और लक्ष्मण-उर्मिला की कथा) के प्रवहमान होने के कारण दो आकर्षण-केन्द्र उपस्थित हो गये हैं और पाठक की उत्कंठा एवं संवेदना का केन्द्रीयकरण उर्मिला में नहीं हो पाता। यों नाटकीय स्थान-ऐक्य के हेतु कथाकार ने रामकथा का समाहार साकेत में करना चाहा है और इसलिए एक बड़े कथा-भाग को सूचनीय रखा है। इससे पाठक को कुतूहल तो होता है; पर उसके मन की तार्किकता को संतोष नहीं मिलता।' वह लक्ष्मण के जीवन-मरण के आकुल क्षणों के बीच हनुमान द्वारा किये गये खरदूषणवध आदि के दीर्घ वर्णन और साकेत की रणसज्जा के मध्य वशिष्ठ की योगदृष्टि के द्वारा आयोजित लंका-विजय-दर्शन के आयास की संगति नहीं बैठा पाता। फिर इस केन्द्रीयकरण के प्रयास के कारण कथा का एक वृहत् भाग वर्णन-प्रधान हो गया है और घटनाएँ परोक्ष बनकर शिथिल हो गई हैं। प्रत्यक्ष है कि कथा के कई खण्ड हो जाने के कारण उसकी समग्रता की अनुभूति में चिन्ताजनक बाधा पड़ गई है। . . . . .

'साकेत' में एक विवादी सुर सुनाई पड़ता है। वह है आर्य-महीपति दशरथ का दौर्बल्य। जिस लोकमत की रक्षा के लिए साकेतकार ने मानस के विधाता की भाँति, प्रजा को सोती छोड़कर आधी रात को भाग जानेवाले राम का अनुसरण न कर तमसा के तीर पर एक सर्वथा भिन्न दृश्य खड़ा किया, उस आदर्श और लोकमत के समर्थन का एक अच्छा अवसर, वरयाचना के समय, दशरथ के जीवन में आने पर भी कवि ने उसका कोई उपयोग नहीं किया। आदिकवि से लेकर गुप्तजी के काव्य तक में अयोध्यानरेश रामकथा के एक मोहग्रस्त कोने में खड़े रहे। दशरथ का यह असंशोधित दैन्य और अनुताप 'साकेत' के उदात्त स्वर के प्रतिकूल पड़ जाता है।

भावुकताबहुल करुणा ने उर्मिला को भी आवश्यकता से अधिक संवेदना देकर किंचित् दयनीय बना दिया है। वियोग के दीर्घ वर्णन के कारण उसका वह कर्तृत्वपक्ष ही दुर्बल हो गया है, जिसपर चढ़कर वह साकेत का नेतृत्व करती।

गुप्तजी ने रामकथा में उर्मिला-विरह, भरत-मांडवी-संलाप, साकेत की रणसज्जा, लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन आदि अनेक नये रसस्थल जोड़े हैं; पर इन भावनापूर्ण स्थलों के साथ ही 'साकेत' में कुछ रसाभास-स्थल भी जुड़ आये हैं। मरणासन्न दशरथ की दुर्बल आशा का उल्लासपूर्ण वर्णन, दशरथ की मृत्यु पर विधवा रानियों से अधिक उर्मिला का विलाप और साकेत की रणसज्जा के अवसर पर उसका साकेतवासियों को लंका से सोना न लाने की चेतावनी देना—ऐसे ही प्रसंग हैं। इस प्रकार, 'साकेत' में महाकाव्य का-सा भावोन्मेष तो मिलता है; पर भाव-संकलन नहीं।

फिर भी, 'साकेत' इस युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य है। मौलिक चिंतन और कल्पना-उन्मेष की दृष्टि से ही नहीं, विषय की दृढ़ पकड़ की दृष्टि से भी उसने अपने अनुकरण में लिखे गये बलदेव उपाध्याय के 'साकेत-संत' और प्रभातजी की 'कैकेयी' को आगे आने न दिया है। उपाध्यायजी ने कैकेयी के वरों को उसके विवाह की शर्त्त माना है और शत्रुघ्न के द्वारा मंथरा को दीवार से रगड़वाकर उसके कूबड़ से खून निकलवाया है। पर, इससे काव्य का कोई मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ये चित्र हमारे सौंदर्य-संस्कार के प्रतिकूल पड़ते हैं। रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित-चिंतामणि' में रामकाव्य की मर्यादा की रक्षा नहीं हो पाई है। जिस दृष्टिकोण से उसमें राम, सीता, भरत और लक्ष्मण को देखा गया है, उसने उनके उच्चादर्शों को मलिन कर दिया है। उस मर्यादा की रक्षा के अधिकारी गुप्त ही हैं; क्योंकि आधुनिक बुद्धिवाद का प्रभाव उनके विश्वास पर नहीं पड़ा है।†

रीतिकालीन कविता

रीतिकाव्य का आकस्मिक प्रादुर्भाव नहीं हुआ, वरन् उसके पीछे अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियाँ काम कर रही थीं, साथ ही उसका एक निश्चित

† साहित्य और समीक्षा—प्रो० केसरी कुमार

साहित्यिक पृष्ठाधार भी था। रीतिकाल का प्रारम्भ उस समय हुआ, जब मुगल-साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर अवनति की ओर बढ़ रहा था। मुगल बादशाह और सामन्तों की विलासप्रियता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। औरंगजेब की सारी शक्ति वासना के उमड़ते हुए प्रबल सागर को रोकने में असमर्थ रही। मुसलमानों की देखा-देखी हिन्दू-राजाओं के महलों में सुन्दरी के साथ सुरा का उन्मुक्त व्यापार चल रहा था। उधर मठ और मन्दिर देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छुमछनन से गूँजते रहते थे। भारतीय इतिहास का यह घोर पतन का युग था। यही कारण था कि जिस बिहारी की एक-दो पंक्तियाँ जयसिंह को रंगमहल से बाहर खींच लायी थीं, वही उस वातावरण में रहकर निःसंकोच नायिका के नख-शिख का वर्णन करने लगे। परिस्थितियाँ साहित्य पर कहाँ तक प्रभाव डाल सकती हैं; रीतिकालीन कविता इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त रीतिकाल का ऐहिकतामूलक सरस काव्य भारतीय परम्परा का स्वाभाविक विकास है। "यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की, जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त काव्य-वस्तुओं को छोड़ नित्यप्रति के सरल, ऐहिक जीवन के छोटे-छोटे चित्रों को आँक रही थी।" सन् ईसवी के आसपास आभीर जाति के संसर्ग से भारतीय साहित्य में एक प्रकार की रचनाओं का विकास हुआ था, जो धारावाहिक रूप में नहीं लिखी जाती थीं, बल्कि फुटकल श्लोकों के रूप में उनकी रचना होती थी। इस प्रकार की कविताओं का सबसे प्राचीन संग्रह 'हाल की सतसई' माना जाता है। इसके प्रत्येक पद अपने-आपमें स्वतन्त्र और आध्यात्मिकता की चिन्ता से मुक्त हैं। इसमें जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हैं। सतसई के उपरान्त दो और इस तरह के ग्रंथ संस्कृत में मिलते हैं, जिनके नाम हैं अमरुक कवि का 'अमरुक शतक' और गोवर्धन की 'आर्या-सप्तशती'। आगे चलकर इन मुक्तक काव्यों ने शास्त्रपंथी पंडितों को आकर्षित किया और फुटकल पदों में साहित्य-शास्त्र का विवेचन होने लगा। यह प्रवृत्ति बहुत ही शक्तिशाली रूप में हिन्दी की रीतिकालीन कविता में प्रकट हुई।

एक और चिन्ता-धारा थी कामशास्त्र की, जिससे रीतिकालीन कविता यथेष्ट प्रभावित हुई। वात्स्यायन का सूत्र इसका प्रधान ग्रंथ है, जिसमें अंकित शृंगार-भावनाओं तथा केलि-क्रीड़ाओं के चित्रों की स्पष्ट छाप रीतिकाव्य में परिलक्षित होती है।

इन सारी प्रवृत्तियों के प्रभाव के साथ रीतिकाल के ऊपर भक्ति-साहित्य का प्रभाव होना आवश्यक है। ऐन्द्रिय प्रेम में आकण्ठ निमग्न होकर भी रीतिकाल के कवि राधाकृष्ण का नाम नहीं भूल सके हैं। अतः भक्ति का हल्का पुट समस्त रीतिकाव्य पर है; चाहे वह कितना ही कृत्रिम और बाहरी क्यों न हो।

इस तरह युग और साहित्यिक परम्परा से प्रभावित होकर रीतिकाव्य का प्रादुर्भाव हुआ और अपनी विशिष्टता के कारण हिन्दी-साहित्य में यह एक युग के नाम से विख्यात हो गया। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'हिन्दी रीति-ग्रंथों की अखंड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिये।' आगे चलकर केशव, बिहारी, देव, मतिराम, भूषण आदि अपनी सरस कविताओं के द्वारा साहित्य में अमर हो गये; रीतिकालीन कवियों ने रस (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के इतने उदाहरण प्रस्तुत किये कि उतने परिमाण में सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथों में भी नहीं मिलेंगे। शृंगाररस के अन्तर्गत नायिका-भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। कवियों ने कविता लिखने की एक प्रणाली ही बना ली, जिसमें दोहे में ही रस या अलंकार का लक्षण लिखकर फिर उदाहरण-स्वरूप मर्मस्पर्शी दोहे लिखते थे। बिहारी की तरह जिन कवियों ने इस परिपाटी का पालन नहीं कर स्वतन्त्र रूप में रचना की, उनकी कविताओं में भी नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन, षट्ऋतुवर्णन आदि आसानी से परिलक्षित होते हैं।

रीतिकाव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है शृंगारिकता। इसलिये कुछ इतिहासलेखकों ने इसे शृंगार-काल भी कहा है। रीतिकाव्य का शृंगार

भक्तिकाव्य की तरह आध्यात्मिक नहीं है, इन्द्रियजन्य अनुभूतियाँ यहाँ एक विराट् अनुभूति में निमज्जित नहीं हो जाती हैं; वरन् यहाँ कल्पना-सौंदर्य स्पर्श-सुख से सम्पृक्त है, जिसमें प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता है। रीतिकाव्य का शृंगार नितान्त स्थूल और इन्द्रियजन्य है, जिसमें दृष्टि शरीर के सौंदर्य पर ही अटकी रहती है, आत्मा तक नहीं पहुँच पाती। कुच और कंचुकी की परिधि के बाहर मानों ये जा ही नहीं सकते थे—

दुरत न कुच विच कंचुकी, चुपरी सादी सेत।
कवि अंकन के अर्थं लौं, प्रगट दिखाई देत।। —बिहारी

अधर रस की जगह भला ऐसे रसिक कवियों को आध्यात्मिक रस कहाँ तक तृप्त करता? मतिराम ऐसे कवि कृष्ण के लिए तप करना नहीं चाहते। उनकी तो एकमात्र आकांक्षा थी इन्द्रिय सुख की प्राप्ति—

"होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजे,
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै।"
—मतिराम

परन्य इस युग की शृंगार-भावना विद्यापति की शृंगार-भावना की तरह निश्छल और स्वस्थ नहीं है। विद्यापति का समाज जितना उदार था, उतना रीतियुग का नहीं; क्योंकि मुगलों के आक्रमण के फलस्वरूप समस्त भारतीय संस्कृति में एक प्रकार के संकोच और छिपाव का प्रवेश हो चुका था। अतः रीतिकाव्य में सारा प्रेम-व्यापार लुक-छिप कर होता है—

'चितई ललचों हैं लखनि, डटि घूँघट पट माँह।
छलसों चली छुपाव कै, छिनक छबीली छाँह।।
—बिहारी

इतना होने पर भी रीतिकाल की शृंगारिकता में वेश्याविलास अथवा बाजारू हुस्नपरस्ती की बू नहीं आयी है। इसका रूप सर्वत्र ही गार्हस्थिकस्थ है—इस पर भारतीय कुल-परम्परा और शील की छाया रही है। गणिका के प्रेम को रीतिकाल के कवियों ने रसाभास माना है। और अत्यन्त अरुचि के

साथ उसका वर्णन किया है। यहाँ तक कि परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया है--

"पाय मुख्य सिंगार को सुद्ध परकीवा नारि। —देव

इस तरह रीतिकाल का भावपक्ष उतना उत्कृष्ट नहीं है, जितना भक्तिकाल का। पर, कलापक्ष का इस युग में चरम विकास हुआ। विहारी के दोहों में अलंकृत गीत-काव्य की वह रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है, जिसे देखकर उसी समय की सर्वश्रेष्ठ इमारत ताजमहल की याद आ जाती है, जिसका सूक्ष्म कोमल सौंदर्य मन को मोह लेता है। रीतिकाल की तुलना हम अँगरेजी साहित्य के पोप के युग से कर सकते हैं। बिहारी की तरह पोप की कविताओं में हमें कलापक्ष का चरम विकास मिलता है।

रीतिकाल में अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि वह साधन की अपेक्षा साध्य ही अधिक ज्ञात होता है। रीतिकाल के अधिकांश कवि रूपरसिक नागरिक थे, अतएव कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे। "कुछ कवियों में अलंकारों का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म तरल प्रयोग मिलता है--वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वारस्य के इतने सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं"--(नगेन्द्र)। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में असंगति अलंकार का कितना सुन्दर उदाहरण है:--

"दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित्र प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिय, दई नई यह रीति।"

कहीं-कहीं भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है। इसके अतिरिक्त भाषा में चित्रमयता और नाद-सौंदर्य के भी दर्शन होते हैं। कुछ स्थलों पर वस्तुव्यंजना औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गई है।

रीतिकालीन आचार्यत्व

रीतिकाल की कला में एक दोष स्पष्ट है कि कवियों ने एक ही उपमान

और प्रतीक का बार-बार प्रयोग किया है। मृग, कमल और खंजन को छोड़कर आँख के लिए मानों कोई उपमान उन्हें मिलता ही नहीं था।

इस तरह इस युग की कला में इतनी पच्चीकारी और नक्काशी हुई कि जनजीवन से उसका सम्बन्ध छूट-सा गया, जिसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक थी।

फिर भी, रीतिकाल का हिन्दी-साहित्य में सम्माननीय स्थान है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

रीतिकाल में काव्यत्व और आचार्यत्व का विचित्र संयोग दिखाई पड़ता है। वस्तुतः कविता करना तथा रस और अलंकार-शास्त्र का विवेचन करना, दो भिन्न कोटि के काम हैं, जिनमें भिन्न प्रतिभा और विद्वत्ता की आवश्यकता होती है। विश्व-साहित्य में प्रायः ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं, जिनमें एक ही व्यक्ति द्वारा दोनों काम सम्पादित किये गये हों। जहाँ काव्यत्व और आचार्यत्व का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है, वहाँ साहित्य का ह्रास समझना चाहिये। संस्कृत-साहित्य में एक ऐसी परम्परा मिलती है, जब अपने आश्रय-दाताओं अथवा तत्कालीन रसिक नागरिकों को साधारण काव्य-शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रससिद्ध पंडितों में रीति-ग्रंथ रचने की परिपाटी चल पड़ी थी। यह संस्कृत साहित्य के उत्तरार्द्ध की बात है, जब मौलिकता समाप्तप्राय हो चुकी थी। 'चन्द्रालोक' में जयदेव ने भी लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में दिए हैं। मालूम होता है कि इसी परम्परा का प्रभाव रीतिकालीन कवियों पर पड़ा था; क्योंकि रीतिकाल में सभी कवि दरबारी थे, जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार रस और अलंकार के लक्षण उदाहरण के साथ लिखे थे।

रीतिकाल के आचार्यों में मौलिक उद्भावना का तो नितान्त अभाव था ही, प्रौढ़ पाण्डित्य और खंडन मंडन करने की शक्ति की भी कमी थी। इसके कई कारण थे। आचार्य और आश्रयदाता, जिनके लिये साहित्य-शास्त्र की रचना होती थी, किसीमें अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने का धैर्य नहीं था। सब साहित्य शास्त्र की अपेक्षा काव्य रस का रसास्वादन करने

के लिये व्याकुल थे। दूसरा कारण गद्य की विवेचना शैली का अभाव था। अस्तु, कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कार्य में प्रवृत्त हो जाते थे। रसनिष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार एवं रस का सम्बन्ध, इस प्रकार के सूक्ष्म सिद्धान्तों का तो कुलपति जैसे एकाध आचार्य छोड़कर किसी ने उल्लेख तक नहीं किया है।

हिन्दी के रीति ग्रंथों में तीन प्रकार की निरूपण-शैली पायी जाती है: (१) 'काव्य प्रकाश' की निरूपण-शैली, जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है। (२) 'शृंगार तिलक', 'रसमंजरी' आदि की शृंगार रसमयी नयिका-भेदवाली शैली, जिसमें केवल शृंगार के विभिन्न अंगों विशेषकर नायिका-भेद का ही निरूपण किया गया है। (३) 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त अलंकार निरूपण-शैली, जिसमें अलंकारों के भी संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं।

समस्त रीतिकाल में अगर आचार्यत्व के अधिकारी हुए, तो पहली श्रेणी में ही जिनमें सेनापति, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, श्रीपति, सूरति मिश्र और दास उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त कवियों का अध्ययन भी गहरा था और इनका ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा लक्षण पर अधिक रहा। अगर इन्हें गद्य का माध्यम मिला होता, तो इनका विवेचन स्पष्ट और अधिकारपूर्ण होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कुलपति और दास आदि ने तो पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा-तैसा प्रयोग किया है।

इस श्रेणी के आचार्यों का सबसे बड़ा दोष है आत्मविश्वास का अभाव। इन्हें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति नहीं थी, बात-बात में संस्कृत के आचार्यों का मुँह जोहा करते थे, उनके प्रतिपादित-सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ बोलने को हिम्मत नहीं थी। यही कारण है कि उपर्युक्त आचार्य प्रथम कोटि में स्थान नहीं पा सकते हैं।

इस श्रेणी के प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं;—सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम', चिंतामणि के दो ग्रंथ—'कवि कुल कल्पतरु' और 'काव्यविवेक', कुलपति मिश्र का 'रसरहस्य', श्रीपति का 'काव्यसरोज', दास का 'काव्य-निर्णय' आदि। इन ग्रंथों

में काव्य के लक्षण, प्रयोजन, रस, ध्वनि, अलंकार आदि सभी अंगों का निरूपण गंभीरता के साथ किया गया है। द्वितीय श्रेणी में वे ग्रंथ आते हैं, जिनका मुख्य विषय शृंगार रस है। अन्य रसों के सिर्फ नाम भर गिना दिये गये हैं। शृंगार में भी संयोग शृंगार की ओर इनका ध्यान अधिक रहा है और उसमें भी नायिका-भेद को सबसे अधिक प्रधानता मिली है। सच पूछा जाय तो इसी श्रेणी के कवि और उनके ग्रंथ रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। पहली श्रेणी के विपरीत द्वितीय श्रेणी के कवियों का उद्देश्य लक्षण-ग्रंथ का निर्माण करना नहीं था, वरन् उनका दृष्टिकोण रसात्मक और कलात्मक था, उनकी दृष्टि लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक थी।

केशव की 'रसिकप्रिया', मतिराम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र के 'रसरत्नाकर' और 'रसार्णव', देव के 'भावविलास', 'रसविलास', 'भावनीविलास' आदि, दास का 'रसनिर्णय' और पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि इस श्रेणी के प्रमुख ग्रंथ हैं।

इन ग्रंथों में एक स्वर से शृंगार को समस्त रसों का राजा स्वीकार किया गया है।

तीसरी श्रेणी में वे अलंकारग्रन्थ आते हैं, जिनका उद्देश्य अलंकारों को अत्यन्त सरल और सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करना था। इस शैली पर 'चन्द्रालोक' और कुवलयानंद के 'अलंकारनिरूपण' का अत्यधिक प्रभाव था। सूरति मिश्रकृत 'अलंकारमाला', रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', भूपति-रचित 'कंठाभूषण' शंभुनाथ मिश्रकृत 'अलंकारदीपक' और पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि इस श्रेणी के मुख्य ग्रंथ हैं। भामह, दंडी और मम्मट की तरह उपर्युक्त ग्रंथों के रचयिता आचार्यत्व के अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि इनलोगों ने अपना कोई विशेष मत प्रतिपादित नहीं किया, प्रत्युत आचार्यों के मतों को सरल और संक्षिप्त रूप में रखा, जिससे समझने में आसानी हो। इन लेखकों को हम टीकाकार या आधुनिक बोली में 'नोट' लिखनेवाले कह सकते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य अलंकार-निरूपण था, काव्य-रचना नहीं।

मौलिक उद्भावनायें और आलोचना-शक्ति

रीतिकाल के आचार्यों ने रस और अलंकार-निरूपण में कुछ नवीन उद्भावनायें करने का प्रयास किया है। वस्तुत: उनमें कुछ मौलिकता है, या उन्होंने सिर्फ प्राचीन आचार्यों की नवीन उद्भावना का पिष्टपेषण मात्र किया है, यह विचारणीय विषय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़ी स्पष्टता के साथ सबल तर्कों के सहारे यह साबित कर दिया है कि रीतिकाल के भीतर नवीन उद्भावना का नितान्त अभाव था।

रीतिकाल के सभी आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज कहा है, इसे हम उनकी मौलिकता कह सकते हैं; पर उनसे शताब्दियों पूर्व 'अग्नि पुराण', 'शृंगार तिलक' और 'शृंगार-प्रकाश' आदि में शृंगार को रसराज स्वीकार कर लिया गया है; उनका विवेचन भी केशव आदि से अधिक सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और गंभीर है।

कहा जाता है कि देव ने संचारियों के बीच छल नामक संचारी की नवीन उद्भावना की है; पर सच तो यह है कि देव ने जिस तरह से अन्य चीजें 'रसतरंगिणी' से ली हैं, उसी तरह यह भी वहीं से उद्धृत किया गया है। दास ने भी दस भावों में दस और जोड़कर हावों की संख्या में वद्धि करने का प्रयास किया है। परन्तु उनमें से आठ तो 'साहित्यदर्पण' में वर्णित नायिका के कृतिसाध्य अठारह अलंकारों में से अन्तिम आठ अलंकार हैं। शेष दो, बोधक और हेला, भी उनके अपने नहीं हैं।

रीतिकाल के आचार्यों ने नायिका-भेद का विशद और विस्तृत विवेचन किया है। पूरे दो सौ वर्षों तक इसकी छानबीन वे करते रहे; फिर भी, यह कहना मुश्किल है कि वस्तुत: उनकी कोई मौलिक उद्भावना है। अवस्था के अनुसार संस्कृत में भरत के समय से ही नायिका के आठ भेद माने हैं। हिन्दी में प्रवस्यत्पतिका और आगतपतिका, इन दोनों भेदों की वृद्धि की गयी है। इनमें प्रवस्यत्पतिका तो भानुदत्त की 'रसमंजरी' में वर्णित प्रोषितपतिका है और डा० नगेन्द्र ने आगतपिका को भी नवीन उद्भावना नहीं माना है।

शुक्लजी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अलंकारों में भी रीतिकालीन आचार्यों में कोई मौलिकता नहीं है। भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार-सा प्रतीत अवश्य होता है; पर वह वस्तुतः संस्कृत-ग्रंथों के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप है। दास ने अतिशयोक्ति के जो पाँच भेद दिखाये हैं, उनमें चार तो भेदों के भिन्न-भिन्न योग हैं। पाँचवाँ 'संभावना-तिशयोक्ति' तो संबंधातिशयोक्ति ही है।

केशव ने अलंकारों का सामान्य और विशेष, दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी में एक नयी बात मालूम होती है। पर, यह संस्कृत के पूर्व ध्वनिकाल की विचारधारा पर आश्रित है, जब कि भामह, दंडी, वामन आदि समस्त काव्य-सौन्दर्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे।

इन सारे प्रयासों में दासजी की एक नयी योजना ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-साहित्य में अंत्यानुप्रास या तुक का चलन नहीं होने के कारण, संस्कृत-आचार्यों ने इस पर ध्यान नहीं दिया था, अतः दासजी ने अपनी काव्य-पुस्तक में इसका उल्लेख करके आवश्यक कार्य किया है।

रीतिकालीन आचार्य नवीन उद्भावना के फेर में न पड़कर हिन्दी-भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करते, तो एक महत्त्वपूर्ण काम होता। या, कम-से-कम व्याकरण द्वारा हिन्दी-भाषा की व्यवस्था करते, तो भी च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता, जो व्रजभाषा-साहित्य में थोड़ा-बहुत सर्वत्र पाया जाता है; किन्तु इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया।

रहस्यवाद

शब्द की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद दोनोंही अत्यन्त आधुनिक हैं, रवि ठाकुर के काव्य के साथ जनमे हुए। वाद के लिहाज से दोनों ही अत्यन्त प्राचीन हैं; उतने प्राचीन, जितना भारतीय ब्रह्मज्ञान।

प्रत्येक पदार्थ में चेतना का बोध छायावाद है और इस चेतना के साथ विश्व-चेतना के ऐक्य की अनुभूति रहस्यवाद।† वैसे अद्वैतवाद में भी आत्मा और विश्वात्मा का एकीकरण होता है; किन्तु भेद यह है कि अद्वैतवाद में यह एकीकरण अभेद और ज्ञानावृत होता है, जब कि रहस्यवाद में यह ऐक्य बोधपूर्ण और प्रेमाश्रित होता है। और, चूँकि दो सत्ताओं की एकता की दृष्टि से प्रेम का चरम रूप दाम्पत्य है, इसलिए रहस्यवाद में 'मधुर-भाव' की प्रधानता रही है। संयोग और वियोग प्रेम के आदि और अन्त हैं। स्वभावतः रहस्यवाद में संयोग की मादकता और विरह का ताप मिलेगा। शरीरी चेतन का अशरीरी विश्वचेतन के प्रति प्रेम की यह कहानी अकथ है, 'नैनन-बैनन' से नहीं कही जा सकती, संकेतों से इंगित की जा सकती है। परिणाम-स्वरूप रहस्यवाद में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। संक्षेप में, व्यापक सौंदर्यानुभूति, प्रेमोपासना, अन्तर्जगत् का ऐक्य, तीव्र विरह-निवेदन और संश्लिष्ट जीवन-दर्शन रहस्यवाद का भाव-पक्ष है और प्रतीक शैली, सांध्यभाषा एवं लाक्षणिक अलंकार उसका विभाव-पक्ष है।

अनुभव के माध्यम के अनुसार रहस्यवाद के तीन प्रकार—ज्ञानात्मक, भावात्मक और साधनात्मक, कुछेक विद्वानों (रा० च० शुक्ल प्रभृति) के द्वारा कहे गए हैं। उपकरण के अनुसार स्परजन आदि ने रहस्यवाद के निम्नलिखित भेद माने हैं—

सौंदर्य रहस्यवाद (Beauty mysticism), भक्तिपरक रहस्यवाद (Devotional mysticism) दर्शनपरक रहस्यवाद (Philosophical mysticism) प्रकृति-रहस्यवाद (Nature mysticism) प्रेम-रहस्यवाद (Love mysticism) और शिशु-रहस्यवाद (Child mysticism)।

---

† इधर मैंने एक नई व्याख्या गढ़ी है—रूमानी भावधारा एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति छायावाद है और आध्यात्मिक भावधारा एवं रूमानी अभिव्यक्ति रहस्यवाद है।

रहस्यवाद का आरम्भिक रूप वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में अज्ञात-सत्ता के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने
सूपायनो भवा
स च स्वा नः स्वस्तये।

सृष्टि के विकास-क्रम के प्रति होनेवाले कुतूहल की धुँधली, रहस्यमयी, अभिव्यक्ति की गई है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्
अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्।

और, दार्शनिक तत्त्वों का प्रेमपरक कथानकों (यम-यमी संवाद), रूपकों और प्रतीकों में अभिव्यंजन किया गया है:

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

यहाँ पक्षियों और वृक्ष के रूपकों द्वारा अनुरक्त आत्मा और निर्लिप्त परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त किया गया है।

उपनिषदों में वैदिक रहस्यवाद अधिक विकसित हो उठा है। यहाँ अज्ञात सत्ता के प्रेम-सम्बन्ध की तुलना दाम्पत्य प्रेम से की गई है। भगवान् को 'रसो वैसः' कहा गया है। दार्शनिक तत्त्वों और सृष्टि के विकास-क्रम के प्रतिपादन के हेतु रहस्यमयी भाषा का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ।

छांदोग्य-उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में तत्त्व-प्रतिपादन के निमित्त कथानक-रूपक का सहारा लिया गया है। भेद यह है कि उपनिषदों में वेदों की अपेक्षा सौंदर्य-भावना का सूक्ष्मतर संवाद मिलता है। जैसे,

सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति

—वृहदारण्यक

इस प्रकार उपनिषदों में चिंतक का मन स्थूल और बाह्य सौंदर्य से हटकर आदर्श और आन्तरिक सौंदर्य की ओर बढ़ गया है। फिर उपनिषदों में रहस्यवाद का माध्यम गद्य है, पद्य नहीं। यहाँ कल्पना-तत्त्व का तिरोभाव तो नहीं है; किन्तु चिन्तन की प्रधानता है।

कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्र में दाम्पत्य-सम्बन्ध के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना हुई है। ईश्वर को पुरुष और प्रकृति को नटी कहा गया है। यह प्रेम-परक विवेचन एवं पुरुष-प्रकृति का रूपक भावात्मक रहस्यवाद की भाव-भूमि को सदा लिये रहता है।

नवीं-दशवीं शताब्दी के लगभग नालन्दा और विक्रमशिला के आसपास बौद्धधर्म के ह्रास से एक तांत्रिक संस्कृति फैली। इसके उन्नायक थे सिद्ध (बौद्ध तांत्रिक) और शाक्त। इस तांत्रिक साधना में रहस्यवाद ने एक अत्यन्त गुह्य रूप धारण किया। सिद्धों ने माधुर्यभाव का नग्न और अश्लील रूप ग्रहण किया। 'रसोवैसः' की व्यावहारिक अनुभूति के लिए डोमिन आदि के साथ सहवास-सुख का विधान किया गया और इस प्रकार 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। इस चमत्कारवादी संस्कृति ने हठयोग का भी पल्ला पकड़ा। शरीर की रहस्यमयी व्याख्या की गई। शरीर में ब्रह्मांड की कल्पना की गई और इस प्रकार साधनात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। 'संध्याभाषा' और प्रतीक

पद्धति तो अनिवार्यतः अपनाई गई, सद्गुरु को साधना का प्रधान अंग माना गया। संध्याभाषा और प्रतीत पद्धति—

वदल बिम्राएल गाबिया बाँझे

—ढेराढ़णपाद

जेहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाहिं पवेश।
ताहि वट चित्त विराम कस, सरुहे कहिम्र उवेश।

—सरहपाद

रहस्यवाद का चरम विकसित रूप कबीर में मिलता है। कबीर ने घट-घट में 'पिंड' देखा है—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न होय।
बलिहारी वा घट्ट की जा घट परगट होय ।।

कबीर का यह 'पिंड' अनिर्वचनीय, अगम-अगोचर, अकल-अनीह और शब्दातीत है। वह महज अनुभव का विषय है—

लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी बात।

कभी-कभी उसकी सघन व्यापकता और पारदर्शी सूक्ष्मता पर कबीर विस्मित हो उठते हैं—

ता कछ आहि कि शून्यं।

यह विस्मय आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता पर भी होती है—

हेरत-हेरत हे सखि रह्यो कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं सो कत हेर्‍या जाइ ।।

और, संसार के विपरीत घटना-चक्र पर भी—

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ सिंघ चरावै गाई।

यह विस्मय-भावना रहस्यवाद का प्रस्थान-विन्दु है। विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। कबीर का विस्मित हृदय जिज्ञासु बनकर आत्मा के चिर धन लाल का संधान करने को निकलता है और पाता है कि समस्त विश्व में उसीकी नूरानी लाली छायी है। वह स्वय भी वही है—उसीके रंग के रंग में सराबोर—

लाली मेरे लाल की जित देखौ तित लाल।
लाली देखन मैं गई कि मैं भी हो गई लाल ।।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसीका रूप-विलास है--ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। इस विस्तार में परमानन्द की अनुभूति होती है और साधक तादात्म्य अनुभव करने लगता है। कबीर को लगता है कि जिस तरह प्रिया 'पीघर' से 'पीहर' आती है और सखी-सहेलियों के बीच केलि-क्रीड़ा करती है; किन्तु फिर भी उसका मन प्रिय पर ही अँटका रहता है, उसी तरह आत्मा 'परम पुरुष' से बिछड़कर धरती पर आई; किन्तु उसीके लिए सदा विकल रहती है--

ज्यों तिरिया पीहर वसै सुरति रहै पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाँहि ।।

सीमा और असीम के इस अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध के ज्ञान, परम तत्त्व से तादात्म्य-अनुभव और अपनापन की अनुभूति के साथ ही उस असीम के प्रति समर्पणोन्मुख अनुराग उत्पन्न होता है। भक्त भगवान् से एकाकार होना चाहता हैं। इस एकाकारिता में ज्ञान दूर तक सहायक नहीं होता; क्योंकि उसके लिए अकल-अनीह की लीला अभेद्य अन्धकार है। इसमें प्रेम सहायक होता है। कबीर में यह प्रेम अनन्यासक्ति की कोटि को पहुँचा है। प्रगाढ़ अनन्यता की विभोरावस्था के इस मधुर क्षण में ज्ञान की गठरी पटककर अपने आँचल में प्रेम के ढाई अक्षर-अक्षत लेकर कबीर 'राम की बहुरिया' बनते हैं। यह 'मधुर भाव' कबीर के रहस्यवाद का केन्द्र-विन्दु है।

कबीर ने उस प्रेमिउ साईं की, जो दुनिया के सभी राहियों पर रंग डालता है और केलि के लिए आमंत्रित करता है, आवाज सुनी और व्याकुल हो गए।

सतगुरु हो महराज
मो पै सांई रंग डारा।
सब्द की चोट लगी मेरे मन में
बेध गया तन सारा।
औषध मूल कछू नहीं लागे

का करें वैद वेचारा।
सुर नर मुनि जन पीर औलिया
कोई न पावे पारा।
साहव कबीर सब रंग रँगिया
सब रंग ते रंग न्यारा।

अनन्त लोक की यात्रा रहस्यवाद की सामान्य प्रवृत्ति है, जिसमें न केवल 'भावना की ही प्रगति' होती है, वरन् सम्पूर्ण 'हृदय की आकांक्षा' भी। कबीर का सम्पूर्ण अस्तित्व उस ओर प्रवहमान है—

आन न पावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
जूं कामी को काम पियारा, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।।

रहस्यवादी का यह अनन्त लोक आनन्द-लोक है, जहाँ अमृत की फुहियाँ बरसती हैं, अनहद-संगीत निःसृत होता है और जहाँ सदा विमल प्रभात रहता है—

मोतिया बरसे रौरे देसवाँ दिन-राती।
मुरली-सब्द सुनि मन आनन्द भयौ, जोति बरे दिन-राती।।

इस रहस्य-लोक का सम्मोहन (Hypnotism) कबीर पर इस प्रकार छाया है कि जिस तरह चकोर चन्द्रमा की ओर और चातक घन की ओर ऊर्ध्वग्रीव होकर ताका करते हैं, उसी तरह कबीर बड़ी उत्कंठा से उस प्रेम-नगरी की ओर देखते हैं—

जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती।

उस लोक के सामने इस पार की कठोर धरती रहस्यवादी को नहीं भाती। इसलिए रहस्यवादी कवियों में जगत् के प्रति उपेक्षा का भाव भी यत्किञ्चित मात्रा में रहता है, जिसे आधुनिक भाषा में 'पलायनवाद' कहा जाता है। कबीर को पी-घर के रंगमहल के सामने नैहर की गलियाँ अच्छी नहीं लगतीं—

नैहरवा हमकाँ नहि भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै।

किन्तु वह लोक ऐसा है, जहाँ चाँद-सूरज भी नहीं पहुँच पाते, जहाँ पवन और पानी की गति नहीं है—

चाँद सूरज जहाँ पवन न पानी, को संदेश पहुँचावै ?

साईं के सर्प-डगर पर चलना अत्यन्त कठिन है। अतः रहस्यवाद में रूमानियत के साथ-साथ प्रेम की दुर्वारिता और प्रेम-पंथ के काठिन्य का भी परिचय मिलता है। प्रेम-उद्वेलित कबीर का मन इस रपटीले मार्ग के व्यवधान पर व्याकुल हो उठता है—

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-समझि पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

प्रेम-पंथ का काठिन्य मीरा की पंक्तियों में और अधिक समस्यामूलक रूप में प्रगट हुआ है। इसके दो कारण हैं—मीरा के जीवन की विपरीत परिस्थिति और उनका नारी-हृदय।

पर 'साईं' के डगर का पंथी 'गुरु-मंत्र' का पाथेय लेकर बढ़ता जाता है और जब सारी दुनिया सो जाती है, तब उस निविड़ प्रहर में वह प्रिय के कक्ष में पहुँचता है—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। वह विभोर हो तन्द्रिल-स्वप्निल हो रहा था कि प्रिय के एक स्वर्गिक स्पर्श ने उसे जगा दिया। वह आँख मूँदकर प्रिय की मधुर उपस्थिति और स्पर्श का अनुभव करता है। उसे भय होता है कि आँख खुलने पर वह सलोनी मूर्त्ति तिरोहित न हो जाय—

सपने में साईं मिले, सोवत लिया लगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाय।।

आध्यात्मिक परिणय का यह कोमल और प्राण-स्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद को छोड़कर अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

कबीर प्रेम का प्याला पीकर दिन-रात छके रहते हैं—

कबीरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।

कबीर ने प्रेम का यह पैगाम सम्भवतः सूफियों से लिया, यद्यपि सूफियों की तरह उन्होंने भगवान् को स्त्री का रूप नहीं दिया है। जाहिर है, कबीर शेख तकी आदि सूफी फकीरों के सम्पर्क में आए थे।

तो सूफियों की तरह कबीर पर भी परम प्रेम का नशा चढ़ा है, जिसका खुमार उतरने को नहीं। इस प्रेमानुभूति से एक क्षण के लिए भी साधक अलग नहीं होना चाहता। वह तो मानों प्रेम-पात्र को अपने लिए सुरक्षित कर लेना चाहता है—

ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देवँ।

किन्तु भौतिक व्यवधान प्रेमानुभूति की एकतानता को रह-रहकर झटका दे देता है और नश्वर शरीर से अनश्वर गीत गाना कठिन हो जाता है। यह भौतिक व्यवधान मृत्यु तक ही है, मत्यु के उपरान्त तो महा मिलन होता है। इसलिए सूफी मृत्यु की कामना करते हैं। कबीर इस जीवन में भी मिलन की कामना करते हैं, उस जीवन में तो मिलन निश्चित है ही—

बिरहिन उठि उठि भुइँ परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम॥

इसलिए कबीर को मृत्यु का डर नहीं है——

बिरह कुल्हारी तन बहै घाव न बाँधे रोह।
मरने का संसय नहीं छूटि गया भ्रम मोह॥

हिन्दी के सूफी कवियों में जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' में रहस्यवाद की झाँकियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं। फर्क यह है कि कबीर की पद्धति अन्योक्ति पद्धति है और जायसी की समासोक्ति।

भक्त कवियों में सूरदास और मीरा के कुछेक पद रहस्यपरक हैं। ऐसे पदों में सूरदास ने एक परीक्ष रहस्य-लोक की कल्पना की है—

चकई री! चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निस दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहीं दुःख भोग।
जहाँ सनक से मीन हंस शिव, मुनि जन-रन रवि-प्रभा-प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहीं, ससि डर गुंजत निगम सुवास॥

और, ऐसी कल्पनाओं में सूरदास के रूपक संतों की अपेक्षा अधिक भावात्मक रहे हैं। सूरदास जी पुष्टिमार्गी थे, ईश्वर के अनुग्रह (Grace of God) के विश्वासी। इस अनुग्रह के प्रति उनकी आश्चर्य-भावना उन्हें रहस्यवादियों के निकट लाती है और उनकी पुष्टि भावना संतों की गुरु-भावना का परिवर्त्तित रूप-सी लगती है। कबीर की तरह सूर ने भी प्रतीकों का प्रयोग आत्मा और परमात्मा के लिए किया है। भृङ्गी, मधुकर, शुक, सखी, चकई इत्यादि सूर-साहित्य में आत्मा के ही प्रतीक हैं। सूरदास में नाम, रूप और गुण का सर्वथा परित्याग न देखकर कुछ लोगों ने सूरदास के रहस्यवाद को 'सगुण रहस्यवाद' कहा है, गो कि यह कोई बहुत उपयुक्त नाम नहीं।

मीरा कृष्ण को अलौकिक और अनुपम कहती हैं। उनका परोक्ष-अमर प्रियतम हृदय में बसता है।

किन्तु यही अविनाशी 'पिया' उनका 'सच्चा बालमा' है। इस प्रकार एक ओर वे भगवान् को अनुपम-अलौकिक मानकर भक्ति करती हैं और दूसरी ओर वास्तविक रूप से उस प्रियतम के पलंग पर पौढ़ने की अभिलाषा भी करती हैं।

कबीर की तरह मीरा भी इस जीवन के व्यवहार के बीच ही परमात्मा से तादात्म्यानुभूति करती हैं और इस प्रकार पिण्ड में ब्रह्म देखती हैं।

हिन्दी के आधुनिक कवियों के साथ छायावाद आया, रहस्यवाद नहीं। छाया-युग हृदयवाद को लेकर आया है। वह पश्चिम से आनेवाले स्वच्छंदतावाद का हिन्दी-रूपान्तर था। उसमें कीट्स, बायरन और शेली की प्रेरणा थी, कबीर की नहीं। वैसे कुछेक गीत तो ऐसे निकल ही जा सकते हैं, जिनमें रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ आ गई हों।

आधुनिक काल के अहिन्दी-भाषी कवियों में रवीन्द्र का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। कबीर और रवीन्द्र दोनों परम प्रेम के पथिक हैं। दोनों में प्रिय-मिलन की व्याकुलता है। दोनों में प्रेम का उन्माद और सम्मोहन है। कबीर ने 'सतगुरु हो महाराज मो पै साँईं रंग डारा' वाले पद में 'प्रेम भिखारी साँईं'

के केलि-निमंत्रण को सुना। रवीन्द्रनाथ ने इस भाव को 'गीताञ्जलि' में इस प्रकार प्रकट किया है—

सुन्दर, तुमि एसे छिले आजि प्राते।
अरुण वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
वारेक थामिया मोर वातायन पाने
चेपे छिले तव करुण नयन पाते।
सुन्दर तुमि एसे छिले आजि प्राते।

(हे सुन्दर, तुम आज सवेरे आये थे, लाल रंग का परिजात हाथ में लिये हुए। सारी नगरी सोई थी। राह में पथिक भी नहीं था। तुम अपने सोने के रथ पर अकेले ही चले गए। केवल एक बार रुककर तुमने अपनी करुण दृष्टि मेरी खिड़की पर डाली थी। हे सुन्दर, तुम आज सवेरे आये थे।) पर दोनों में अन्तर है। 'एक की केलि यत्न-साधित है, दूसरे की स्वयं-प्राप्त'; एक अपने और अपने पौरुष को भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरा अपने को और अपनी शक्ति को स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावात्मक; एक का मार्ग साधना का मार्ग है, दूसरे का मार्ग सौंदर्य का; एक करने में विश्वास करता है, दूसरा होने में; एक प्रधान रूप से संत है, दूसरा कवि। ('कवीर'—ह० प्र० द्विवेदी,) रजनीकान्त रवीन्द्र की कोटि में आते हैं—

आमि तोमाय चाहिना जीवने
तुमि अभागारे चेयै छो हे।
आमि ना डाकिते हृदय माझेर
तुमि देखा दिये छो हे।

किन्तु कवीर अभिसारिका बनकर, चुनरी पहनकर, प्रेम-जल में स्नात होकर और आँचल में दीप छिपाकर 'पिय' को ढूंढ़ने निकलते हैं—

भीजै चुनरिया प्रेमरस बूंदन ।
आरती साज के चली है सुहागिनि
प्रिय अपने को ढूंढ़न ।

यहाँ कबीर मीरा के निकट हैं। मीरा ने भी कबीर की भाँति 'हरि आवन की आवाज' सुनी है और सम्मोहित होकर 'पंचरंग चोला' पहनकर 'झिरमिट' खेलने को निकलती है।

विदेशों के रहस्यवादियों में प्लेटो, प्लोटिनस (मिस्र), ब्रूनो, स्पिनोजा, डेकार्ट, गेटे, हेगेल, जार्ज फाक्स, जार्ज हरबर्ट, डौन, जान स्मिथ, विलियम ब्लेक, क्रिस्टिना रौसेटी, वड्सवर्थ, कीट्स, अण्डरहिल इत्यादि की गणना हो सकती है। वड्सवर्थ ने रहस्यावस्था का संकेत निम्नलिखित पंक्तियों में दिया है—

That serene and blessed
In which........breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul,
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy,
We see into the life of things.

ब्लेक की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

To see the world in a grain of sand
And a heaven in a wild flower
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

छायावाद

छायावाद द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ और इस आन्दोलन का दायरा काव्य तक ही रहा। द्विवेदी-युग की कविताओं में तत्कालीन

प्रवृत्तियों की स्थूल छाप-भर थी। लेकिन उनमें भाव और अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति का नितान्त अभाव था। अधिकांश कविताएँ विषयप्रधान और वर्णनात्मक थीं। भावों को मनोरम कल्पना द्वारा व्यक्त करने की पद्धति द्विवेदी-युग के कवियों ने नहीं सीखी थी। उन लोगों पर अपने युग की स्थूल नैतिकता का इतना घोर प्रभाव था कि वे नवीन प्रकार के भावों को ग्रहण नहीं कर सके। अपने युग की राष्ट्रीय भावना को उन्होंने व्यक्त किया जरूर; मगर उसमें प्रवाह, आवेग और कंपन नहीं भर सके। फिर, द्विवेदी-युग सुधारवादी युग था। इस युग के कवि मौजूदा जीवन में सुधार चाहते थे; लेकिन नयी व्यवस्था के लिए नहीं, पुरानी व्यवस्था को सुधार कर प्रतिष्ठित करने के लिए। दयानन्द का प्रभाव इस युग पर था। नयी विचारधारा और भावधारा से इस युग का सम्बन्ध नहीं था, इसलिए भावों की गहराई में कविगण डूब नहीं सके। सुधारवाद और अतीत का मोह उनमें ज्यादा लक्षित होता था। अपने समय के समाज से कविगण निकट तो थे; लेकिन समाज के व्यक्ति को कविता द्वारा प्रभावित करने में वे असमर्थ थे; युग का उन्होंने साथ-भर दिया, वह भी स्थूल स्तर पर; लेकिन युग को प्रभावित नहीं किया।

द्विवेदी-युग के कवियों में भावप्रवणता का जो अभाव दिखाई देता है, उसका एक कारण यह भी था कि उस समय कविगण खड़ी बोली को कविता की भाषा बनाने के लिए उसे सँवारने में काफी लगे रहे, भाव की ओर प्रवृत्त नहीं हो सके। और, फिर सुधारवादी मनोवृत्ति के कारण वे नवीन भावों की खोज कर भी नहीं सकते थे।

इसी प्रकार की काव्य-रचना की प्रतिक्रिया में छायावादी आन्दोलन खड़ा हुआ। यह कहना गलत होगा कि बंगला या रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेजी कविता से परिचय होनेके कारण हिन्दी में छायावादी कविता का दौर शुरू हुआ। यह सही है कि छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ तथा कुछ अंग्रेजी कवियों का प्रभाव पड़ा। लेकिन, इसके साथ ही उन कवियों पर प्राचीन भारतीय

दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। इसलिए प्रभाव डालनेवाले कलाकारों के आधार पर छायावादी आन्दोलन की उत्पत्ति बताना सरासर गलत है।

इस आन्दोलन की उत्पत्ति का एक कारण--द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया--बताया जा चुका है। दूसरा कारण था तत्कालीन सामाजिक अवस्था। प्रथम महायुद्ध के बाद हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया। अंग्रेजों ने युद्धकाल में बड़े-बड़े वादे किये थे; लेकिन बदले में दिया जालियानवाला कांड, रौलट ऐक्ट। इसके विरोध में देशव्यापी हड़तालें हुईं। फिर गाँधीजी के नेतृत्व में पहला असहयोग-आन्दोलन हुआ। यह जन-आन्दोलन था। इसने देश की जनता में क्रान्ति की नयी लहर पैदा कर दी। यहाँ से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन बिल्कुल संघर्षशील रूप धारण करता है। फिर तो बारडोली सत्याग्रह हुआ, प्रसिद्ध नमक-सत्याग्रह हुआ। यह भी देशव्यापी आन्दोलन था। इन आन्दोलनों ने जनजीवन में संघर्षशील राष्ट्रीय भावना भर दी। याद रहे, आन्दोलन-नेता गाँधीजी ही थे। शान्तिमय तरीके से जन-क्रान्ति का यह नया प्रयोग था। इन प्रयोगों द्वारा गाँधीजी सामाजिक परिवर्त्तन के नये हथियार का आविष्कार कर रहे थे।

इस तरह एक ओर राजनीतिक संघर्ष का जोर था, दूसरी ओर आर्थिक जगत में भारतीय पूँजीवाद पनप रहा था। भारत में पूँजीवाद का वह आरम्भिक काल था। इसलिए वह विकास का विरोध नहीं रहा; बल्कि मददगार रहा। नियमानुसार उदारतावाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद का उदय हुआ। इस तरह राजनीतिक जगत की संघर्षशीलता के साथ साथ उदारतावाद का भी मिलन हुआ। इन दोनों प्रवृत्तियों ने साहित्य में छायावादी आन्दोलन का सूत्रपात किया।

तीसरा कारण भी था। हमारे प्रमुख छायावादी कवि मध्यमवर्ग से आते थे। नवीन उदारतावाद से ये प्रभावित थे, ये जीवन में स्वच्छन्दता के कायल थे। पर इनके समाज की अवस्था ठीक विपरीत थी। इनके विचारों, भावों से सामाजिक अवस्था की टक्कर हुई। जात पाँत का बन्धन मौजूद था ही, ऊपर से आर्थिक परेशानी। इन कारणों से मध्यमवर्ग के जागरूक नवयुवकों में

घोर असन्तोष फैला। और वही असन्तोष समाज और रूढ़ि के प्रति विद्रोह के रूप में परिणत हुआ। लेकिन विद्रोह के साथ निराशा का भाव भी वर्तमान रहा। इसलिए छायावादी कविता में इन दोनों प्रवृत्तियों का समावेश है।

असल में इन्हीं तीन कारणों से छायावादी आन्दोलन खड़ा हुआ। यह ठीक है कि प्रमुख छायावादी कवियों पर विभिन्न व्यक्तियों, मतों के प्रभाव पड़े हैं। रवीन्द्रनाथ की कोमलता, अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों की रूमानियत और प्रगीतात्मकता का प्रभाव छायावादी कवियों पर पड़ा है।

इनके अलावा रामकृष्ण, रामतीर्थ और विवेकानन्द के सिद्धान्त का काफी प्रभाव इन पर पड़ा है, खास तोर से निरालाजी पर; लेकिन यह याद रखने की बात है कि इन सब प्रभावों ने छायावादी कविता के मूल स्वरूप में कुछ तत्व जरूर जोड़े हैं, लेकिन वे छायावादी कविताओं के मूल स्रोत कदापि नहीं थे। तात्पर्य यह कि उक्त प्रभावों से छायावाद को कुछ लाभ हुआ जरूर, लेकिन ये उसके बुनियादी स्वरूप के जनक नहीं थे। छायावाद के बारे में विचार करते समय अक्सर भ्रमवश लोग यह कह देते हैं कि छायावाद तो रवीन्द्रनाथ और अंग्रेजो के रोमैंटिक कवियों की अनुकृति है। ऐसा कहनेवाले विद्वान् यह भूलते हैं कि कोई भी काव्यधारा अनुकरण पर नहीं चल सकती, उसका आधार समाज की धरती होता है। छायावादी धारा का सीधा सम्बन्ध तत्कालीन सामाजिक अवस्था से है।

अब हम छायावादी कविता की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे। याद रहे, प्रसाद, निराला और पन्त छायावाद के प्रमुख उन्नायक थे। छायावादी कविता की सबसे पहली विशेषता है इसका विद्रोही स्वर। छायावादी कवि सुधार नहीं चाहते थे, आमूल परिवर्तन चाहते थे। वे जीवन को हर मानी में स्वतन्त्र करना चाहते थे। समाज के बन्धन, रूढ़ियों के आग्रह की उन्होंने अवहेलना की, उन सब के खिलाफ उन्होंने स्वर बुलन्द किया। जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेद के कारण विकास में रुकावट पड़ती है इस बात का एहसास छायावादी कवि को था। इसलिए राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ

सामाजिक स्वतन्त्रता के वे हिमायती थे। विश्वबन्धुत्व, विशाल मानवीयता का जो स्वर छायावादी कविता में है वह उक्त प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

प्रेम, विवाह तथा सामाजिक आलाप में रूढ़ियाँ रोड़ा बनी हुई थीं। इसका बड़ा तीव्र अनुभव छायावादी कवियों को था। इसलिए व्यक्ति को सभी प्रकार के सामाजिक बन्धन और रूढ़ि से मुक्त करने के पक्ष में वे थे। दरअसल वे जीवन में हर दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद के कायल थे; परम्परागत नीति के भी वे कट्टर विरोधी थे। व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से अपनी जीवन-धारा निश्चित करे, यह उनकी माँग थी। उनके विद्रोह स्वर में यही सकारात्मक तथ्य जुड़ा हुआ था; दूसरे शब्दों में उनका विद्रोह नकारात्मक नहीं, सकारात्मक था।

छायावादी कविता में प्रेम की विवृति बहुत मिलती है। कुछ आलोचकों ने इसे उसका दोष माना है लेकिन यह ठीक बात नहीं। प्रेम का विषय इतने अधिक परिमाण में आया, उसके पीछे कारण थे। सामाजिक रूढ़ियों और परम्परागत नीतियों के प्रति विद्रोह का एक उद्देश्य यह भी था कि प्रेम में स्वतन्त्रता हो, किसी किस्म की बाधा नहीं हो। प्रसाद जी की काव्य-रचना 'आँसू' को ले लीजिये। 'आँसू' स्पष्टतया सेक्स-पराजय की कहानी उपस्थित करती है। कवि ने अन्त में कटु यथार्थ से समझौता किया है। लेकिन उसकी विषय-वस्तु वही प्रेम की असफलता है। कवि ने साफ तौर से कहा नहीं है कि समाज के नियम ऐसी असफलता के जनक हैं, वह असफलता को दार्शनिक रूप देना चाहता है जो अपने को भुलावा देने का ही एक तरीका है। 'आँसू' पढ़ने के बाद पाठक प्रेम की सफलता का कट्टर हिमायती हो जाता है और प्रेम को पराजित करनेवाली रूढ़ियों का विरोधी। इस तरह 'प्रेम' को विषय-वस्तु बनाकर कवियों ने माँसलता का आग्रह पूरा किया और यह मौजूदा व्यवस्था के प्रति विद्रोह हो हो सकता था। परम्परागत नीति प्रेम को मांसल जीवन से अलग करने का आग्रह करती थी जब कि छायावादी कवि मांसल प्रेम, ऐन्द्रियता के उपासक थे। प्रसाद जी और निराला जी भी

कविता में इसके प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'आँसू', 'लहर' की कुछ कविताएँ, 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' नाटकों के गीत, निराला जी की 'जूही की कली' रखी जा सकती हैं।

छायावादी कविता की दूसरी विशेषता है भाव जगत की व्यापकता। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भाव जगत का इतना प्रसार छायावादी कवियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ। भाव जगत में प्रेम और आशा का रूप तो उन्होंने परखा ही, प्रकृति पर भी इन भावनाओं का आरोप छायावादी कवियों ने किया। प्रकृति से मनुष्य को मिलाने का उनका यह प्रयास यद्यपि काल्पनिक आदर्शवादी था, फिर भी, इससे कविता का दायरा तो चौड़ा ही हुआ।

छायावादियों ने विभिन्न विषय पर कविता रच कर दिखा दिया कि कविता हर विषय पर लिखी जा सकती है, जब कि नीतिवादी यह नहीं मानते थे। दुःख, सुख, करुणा की परिस्थिति को छायावादी उदार दृष्टिकोण से परखते थे। मानवीय ममता के वे पुजारी थे, इसलिए हर वस्तु में उन्हें प्रेम और सौन्दर्य दीखता था।

इस नूतन भावभूमि के साथ उनकी काव्यशैली और टेकनिक भी बदली। स्वच्छन्द प्रवाह, संगीत की तन्मयता की अभूतपूर्व सृष्टि छायावादी कवियों ने की है। संगीत और कविता का सुन्दर सामंजस्य किया। नये-नये प्रतीकों की सृष्टि की, कल्पना की उड़ान भी खूब ली। उनकी कल्पनाशीलता कहीं-कहीं अति पर पहुँच गयी है, फलस्वरूप ऐसी कवितायें भावों की दृष्टि से हल्की हो गयी हैं। पन्त की आरम्भिक कविताओं में यह बात मिलती है। छाया-वादी कविताओं की सब विशेषतायें प्रसाद की 'कामायनी' में मिल जाती हैं। वस्तुतः 'कामायनी' छायावादी परम्परा की पराकाष्ठा का द्योतक है।

छायावाद का जो परवर्ती विकास हुआ, वह युग के अनुकूल नहीं था। मध्यवर्गीय निराशा ने विद्रोह को जन्म दिया; लेकिन बाद को वह भिन्न रूप में व्यक्त हुई। वेदनावाद या दुःखवाद और पलायन की प्रवृत्ति निराशा की भावना का ही परिणाम थी। पलायन और वेदनावाद ने छायावादी कविता को जीवन से विच्छिन्न कर दिया। युग की परिस्थितियों ने निराशा का जो

आधार प्रस्तुत किया था, उसकी परिणति हुई छायावादी कवियों की एकांतिकता और व्यक्तिवाद में। इस तरह क्रमशः छायावाद जन-जीवन से दूर जा पड़ा; इसमें अत्यधिक कलाबाजी आ गयी। और, तब छायावाद का अन्त हुआ। उसकी प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आया।

प्रगतिवाद

छायावाद अपने अन्तिम काल में वेदनावाद और पलायनवाद का घोर शिकार हुआ। जीवन से अलग होकर एकान्तिक चिन्तन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। व्यक्तिवाद की लपेट में छायावादी कवि अपनी परम्परा में जीवनप्रद रचना नहीं कर पा रहे थे। प्रेम, कल्पना, निराशा और जीवन से पलायन का स्वर बार-बार सुनाई पड़ने लगा। ये लक्षण इस बात के द्योतक थे कि छायावाद अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुका है और अब इस परम्परा के साँचे में भाव ग्रहण करना संभव नहीं है। कविता में छायावाद भावजगत् में क्रांति का द्योतक बनकर आया था; स्वाभाविक था कि शैली और टेकनिक में भी परिवर्त्तन होता। वह हुआ भी।

हर परम्परा के लिए एक समय आता है, जब उसकी संभावनाएँ खत्म हो जाती हैं। सन् १९३६–३७ के आसपास छायावाद का वही हाल हुआ। इस साहित्यिक परम्परा की कोई संभावना बच नहीं गयी, इसलिए उत्तरकालीन छायावादी कविता में भावों की दुहराहट मिलती है।

दूसरी ओर सामाजिक परिस्थिति बहुत विषम हो चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन ने सबसे अधिक शोषित वर्गों में नयी जान भरी थी; इन शोषितों ने अपना वर्ग-संगठन भी कुछ बढ़ा लिया था। इस तरह व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ समाजवादी आन्दोलन की भी नींव पड़ चुकी थी। मध्यमवर्ग के जागरूक युवकों को समाजवाद में वह सब कुछ मिला, जो वह खोज रहे थे। जीवन की विषमता इतनी बढ़ चुकी थी कि मध्यमवर्ग पग-पग पर पराजय अनुभव करता। वह देख रहा था कि उसके सामने ही पुरानी नीति और परम्परा की दीवारें ढह रही हैं, जीवन के शाश्वत मूल्य धूमिल

हो रहे हैं। उन्होंने देखा कि 'प्रेम' जैसे भाव में भी आर्थिक विषमता के कारण मलिनता आ जाती है। पारिवारिक जीवन का जो पुराना आदर्श था, वह टूट रहा है। परिवार में स्वर का आधार सदैव पुष्ट रहता है, यह पुरानी मान्यता थी। लेकिन आँखों के आगे जागरूक वर्ग देख रहा था कि यह गलत मान्यता है, पारिवारिक स्नेह में कृत्रिमता आ गयी है। आर्थिक विषमता के प्रभाव के कारण स्नेह, प्रेम और भाईचारा का क्रमशः ह्रास हो रहा है।

आर्थिक अभाव ने लोगों को लूट-खसोट में प्रवृत्त किया। स्वार्थपरता और अवसरवाद क्रमशः बढ़ रहे थे। बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। दिनों-दिन अवस्था बिगड़ती ही जा रही थी। उस समय संवेदनशील व्यक्तियों ने अनुभव किया कि पतन का यह सिलसिला रुकनेवाला नहीं है। उन्होंने देखा कि भारतीय परम्परा का नीतिवाद भ्रष्टाचार का साधन बन रहा है, 'संयम' के नाम पर परोक्ष रूप से भ्रष्टाचार होता था। आर्थिक विषमता और भारतीय परम्परा के कारण सेक्स-असन्तोष; सेक्स-अतृप्ति बढ़ती जा रही थी। दमित इच्छाओं का विकृत रूप में विस्फोट हो रहा था, खास और से मध्यवर्गीय जीवन में। मध्यवर्गीय जीवन की विशृंखलता, असन्तोष और पराजय ने तत्कालीन कवियों को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने देखा कि जीवन के पुराने मूल्य, आदर्श और नीति से काम नहीं चलने का। सो उन्होंने नये मूल्य और नये आदर्श की खोज की।

उन्होंने अपने सामने यह भी देखा कि एक वर्ग ऐसा भी है, जो और भी दलित और शोषित है। इसी अवस्था में समाजवाद का संदेश उन्हें मिला। और तब उन्होंने देखा कि समाजवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा पर ही वर्त्तमान विशृंखल जीवन में सुन्दरता और सामंजस्य लाया जा सकता है। वे जिस प्रकार की नयी मान्यताओं को खोज रहे थे, वे जिस प्रकार के आदश चाहते थे, वह समाजवाद में उन्हें मिले। यहाँ तक कि विशृंखलता का उनका जो अनुभव था, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण वे खुद नहीं कर पा रहे थे; समाज-वाद ने वैज्ञानिक विश्लेषण कर नये मूल्यों की खोज करनेवालों को तुष्ट

किया। उनमें हार, पराजय और निराशा की भावना थी, उसकी जगह समाजवाद ने आशा बँधायी, सामाजिक परिवर्त्तन कर नये जीवन की प्रतिष्ठा का तरीका बताया। फिर क्या था, सामाजिक न्याय, वर्गविहीन समाज, समता की आवाज साहित्य में गूँजी और उसीका नाम प्रगतिवाद पड़ा।

प्रगतिवाद ने बिलकुल ही नये भावजगत् का बोध कराया। भावभूमि और कलाभूमि दोनों स्तरों पर क्रान्तिकारी परिवतन हुआ। इस परिवर्त्तन के स्वरूप को ठीक से समझने के लिए मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को समझना जरूरी है; क्योंकि सभी प्रगतिवादियों ने इसीसे प्रेरणा ग्रहण की।

मार्क्सवाद के मुताबिक वर्त्तमान सामाजिक विषमता के मूल में आर्थिक कारण है! पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया है। धन पर चन्द मुट्ठीभर लोगों का कब्जा है। उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर उनका पूर्ण नियन्त्रण है। इस तरह सारी आर्थिक शक्ति उनके हाथों में केन्द्रित है। असल में धन पैदा करनेवाला खेतों का किसान और फैक्टरियों का मजदूर है; लेकिन इस धन पर उसका कब्जा नहीं रहता है। उसके श्रम का फल उसे नहीं मिलता, बल्कि शोषक-वर्ग के मुट्ठी-भर लोगों को मिलता है। किसान और मजदूरों को जीने भर के लिए थोड़ा मजदूरी दे दी जाती है, उनके श्रम का बाकी मूल्य शोषक-वर्ग हड़प लेता है। आर्थिक शक्ति का मालिक रहने के कारण बाकी सारी सामाजिक शक्ति शोषक-वर्ग के ही हाथ में है। इसे ही सामाजिक अन्याय कहते हैं और यह युगों से होता आया है। इसी अन्याय को खत्म करने के लिए मार्क्सवाद ने समाजवादी आन्दोलन की बात कही है।

मार्क्सवाद यह मानता है कि जब तक धन का असम वितरण दूर नहीं होगा, जब तक उत्पादन के साधनों पर सारे समाज का अधिकार नहीं होगा, तब तक वर्त्तमान दुःख-दैन्य, दरिद्रता और सामाजिक पतन का अन्त नहीं होगा। सामाजिक न्याय और समता के आधार पर ही नयी संस्कृति की स्थापना हो सकती है।

मार्क्सवाद ने यह भी कहा कि चेतना और सामाजिक मनोविज्ञान आर्थिक

व्यवस्था द्वारा ही निर्मित होते हैं। उत्पादन के साधनों में परिवर्त्तन होता है, तो उसके आधार पर मनुष्य का दिल-दिमाग भी बदलता है। सामन्तवाद के बाद जब पूँजीवाद आया, तो जीवन के मूल्य बदल गये, नीति बदल गयी, आचार-व्यवहार बदल गया, मानवीय भावों के स्वरूप बदल गये। इसलिए किसी वस्तु को शाश्वत कहना गलत है। मानस-चेतना निरपेक्ष तत्त्व नहीं, वह सामाजिक अवस्था की ही उपज हुआ करती है। इसलिए आर्थिक-व्यवस्था के परिवर्त्तन के साथ-साथ उसमें भी तब्दीली होती है।

प्रगतिवाद के प्रसंग में मार्क्सवाद की एक और मान्यता याद रखनी चाहिए। वह यह कि आर्थिक समता और सामाजिक न्याय पर आधारित जो नया समाज होगा, वह बगैर जनतन्त्र के निष्प्राण होगा। दूसरे शब्दों में, जनतन्त्र से हीन समाजवाद को सच्चा समाजवाद नहीं कहेंगे। मार्क्स ने जनतन्त्र को समाजवाद का एक आवश्यक अंग बताया है।

संक्षेप में मार्क्स के इन्हीं सिद्धान्तों और धारणाओं ने हमारे नये साहित्य को प्रभावित किया। सामाजिक अवस्था इन सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित करती थी, इसलिए वे बड़ी आसानी से स्वीकृत हुए।

फिर तो प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक न्याय, समता वर्गविहीनता का स्वर गूँजने लगा। यह स्वर इतना प्रबल और व्यापक हुआ कि सारा हिन्दी-साहित्य इसके प्रभाव में आ गया। निराला और पन्त ने इस नयी धारा को स्वीकार किया; अलावा उनके बड़े-बड़े पुरातनवादी भी प्रगतिवाद की बहुत-सी बातें मानने लगे। इतना तो सभी मानने लगे कि साहित्य को जन-जीवन से संबद्ध करना है।

इस तरह साहित्य पुनः अपनी जगह पर प्रतिष्ठित हुआ। प्रगतिवाद का प्रधान स्वर है दलित लोगों के लिए न्याय की माँग। इस तरह काव्य में किसान-मजदूर की जीवन-अवस्था का वर्णन बड़े पैमाने पर हुआ। शुरू उपन्यास में प्रेमचन्द ने किसान-जीवन को ही प्रधानता दी। प्रगतिवादी आन्दोलन के फलस्वरूप काव्य में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई। पन्त की कविता-पुस्तक 'ग्राम्या' इसका उदाहरण है।

निराला की कविता में दलितों का वर्णन प्रगतिवादी आन्दोलन के पहले से ही आ गया था। उन्होंने अपने आरम्भिक काल में ('परिमल' में संग्रहीत) एक कविता लिखी है, जिसका शीर्षक है 'बादल राग'। इसका छठा अंश बिल्कुल प्रगतिवादी ध्वनि प्रस्तुत करता है। फिर 'अनामिका' में 'वह तोड़ती पत्थर', 'परिमल' में 'विधवा'—ये कविताएँ उनकी सामाजिक चेतना के द्योतक हैं। फिर जब प्रगतिवादी आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसका नेतृत्व ग्रहण करना उनके लिए स्वाभाविक था। इस तरह निराला छायावादी और प्रगतिवादी-परम्परा—दोनों के उन्नायकों में से एक हैं।

वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष की व्यंजना प्रगतिवादी कविता में हुई। पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ, भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी', अंचल की कविताए प्रगतिवादी कविता के कुछ उदाहरण हैं। पन्त की ये पंक्तियाँ—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित
श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित
धनबल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' इस काल की महत्वपूर्ण रचना है। इसमें जहाँ कृत्रिम प्रगतिवादियों पर आक्षेप है, वहाँ समाज पर भी कठोर व्यंग्य भी।

इस तरह शोषक-वर्ग के अत्याचार का विशद चित्र प्रगतिवादी कविता में मिलता है : इस समाज की दयनीय दशा का मार्मिक वर्णन है। इसमें परिवर्त्तन की पुकार है, यथार्थवाद का समावेश है, सामयिक समस्याओं का उल्लेख है और है वर्त्तमान व्यवस्था पर व्यंग्य। टेकनिक की दृष्टि से नये बिम्बों, उपमानों और प्रतीकों की सृष्टि की गयी। अन्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावना है, दुनिया के दलितों के हित से अपने हित को मिलाया गया है।

जहाँ तक काव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण की बात है, उसका मतलब है वस्तु-स्थिति का यथातथ्य वर्णन और फिर परिवर्त्तन की माँग।

प्रगतिवादी धारा उन्हीं कुछ प्रवृत्तियों को लेकर चल रही थी। शुरू में इस शिविर में वे सभी शामिल थे, जो सामाजिक न्याय और समता के हामी थे। लेकिन बाद को कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के मातहत कम्युनिस्ट साहित्य-कारों ने प्रगतिवादी मोर्चे को अपनी पार्टी का मोर्चा बनाना चाहा, अपनी राजनीति का पुछल्ला बनाना चाहा। तब प्रगतिवादी शिविर में फूट हुई और अब हालत यह है कि उधर कम्युनिस्ट साहित्यकार सोवियत रूस और स्टालिन का गुणगान करते रहे हैं, इधर बाकी कलाकार अपने तौर पर वर्त्तमान सामाजिकता का आग्रह पूरा करते रहे हैं। प्रगतिवाद के जो वास्तविक भाव हैं, उनको अब भी साहित्यकार स्वीकार करते हैं। सिर्फ नयी परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ नये तत्त्व जोड़ने की जरूरत है, जिसकी वास्तविक चेष्टा हो रही है। साहित्य का भविष्य इसी नयी उद्भावना पर निर्भर है। हिन्दी-साहित्य का नया विकास उसके बाद ही होगा।

प्रयोगवाद और उसके आलोचक

उपर्युक्त शीर्षक की एक सीमा है। प्रस्तुत निबंध में, हो सकता है, न तो प्रयोगवाद के सभी आलोचकों का नामोल्लेख हो, न उनके सभी लेखों पर विचार; फिर भी, इस शीर्षक में अपनी थोड़ी-बहुत साख है; क्योंकि आलोच्य मान्यताएँ और आलोचक प्रयोगवाद के ही हैं और इसलिए भी कि प्रयोगवाद पर जो थोड़ा लिखा गया है, उसका वृत्त सामान्य होने के कारण इसमें प्रतिनिधि-आलोचना के आकलन का अवसर उपलब्ध हो सकता है।

इन आलोचनाओं के सामान्य और प्रतिनिधि होने का एक कारण यह भी है कि अधिकांशतः इनके लेखक अभ्यस्ति के भीतर से कसौटी बनाने के आग्रह को अपर्याप्त पाकर आलोच्य वस्तु के प्रति लापरवाह हो जाते हैं और इस अन्तर्विरोध में एक भिन्न आधार से धावा बोल देते हैं। परिणाम होता है—स्थापनाएँ भिन्न-भिन्न और फिर भी निष्कर्ष एक।

कुछ आलोचनाएँ इसलिए भी समान हैं कि उनसे किसी प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकलता। मसलन, नए वर्ष के प्रथम मास में प्रकाशित दो आलोचनाओं[1] को देख पाता हूँ, और इन दोनों का सम्बन्ध मेरी अन्तरंगता से भी है। इन दोनों में एक व्यक्ति की, जिसे इन आलोचकों की अपेक्षा ज्यादा जानने का तो नहीं, पर जिसके ज्यादा निकट होने का और जिसकी रचनाओं को ज्यादा सही उद्धृत करने का हम दावा कर सकते हैं, पंक्तियों का गलत उद्धरण देकर, और इस तरह, एक कल्पित आधार पर, सामन्ती निर्णय दे दिया है। सही पंक्तियों के बारे में इन उत्साही आलोचकों की क्या राय थी, यह न जानने के कारण (छपे शब्दों में; वैसे तो शायद सही या गलत दोनों के बारे में उनकी राय समान होती) हम इनके संबंध में विचार करके हास्यास्पद नहीं होंगे; पर इस प्रतियोगिता में प्रथम आनेवाले 'अवन्तिका' के लेखक को शाबासी जरूर देंगे, जिन्होंने स्मृति-बल पर लिखे मनगढ़न्त उद्धरण के आधार पर आलोचना लिखने की सर्वथा अभूतपूर्व प्रणाली चलाने का और इस प्रकार हिन्दी-आलोचना की समस्त परम्परा को चुनौती देने का साहस तो किया। इन दोनों लेखकों में एक और समानता है। दोनों ने प्रयोगवाद की मृत्यु का समाचार दिया है। प्रथम ने एक 'प्रभावशाली आलोचक दल' के इस निर्णय को मान लिया है कि स्वदेश में इस वाद का अन्त हो चला है और दूसरे ने जाने किस अध्ययन के आधार पर, यह मंतव्य दिया है कि प्रयोगवाद का 'अवसान वर्षों पहले योरोपीय साहित्य में हो गया' पर स्वदेश में इसका 'सिक्का' चलाया जा रहा है। अर्थात् एक की दृष्टि में स्वदेशी प्रयोगवाद मर चला है (और शायद विदेशी जिन्दा है) और दूसरे की नजर में विदेशी मर गया है और स्वदेशी चल रहा है। दो ही महीने पूर्व, 'पिछले दशक की हिन्दी-कविता' पर लिखते हुए एक तीसरे आलोचक ने यह आशंका प्रकट की

---

१. जनवरी ५३ की 'अवन्तिका' के विचार-संचय-स्तम्भ में प्रकाशित 'प्रयोगवाद : एक रचना-विलास' और उसी महीने की 'सरस्वती' में प्रकाशित '१९५२ का हिन्दी-साहित्य : सिंहावलोकन।

थी कि 'अज्ञेय का व्यक्तित्व पूरे काव्यजगत् पर छाता जा रहा है और यह कहना शायद अनुचित नहीं होगा कि उनके बहुत-से विरोधी भी, छिपे तौर से ही सही, उनके प्रयोगों को ग्रहण करते जा रहे हैं।'[1] इसी प्रकार एक आलोचक ने 'प्रयोगवादी कवियों' का विशेषताओं में इसका भी शुमार किया है कि "वे सभी असफल समालोचक हैं। अज्ञेय हों या माचवे, गजानन हों या नेमिचन्द्र, नलिन हों या केसरी—सभी कवियों ने पहले समालोचना के लिए ही कलम उठाई थी।'[2] संभव है, नन्ददुलारे वाजपेयी के इस कथन से उनका सामना हुआ हो कि 'वास्तव में ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं, जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं।[3] पर दोनों मिलाकर निष्कर्ष? हम यह नहीं कहते कि परस्पर-विरोधी अंतर्विरोधी आलोचनाओं से निष्कर्ष निकल ही नहीं सकता; पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि समुचित आधार के अभाव में लिखी गयी समीक्षाओं से भ्रांति के अतिरिक्त कुछ और निकल सकता है। यह सिद्ध कहाँ हुआ कि निबन्ध-लेखक, उपन्यासकार या असफल आलोचक के लिए (जब कि लेखक ने आलोचना को हिन्दी की सबसे सस्ती चीज कहकर इस विशेषणयुक्त संज्ञा के व्यंग्य को, हल्का कर दिया है) कविता एक वर्जित प्रदेश है या यह कि कलम का स्थानान्तरित होना असफलता का द्योतक है। वाजपेयीजी का 'कोरा बुद्धिवाद' अपने-आपमें एक अंतर्विरोध लिए है, जिस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ प्रसंगवश इतना कह लें कि प्रयोगवाद-संबंधी भ्रांति का एक कारण हिन्दी-पत्रकारिता भी है, जो पीली उतनी नहीं, जितनी हिन्दी की औसत कविता की तरह असावधान है। कुछ दिन पहले 'दूसरा सप्तक' पर 'प्रतीक' में एक साथ ही तीन आलोचनाएँ छपी थीं, प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त और देवराज की। माचवेवाली आलोचना

---

१. 'कल्पना, नवम्बर, १९५२।
२. 'प्राची (नयी हिन्दी-कविता : एक विश्लेषण) भादो, २००८ सं०।
३. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० ३५।

में लिखा था—"अज्ञेय का कहना है कि 'प्रयोग का कोई 'वाद' नहीं होता और प्रयोग अपने-आपमें साध्य है। देवराजजी के शब्द थे—"भूमिका में 'अज्ञेय ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं हैं। प्रयोग साधन रूप है, अपने में साध्य नहीं। 'कल्पना' वाली समीक्षा में दो वाक्य एक ही जगह इस प्रकार—'प्रयोगशील कवियों ने आधुनिक कविता का, शिल्प-विधान की दृष्टि से, नया शृंगार नहीं किया है। ....नयी कविता में भाषा और छंद की दृष्टि से क्रांति उपस्थित हो गई है।' पाठक भौंचक हैं कि आखिर अज्ञेय ने क्या कहा और लेखक क्या कहना चाहता है या सब 'गोरखधंधा' ही है। यह तो भूमिका हुई और अन्य भूमिकाओं की तरह इस भाग को छोड़ दें, तो भी आपका कुछ बिगड़ेगा नहीं।

तो सबसे पहले अज्ञेय, क्योंकि, वे प्रयोगवाद के प्रथम कवि तो नहीं (न ही वे अपने को प्रयोगवादी मानते हैं), और यह मानने में मुझे भी कठिनाई होती है कि 'अज्ञेय' ने इस आन्दोलन को जन्म दिया। 'इसका प्रचार तार-सप्तक से दूसरा तारसप्तक तक हुआ और फिर बिहार में पल्लवित, पुष्पित हुआ नरेश जी, नलिनजी और प्रो० केसरीकुमारजी प्रयोगवादी कवियों में, पर प्रयोगशील कवियों की रचनाओं के प्रथम सम्पादक और उनके सामूहिक प्रयोगों के लिए प्रथम व्याख्याता होने का श्रेय उन्हें जरूर प्राप्त है, गोकि प्रसादजी द्वारा किये गये काव्य-पंक्ति के बीच पूर्ण विराम-चिह्न के प्रथम प्रयोग पर निराला जी 'सरोज' में लिख चुके थे और बाद में नलिन ने 'गाथा' की भूमिका में उसका उल्लेख करते हुए हिन्दी की 'स्टाप-एण्ड' वाली 'स्ट्राबेरी और क्रीम' कविता की बुराई की। अज्ञेय ने १९४३ में 'तारसप्तक' का प्रकाशन इस 'मूल सिद्धान्त' पर किया कि 'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे' जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं और आठ साल बाद 'दूसरा सप्तक' निकला। इन दोनों सप्तकों में अज्ञेय ने जो स्थापनाएँ कीं, वे संक्षेप में ये हैं—

---

१. 'प्रतीक, जनवरी १९५२।

१. कविता प्रयोग का विषय है। कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या। और, कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी सङ्स्या यही है। 'व्यक्ति-सत्य को 'व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व आज का कवि भी निवाहना चाहता है। इसलिए प्रयोग।

२. प्रयोग सभी काल के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। आज का प्रयोगशील कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है---भाषा भी क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की कँचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है, इसलिए कि व्यक्ति-सत्य के व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निवाहना चाहता है; पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बाहर आते हुए लावा से भरकर और जमकर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमें नहीं है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप, में, सीधे या उल्टे अक्षरों से---सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।

३. कोई भी 'स्वान्तः सुखाय' नहीं लिखता या लिख सकता है। अभि-व्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता अनिवार्य है। भाषा उनके (कवि और ग्राहक, या पाठक, या श्रोता के) व्यवहार का माध्यम है और उसकी माध्यमिकता इसीमें है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करनेवाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य (esotric) हो जाना अनिवार्य है; किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है; धर्म नहीं, आपद्धर्म है।

---

१. जनवाणी (प्रयोगवाद का पृष्ठाधार) मई, १९५१।

४. प्रयोग का कोई वाद नहीं है। प्रयोग अपने-आपमें इष्ट वा साध्य नहीं है, वह साधन है।

प्रयोगशील बनाम प्रयोगवादी

जाहिर है कि सप्तकों में अज्ञेय ने जिस काव्य का शील-निरूपण किया, वह प्रयोगशील का है, प्रयोगवादी का नहीं। प्रयोगवादी के लिए प्रयोग साध्य है, प्रयोगशील के लिए साधन। प्रयोगशील 'उलझो संवेदनाओं और साधारणीकरण एवं निवेदन के दोआबे में रहने के कारण आपद्धर्मी बना रहता है। समझौते की समस्या, जो उलझन और साधारणीकरण की युगल-उपलब्धि के सैद्धान्तिक आया की अर्जित समस्या है, उसके लिए बनी रहती है और प्रायः उसके लिए जरूरी हो जाता है कि वह अतीत को मुँह में रखे। इसी अर्थ में वह त्रिशंकु है, एक असामाजिक प्राणी के अर्थ में नहीं,१ जिसमें शिवदान सिंह चौहान ने उसे रखना चाहा है; २ फिर प्रयोग को साधन मानने के कारण उसका काव्य जितना मुक्त होगा, उतना स्वच्छंद नहीं। प्रयोगवाद का अभिप्रेत मुक्त नहीं, स्वच्छंद काव्य है, जिसमें वस्तुगत दृष्टिकोण के अनुसंधान का मान होता है। प्रयोगवाद प्रयोग को साध्य मानता है और शेष को, अर्थात् जीवन और कोष को, कच्चा माल यानी साधन। प्रयोग का प्रयोजन ढूँढ़ना नंददुलारे वाजपेयी के लिए ही व्यर्थ हो सकता है। प्रयोगवादी मानता है कि प्रयोगवाद का अर्थ है--भाव और व्यंजना का स्थापत्य। उसके लिए, काव्य में भाव और व्यंजना के स्थापत्य को धर्म मान लेने पर, अन्य आग्रह

---

१. क्योंकि समझौते में समाज का ध्यान तो वह रखता ही है। अज्ञेयजी ने भाषा की सामाजिक माध्यमिकता की बात भी कही है। 'स्वान्तः सुखाय' कोई लिख सकता है, इसे भी वे स्वीकार नहीं करते। --लेखक

२. कि 'पूँजीवाद के ह्रासकाल में एक व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक जीवन से तटस्थ कलाकार (किस प्रकार) अपना सच्चा आत्मगौरव खोकर एक असामाजिक प्राणी--त्रिशंकु बन जाता है। ('आलोचना, वर्ष १ अंक २, सम्पादकीय)

महत्व नहीं रखते। सम्पूर्ण की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति के दायित्व और इसके लिए दृक्वाक्यपद्दोध प्रणाली की अनिवार्यता को वह स्वीकार करता है; तब जो अनिवार्य नहीं है,१ वे प्रश्न उसके लिए विधान-बाहरी हो जाते हैं। अतीत उसके लिए खाद है (और खाद एवं खाद्य का अन्तर प्रत्यक्ष है)। अतीत की शव-साधना से यदि नई प्राणशक्ति मिले२ तो बुराई नहीं; पर वह मानता है कि साहित्य में अनुसन्धान ही नहीं३ आविष्कार भी होता है और इसे ही मानने के कारण वह सर्वत्र स्वतन्त्र हो जाता है। चूँकि निर्माण के लिहाज से महान पूर्ववर्तियों की परम्पराएँ निष्प्राण हैं, उसके अनुकरण के सिद्धान्त४ को छोड़ दिया है और चूँकि अपनी की हुई चेष्टाएँ भी अतीत हैं, वह दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है। साहित्य में जो

---

१. जैसे साधारणीकरण, कस्मै देवाय इत्यादि।

२. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को इस शक्ति पर बहुत भरोसा है।

३. अनुसंधान की अपनी उपयोगिता है और **Lucas** ने उसकी मीमांसा इस प्रकार की है:— **An epic work produces an effect the more enchanting and general the more it succeeds in making the individual and his social activity appear not as contrived scheme as the product of the author's virtuosity, but as something naturally grown; not as something invented, but as something just discovered.**

Masses & mainstream, Dec., 1949—Idea and Form in Literature.

४. यहाँ केवल अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत से, जिसे दुहरानेवाला आज विरला ही होता है (वैसे हिन्दी में ऐसे विरले जनों का अभाव भी नहीं है) मतलब नहीं; इसमें परवर्तीकार का प्रेषण-सिद्धान्त भी समाहित है; क्योंकि अभ्यासग्रस्त के प्रति निवेदन के आग्रह का परिणाम भाषागत अभ्यासों की निष्प्राण आवृत्ति यानी जकयक।

हो चुका, खासकर अच्छी तरह, वह उसके लिए अछूत है१, अपनी की हुई चेष्टाएँ, दान की हुई कन्याएँ। परम्परा को ढोना हीनता है, परम्परा के उत्तरदायित्व का बोध बल है। इसलिए प्रयोगवाद जीवन के प्रतिष्ठित तन्त्र को नहीं, जीवन के प्रति जाग्रति को; भाषा के आर्ष प्रयोग को नहीं, भाषा के प्रति जागरूकता को आवश्यक समझता है।

तात्पर्य यह कि दोनों सप्तकों में अज्ञेयजी ने प्रयोगशीलता की व्याख्या की, प्रयोगवाद की नहीं।

नकेनवाद२

और, अगर हिन्दी के सुधी समीक्षक अज्ञेयजी की उपर्युक्त व्याख्या को

---

१. (क) इलियट ने 'What is a Classic?' में इस बात पर खुशी जाहिर की है कि अंग्रेजी साहित्य में कोई classic नहीं है; क्योंकि जिस क्षेत्र में classic का जन्म होता है, उसमें बहुत दिनों तक नवनिर्माण की संभावना नहीं होती; क्योंकि वह भाषा की सम्पूर्ण परिपक्वता को खींचकर उसे वर्षों के लिए बंजर कर देता है। (हिन्दी में एक हद तक तुलसीकृत रामायण एक classic है और उसके क्षेत्र में अभी तक कोई महान् उत्पादन नहीं हुआ)। साधारण खेत का भी यही हाल है। अच्छी फसल के लिए कुशल किसान खेत को कभी बिन-बोये ही छोड़ देता है। यह भी देखा जाता है कि महान् बाप के बेटे में एक प्रकार का हीन-परिज्ञान आ जाता है। पिता की महानता से वह ऐसा आक्रांत होता है कि अपनी शक्ति में उसे विश्वास नहीं होता। उपकार के तौर पर उसे अपने दृष्टिकोण को अद्यतन करना पड़ता है।

(ख) शब्द का कोषगत अर्थ जानकर भाव ग्रहण करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि वे हमें अछूतोद्धार का विरोधी करार न देने लगें।

२. इस नाम के लिए हम किन-किन को धन्यवाद दें। इलाचन्द्र जोशी, प्रभाकर माचवे आदि ने इस नाम से हमलोगों को याद किया है। दो साल पहले हमने इस नाम को अनुपयुक्त समझा था (देखिए 'साहित्य और समीक्षा में 'नई कविता' शीर्षक निबन्ध)। पर अभी यह नाम पसन्द है और सोचा

प्रयोगवाद की व्याख्या न मान लेते, तो 'प्रयोग-दशसूत्री १ (प्रयोगवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप), जिसमें पहली बार प्रयोगवाद का मौलिक शील-निरूपण हुआ और उसे प्रयोगशीलता से भिन्न करके देखा गया, को लेकर शायद यह प्रश्न नहीं उठता कि 'दूसरों से भी अपना अनुकरण वर्जित समझने-वालों ने प्रयोग-दशसूत्री को राजनीतिक घोषणा-पत्र के पिटे-पिटाये २ प्रारूप में क्यों ढाल दिया। ३ दिलचस्प बात यह है कि प्रश्नकर्त्ता ने यह कहकर भी कि "प्रयोगवादी काव्य की रूपसम्बन्धी विशेषताओं पर विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि प्रयोगवाद के उस रूप पर भी विचार कर लें, जो 'नकेनवादी प्रयोगवाद के नाम से विख्यात है ४! प्रयोगों के बाहुल्यभाव के कारण उस पर विचार करना उचित नहीं समझा। सो बात जहाँ की तहाँ बनी रही और 'प्रयोग-दशसूत्री की आवश्यकता भी।

कुछ लाचार परिभाषाएँ और असंगतियां

पर आलोचकों ने अज्ञेयजी की स्थापनाओं को प्रयोगवाद का आधार मान लिया। ५ शायद नये प्रयोगों ने आलोचकों की अभ्यस्ति को, जिसकी पकड़ में अभी-अभी वे प्रतिष्ठित-से हो चले थे, अचानक एक अप्रत्याशित आघात किया और वे आवेश में, असंगतियों पर ध्यान न देकर, एकाएक धावा बोल गए।

जा रहा है कि क्यों नहीं 'चित्रेतना ('नकेनवादियों का काव्य-संग्रह) का नाम 'नकेन' ही रखा जाय।

१. देखिए 'प्रकाश, पटना, दीपावली, १६५०।

२. प्रारूप पिटा-पिटाया क्या होगा?

३. 'कल्पना; नवम्बर, १६५२।

४. वही।

५. "अज्ञेयजी के प्रयास से यह तो लाभ हुआ ही कि आधुनिक हिन्दी-कविता में 'प्रयोगवाद की स्थिति और स्वरूप का हमें कुछ आभास और परिचय मिल सका और अब हम उन व्याख्याओं की सहायता से प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा करने की स्थिति में आ गए हैं।
(आधुनिक साहित्य—प. २१)

प्रमाण यह है कि 'स्वप्नवादी' और 'छायावादी' काव्य-दृष्टि वाले आलोचक ज्यादा बहके, खासकर नन्ददुलारे वाजपेयी। यों इसी आवेश में शिवदानसिंह चौहान भी आए; पर कुछ बाद--उनकी अभ्यस्ति (प्रगतिवाद की वीरपूजा-वाली) भी तो बाद की थी। इसी आवेश में उपपत्तियाँ और परिभाषाएँ गढ़ी गई--एक जोखिम का काम।

डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ और भदेस की प्रतिक्रिया[1] कहा और नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह कि 'प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणत: उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रांतिदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रधान ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और संदेशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता मात्र होता है।

डा० नगेन्द्र आर्षवचनों, आनन्द और रस के आधार पर आलोचना करते रहे हैं। इधर उनके श्रमलाघव के अभ्यास ने दो शब्द अपना लिए हैं--'भावात्मक दृष्टिकोण' और 'प्रतिक्रिया'।[2] इस प्रकार अब उनका काम और सरल हो गया है। चाहे किसी भी युग का, किसी भी व्यक्ति का, कैसा भी साहित्य हो, वे इन दोनों शब्दों का बारी-बारी से प्रयोग कर देंगे। कहेंगे 'जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण था[3] और

---

१. विचार और विवेचन, पृ० १४१।

२. आधुनिक साहित्य, पृ० १५।

३. ये दोनों ही शब्द उनकी आलोचनाओं में इतनी बार जगह-बे-जगह प्रयुक्त हुए हैं कि ये थककर असमर्थ-से हो गए हैं, उसी तरह जिस तरह पंतजी के काव्य में असंख्य बार आया हुआ शब्द 'चिर'।

रीतिकाव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था। 'शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण' उन्हें पंतजी में मिल ही चुका है। यह आलोचना के क्षेत्र में आए हुए उस साधारणीकरण का परिणाम है, जिसका आग्रह करते हिन्दी के अभिभावक थकते नहीं। आलोचना का उद्देश्य मूल्यों का नये सिरे से अनुसंधान और विशिष्ट की खोजकर पाठक को उसमें एक पैठ देना है। पर नगेन्द्रजी से यहाँ एक चूक हो गई। यदि वे प्रयोगवाद को भी एक दृष्टिकोण कह देते, तो कुछ बात हो जाती और यदि अपनी अभ्यस्ति से जरा आगे चलकर उसे दृष्टिकोण का अनुसंधान कह देते, तो बड़ी बात।

प्रयोगवादी कवि मानता है कि कविता की सच्ची प्रेरणा वस्तु-स्थिति से मिलती है, जब कि वस्तु-स्थिति के संश्लेष (**Complex**) को लेखक अथवा साहित्यकार एक नये दृष्टि-विन्दु से देखता है। वह दृष्टि-विन्दु भी विषयीगत की तरह कुछ अज्ञेय अथवा धुँधला नहीं। वह भी विषयगत ही होता है। लेखक विषय से ही वह नवीन दृष्टि-बिन्दु प्राप्त करता है और उसीके आलोक में वह विषय को फिर एक नई जगह से, शक्ति के नये संश्लेष के रूप में, देखने लगता है। ऐसा देखना अनिवार्यतः निस्संग देखना है। मगर नगेन्द्रजी के लिए एक लाचारी थी। जिन साहित्यकारों को लेकर उन्होंने अपनी मान्यता स्थिर की थी, वे 'वस्तु-जगत् को स्वयं में उलझाने-लुभाने वाली शक्तियों के संश्लेष से ही एक नवीन दृष्टि-बिन्दुगत प्रेरणा ग्रहण करनेवाले नहीं थे। जिस साहित्य को लेकर उन्होंने अपनी कसौटी बनाई, वह एक प्रिया की ही याद से चाँद और ऊषा दोनों के दर्शन करनेवाला साहित्य था।

---

१. नगेन्द्रजी में शुद्धता का विचित्र आग्रह है (देखिए उनका वाक्य 'छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है') और इसकी बुराई में एंजिल्स ने कहा था कि शुद्ध-तत्त्व (**Pure phenomena**) कभी जेरुजेल्म के अल्पायु राज्य के विधान में रहा होगा।

२. ('साहित्य, जनवरी ५१ कविता और हिन्दी-कविता (श्री नरेश)।

तो, उन्होंने अपने दूसरे अस्त्र का प्रयोग किया और प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ और भदेस की प्रतिक्रिया कहा, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की और प्रगतिवाद को छायावाद की। मगर लाचारी बदस्तूर बनी रही। वे प्रयोगवाद को छायावाद की अतिशय कोमलता और मार्दव के विरुद्ध अनगढ़ भदेस की प्रतिक्रिया कहकर क्षोभ प्रकट करते हैं और उसी स्वर में यह भी कहते हैं कि प्रयोगवाद का, 'वस्तु-परक दृष्टिकोण की उपलब्धि में, सफल होना अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि वह छायावाद की 'अतिशय भावपरकता में पगा है।' स्थापना और भविष्यवाणी को यह असंगति निश्चय ही एक लाचारी है। यह अस्तव्यस्तता इसलिए भी है कि मूल्य काव्य के भीतर से नहीं आ रहा, आरोपित हो रहा है। लाचारी यह है कि हिन्दी-आलोचना की कसौटी ही रही है हीनता की। उसमें कौन कितना श्रेष्ठ है, यह न बतलाया जाकर यही बतलाया जाता रहा है कि कौन कितना हीन है, बुरा है और किसने कैसे विचार प्रगट किए हैं! और, ये दोनों ही बातें बेमानी नहीं हैं; क्योंकि हिन्दी में चारण, संत और भक्त हुए। (हम यह नहीं कहते कि इनमें काव्य है ही नहीं; पर इनमें और कालिदास में जो अंतर है, वह तो प्रत्यक्ष ही है)। इस मानी में कवि व्यक्ति आधुनिक काल में ही पैदा हुआ। ऐसे कवियों का सबसे समृद्ध युग छायायुग रहा। अतः यदि आलोचकों ने इसके आधार पर मान्यता बनाई, तो कोई शिकायत नहीं। मगर दुःख तो यह है कि अभ्यासों से यहाँ भी मुक्ति नहीं मिली। चूँकि हम अभ्यस्त हो चुके थे कि विचारों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन होता है और शब्दार्थ से ही काव्य जाना जाता है, हमने छायावादी काव्य को भी उसके प्रकृत स्थल में रखकर नहीं देखा, बल्कि एक गलत ढंग से सूक्ष्म के प्रति आग्रह, 'आध्यात्मिक भूमि पर पहुँची हुई प्रेम-कल्पना', 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति' के काँटे पर उसे तोला और तब उसे 'शुद्ध कविता' कहा। एक कहानी याद

१. नन्ददुलारे वाजपेयी।

आती है। कहीं एक चित्र-प्रदर्शनी हुई। एक चित्र को प्रथम पुरस्कार मिला। पुरस्कार-विजेता चित्रकार को खबर देकर बुलाया गया। मगर पुरस्कार लेते समय जब उसकी दृष्टि अपने चित्र पर पड़ी, तो वह चिल्ला उठा—'ले लो अपना पुरस्कार, तुमने मेरा चित्र उल्टा क्यों टाँग दिया है? ऐसी परिस्थिति में छायावाद का मर जाना ही अच्छा था और अगर मानते हैं कि वह मर गया, तो उसके अनेक कारणों में एक ये आलोचक-प्रवर भी होंगे।

ऊपर की लाचारी डा० नगेन्द्र और वाजपेयीजी दोनों में समान है। वे अभ्यस्त हैं कि साहित्य के माध्यम से (जैसा हिन्दी में होता रहा है) इतिहास, राजनीति और दर्शन की शिक्षा दी जाती है, इसलिए उन्हें प्रयोगवाद के स्थापत्य में 'वास्तविक सृजन' नहीं मिलता। चूँकि वे प्रिया के ध्यान में चाँद देखनेवाले साहित्य के आदी रहे हैं, इसलिए प्रयोगवाद की वस्तुगतता में उन्हें 'तात्त्विक अनुभूति' नहीं मिलती। चूँकि वे साधारणीकृत (सरल यानी साधारण) विचारों और शब्दों की हुक्मी कवायद के अभ्यासी हैं, इसलिए प्रयोगवादी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति में 'स्वाभाविक क्रमविकास' देख नहीं पाते। चूँकि वे वस्तु पर व्यक्तित्व के समर्पण (जो साहित्यकार की चरम साधना है) की बात पकड़ नहीं पाते, प्रयोगवाद में उन्हें 'सुनिश्चित व्यक्तित्व' नहीं मिलता।

अज्ञेय ने वाजपेयीजी की युक्ति को 'तर्क-विकृति' कहा है। दरअसल यहाँ तर्क है ही नहीं, केवल क्षोभ है; अन्यथा इन भारी-भरकम विशेषणों का महत्त्व ही क्या, जो एक-दूसरे को ठेलते हुए अपनी प्रभविष्णुता खो रहे हैं।

वस्तुतः इन दोनों उपपत्तियों में आत्मसात् न कर सकने की अपनी असमर्थता और कसौटी की लाचारी को विशेषणों में छिपाकर उनकी परम्परा से बनी हुई अपनी वर्गस्थिति (Hierarchy) को बनाये रखने की एक बेचैनी है। और, यह बेचैनी, (आलोचना के निरन्तर विकास के अभिलाषी और अध्येता को कष्ट होगा) ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की

द्विवेदीकाल में छायावाद के, जिसके समर्थन में इन दोनों प्रवक्ताओं ने शक्ति-संचय किया, विरोधियों की थी। जरा दोनों की नसीहतों और शब्दावली की तुलना कीजिए—

वास्तव में ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं, जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं। परन्तु इन भले आदमियों को इतना तो समझना ही चाहिए कि कविता के क्षेत्र में कोरा बुद्धिवाद अधिक देर तक नहीं चल सकता।

—न० दु० वाजपेयी

कवि को भाषा पर कमँड होना चाहिए। आपमें उसका अभाव है। आप का कवि होना वैसी ही अनधिकार चेष्टा है, जैसी मेरे लिए एम० एस-सी० क्लास का प्रोफेसर होना। नाम 'सत्यप्रकाश' और भटकते फिरते हों अंधेरे में। भारत में न तो छायावाद चलेगा और न प्रतिबिम्बवाद, यहाँ तो प्रकाशवाद रहा है और रहेगा।[१]

—लाला भगवान दीन

हम अपने काव्योद्यान में ऐसे फूल लगाना नहीं चाहेंगे, जो हमारी धरती से रस खींचना अस्वीकार करें और जिन्हें प्रयोगों का इंजेक्शन देकर ही जिलाया जा सके।

—न० दु० वाजपेयी

कविता-वल्ली को प्रतिभा के वारि से सींचकर 'पल्लव' निकालिये, खुशी से उसकी छाया में बैठकर 'वीणा' बजाइए; पर काव्य-कानन के कल्पवृक्षों की जड़ पर कुमति-कुठार न चलाइये। यह अत्याचार असह्य है। 'पल्लव के नोकीले और जहरीले काँटे इनके दिल में न चुभाइए, 'वीणा' में मोहनी स्वर छेड़िए; मारू राग न बजाइए।[१]

—पद्मसिंह शर्मा।

हिन्दी-आलोचना में प्रलाप की यह पुनरावृत्ति है। फूल को इंजेक्शन देने की सूझ खूब रही। मगर उन्हें यह समाचार मिल गया होगा कि हाल में संत विनोबा भावे ने भी चाँडिल में इंजेक्शन लिया है। वे आश्वस्त रहें;

---

१. साहित्य और समीक्षा—केसरीकुमार।

उनका काव्योद्यान सुरक्षित रहेगा। उसके फूल तो यों ही ताजगी खो रहे हैं। प्रयोगवाद बंजर को उर्वर करने चला है।

इन दोनों आलोचकों में एक और समानता है, असंगति तथा परम्परा-विरोध की ओर इसके कारणों पर हम विचार कर आए हैं। नगेन्द्रजी की तरह वाजपेयीजी की लाचारी भी प्रत्यक्ष है और इसलिए 'छायावादी काव्य-दृष्टि' में एक ओर वे कहते हैं कि 'कवियों ने नवीन शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्तियों और प्रयोगों का भी अच्छा प्रभाव देख पड़ा। लेखकों की ग्राहिका-वुद्धि ने और उनकी नव सांस्कृतिक रुचि ने अभिव्यंजना को पाश्चात्य शैली से भी सुसज्जित करने की चेष्टा की। जितने नये शब्द और प्रयोग संस्कृत और अंग्रेजी से इस युग में गृहीत और निर्मित हुए और जितने स्वतन्त्र आविष्कार भाषा में किए गए, उतने इसके पूर्ववर्त्ती कदाचित् किसी युग में नहीं हुए थे। भाषा की समृद्धिशीलता भी साहित्य की ही समृद्धिशीलता का अंग है।'[१] और दूसरी ओर, प्रयोगवादी रचनाओं पर यह अभिमत भी दे देते हैं कि 'प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनिया से बहुत दूर है।

अभियोग और सवाल

हिन्दी-आलोचना की अदालत में प्रयोगवाद पर जो अभियोग लगाए गए हैं, संक्षेप में, वे ये हैं——

१. प्रयोगवादी रचनाएँ काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं। वे वैचित्र्य-प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं है।

२. उलझी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति से जाहिर है कि वह (प्रयोगवादी) अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने में अक्षम है।

---

१. वही।

३. प्रयोगवादी रचनाएँ वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

४. ये कवितायें अनिवार्य रूप से नहीं, सिद्धान्त-रूप से भी दुरूह हैं। इनमें साधारणीकरण का अभाव है।

५. इनमें भाषा का सर्वदा व्यक्तिगत अर्थात् अनर्गल प्रयोग होता है। इन अभियोगों के साथ यदि हम अज्ञेय की स्थापनाओं और डा० रघुवंश, शिवदानसिंह चौहान प्रभृति के तर्कों को ले लें, तो कुछ प्रश्न उठ खड़े होंगे; जैसे—

१. क्या प्रयोगवाद कोई वाद है?

२. यदि हाँ, तो उसका उद्देश्य क्या है?

३. क्या बौद्धिकता से काव्य का विरोध है?

४. क्या उलझी संवेदनाओं (मेरा मतलब Complex Sensibilities से है, जिसका अज्ञेय ने आपद्धर्मी तौर से हिन्दी में कमजोर अनुवाद कर दिया) के कारण कोई कवि नहीं हो सकता या काव्य सरल संवेदनाओं तक ही सीमित रहता है?

५. अपनी वैयक्तिक अनुभूति और समाज के प्रति कवि का उत्तरदायित्व क्या है?

६. क्या साधारणीकरण और सुबोधता काव्य का धर्म है?

७. क्या भाषा का वैयक्तिक प्रयोग अधर्म है?

८. प्रयोगवाद की क्या आवश्यकता है, क्या उपयोगिता है?

वाद की बात

प्रयोगशील का पक्ष है कि "प्रयोग का कोई वाद नहीं होता। प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है; क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेक्षित करता है; दूसरे, वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है। अर्थात प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता

के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, हृदय के निकट यह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है, तो मोती सामने रखकर ही—'इस मोती को पानी में इतना परिश्रम लगा'—बिना मोती पाये उसका महत्त्व नहीं है। स्वयं वह भी (जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है) उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है; नहीं तो, उस शोध में इतना संलग्न न होता। १

वाद का आग्रह हमारा नहीं; पर सवाल आग्रह का नहीं, स्थिति का है। प्रयोग सत्य का साधन है; पर उसका सत्य उससे भिन्न कहाँ है? स्तब्ध रात्रि में नीड़स्थ शावकों की फड़फड़ाहट कवि ने सुनी और उस संतानहीन नारी की कल्पना की, जो इस फड़फड़ाहट में माँ के स्तनों पर फिरनेवाली बच्चे की उँगलियों की याद कर रो-रो पड़ती है। २ यहाँ सत्य का आकलन वस्तुस्थिति (निस्तब्ध रात्रि में शावकों की फड़फड़ाहट) से उत्पन्न उस दृष्टि में है, जो अनुभावक की आसंगति (association–संतानहीन-नारीत्व) से स्थानान्तरित होकर एक नवीन प्रकाश देती है, जिसमें वह वस्तुस्थिति को फिर शान्ति के एक नये संश्लेष में देखता है। शोध में संलग्न रहने का मतलब सत्य को अधिक महत्त्व देना है, यह स्थापना विचित्र है। अधिक महत्त्व किससे? साधन यानी भाषा से? पर काव्य-सत्य की तरह काव्य-भाषा अनिवार्य होती है। जहाँ तक परिणाम का सम्बन्ध है, काव्य-प्रयोग की प्रक्रिया वैज्ञानिक शोध-गृह की प्रक्रिया से भिन्न होती है। शोध-गृह की प्रक्रिया में काल का हाथ नहीं होता और वह उपलब्धि के साथ समाप्त हो जाती है। काव्य से उत्पन्न होनेवाले दृष्टिकोण में, जिसे काल-सम्बन्ध प्रतिक्षण प्रभावित करता रहता है, सत्य ग्रहण करता है और इसलिए इसका कहीं अन्त नहीं होता। वर्ड्सवर्थ की काव्य-परिभाषा, कि काव्य पुनस्मृति आवेग है, की

---

१. अज्ञेय (दूसरा सप्तक)

२. देखिए, पाटल, अंक ५, वर्ष ६।

इलियट ने इसलिए बुराई की कि अनुभावक और वस्तु के बीच में काल के आ जाने के कारण पुनस्मृति ठीक-ठीक हो नहीं पाती।१ वस्तुतः काव्य में जिन सत्य-सम्बन्धों का यानी दृष्टिकोणों का अनुसन्धान होता है, उनके सम्पूर्ण को किसी युग के किसी एक व्यक्ति में पाया भी नहीं जा सकता। इसलिए काव्य में न तो विज्ञान की जैसी उपलब्धि होती है और न ही उसकी प्रक्रिया की समाप्ति। क्या अज्ञेय 'सत्य' को, जिसकी खोज में वे प्रयोग कर रहे हैं, उपलब्धि (!) के बाद कविता करना छोड़ देंगे?

प्रयोग-संलग्न कवि की तुलना गोताखोर से करना भी विशेष मानी नहीं रखता। गोताखोर अपरिचित सागर से परिचित मोती निकालता है (जिसे पुराने जमाने में कभी लहरों ने किनारे पर फेंका होगा और जिसे देखकर आदमी ललचा होगा), कवि परिचित वस्तु से अपरिचित भाव-सम्बन्ध लाता है। गोताखोर का मोती पाना बहुत-कुछ भाग्य पर निर्भर है, कवि का शक्ति और केन्द्रीकरण पर।२ मोती बहुत कुछ मुश्किल है, काव्य के भाव-मूल्य और व्यंजना के उपादान नहीं; इसलिए प्रयोगवादी मानता है कि काव्य का अभिप्रेत वह प्रयोग ही है, जिसके स्थापत्य में भाव और व्यंजना एक परिस्थिति-जन्य अनिवार्यता में एकाकार होकर सत्य रूप ग्रहण कर लेते हैं। और, इस प्रकार प्रयोग को साधन नहीं, अपितु साध्य मानने के कारण प्रयोगवाद एक दर्शन हो जाता।

सही है कि सभी युगों में प्रयोग हुए और कहीं-कहीं आज के अनेक प्रयोगों से पुराने प्रयोग ज्यादा समर्थ हुए हैं; पर प्रयोग को सत्य-साध्य रूप अभी-अभी स्वीकार किया गया है। संक्षेप में, प्रयोगवाद की स्थिति निश्चित है।

---

1. **Selected Essays.**

२. शायद इसी मोती-भावना से प्रभावित होकर श्री शमशेरबहादुर सिंह ने इसका और अधिक स्थूल प्रयोग अपने 'कला और साहित्य में प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध में किया है। (देखिए, 'आलोचना' अंक २)

बुद्धि बनाम राग

यह इल्जाम कि प्रयोगवाद बौद्धिकता से ग्रस्त होने के कारण काव्य की चौहद्दी में नहीं आता, (क्योंकि वह राग की जागीर है) एक पूर्वग्रह लिये है। इस पूर्वग्रह का एक उदाहरण डा० नगेन्द्र का यह कथन है कि 'कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है--यह एक विश्वजनीन सत्य है और कविता की यही सार्थकता है। इसका निषेध करने का साहस टी. एस. इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसीमें है कि वह राग को संवेदनीय बनाए; बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं। यहाँ इलियट को चुनौती व्यर्थ दी गई; क्योंकि वह बहुत पहले यह लिखने का साहस कर चुका था कि कविता राग नहीं, राग से बचाव है।'१ और, उपर्युक्त स्थापना की, जो हिन्दी में कम-से-कम बा० श्यामसुन्दर दासजी के समय से चली आ रही है, व्याख्या न होती, तो अच्छा था; क्योंकि वे एक-दूसरे को झुठला रही हैं। यदि 'शेष सृष्टि' में बुद्धि आती है, तो कविता को अधिकार होगा कि वह उससे रागात्मक सम्बन्ध रखे, और यदि 'शेष सृष्टि' का अर्थ बुद्धि को छोड़कर और सबकी सृष्टि है, तो सवाल होगा कि उस शेष के साथ सम्बन्ध कौन जोड़ता है, बची हुई तो केवल बुद्धि ही है? बुद्धि क्या, कविता तो प्रौपेगंडा को लेकर भी बनी रह सकती है और यदि प्रचार में कविता प्रायः मरी है, तो इसका कारण प्रचार नहीं, कुछ और रहा है; आखिर सूर और तुलसी में भक्तिवाद का प्रचार नहीं था क्या?

हम इस प्रसंग को छोड़ भी देते; पर ऊपर पूर्वग्रह की बात कर आये हैं। प्रत्येक युग में कविता की प्रवृत्ति कुछ काव्यात्मक भावों में, जिन्हें उस काल की परिस्थितियाँ जन्म देती हैं, थिर हो जाने की होती है। जब ये परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, उपर्युक्त प्रवृत्ति कवि को नये एवं अपने समय के ही

---

1. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion. (Selected Essays. पृष्ठ २१)

भाव-प्रवण, मेधावी प्राणों के लिए अधिक मूल्यवान भावतत्त्वों एवं साधनों के प्रयोग से रोकती है और इस प्रकार प्रवुद्ध समाज को कविता से वंचित करके संकट उपस्थित कर देती है। कविता की उपेक्षा का एक बड़ा कारण यही रहा है। यह पूर्वग्रह ही था, जिसके कारण बौद्धिक रुझान के बावजूद टेनिसन अपनी सफल कविताओं में उसे नहीं बरत सका।१ ब्राउनिंग में लौकिक मुहावरों का ऐसा चमत्कार था कि स्वयं पाउण्ड ने एक बार उसका अध्ययन करना चाहा; पर उसके पूर्वग्रहानुप्राणित सरल आवेगों में वयस्क मस्तिष्क के लिए कुछ उत्तेजना न होने के कारण उसे अंततः निराश होना पड़ा।

हिन्दी के पूर्वग्रह अपने रहे हैं और उसमें बुद्धि बनाम राग का सवाल बिल्कुल नया-नया उठा है, एक प्रकार से प्रयोगवाद के साथ ही। इसके दो कारण हैं; एक तो हिन्दी अपेक्षाकृत नई है और दूसरे संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य का उस पर ऐसा प्रभाव रहा है कि उसमें कविता कामिनी ही मानी जाती रही है। पश्चिम में इस विवाद का लम्बा सिलसिला रहा।२ काव्य से, अर्से तक, बुद्धि का बहिष्कार होता रहा। **Warton** ने **Donne** और **Swift** को प्रखरमति माना, पर असली कवि नहीं; क्योंकि उसकी मति में उदात्तता और करुणा काव्य की शिराएँ थीं। **Matthew Arnold** ने **Dryden** और **Pope** प्रभृति को कवि स्वीकार नहीं किया, यह कहकर किया कि उनकी कविता बुद्धि की भूमि में बनी थी, जब कि असली कविता आत्मा में बनती है। काव्य से बुद्धितत्त्व के निष्कासन और सरल आवेगों के आग्रह ने ऐसा जोर पकड़ा कि यह कहनेवाले लोग भी निकल आये कि कविता में बचपने की-सी सरलता होनी चाहिए। कवि का कर्म बच्चे की तरह सोचना और बच्चे की तरह समझना है। कवि का कर्त्तव्य हर युग में यही होना चाहिए कि वह जमाने के बौद्धिक बोझ और उसकी संश्लिष्ट भाषा से अपने को बचाये।३

---

1. F. R. Leavis (New Bearings In English Poetry).
२. देखिए, वही।
३ The poet must, I think 'be regarded as striving after

पर आज ऐसा कहना दुस्साहस है। आज अपने प्रति होनेवाली चतुर्दिक लापरवाही के बीच कविता मार्ग खोज रही है और यह अनुभव किया जा रहा है कि कविता का जन्म चाहे जादू से हुआ हो, चाहे वियोग से; पर आज न जादू है, न वियोग की महिमा ही। विज्ञान और मनोविज्ञान ने दोनों के रहस्य छीन लिए हैं। आज मनुष्य की वे सभी प्रवृत्तियाँ, आवेग और सम्बन्ध, जो अब तक रहस्यमय थे, अध्यापन-कक्षाओं में विश्लेषित होते हैं और कविता की परवाह यदि होती है, तो इसीलिए कि उसका विधाता अपने काल में अन्य की अपेक्षा अधिक जाग्रत होता है। वस्तुतः वह उस विन्दु पर होता है, जहाँ समय अपना मस्तिष्क खोलता है।२ जब कविता अपने समय की बौद्धिकता से सम्पर्क-विच्छेद कर लेती है, तब भावप्रवण, जाग्रतमति समाज की उसमें दिलचस्पी नहीं रह जाती है। यह अत्यन्त खेदजनक स्थिति है; क्योंकि यह समाज यद्यपि अल्पसंख्यकों का होता है, पर यही बड़े समाज और युग को गति देनेवाला सिद्ध होता है।

हिन्दी-कविता चाव से नहीं पढ़ी जाती और न उचित समादर पाती है। इसके कारणों पर हिन्दी के अभिभावकों को विचार करना चाहिए, आलोचकों को भी; क्योंकि हमारे आलोचक प्रायः कविता के आलोचक न होकर अपने भावों के आलोचक हो जाते हैं और कविता को प्रकट न करके स्वयं अपने को व्यक्त करने लगते हैं।

हिन्दी-कविता को अब इस उम्र में सयानी-सा अनुभव करना चाहिए। उसे अपने में वयस्क बुद्धि (**Adult intelligence**) लाना होगा और

---

the simplicity of a childish utterance. His goal is to think as a child, to understand as a child. He must deliver himself—and the poetic task is the same in every age—from the burden of the intellect of his day and the complexity of the forms of speech which it involves. J. M. Thorburn. (Art and the unconscious).

2. I.A. Richards (Principles of Literary Criticism) ' Commplex sensibility.

तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने छन्द-रोग से भी मुक्त होना है।

यह शुभ है कि प्रयोगवाद ने युग की मेधा को अनुरक्त किया है और बहुत-से सुशिक्षित, सुसंस्कृत, प्राणवान्, प्रबुद्ध लोग, जो अन्यथा हिन्दी-कविता की परवाह नहीं करते, इस ओर खिंच आये हैं। कुछ इसे जानने को उत्सुक हैं, कुछ जानकर योग दे रहे हैं। आज कविता बौद्धिकता से न भाग सकती है, न उसे भागना ही चाहिए। आज बौद्धिकता को स्वीकार करके उसे काव्यात्मक करना होगा। आज कोई यह कहकर बुद्धि को उपेक्षित नहीं कर सकता कि 'गायक हूँ कुछ गा लेता हूँ' अथवा 'We are the music-makers, And we are the dreamers of dream'.१

सहजपन महज एक धारणा है। कविता के प्रारूप पर प्रारूप तैयार होते हैं।

जटिल संवेदनाएँ और काव्य-भूमि

तीसरे अभियोग और चौथे सवाल में एक इल्जाम है और एक नसीहत। इल्जाम है कि 'उलझी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति से जाहिर है कि वह (प्रयोगवादी) अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भाव-भूमि पर पहुँचने में अक्षम है।२ नसीहत है कि 'अन्तर्चेतना अथवा उपचेतना की संवेदनाएँ प्रायः उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझी हुई संवेदनाओं को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। ...यही मौलिक कवि-कर्म है और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ।३

---

१. 'उलझी संवेदना' की जगह हम 'जटिल संवेदना' कहना चाहते हैं और मेरा मतलब **Complex sensibility** से है, जिसका अज्ञेयजी ने 'उलझी संवेदना' कहकर एक आपद्धर्मी और कमजोर अनुवाद किया है।

२. नन्ददुलारे वाजपेयी

३. डा० नगेन्द्र।

यहाँ फिर एक सिद्धान्त, अभ्यस्ति-वश गलत ढंग से कहा गया। कविता प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में उद्भूत हुई; किन्तु संवेदनाओं के व्यवस्थित रूप की अभिव्यक्ति के लिए नहीं, वरन् उसका जन्म संवेदनाओं के अऋजु, संपूर्ण, संक्षिप्तातिसंक्षिप्त और चरमकेन्द्रित प्रत्यक्षीकरण के अनिवार्य माध्यम के रूप में हुआ। यही कविता को अन्य साहित्यांगों से अलग करता है।

अभ्यस्ति यह है कि हमारे लिए यह निश्चित-सा हो गया है कि काव्य एक अलौकिक कवि-कर्म है, कवि स्वयंभू है और उसके लिए सृष्टि की उलझनें लीला-मात्र हैं। यह बेईमानी नहीं है; क्योंकि परम्परा काव्य की समझदारी को निश्चित करती है और हम ऐसे साहित्य के आदी रहे हैं, जिसमें फल-प्राप्ति निश्चित रूप से होती रही है तथा जिसमें उलझनों वा द्वंद्वों को अलौकिक घटनाओं, महच्चरित्रों इत्यादि से सुलझाया जाता रहा है। साधारणीकरण का यह माध्यम आज भी स्वीकृत होगा, इसमें सन्देह है। काव्य प्रतिभा और परिस्थिति के संयोग में रूप पाता है। हम क्यों भूलें कि हम आज उतने भाग्यवान् नहीं, जितने हमारे पूर्वज थे। तब अपेक्षाकृत एक छोटा समाज था। उसकी व्यवस्था थी। कल्पना के लिए महान् अवकाश था। परस्पर की संवेदना और सम्बन्धों के मूल्य निश्चित थे। तब जीवन इतना सरल था कि वे बड़ी काट से जीवन के मूल्य को एक मुहावरे में रख देते थे और उनकी सूक्तियाँ वर्षों तक चलती रहती थीं। आज भाषा में यदि उन मुहावरों का मान नहीं है, तो इसीलिए कि विज्ञान से परिवर्धित और मनोविज्ञान से संशोधित आज के जीवन का मानवीय सम्बन्धों और उपलब्धियों को उनमें नौ-छौ करके रख देना असंभव है।

हम गाँव की ओर चलने तथा जनभाषा आदि के नारे लगाते हैं; किन्तु इसके बावजूद गाँव खाली होते जा रहे हैं और शहरों की आबादी बढ़ती जा रही है। हमारी सम्पूर्ण संस्कृति नागरिक हो चली है। शहर का यही समाज साहित्य, राजनीति, वाणिज्य इत्यादि मनुष्य की सभी सामाजिक चेष्टाओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसी नागरिक सभ्यता के भीतर से आज के साहित्य को देखना होगा। शहर के इस समाज को चारों ओर से उत्तेजना और

जटिलता घेरे हुई हैं। यातायात के क्षिप्रगति वाहन, आकाशवाणी, सिनेमा, समाचार-पत्र इत्यादि ने इसके मानवीय सम्बन्धों का इतना व्यापक विस्तार कर दिया है कि आज एक आदमी का दूसरे आदमी से यथार्थ सम्पर्क रखना मनोवैज्ञानिक मानी में अत्यन्त कठिन हो गया है। प्रेषण के इन अत्यन्त सुलभ साधनों से व्यक्ति के अनुभव इतनी जल्दी से विस्तृत हो रहे हैं कि केन्द्र (आत्मा) और वृत्त (मनोवैज्ञानिक कल्पना) का सम्बन्ध ही टूट जाने के खतरे में आ गया है। काव्य प्रत्यक्ष निष्कर्ष है और उसका बड़ा काम मनुष्य की भावग्रहण-शक्ति का विकास होना है। लेकिन, जिस समाज के माध्यम से वह परम्परा की सिद्ध शक्ति लेता है, वह आज विशृंखलित और खंड-खंड है। उसके सम्बन्ध, अपरिमित रूप से विस्तृत होकर अनिश्चित हो गए हैं। कल्पना और मूल्य को इस विस्तृत क्षितिज पर टिकाव नहीं मिल रहा है। कवि के निष्कर्ष बराबर इस नई सभ्यता की उपलब्धियों और जटिलताओं से उलझते हैं और वह इन जटिलताओं के बीच काव्यात्मक निर्मिति के लिए एक केन्द्रीय शान्ति खोजता है—एक ऐसा बिंदु, जहाँ से वह फिर शुरू करे।१

ऐसी परिस्थिति में आप उससे व्यवस्थित वा सरल आवेगों की माँग नहीं कर सकते; क्योंकि तब उसका अर्थ जीवन से ही भागना होगा।

प्रेम, शृंगार, भक्ति, वीरता इत्यादि सनातन काव्य-विषय हैं; किन्तु ये तो पृष्ठभूमि भर हैं, ठीक वैसे ही जैसे चित्र में नदी, आसमान, पहाड़, उपवन इत्यादि। इनकी अग्रभूमि में तो दैनंदिन जीवन के उत्थान-पतन ही रहेंगे। आज इसका अर्थ घोर जटिलता है।

आज का कवि इन जटिलताओं से भाग नहीं रहा है; वरन् एक ऐसे केन्द्र की खोज में है, जहाँ से वह इनकी वैयक्तिक व्याख्या कर सके; क्योंकि यह वैयक्तिक व्याख्या ही काव्य के लिए एक ऐसा स्थल है, जहाँ वह काव्य बना रह सकता है।

विवादी वातावरण में व्यवस्थित संवेदना की माँग करना गुनाह है;

---

1. A hope for poetry (C. Day Lewis).

क्योंकि, काव्य प्रत्यक्ष निष्कर्ष है और इसलिए भी कि तब वर्गबद्धता का जहर भी अकारण ही उसे खा लेना पड़ेगा।

और, सरल संवेदना तो भाग्य की बात है और यह भाग्य विरल जनों को ही प्राप्त है। इसके दो सनातन अधिकारी हैं——बालक और गँवार। दो नए अधिकारी हैं——वह व्यापारी जो ताजमहल को देखकर सोचता है कि इसमें ठीकेदारों ने काफी मुनाफा किया होगा और हिन्दी का वह कवि, जो समझे जाने की आतुरता में बहुरंगी स्तरों की तमाम बारीकियों से पाठक को रखकर कहता है——"स्वाद वही खट्टा-मीठा है" और इस प्रकार उसके अभाव एवं अज्ञान को सहलाकर स्फटिक भाषावाला जनकवि समझा जाता है।

वैसे, वस्तुजन्यता से सरल आवेगों की प्रतिष्ठा काव्य में बनी रहेगी। "मैया मैं नहीं माखन खायो" अथवा "देखो लड़को, बन्दर आया, एक मदारी उसको लाया" जैसी पंक्तियाँ अपनी जगह पर होंगी; पर इसके साथ ही हम "प्रिय तुम मरो कि मैं दिखलाऊँ दुनिया को इक ताज़" अथवा "पास में खड़े टोल के टोल, अपाहिज अँध, माँगते ताम्र; बाँटते मुक्ति' जैसी पंक्तियों को भी काव्य की परिधि से जटिल संवेदनाओं के नाम पर बाहर नहीं कर सकते! क्योंकि वे जमीन से उद्भूत आवेगों और उनकी व्यंजना का स्थापत्य उपस्थित कर काव्य के सबसे महान् उत्तरदायित्व को पूरा करती हैं।

संक्षेप में, जटिल संवेदनाओं को लेकर भी कवि बना रह सकता है और आज इसी रूप में वह ज्यादा जी सकता है। खेद है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में सरल और व्यवस्थित आवेगों के अकारण आग्रह से खतरनाक भावात्मक वर्गबद्धता आ रही है और कविता के नाम पर चर्वितचर्वण (**Platitudes**) उपस्थित किये जा रहे हैं। जीवन के महत्त्वपूर्ण आवेगों से कतराने का यही परिणाम होता है। उलझन के सत्य को रखना एक बात है और सत्य को उलझाना बिल्कुल दूसरी।

दुरूहता और साधारणीकरण

यही जटिलता प्रयोगवादी कविता की दुरूहता का एक प्रधान कारण है, जिसे तरह देकर यह अभियोग लगाया जाता है कि प्रयोगवादी रचनाएँ दुरूह

हैं, अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धान्त-रूप से भी और इनके लेखक साधारणीकरण के सिद्धान्त को अपर्याप्त मानते हैं। वहाँ कहना सिर्फ यही है कि प्रयोगवादी रचनाएँ अनिवार्य रूप से ही दुरूह हैं, सिद्धान्त रूप से नहीं और हम साधारणीकरण के पुराने सिद्धान्त को उस रूप में अपर्याप्त मानते हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है और साथ ही नवीन सिद्धान्त को इस रूप में भी अपर्याप्त मानते हैं, कि जहाँ प्राचीनकाल में साधारणीकरण का अर्थ वह प्रक्रिया था, जिसमें सामाजिक रसोपलब्धि करते थे, वहाँ आज इसका अर्थ यह निश्चित माँग है कि कविता जन-साधारण तक पहुँचे ही, जैसे कभी पहुँची ही हो। इस प्रसंग में श्री शिवदानसिंह चौहान ने श्री जैनेन्द्रकुमार का एक पत्र प्रकाशित किया है,१ जिसमें जैनेन्द्रजी ने 'नदी के दीप' के सम्बन्ध में, 'याचना करते हुए लिखा था कि 'अपने को खाली हाथ पाता हूँ।..... पढ़ते समय वह दीख रहा है कि किताब का 'भुवन' बहुत ही खास है, 'रेखा' और 'गौरा' प्रियाएँ उसीकी हो सकती हैं। उनका प्रेम सबका नहीं है, सब जैसा नहीं है, साधारणतः (साधारणीकृत) होने के लिए नहीं है।' और, इस पत्र के आधार पर चौहानजी का निष्कर्ष हुआ कि 'जैनेन्द्रजी की याचना अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठकों की याचना है, जिनको छोड़कर प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है।'

जैनेंद्रजी 'साधारण पाठक नहीं हैं, हम मानते हैं और हम तो सोचते हैं कि उन्हें उन निन्यानवे प्रतिशत याचकों में भी नहीं होना चाहिये था, जिनमें चौहानजी ने उन्हें स्थान दिया है। 'वे स्वयं एक बड़े लेखक और उपन्यासकार हैं, इससे कौन इन्कार करता है और कुछ विज्ञजनों को निर्वसन सुनीता और उसके यौनोदार पति आम नहीं लगें, तब भी वे बने रहेंगे।

और, अगर एक प्रतिशत पाठक भी कविता की नवीन चेतना को ग्रहण कर लेता है, तो प्रसन्नता ही होनी चाहिये; क्योंकि लगभग समस्त आधुनिक

---

१. आलोचना, अंक २।

हिन्दी-साहित्य आज भी किशोरावस्था में ही पड़ा है और उसका एक वकील पाठक कुछ ही दिन पहले प्रेमचंद जैसे लोकप्रिय कथाकार की मृत्यु पर शोक मनानेवाले हिन्दी के एक सम्पादक से पूछ रहा था--अजी, प्रेमचंद कौन थे ? हिन्दी के कुछ यात्री-पाठक हैं 'माया' पढ़नेवाले, कुछ बुजुर्ग हैं 'कल्याण' पढ़नेवाले, कुछ कालेज के विद्यार्थी हैं सिनेमा-पत्रिका खरीदने और मूल से अधिक 'साहित्य संदेश' वाली आलोचना पढ़नेवाले। बाकी बच गये लेखक-पाठक। ऐसे ही लोगों से कविता का सम्बन्ध होना चाहिए। इनमें ज्यादा ऐसे हैं, जो अपनी ही चीजों में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं और चाहते हैं कि लोग उन्हीं को पढ़ें।१ कुछ ऐसे हैं, जिनकी अभ्यस्ति रूढ़िग्रस्त है, कुछ वर्गबद्ध हैं।

संक्षेप में, सवाल समस्त हिन्दी-जगत् का है। दुरूहता है तथा कवि और पाठक के बीच एक बड़ी खाई है। पर इसे पाटा कैसे जाय ? साधारण पाठकों को देखकर साहित्य बने, तो संकट आ जाय। उच्च संगीत के साधारणीकरण का अर्थ सिनेमा-गीत होगा। उच्च चित्र के साधारणीकरण का अर्थ फोटोग्राफी होगा। कविता के साधारणीकरण का परिणाम तब कुछ ऐसा ही होगा। प्रश्न है कि कविता के स्तर को बनाए रखकर उन्हें सुलभ कैसे किया जाय। यह कहना कम भ्रामक नहीं कि 'प्राचीन युगों के कलाकारों की रचनाएँ उनके नये प्रयोग सर्वसाधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे। उनके नये प्रयोगों या उनकी नई शैलियों का विरोध हुआ, तो केवल इस कारण कि वह कलाकार तात्कालिक रूढ़ियों और मान्यताओं से विच्छेद करके चले थे, न कि इसलिए कि उनकी बातें दुर्बोध थीं।२ पहली बात तो यही है कि कला या साहित्य कभी सर्वसाधारण की चीज रही है, इतिहास इसका साक्षी नहीं है। उच्च कला सदा ही अल्पसंख्यकों की वस्तु रही है। फिर अनेक कलाकार

---

१. देखिए, 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल')।

२. शिवदानसिंह चौहान

अपने समय में दुर्बोधता के कारण दंडित हुए हैं। छायावाद केवल इसलिए लांछित नहीं हुआ कि उसके आवेग तत्कालीन हिन्दी-समाज समझ नहीं पाता था; बल्कि उन आवेगों के साथ आनेवाली अनिवार्य भाषा-भंगिमा की अपरिचितता के कारण भी। वान गो अपने जीवन में केवल एक तस्वीर बेच सका था जब कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी तस्वीरों का मूल्य कूतना ही कठिन हो गया। आज निराला समादृत हैं; पर ऐसे कितने हैं, जो उनकी वाणी को ठीक-ठीक हृदयंगम कर पाते हैं? हाँ, प्राचीन काल में कला के पारखी और प्रश्रयदाता थे, गोकि थोड़े थे और यदि प्राचीन काल में कला को समझनेवाले थे, तो इसीलिए कि उन दिनों इनका सम्बन्ध ऐसे अभिजात वर्ग से था, जो कला की विधिवत् शिक्षा पाता था। उस वर्ग के लोग कला तक पहुँचते थे। उसे संरक्षण देते थे। कला का स्तर बना था। आज परिस्थिति उल्टी है। कला का सम्पर्क उस वर्ग से टूट चुका है। वह आज एक नये जनतन्त्रानुमोदित समाज में खड़ी है। लोग उसकी ओर नहीं आ रहे हैं और उसे ही लोगों के पास जाने को कहा जा रहा है।

इसी बिन्दु पर आज की दुरूहता का अध्ययन करना होगा और उसके कारणों एवं समस्याओं को खोजना होगा।

तो, दुरूहता के कई कारण हैं। हम लेविस की इस बात को मानते हैं कि कविता समझना उतना ही श्रमसाध्य है, जितना कविता लिखना। दोनों में केन्द्रीकरण की एक-सी अनिवार्यता है। इसके हेतु विज्ञ पाठक को भी दीक्षित (Tutored) होना पड़ता है। यह दीक्षा परम्परा से प्रायः मिलती है। इसलिए परम्परा के अभाव में कविता को समझना और अधिक कठिन हो जाता है। फिर आलोचक पाठकों को कविता पढ़ने का मार्ग न देकर साधारण की भी जटिल व्याख्या करके कविता और पाठक के बीच दीवार बन जाते हैं। और, हिन्दी में तो पद्मसिंह शर्मा से लेकर आज तक नई के प्रति कभी आस्था रही ही नहीं। तो खाई का एक कारण यह है, और पाठकों की बेबसी भी।

कवियों की बेबसी दूसरे प्रकार की है। हम ऊपर आज की नागरिक सभ्यता, उसके मानवीय संबंधों के विस्तार और अकिंचनता, उसकी असंगतियों, भागदौड़, कल्पना की पराङ्मुखता और चतुर्दिकी जटिलताओं की बात कर आए हैं और यह भी कि कवि उन जटिलताओं से जूझने के लिए एक ऐसी केन्द्रीय शान्ति की खोज में है, जहाँ से वह काव्य के लिए मार्ग निकाल सके। तब उसका दुरूह हो जाना स्वाभाविक है। वह अनुभव करता है कि विशाल के फैलाव में ईमानदारी से वह मानवीय सम्बन्धों की रक्षा नहीं कर सकता। वह अनुभव करता है कि अपने को दूर तक खींचकर वह जीवित नहीं रह सकता और इसके साथ ही वह अनुभव करता है कि इस नई परिस्थिति से जो आवेग उत्पन्न हुए हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, कविता के लिए इसे छोड़ देना स्वयं को बहिष्कृत कर लेना है। कविता की परवाह इन्हीं आवेगों के कारण आज होगी। इसलिए उसने एक ऐसे छोटे समाज को लिया है, जो उसके भीतर के पाठक का पर्याय है। आज कविता में यदि प्रेषण है, तो उसी अपने भीतर के पाठक के प्रति; क्योंकि बाहर वह कुछ नहीं पा रहे, जो उसे प्रेषण की प्रेरणा दे और उसका पाठक-समाज है, तो इसीलिए कि आदमी इकाई नहीं होता और इसलिए भी कि वह इस विबुध समाज की एक मानवीय आवश्यकता की पूर्त्ति कर रहा है, नवीन आवेगों की व्यक्तिगत व्याख्या के रूप में।

इन आवेगों के साथ टेकनीक की बात भी चली आती है। प्रयोगवादी कविता की टेकनिक भी परिस्थितिजन्य आवश्यकता के रूप में उद्भूत हुई है। आज साधारणीकरण नहीं, ज्ञान के हर क्षेत्र में विशिष्टीकरण हो रहा है। विविध को ग्रहण करने का अवकाश कमता जा रहा है। और, आज शायद कविता ही आदमी का वह साधन है, जिसकी व्यक्तिगत व्याख्या में उसके मन की मुक्ति साँस ले सकती है। कविता के सामने यह उत्तरदायित्व है। इसके लिए उसने संक्षेपशैली अपनाई है और इसीलिए प्रयोगवादी कविताओं में रागात्मक पौर्वापर्य (Emotional sequence) आया है। यह गणित के त्रैराशिक की वह शैली है, जिसमें मध्यम कड़ी नहीं लिखी जाती। लेविस

ने इसकी तुलना सिनेमा की भंगिमा-चित्रण शैली से की है, जिसे नया-नया सिनेमा देखनेवाला समझ नहीं पाता। यह भी दुरूहता का एक कारण है; मगर अनिवार्य कारण।

मुक्त आसंग

रागात्मक पौर्वापर्य की तरह मुक्त आसंग भी आज की प्रयोगप्रधान कविताओं की तत्क्षण दुरूहता का एक प्रबल कारण है और उसीकी तरह अनिवार्य भी; क्योंकि पहला भागती हुई निरवकाश सभ्यता की शिराओं को प्रभावित करने का और दूसरा उसकी निबिड़ता के, अपने को रक्षित रख, आधुनिक मनोविज्ञान-दीक्षित मानव-मन द्वारा, अवगाहन का आवश्यक साधन है। कवि का स्वभाव वस्तु-छवियों के भीतर देखना और प्रभावपूर्ण प्रकाशन करना है। इस लिहाज से मुक्त आसंग कविता की सनातन प्रक्रिया में ही समाहित है।२ कवि एक वस्तुस्थिति को देखता है। वह उसके मन में एक भावतरंग उत्पन्न करती है। उस भावतरंग के अनुशीलन में कवि के उपचेतन से तत्सम्बन्धी अनेक भावतरंगें३ आकर मन के प्रवाह को उद्वेलित करती और उसे जटिल बना देती हैं। उपचेतन की इस जटिलता से सभी युगों के कवि लड़ते रहे हैं। आज भी लड़ाई की बुनियाद नहीं बदली, हथियार जरूर बदल रहा है। पहले का कवि अपने व्यक्तित्व का आरोप कर तथा तर्कों से घेरकर उपचेतन की जटिलता पर विजय पाता था आज का नया कवि मुक्त आसंग के सहारे यानी उपचेतन की ही शक्ति से उसकी जटिलता को परास्त कर

---

१. Free association.

२. हमारा उद्देश्य कला की समस्त प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना नहीं है। वैसे, सिगरेट-धूम से उत्प्रेरित Wasteland जैसी कविता और सड़े पुआल की दुर्गन्ध से भागकर वायलिन पर अपने जीवन के एक अत्यन्त श्रेष्ठ गत उतारनेवाले कलाकार की परिस्थिति पर भी विचार किया जा सकता है।

३. जिनमें परम्परा और परिस्थिति दोनों का हाथ होता है।

मार्ग निकालना चाहता है और ऐसा वह अकारण नहीं बल्कि इसलिए करता है कि पहले की अपेक्षा आज अन्तर और वाह्य की जटिलता इतनी बड़ी है कि आज उससे मोर्चा लेने के लिए सीधे तरीकों का इस्तेमाल करना निरापद नहीं है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के कारण नया कवि बाध्यतः अचेतन और उससे प्रभावित कव्य-प्रक्रिया के प्रति आत्म-सजग होगा और उसमें औपचेतनिक व्यवधान की बेचैनी ज्यादा होगी। फिर आज विज्ञान के व्यापारों एवं राजनीति के प्रवचनों से उत्पन्न कोलाहल में जिसके सभी तर्क जैसे विवादी हो गए हों किसी तर्क को बल एवं आस्था से ग्रहण करना भी कठिन हो गया है; क्योंकि उसमें काव्य की अपेक्षित निस्संगता२ खो जाने का खतरा है जब कि काव्य की उपयोगिता एक ऐसी मानसिक स्थिति की सृष्टि में है जो आदमी की समझदारी बढ़ावे जिसमें पहुँचकर आदमी मुक्त वैयक्तिक अनुशीलन के अवकाश में ताजगी पाये तथा जिससे वह एक विकसित दृष्टि एवं शक्ति लेकर जीवन के प्रश्नों से उलझे और इस प्रकार जकथक की स्थिति से संस्कृति को आगे ले चले।

अतः नया कवि व्यक्तित्व के आरोप को वस्तु और काव्य, और इस प्रकार काव्य और पाठक के बीच का व्यवधान मानता है। वह अपने पाठक को बौद्धिक आघात नहीं ऐन्द्रिक आघात देना चाहता है। इसलिए अपने काव्य को वह अधिक-से-अधिक वस्तुनिष्ठ रखता है। तो इन्हीं कारणों से पुराने आयुधों को अपर्याप्त समझकर नये कवि ने उपचेतन की जटिलता को पराजित करने का नया मनोवैज्ञानिक उपचार ढूँढ़ लिया है मुक्त आसंग का। वह वस्तु से उत्पन्न भाव-चित्रों को, चिंतन-क्षण में उपचेतन से निकले तत्सम्बन्धी भाव-चित्रों से घुलने-मिलने देता है और इनके परस्पर घात-

---

१. प्राचीन कवियों के अहंभाव एवं गर्वोक्तियों और अपेक्षाकृत अर्वाचीन किन्तु परम्परागत काव्यधारा के राजनैतिक नारों की पृष्ठभूमि द्रष्टव्य है।

२. कवि का पूर्ण निस्संग हो जाना असम्भव है इसलिए काव्य में निस्संगता का अर्थ अपेक्षित निस्संगता ही होगा।

प्रतिघातों एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं के सहारे उस मूल-स्थल तक पहुँचना चाहता है, जहाँ से प्राप्त शक्ति के नये संश्लेष में वस्तु को फिर से देखा जाय। इस टेकनिक से अनभ्यस्त रहने और वस्तुसम्बन्धी निजी आसंग रखने के कारण साधारण पाठकों के लिए आज की कविता एक हद तक दुरूह होगी। उन्हें दीक्षित एवं अभ्यस्त करना होगा अगर कविता को बनाए रखना है।

भाषा का सवाल

भाषा का सवाल एक बड़ा सवाल है; क्योंकि वह कवि हो ही नहीं सकता, जिसमें भाषा की ममता न हो। सो यह सिद्धान्त-रूप में स्वीकार किया जायगा कि नई परिस्थितियों के साथ नये किस्म के आवेग ही नहीं आते, सोचने और कहने का ढंग भी बदल जाता है। आज भाषा सम्बन्धी प्रयोगों में रुझान रखनेवाला कवि अनुभव करता है कि काव्य की परंम्परागत भाषा में थकान आ गई है। बात यह है कि कल्पना शब्दों के अर्थों को प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, प्रस्तुत से अप्रस्तुत, स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ से भावना की ओर बढ़ाती चलती है। कालक्रम से कल्पना की इस दौड़ में पदार्थ और शब्दार्थ इतने दूर जा पड़ते हैं कि उनका सम्बन्ध ही ज्ञात नहीं होता और शब्दार्थ डाली से टूटे पत्ते की तरह विवर्ण होने लगते हैं। तब काव्य में विरोधाभासों एवं अतिशयोक्तियों का चमत्कार दिखानेवाला काल आता है। आज अनुभव किया जा रहा है कि काव्य के असंख्य शब्द महज अनिश्चित भावना-मात्र रह गये हैं और प्रस्तुत पदार्थ अर्थात् मूल से उनका बिलगाव हो गया है। वे केवल अलंकाररूप में शेष हैं और निश्चित चित्र देने में असमर्थ हैं।[1] शब्द आसंग से अर्थ-ग्रहण करते हैं। अतः आसंगों के बदल जाने पर या तो उनके अर्थ का आसंग-परिवर्त्तन तक विस्तार हो जाता है या वे स्वयं संकीर्ण होकर समग्र के बोध में निरर्थक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए मानव शब्द का अर्थ आज प्राणिविज्ञान है और आज इसका सर्वत्र पुराने आसंग की व्यापकता में प्रयोग करना सस्ती भावुकता के खतरे से खाली नहीं है। फिर शब्द अपने-आपमें प्रतीक भर ही होते हैं और अन्य शब्दों की

१. मधु-परिवार के शब्द द्रष्टव्य हैं।

संगति (Combination) में ही निश्चित अर्थ का बोध कराते हैं। किंतु संगति की चिर एकता भी उनके लिए पिञ्जर बन जाती है। कविता में तुकान्तता के आग्रह से आए हुए शब्द इसीलिए प्रायः निष्प्राण होते हैं[1] (चाँदनी के साथ जिसके प्रथम चरण का अन्त होता है उस कविता में बरबस आनेवाले भामिनी, रागिनी, यामिनी, कामिनी, इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं) आसंग और शब्द-संगति के लिहाज से 'ताम्रपत्र सुवर्ण के' में आप अनुभव करेंगे कि 'ताम्र-पत्र' शब्द बेजान-सा हो रहा है। थोड़ी दूर तक सामाजिक विनिमय में शब्द मुद्राओं की तरह हैं। घिसी मुद्राओं को फिर से ढालना पड़ता है और बदली स्थिति के साथ उन पर नये चेहरे भी लगाने पड़ते हैं। चूँकि आसंग (Association) संगति (Combination) स्वर-संस्थान इत्यादि के रूढ़िबद्ध प्रयोग में कविता के असंख्य शब्द, अलंकार, चित्र घिस-पिटकर पूरे वजन का अर्थ नहीं दे रहे हैं और उनमें निश्चयात्मकता (Accuracy) का अभाव हो गया है; इसलिए प्रयोगवादी कवि उनका संस्कार कर रहा है, कुछ नये गढ़ रहा है और इस प्रकार अपने शब्दों, अलंकारों और चित्रों को निश्चयात्मक रखने की कोशिश कर रहा है। भाषा की थकान को दूर करने के लिए उसमें नई ताजगी भरने के लिए तथा उसे नये आवेगों एवं आसंगों के उपयुक्त बनाने के लिए वह शब्दों की नई व्यवस्था स्वरविधान (Cadences) एवं नई शब्द-संगति का विधान कर रहा है; विशेषणों का स्थानान्तर तथा शब्दालोपी वाक्यविन्यास (Elliptic combination) प्रस्तुत कर रहा है। कवि चेष्टा करके भी सम्पूर्ण आवेग की अविकल अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, सम्पूर्ण तक जाने का संकेत और उसकी स्वर-झंकार भर दे पाता है। इसी मानी में कविता समझी जाने के पहले प्रेषित हो सकती है[2] और इसके लिए कवि को उपर्युक्त साधनों का

१. तुलना कीजिए—'नभ के स्नेह-स्रवण में' तथा 'नभ के रोमिल वक्षस्थल पर'।

२. Genuine poetry communicates before it is understood.

उपयोग करना पड़ता है और कभी-कभी नये शब्द गढ़ना पड़ता है।१ इतनी चेष्टाओं से युक्त नई कविता की भाषा पर परम्परागत काव्य-भाषा से तंद्रिल पाठक का चौंकना और खिन्न होना स्वाभाविक है और मर्मज्ञों का दायित्व है कि वे उन्हें एक गति दें। विवेचन किये विना इन प्रयोगों को अनर्गल कहकर टाल देना ईमानदारी नहीं है।

भाषा के वैयक्तिक प्रयोग की वात सही है। परम्परा की रूढ़ियों से मुक्त होने के अनुष्ठान में भाषा का यही रूप होगा। जब ऐसी प्रवृत्ति युग को सामान्य प्रवृत्ति वन जाती है तव क्लासिकल युग आरम्भ होता है; पर तव भी भाषा के वैयक्तिक स्वर से ही विशेष कवि पहचान जाता है। वस्तुतः कवि अपने शब्दों का नियामक होता है और शव्द उसके लिए वैसे ही होते हैं जैसे चित्रकार के लिए कागज और मूर्त्तिकार के लिए प्रस्तरखंड। फिर आज का युग नये अनुष्ठान का युग है, क्लासिकल नहीं। आज का कवि भाषा को निज़ी रखना चाहता है; क्योंकि वह पाठकों में अपने भावों की एक अभिलषित रीति से प्रतिक्रिया देखना चाहता है; वह पाठक को अपने काव्य द्वारा एक खास ढंग से प्रभावित करना चाहता है, न कि काव्य को ही उससे प्रभावित करके जकथक की स्थिति वनाए रखना।

कवि का उत्तरदायित्व

अभियोग है कि प्रयोगवादी कवि वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करते। वे त्रिशंकु हैं—यानी लोक-परलोक दोनों से गए हुए। परलोक की वात कहने का दावा हम नहीं कर सकते; पर महान् कवियों का लोक कभी वना हो,२ इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता। संस्कृत कवियों का यश गाते हम थकते नहीं; पर वे ही कवि ऐसे थे जो पान और आसन मिलने पर अपने को धन्य मानते थे और

---

१. देखिए चित्रेतना ज्योतिमिर इत्यादि।

२. अभी को छोड़कर, जब भाग्यवानों की पुस्तकें छप-कर बिकने लगी हैं और कुछ स्कूल-कालेजों में पढ़ाई जाने लगी हैं।

वच्चों को घर में छाँछ पिलाते थे। हाल-हाल तक यही हाल रहा है। एलियट के वारे में एजरा पाउण्ड के जो खत प्रकाशित हुए हैं, वे इस मानी में महत्त्वपूर्ण कागजात हैं। हिन्दी-कवियों की स्थिति तो प्रसिद्ध ही है। यह उत्तरदायित्व का जवाब नहीं है; मगर इससे मनुष्य के सामाजिक इतिहास में काव्य की स्थिति का पता चलता है—कि कविता या ललित कला सामाजिक जीवन के अन्य जरूरी अंगों की तरह कहाँ तक समादृत हुई। आज भी काव्यात्मक क्रांति से अधिक प्रभावित करनेवाली चीज मेहतरों की हड़ताल होगी। कविता आज भौतिक दौड़ में बिजली से होड़ नहीं ले सकती वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण के सामने उसकी कल्पनाएँ हतप्रभ-सी हो गई हैं। मगर इससे न उसका महत्त्व घटता है, न उत्तरदायित्व ही; क्योंकि अपनी स्थिति में वह मनुष्य का चरम उत्कर्ष है।

तो, कविता मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है और जैसा निवेदन किया गया है, कविता की उपयोगिता एक ऐसी मानसिक स्थिति की सृष्टि में है जो आदमी की समझदारी बढ़ावे जिसमें आदमी मुक्त वैयक्तिक अनुशीलन के अवकाश में ताजगी पाये तथा जिससे एक विकसित दृष्टि एवं शक्ति लेकर जीवन के प्रश्नों से उलझे और इस प्रकार जकथक की स्थिति से संस्कृति को आगे ले चले।

आज कवि की स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर उसे मार्क्सवादी बनने का हुक्म दिया जाता है और ऐसा न बननेवालों को बुर्जुआ, त्रिशंकु इत्यादि कह दिया जाता है; दूसरी ओर उससे चिरंतन काव्य की माँग की जाती है और आधुनिक संवेदनाओं के कारण उसे शुद्ध प्रचारक भी कह दिया जाता है।

मार्क्सवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद सभी कविता के भीतर उस सम्बन्ध में जो व्यावहारिक मस्तिष्क उनसे जोड़ता है, आ जायेंगे। कविता न तो इनके अपनाने से हो सकती है न इनसे भागने से। कविता का दायित्व मौलिक दृष्टिकोण के रसात्मक स्थलों की खोज अपने भाव तथा व्यंजना का स्थापत्य उतारना है। कोई भी वादी ऐसा करके कवि होगा और ऐसा न करने पर केवल वादी। इस प्रकार मनुष्य वैयक्तिक स्वातंत्र्य की रचनात्मक प्रतिभा

की रक्षा एवं वृद्धि करके कविता सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करती है। तब कवि की अनुभूति का छोर विकास की दृष्टि से अवश्य वैयक्तिक होगा; बल्कि जिसे अपना कुछ कहना नहीं है, उसे मुँह खोलना ही न चाहिए। हम व्यक्तित्व के आरोप का निषेध करते हैं और मानते हैं कि कवि को यथासाध्य वस्तु और पाठक के बीच में स्वयं न आकर काव्य की प्रक्रिया से वस्तु का ऐसा चित्रण करना चाहिए कि उससे उसका निष्कर्ष सहज-प्रत्यक्ष ढंग से निकले। दूसरों की पीड़ा की पूँजी पर कविता करना गद्दारी है। स्वयं अपनी पीड़ा के प्रति भी काव्य-सृष्टि करते समय कवि को अपेक्षित निस्संगता बरतनी होगी। काव्य के सत्य और साधारण ईमानदारी में दूर का रिश्ता होता है।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'सोशल रूट्स आफ द आर्ट्स' में प्रतिपादित विचारों का उल्लेख करते हुए टी. एस. एलियट, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड, जाँ पाल सार्त्र इत्यादि को ह्रास-कालीन पूँजीवाद की विश्रृंखलता, अराजकता और जन-विरोधी व्यक्तिनिष्ठा का प्रतिनिध कहा है और अज्ञेय आदि को त्रिशंकु। और 'सोशल रूट्स आफ द आर्ट्स' के लेखक ने इस किताब की भूमिका में स्वयं लिखा है कि 'यह ग्रंथ सौंदर्य-शास्त्रीय समस्याओं का कोई निश्चयात्मक अध्ययन नहीं है। अधिक-से-अधिक यह एक संकेत-भर है कि हमलोग कला और संस्कृति-सम्बन्धी नई परख की देहरी पर खड़े हैं और इसका श्रेय लाभप्रद मार्क्सवादी तरीके और दर्शन को है।"१ मार्क्सवादी तरीके का कैसा व्यवहार हो रहा है जग-जाहिर है। अभी हाल में Humanite नामक एक फ्रेंच दैनिक पत्र में पिकासो पर एक निबंध प्रकाशित हुआ है।

१. This volume is not a definitive study of aesthetic problem. At best this book signifies that we are on the threshold of a new understanding of art and culture, thanks to the fruitful Marxist method and philosophy,

—Lovis Harap (Social roots of the Arts)

इस निबन्ध में इस बात पर ख़ुशी जाहिर की गई है कि पिकासो कम्यूनिस्ट हो गया है। उसकी कम्यूनिस्ट उंगलियों से बने और एक कम्यूनिस्ट पत्र में प्रकाशित उसके एक रेखा-चित्र को जिसमें माँ अपने बच्चे की मुट्ठी कस रही है उसके पहले के तमाम चित्रों से यह कहकर श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है कि पहले के चित्रों में आवेग संलिष्ट थे, सामूहिक नहीं। कभी पंतजी कम्यूनिस्टों के प्रिय कवि थे। पर 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के प्रकाशन साथ ही वे अकवि हो गये और उनके ग्रंथों में बिड़ला और टाटा का सोना दिखाई पड़ने लगा! अगर काव्य और कला की परख की यही कसौटी रही तो परख हो चुकी।

तो, संक्षेप में प्रयोगवाद की यही स्थिति है। उसकी आवश्यकता और उपयोगिता पर स्वतंत्र रूप से लिखने की इस निबन्ध में अब विशेष जरूरत नहीं; क्योंकि विभिन्न परिच्छेदों में हम इस प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं।

सही है कि प्रयोगवाद के नाम पर बहुत सस्ती चीजें भी लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं तक में छपने लगी हैं। और ऐसी रचनाएँ भी आलोचकों के लिए प्रयोगवाद के विश्लेषण का आधार बन रही हैं। पर इसका उत्तरदायित्व किस पर है? हम 'नकेनवाद' के प्रसंग में 'प्रयोगदशसूत्री' पर विचार करने की आवश्यकता की बात कह आए हैं। पर चूँकि 'प्रयोगवाद' शब्द भी काफी फींच दिया गया है हम उसकी जगह 'प्रपद्यवाद' का प्रयोग करते हुए उस दशसूत्री को पुनः उद्धृत करना चाहते हैं। यहाँ मैं वैसी आलोचनाओं का उल्लेख अनावश्यक समझता हूँ, उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के नामवर सिंह जैसे लोग 'नकेनवाद' के सम्बन्ध में करते[१] पाए जा सकते हैं।

---

१. देखिए आल इन्डिया रेडियो इलाहाबाद से प्रसारित नामवर सिंह की आधुनिक कविता सम्बन्धी वार्त्ता जो 'प्रवाह' में प्रकाशित हुई है।

प्रपद्य-दशसूत्री

प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप

१. प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।

२. प्रपद्यवाद सर्वतंत्र स्वतन्त्र है उसके लिए शास्त्र या दल निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।

३. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्त्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।

४. प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।

५. प्रपद्यवाद को मुक्त-काव्य नहीं, स्वच्छंद काव्य की स्थिति अभीष्ट है। १

६. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्य। २

७. प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है। ३

८. प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं। ४

९. प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का स्वयं निर्माता है।

१०. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है।

हस्ताक्षरित

नकेन

(नलिन विलोचन शर्मा

केसरीकुमार नरेश)

फक्किका

१. Vers libre: Vers libere : भाष्य के लिए देखिए 'दृष्टिकोण' मासिक के प्रथम अंक का प्रथम निबन्ध।

२. तुलना कीजिए--चरित्रशील और चरित्रवाद, प्रगतिशील और प्रगतिवाद के साथ।

३. Verbi-Voco-visual method

४. जैसे चित्रकार वर्ण-योजना का मूर्त्तिकार प्रस्तर-खंड का।

विशेष:--अब 'नकेन' नाम से उपर्युक्त कवियों का काव्यसंग्रह भी प्रकाशित हो गया है।)

हिन्दी-गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आज से ६०० वर्ष पूर्व गद्य नाम की कोई चीज हमारे यहाँ नहीं थी। भारतेंदु-युग के पहले का सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य पद्यमय है; फिर भी भक्ति-काल में ब्रजभाषा-गद्य का रूप पद्यमय टीकाओं और भक्त-कवियों, आचार्यों की वार्त्ताओं में उपलब्ध है। इससे प्राचीन गद्य का रूप हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबंद्ध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रंथों में भी मिला है जिनका निर्माण-काल संवत् १४०७ के आसपास है। इसके साथ-साथ राजस्थानी पद्य परम्परा है, जिसका सूत्रपात बारहवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। इस तरह ब्रजभाषा राजस्थानी और खड़ीबोली गद्य की हमें तीन स्फुट परम्पराएँ मिलती हैं।

ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीनतम रूप हमें गोरखनाथ-कृत ग्रंथ में मिलता है। इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्ण-भक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। उपर्युक्त ग्रंथों की भाषा अव्यवस्थित है। भाषा का थोड़ा-बहुत चलता हुआ रूप हमें 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' में मिलता है। इसमें वैष्णव-भक्तों और आचार्य की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी हैं। पीछे चलकर ब्रजभाषा गद्य में अरबी-फारसी के भी शब्द मिलते हैं।

राजस्थानी गद्य में दानपत्रों, पट्टों, परवानों, जैन-ग्रंथों तथा भिन्न-भिन्न विषय संबंधी ग्रंथों की रचना हुई। प्रारंभिक गद्य पर संस्कृत की समासयुक्त शैली और अपभ्रंश का प्रभाव है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का भी पीछे चलकर कुछ प्रभाव पड़ा। 'राजस्थानी गद्य-ग्रंथों की तिथियाँ भ्रामक हैं। केवल फतहराय वैरागी कृत 'पंचाख्यान' (१८४७) की रचना-तिथि ठीक मालूम होती है।

खड़ी बोली गद्य भी काफी प्राचीन नहीं है। गद्य तथा इसका रूप साहित्य में बिखरा मिलता है।

खड़ी बोली वस्तुतः दिल्ली और मेरठ के आसपास की बोलचार की भाषा के रूप में प्रचलित थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही

व्रजभाषा के साथ-साथ खालिस खड़ी वोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनायी थीं।

जब मुगल-साम्राज्य का पतन हो गया तो दिल्ली के वाशिन्दे दूसरे-दूसरे शहरों में आकर बसने लगे। उन्हीं के साथ खड़ी वोली का भी प्रचार बढ़ने लगा। धीरे-धीरे समस्त उत्तर भारत के वाजारों में इसने व्यावहारिक भाषा का रूप धारण कर लिया। इसके पहले भी भोज से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश-काव्यों की जो परम्परा चलती रही उसके भीतर खड़ी वोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है—

'भल्ला हुआ जु मारिया वहिनि! महारा कंतु।'

इसके अतिरिक्त संत-कवियों की जनभाषा में भी खड़ी वोली का रूप मिलता है—

कवीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर

अकबर के समय में गंगकवि ने 'चंद छंद वरनन की महिमा" नामक एक गद्य-पुस्तक खड़ी वोली में लिखी थी।

इस तरह वहुत दिनों से खड़ी वोली का जो रूप दृष्टिगोचर हो रहा था, साहित्य में नियमित रूप से उसकी प्रतिष्ठा अंग्रेजों के आने पर हुई। शासन की सुव्यवस्था के लिये अंग्रेजों को यहाँ की भाषा से अवगत होना आवश्यक था। इसलिए गिलक्राइस्ट साहव ने हिन्दी-गद्य की पुस्तकें तैयार करने का भार लल्लूलाल और सदल मिश्र को सौंपा। दो और महानुभाव स्वतंत्र रूप से गद्य-साहित्य की रचना कर रहे थे जिनके नाम हैं—मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशाअल्ला खाँ। ये आचार्य चतुष्टय संवत् १८६० के आसपास हुए। इन चारों आचार्यों के गद्य का रूप एक समान नहीं है। किसी की भाषा संस्कृत-मिश्रित पण्डिताऊ है तो किसी में उर्दूपन है। मुंशी सदासुखलाल ने अपनी पुस्तक 'सुखसागर' में शुद्ध तत्सम संस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया है। इंशा-कृत 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा चटकीली मुहावरेदार और चलती है। लल्लूलाल ने जान गिलक्राइस्ट के आदेश से खड़ी वोली में 'प्रेमसागर' लिखा जिससे अरवी-फारसी के चलते हुए शब्दों को भी जबर्दस्ती

निकालने का प्रयास किया गया है। लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषा के रूपों की भरमार है। सदल मिश्र ने अपनी पुस्तक 'नासिकेतोपाख्यान' में यथाशक्ति खड़ी बोली में व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयास किया। इसके पश्चात् ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म-ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में कराया जिससे हिन्दी-गद्य के विकास में कुछ सहायता मिली। इसी समय अंग्रेजी और बंगला के अखबारों को निकलते देखकर पण्डित जुगलकिशोर ने जो कानपुर के रहनेवाले थे संवत् १८८३ में 'उदंतमार्तण्ड' नाम का एक संवादपत्र निकाला जिसे हिन्दी का पहला समाचार-पत्र समझना चाहिए।

धीरे-धीरे हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर और व्यवस्थित होने लगा। पर अभी तक स्कूलों और कचहरियों में उर्दू-भाषा का ही बोलबाला था, हिन्दी में न तो किताबें छपतीं थीं और न इस्तहार। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने साहित्यिक संघ में आकर हिन्दी का पक्ष लिया। वे स्कूलों के इन्सपेक्टर थे; अतः उनके प्रयास से पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाने लगीं। राजासाहब ने स्वयं पुस्तकें लिखीं और दूसरों को भी प्रोत्साहित किया। पर राजासाहब की हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता के साथ प्रयोग किया गया है जो आज के हिन्दी-प्रेमियों की आँखों में खटकता है। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि राजासाहब ने देवनागरी लिपि का प्रचार उस समय किया था, जब लोग पद्य तक उर्दू लिपि में ही लिखते थे।

हिन्दी-गद्य को अरबी-फ़ारसी के भार से मुक्त करने का श्रेय राजा लक्ष्मण सिंह को है। उन्होंने विशुद्ध हिन्दी-भाषा का समर्थन किया और अपने विचार का बड़ी कट्टरता के साथ पालन किया। संवत् १९१८ में 'प्रजाहितैषी' नाम का पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी में किया, जिनमें अरबी और फारसी के शब्दों का भरसक प्रयोग नहीं किया गया है। यद्यपि हिन्दी-गद्य के विकास में राजा साहब का यह प्रयत्न स्तुत्य है, फिर भी उर्दू के चलते हुए शब्दों के निकल जाने से भाषा की स्वाभाविकता जाती रही।

अब तक सभी आचार्य हिन्दी-गद्य के साथ प्रयोग कर रहे थे, किसी नें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक भाषा का विकास नहीं किया था। मुंशी सदासुख की भाषा में पंडिताऊपन था तो लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषापन। इंशाअल्ला खाँ की भाषा में उर्दूपन था तो सदल मिश्र में पूरबीपन। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की भाषा में अरबी-फारसी की भरमार थी तो लक्ष्मण सिंह में संस्कृत की। ऐसी संकटापन्न स्थिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने गद्य की भाषा को सुधार करके उसे बहुत ही चलता स्वस्थ और परिमार्जित रूप दिया। भारतेन्दु की भाषा साहित्यिक होते हुए भी जनता के लिए बोधगम्य थी।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर साहित्यिक रचना होने लगी। भारतेन्दु के प्रभाव और प्रोत्साहन से लेखकों का एक समुदाय तैयार हो गया, जिन्होंने अपनी-अपनी व्यक्तिगत बोली के द्वारा गद्य-साहित्य का श्रृंगार किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र की भाषाशैली हास्य-विनोद से पूर्ण और चपल होती है। ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रकृति के कारण चौधरी बदरीनारायण की बोली से मिलती-जुलती है; पर उसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता नहीं पायी जाती है।

भारतेन्दु-युग की भाषा में एक दोष था। भारतेन्दुजी और उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह नहीं जमी थी। भाषा की सफाई और शुद्धता के प्रवर्त्तक के रूप में द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने व्याकरण के सारे दोषों का परिष्कार करके हिन्दी-भाषा को दोषमुक्त कर दिया जिस पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल श्यामसुन्दर दास आदि साहित्य महारथियों ने गद्य-साहित्य की विशाल इमारत खड़ी की। अगर प्रारम्भ में द्विवेदीजी व्याकरण की भूलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करते तो नींव कच्ची रहने के कारण भाषा-शैली परिपक्व नहीं हो पाती।

आधुनिक हिन्दी-गद्य-शैली दिन-प्रतिदिन शुक्ल पक्ष की चाँदनी की भाँति निखरती जाती है। उसमें इन्द्रधनुषी वैविध्य है। हिन्दी का गद्य-साहित्य आज विश्व में सम्माननीय स्थान प्राप्त कर सकता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, महादेवी'

जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के गद्य हिन्दी की प्रगति के द्योतक हैं।

हिन्दी के प्रबंध-काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य)

प्रबंध-काव्य साहित्य का शृंगार है, साहित्य के अन्य अंग इसकी महानता और विशालता की समता नहीं कर सकते। यद्यपि आधुनिक युग की कृत्रिमता बौद्धिकता और चारित्रिक हीनता के वातावरण में इसका विकास कुंठित-सा हो गया है; फिर भी इसकी महत्ता अक्षुण्ण है, आधुनिक युग के कुछ उत्कृष्ट महाकाव्य इसके प्रमाण हैं।

प्रबंध-काव्य के दो भेद हैं—(१) महाकाव्य (२) खण्ड-काव्य। महाकाव्य का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होता है। उसमें विराट् मानव-जीवन का चित्रण होता है। खण्ड-काव्य में किसी एक ही घटना को मुख्यता दी जाती है।

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इसके रचयिता हैं पृथ्वीराज के सखा और दरबारी कवि चन्दवरदाई। यद्यपि इसकी प्रामाणिकता सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है; फिर भी अब तक हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का सेहरा इसीके सिर पर है। इसमें पृथ्वीराज चौहान की कीर्त्तिगाथा का वर्णन किया गया है।

जहाँ तक प्राकृतिक दृश्यों आदि से महाकाव्य के विषयों का सम्बन्ध है तथा भावों की उदात्तता और रसपरिपाक का प्रश्न है, 'रासो' महाकाव्य के लक्षणों की पूर्त्ति करता है। इसका कथानक उतना सम्बद्ध नहीं है, जैसा चाहिए था। किन्तु सभी घटनाएँ पृथ्वीराज के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। इसमें यद्यपि प्रतिद्वंद्विता का वर्णन है तथापि हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष व्यापक रूप से वर्त्तमान है। वीर और शृंगार इसके प्रधान रस हैं, जिनका परिपाक अच्छी तरह हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय महाकाव्य का श्रेय मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' को है। शुक्लजी के अनुसार 'यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबंध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी पद्धति पर

है, पर शृंगार वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय परम्परा के अनुसार ही हैं।"

पद्मावत के कथानक में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। इसका पूर्वार्द्ध काल्पनिक है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। इसके नायक चित्तौरगढ़ के राजा रत्नसेन हैं। मुसलमान कवि होते हुए भी जायसी ने रत्नसेन और नागमती की कथा का निर्वाह बड़ी सफलता से किया है जिसमें हिन्दूत्व की रीति-नीति और मर्यादा का पालन अच्छी तरह किया गया है। पद्मावत में प्रेम के दोनों स्वरूप का चित्रण हुआ है। रत्नसेन और नागमती का जो ऐतिहासिक पात्र हैं प्रेम सांसारिक है जिसमें पार्थिव संयोग और वियोग के दर्शन होते हैं; पर रत्नसेन और पद्मावती का प्रेम अपार्थिव और अलौकिक भी है जिसमें कवि ने सूफीमत को आरोपित किया है। पद्मावती के प्रेम में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है।

महाकाव्य का प्रधान रस शृंगार है। संयोग और वियोग दोनों पक्षों का बड़ा विशद वर्णन हुआ है। नागमती के विरह में वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप परिलक्षित होता है। पद्मावती का रूप-वर्णन पाठकों को सौंदर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। निस्सन्देह प्रेमगाथा की परम्परा में 'पद्मावत' सबसे सरस और प्रौढ़ है।

इसके पश्चात् महाकवि तुलसीदास का 'रामचरित मानस' आता है जो अपनी पूर्णता और उत्कर्ष में अमर और अम्लान है जिसकी समता विश्व का एक ही महाकाव्य कर सकता है और वह है वाल्मीकि रामायण।

"रचना-कौशल, प्रबन्ध पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें 'रामचरितमानस' में मिलता है।" महाकाव्य के विभिन्न अवयव---कथानक, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, वस्तु-व्यापार-वर्णन, तत्त्व-व्यंजना और इतिवृत्त इस तरह संतुलित हैं कि कला की प्रतिभा की सराहना करनी पड़ती है। तुलसीदास ने महाकाव्य के अन्तर्गत मर्मस्पर्शी स्थलों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। राम-वन-गमन, भरत की आत्म-ग्लानि आदि कुछ ऐसे स्थल हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने प्रत्येक मानव-स्थिति में

अपने को डालकर उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। मानव-प्रकृति के इतने अधिक रूप हिन्दी के किसी भी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं हैं। किसी में वीररस मिलता है तो किसी में शृंगार रस। कहीं करुण रस का परिपाक हुआ है, तो कहीं वीभत्स रस का। पर 'रामचरितमानस' में नवो रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। मानस में विराट् भारतीय जीवन का प्रत्येक पहलू दृष्टिगोचर होता है। यही नहीं 'रामचरितमानस' भारतीय संस्कृति का उत्कृष्टतम प्रतीक है। तुलसी ने भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को पूर्ण रूप से आत्मसात करके मानस में मूर्त्तिमान कर दिया है।

मानस की एक और बहुत बड़ी विशेषता है—राम और भरत सदृश अमर और महान् चरित्रों की सृष्टि। "अनन्त शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता राम का प्रधान लक्षण है और भ्रातृत्व के चरम विकास भरत सिर्फ लोकदृष्टि में पवित्र न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए।" राम ने उन्हें धैर्य के साक्षात् स्वरूप कहा—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी।

केशव ने दो प्रबंध-काव्य लिखे—एक 'वीरसिंह देव चरित' और दूसरा 'रामचन्द्रिका'। पहले में वीरसिंह देव का चरित बहुत कम है—दान, लोभ आदि के संवाद भरे पड़े हैं। अतः वह काव्य कहा ही नहीं जा सकता। 'रामचन्द्रिका' केशव की अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक है। पर यह महाकाव्य की दृष्टि से उतना सफल नहीं है, जितना अलंकार की दृष्टि से। केशव रीति-कालीन आचार्य थे। इसीलिए आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति उनमें अधिक थी। तुलसी की तरह उनकी दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी।

'रामचन्द्रिका' में केशव को सबसे अधिक सफलता मिली है संवादों में जिनमें परशुराम और रावण-अंगद-संवाद अत्यन्त प्रभावपूर्ण और सफल हैं। महाकवि हरिऔध का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—छन्द और भाव का अभिनव प्रयोग। परम्परागत कृष्ण के अलौकिक और शृंगारिक रूप को इन्होंने लौकिक और लोक-सेवक के रूप में परिवर्त्तित कर दिया है। साथ ही पहली बार हरिऔध ने संस्कृत

के वर्णवृत्त के सहारे अतुकान्त छन्द का प्रयोग किया है। भावपक्ष की दृष्टि से जहाँ वे एक हद तक सफल हुए हैं, भाषा की दृष्टि से उनका प्रयोग नितान्त असफल रहा है।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने नौ-दस छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं जिनके नाम हैं—रंग में भंग जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, यशोधरा, भारत आदि। अन्तिम दो का साहित्यिक महत्त्व विशेष है। इन दोनों काव्यों में गुप्तजी ने काव्य की उपेक्षिता को चित्रित कर उन्हें साहित्य में विशेष स्थान दिया है। कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरणा पाकर गुप्तजी ने उर्मिला और यशोधरा को प्रबन्ध-काव्य की नायिका के रूप में सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है। 'साकेत' में हम उर्मिला के त्याग, उसकी तपस्या और वेदना से पूर्ण परिचित हो जाते हैं। नवम सर्ग तो पूर्ण रूप से उर्मिला के आँसुओं से सिंचित है। इसी तरह यशोधरा की कर्त्तव्य-भावना उसके त्याग और उसकी दृढ़ता के आगे गौतम का चरित्र मंद पड़ जाता है। निःसन्देह गुप्तजी को अपने उद्देश्य में सफलता मिली है।

'साकेत' महाकाव्य है 'यशोधरा' खण्ड-काव्य। प्रबन्ध-काव्य के नियमों का गुप्तजी ने बड़ी कट्टरता के साथ पालन किया है।

यहाँ पं० रामनरेश त्रिपाठी के तीन खंड-काव्य उल्लेखनीय हैं। 'पथिक' पर गाँधीवाद का प्रभाव है। शेष दोनों काव्य भी देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। शुक्लजी ने स्वच्छंद धारा के अन्तर्गत इनका उल्लेख किया है।

प्रसादजी की 'कामायनी' आधुनिक युग के हिन्दी के महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी कथा वैदिक साहित्य से ली गयी है। मनु मन्वंतर के प्रवर्त्तक के रूप में चित्रित किये गये हैं और कामायनी प्रथम नारी के रूप में। इस महा-काव्य में श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता के विकास का रूपक बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के संघर्ष में हम मानवता का चिरंतन संघर्ष और उसके समाधान में मानवता का समाधान पाते हैं। अन्तिम सर्ग में उन्होंने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है।

'कामायनी' के रूप में प्रसाद की नारी-सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। वह विराट और कोमल की मिलित मुस्कान है जिसमें हमें दर्शन और सौंदर्य का सरल समन्वय मिलता है।

टेकनीक की दृष्टि से 'कामायनी' एक मौलिक महाकाव्य है। उन्होंने इसमें रूढ़ि के पालन की आवश्यकता नहीं महसूस की है। छंदों में भी उन्होंने अपनी कर्तृत्व शक्ति का परिचय दिया है।

सियारामशरण गुप्त ने भी दो प्रवंध-काव्य की रचना की हैं—'मौर्य-विजय' और 'उन्मुक्त'। 'उन्मुक्त' में रूपक के सहारे विश्वव्यापी महायुद्ध की नृशंसता का वर्णन किया गया है। पं० बलदेव मिश्र का 'साकेत सन्त' नामक महाकाव्य उल्लेखनीय है, जिसके चरित्रनायक भरत हैं।

अति आधुनिक युग के तीन महाकाव्य उल्लेखनीय हैं—ठाकुर गुरुभक्त सिंह-रचित 'नूरजहाँ', मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त्त' और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। नूरजहाँ एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें नूरजहाँ और सलीम के अंतर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण हुआ है। वियोगीजी ने पृथ्वीराज और गोरी के युद्ध को एक नये दृष्टिकोण से देखा है तथा छंदों का नया प्रयोग किया है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक सशक्त रचना है। महाभारत की पृष्ठभूमि में कवि ने आधुनिक युद्ध की समस्या पर विचार किया है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रवंध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है। वस्तुतः कवि सम्पूर्ण काव्य में सोचते ही रहे हैं, दूसरी ओर उनका ध्यान नहीं गया है।

अस्तु, हिन्दी में प्रवंध-काव्य पर्याप्त हैं और उनका साहित्यिक महत्त्व भी यथेष्ट है।

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य बड़े वेग से विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। किन्तु अभी तक जितनी गहराई की उसमें अपेक्षा थी, उतनी नहीं आ पाई है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'चन्द्रकान्ता संतति' और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों का भी महत्त्व है; किन्तु जीवन की सच्ची अनुभूति का उनमें अभाव है। नाना प्रकार की असम्भावित सर्वथा अस्वाभाविक कल्पनाओं की आधारशिला पर निर्मित उपन्यासों का युग बिना किसी आन्दोलन के यों ही स्वतः बीत गया। किसी वस्तु या साहित्य के अस्तित्व के तुरत मिट जाने का मुख्य कारण उसकी अस्वाभावित एवं असत्यता है। काव्य-साहित्य के लिए संभव है ये कारण लागू न हों; परन्तु गद्य-साहित्य विशेषतः उपन्यास-कहानी में तो तब तक स्थायित्व नहीं आ सकेगा तब तक उसके अस्तित्व की रक्षा नहीं हो सकेगी, जब तक जीवन के कटु सत्य की स्वाभाविकता न रहेगी। तिलस्मी जासूसी उपन्यासों की उत्तेजक क्षणिक काल्पनिक प्रवृत्तियों से वे ही पाठक प्रभावित होंगे, जो अबौद्धिक, कम अनुभूतिशील तथा उद्देश्यरहित जीवन-यापन करनेवाले होते हैं, जिनकी बौद्धिक आँखें अपने आसपस के ही दृश्य देखने की अभ्यस्त होंगी। औपन्यासिक तत्त्वों में आदमी की जीवन शक्तियाँ विद्यमान रहनी चाहिये, जो उन उपन्यासों में नहीं हैं। युग की परिस्थितियों का इसमें दोष हो सकता है लेखक का नहीं। यह भी असत्य नहीं है कि लेखकों का इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं था। हिन्दी-गद्य की पुष्टि का प्रयत्न ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

सहसा उन उपन्यासों की दिशा वहाँ से बदलती है, जहाँ से प्रेमचन्द का युग प्रारम्भ होता है। कल्पना के आधार से पृथक् सर्वथा उपेक्षित वर्ग के मानव-जीवन को उन्होंने अपने उपन्यासों में सापेक्ष बनाया। दूसरी ओर गाँधीवाद की राजनीतिक भावनाओं का समावेश उपन्यासों के प्लाट के लिए नई बात थी। ग्रामीण वातावरण की सजीवता उनके उपन्यास की मुख्य विशेषता समझी गयी। पूँजीवाद के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की। पीड़ित, शोषित मानवों के ह्रास का अच्छा दिग्दर्शन कराया; किन्तु धरती के ठोस बाशिन्दे की पूर्णता पर उनका विशेष ध्यान नहीं गया। यदि ऐसा हुआ तो निश्चय ही उनके उपन्यासों के अध्ययन से पाठक तत्कालीन युगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता। किन्तु शायद उन्हें औपन्यासिक तत्वों को

संभालने का इतना अधिक ध्यान रहा कि सर्वत्र अपने आदर्शों में ही उलझे रह गए। निम्न वर्ग की सम्पूर्ण परिस्थितियों का खाका नहीं खींच सके। समस्त मानव-जाति की सत्ता सिद्ध की गई होती, सिर्फ एक वर्ग में विभक्त मानव की ही संस्थितियाँ न विराजमान रहतीं, तो निश्चय ही प्रेमचन्द के उपन्यास हिन्दी-साहित्य में अपनी चिरस्थायी विशिष्टता सिद्ध करते। दूसरी बात उनमें आदर्शों के प्रदर्शन की इतनी अधिक भावना थी कि सब पर उनका समान रूप से स्थायी प्रभाव पड़ना मुश्किल था। राजनीतिक भावनाओं में कभी यह आवश्यक नहीं कि उनमें सत्य की ही सबलता सिद्ध की जाय। और, प्रेमचन्दजी अपने युग की ऐसी ही राजनीतियों, आन्दोलनों से प्रभावित थे। उन्होंने उसी समाज को अपना आधार चुना, जिसके पीछे राजनीतिक क्रियायें काम कर रही थीं। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', की दिशाएँ राजनीति की रूढ़ियों की ओर गईं। 'सेवासदन' भारतीय मध्यकालीन समाज के वैसे अंग का स्पर्श करता है जिसके वैधानिक नियम सर्वथा घृणित अतः त्याज्य थे और भारत के मुख्य पतन के असाधारण कारण कहे जा सकते हैं।

'गबन' और 'गोदान' ये दो उपन्यास प्रेमचन्द के प्रौढ़ विचारों, गहन भावों के द्योतक हैं। पहले में पुरुष-नारी विशेषतः पति-पत्नी की उन कमजोर प्रवृत्तियों की व्याख्या है जो मानसिक ह्रास, नैतिक पतन का केन्द्र समझी जाती हैं। भारतीय आगत संस्कार से प्रभावित एक वैसी पत्नी का चित्रण है जो नित्य नए आभूषणों के प्रलोभनों में न केवल अपना असाधारण अस्तित्व ही नष्ट करती है, बल्कि अपना सर्वनाश तक कर देने में भी संकोच का अनुभव नहीं करती अथवा प्रलोभन में इतनी अन्धी बन जाती है, बौद्धिक संज्ञा से इतनी शून्य हो जाती है कि अपने सर्वनाश का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। मध्यम श्रेणी विशेषतः क्लर्क वर्ग के एक ऐसे युवक का चित्रण है, जिसका अभाव ही घर है; परन्तु जीवन की ऐसी बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षाओं में वह उलझ पड़ता है, जो उसकी सीमा का ज्ञान नहीं कराती। उसकी कमजोर प्रवृत्तियाँ किस हद तक उसके पतन में सहायक होती हैं, इसका बड़ा

सुन्दर प्रभावपूर्ण रोचक ढंग से निरूपण हुआ है। पाठक उसकी स्वाभाविकता की ओर से विमुख नहीं हो सकता।

मनुष्य की सामयिक परिस्थितियाँ एवं अवस्था के अनुकूल उसकी प्रवृत्तियाँ उसकी जीवन-दिशा का निर्देशन करती हैं; किन्तु अपनेपन का यदि उसे ज्ञान न रहा, तो निश्चय है, जीवन-दशा के स्वाभाविक, उचित तथा आवश्यक निर्देशों से वह लाभ नहीं उठा सकता। इस उपन्यास में एक जोहरा नाम की वेश्या है; परन्तु उसमें पत्नी-प्रेम की प्रौढ़ता है। 'गबन' की यह एक शक्तिशालिनी पात्री है।

'गबन' के बाद 'गोदान' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति कही गई है। प्लौट, टेकनीक, कलात्मकता, किसी भी दृष्टि से वह एक उत्कृष्ट उपन्यास उतरा है। ग्रामीण मनोभाव का ऐसा सुन्दर चित्र देना सबके लिए कुछ कठिन है। 'गो-दान' का मुख्य पात्र 'होरी' अपनी विवश स्थितियों से हैरान है; किन्तु सहिष्णु, दृढ़ इतना कि किसी के प्रति उसकी कोई शिकायत नहीं। न हर्ष, न विषाद, तोष-असंतोष का कभी उसके साथ प्रश्न न उठा। मानवीय विशिष्ट गुणों से विभूषित होरी अपने ही जीवन का एक अच्छा व्यंग्य, किन्तु सबल आदर्श भी है, किसानों का बिल्कुल प्रतीक-स्वरूप। सब होकर भी आदर्श-प्रदर्शन की भावना से प्रेमचन्दजी 'गो-दान' को भी पृथक् न रख सके, जिस कारण 'गो-दान' के औपन्यासिक तत्त्व कुछ कमजोर दिखाई देते हैं। प्रेमचन्दजी इतने घोर आदर्शवादी थे कि कहीं-कहीं यथार्थ की अनुचित उपेक्षा हो जाती है। वे जीवन के चिरंतन सत्य से दूर चले जाते थे। स्वयं वे अपने जीवन के सन्निकट नहीं थे। और, उपन्यास-साहित्य में बहुत-कुछ लेखक का अपना व्यक्तित्व रहता है।

प्रेमचन्द का युग अधिक सबल होकर भी स्थायी न हो सका। भारतीय राजनीति, विशेषतः गाँधीवाद, से प्रभावित शक्तियों पर आधारभूत जिन औपन्यासिक तत्त्वों की सर्जना हुई, उनमें एक सीमित, बल्कि संकीर्ण आदर्श-निर्वाह की भावना थी। इस युग को सबल बनानेवाले उपन्यासकारों की सर्जनात्मक शक्ति निर्बल थी, जिसकी वजह से उनके कोई खास उल्लेख की

आवश्यकता नहीं। और, कहना नहीं होगा कि इसीलिए वे प्रेमचन्द की प्रवृत्तियों को लाँघ नहीं सके; फलतः प्रमचंद की ही औपन्यासिक दृष्टि अपने युग में विशिष्ट स्थायी महत्त्व रखती है। विनोदशंकर व्यास, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अनूपलाल मण्डल आदि अनेक उपन्यासकार उसी युग को सबल बनाने की चेष्टा में आए; किन्तु वैसी सामर्थ्य उनमें न थी, जिसका कुछ प्रभाव पड़ता।

इन सबसे सर्वथा पृथक् जयशंकर प्रसाद के औपन्यासिक कृतित्वों का कहीं अधिक महत्त्व है। यद्यपि उपन्यासों के प्लाट अस्वाभाविक हैं, उनके नाम भी भ्रामक हैं एवं अपने उद्देश्य में वे असफल हैं; फिर भी, उनके आधार कमजोर नहीं कहे जा सकते। 'कंकाल' का विस्तार कुछ आवश्यकता से अधिक बोझिल है। 'तितली' में कलात्मक टेकनीक है। किन्तु दोनों की कवित्वपूर्ण शैली में अस्वाभाविकता का पुट अधिक है। आदर्श की जगह इनमें ठोस सिद्धान्त की पुष्टि है। मानव के मनोभाव बड़े गहरे ढंग से उतरे हैं और उनका अधिक मूल्य है। एक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित उद्‌गार प्रगट किये गये हैं। हिन्दी-उपन्यास-जगत् में 'प्रसाद' के उपन्यासों से एक नया निर्देश, एक नयी जागृत दिशा का संकेत मिलता है। परन्तु स्वाभाविकता से वे कुछ दूर ही रह जाते हैं। हाँ, यह उल्लेख्य है कि उनके उपन्यासों में मध्यम वर्ग की भाव-भूमि खड़ी की गई है, जिसका ढंग नया कहा जा सकता है।

वाजपेयीजी ने भी मध्यमवग के बौद्धिक मानव का चित्र उपस्थित किया है; किन्तु उसका रंग गाढ़ा नहीं सिद्ध हो सका। 'पिपासा' के दुर्बल आधार को छोड़िए, 'निमंत्रण' तक का भी मूल निर्बल ही कहा जायगा। बल्कि प्रेमचंद-युग के मार्ग को प्रशस्त करने में सियारामशरण गुप्त ने विशेष सहयोग दिया है। उनके उपन्यास 'नारी,' और 'गोद' की सत्ता दृढ़ है। प्रेमचंद के समान ही इन्होंने भी ग्रामीण वातावरण का ही स्पर्श किया है; परन्तु उनके आदर्श-प्रदर्शन के भाव को नहीं अपनाया है। बल्कि कहना चाहिये, गुप्तजी के उपन्यास मानव-हृदय के भावों को सहज ही स्पर्श कर लेते हैं। उनमें एक विशेष आकर्षण की शक्ति दीखती है। समाज के गलित विधानों का अच्छा

उदाहरण उपस्थित किया गया है। आदर्शवाद के मुलम्मा से बचाये गये इन उपन्यासों से पाठक अधिक प्रभावित हो जाते हैं।

हिन्दी-उर्दू मिश्रित शैली में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने अनेक भावपूर्ण उपन्यास लिखे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता मुहावरेदार भाषा है, वह भी बिल्कुल सजीव। प्रभावपूर्ण शैली एवं आकर्षक वर्णन की दृष्टि से उनका 'राम-रहीम' अधिक सफल और प्रसिद्ध है। ''राम-रहीम' का प्लाट विशेष सुन्दर नहीं; लेकिन उसकी घटना-प्रधान भाव-भूमि की अधिक महत्ता है। हिन्दी में अपनी जगह वह अकेला उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'पुरुष और नारी', 'सावनी-समा', 'गाँधी टोपी', 'सूरदास' आदि अनेक उपन्यास हैं, जिनमें राजा साहब की शैली और मुहावरेदार भाषा की छाप गहरे रूप से मिलेगी।

जीवन की नई जाग्रति, नई चेतना, नवीन सन्देश का वाहक उपन्यास 'चित्रलेखा' है, जिसका हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में शीर्ष स्थान है। इसके प्रभविष्णु लेखक भगवतीचरण वर्मा हैं। मौलिक, प्रौढ़ विचारों से अनुप्राणित या प्रभावित और कोई उपन्यासकार इस दिशा की ओर अपनी कलम नहीं उठा सका। मनुष्य की दुर्बल प्रवृत्तियाँ उसके सिद्धान्त की भित्ति को ढाह देती हैं; किन्तु इस कारण मनुष्य को घृण्य नहीं समझा जाना चाहिये। उसकी इन कमजोर प्रवृत्तियों के पीछे उसका अपना अस्तित्व भी प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। परन्तु इन दुर्बल प्रवृत्तियों की तह में यदि उसे अपने अस्तित्व पर झूठा अहंकार है, तब निश्चित है, वह अपना कोई भी अस्तित्व खड़ा नहीं कर सकता। पाप-पुण्य की परिभाषा का एक नया रूप हम 'चित्रलेखा' में पाते हैं। यह रूप और किसी भी भारतीय उपन्यास में दृष्टिगोचर नहीं होता। पाप-पुण्य के प्रति लेखक का परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण नहीं है।

कुछ लोगों की दृष्टि में लेखक उपन्यासकार अनातोले फ्रांस के 'ताया' के दुर्बल जीवन-तत्त्वों के अधिक निकट हैं। लेकिन 'चित्रलेखा' का अवतरण ही भारतीयता की अधिक निकटता का प्रमाण है। यह दूसरी बात है कि वर्माजी

'तायां' के मनोभावों से अनुप्राणित हों; किन्तु मूल में उनकी अज्ञात प्रेरणा का यह भी रहस्य संभव है कि वे चन्द्रगुप्तकालीन भारतीय समाज की उपेक्षिता, नैतिक, स्वाभाविक प्रेम-अधिकार से वंचित 'चित्रलेखा' के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हों।

'चित्रलेखा' के संस्पर्श में आनेवाले सभी पात्र अपने ही जीवन के अच्छे परिहास हैं, और सब-के-सब दुर्बल प्रवृत्तिवाले, सत्ताहीन किन्तु तत्कालीन समाज की बागडोर सँभालनेवाले हैं। इनमें सामन्त बीजगुप्त की प्रवृत्तियाँ सफल एवं उदार कही जा सकती हैं। चित्रलेखा की प्रवृत्ति प्रतिशोधात्मक, परन्तु अपनी सीमित परिस्थितियों में विवश हैं। अपने असाधारण सौन्दर्य के लिये उसका स्वाभाविक अभियान सभी श्रेष्ठ राजकीय विद्वज्जनों की ईर्ष्या का कारण है। लेखक मानव के उन दुर्बल अवयवों को पकड़ लेता है, जो आत्म-प्रवंचना की सहयोगी प्रवृत्तियों को उभाड़ने में अधिक सहायता करते हैं।

'तीन वर्ष' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' भी वर्माजी के ही उपन्यास हैं; किन्तु 'चित्रलेखा' की तरह न इनमें प्लाट की रोचकता है, न टेकनीक की बारीकियाँ ही। 'तीन वर्ष' पठित, मध्य समाज का कुछ खाका भी खींचता है, तो 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में न वस्तु-विशेष का उचित एकीकरण है, न टेकनीक का निर्वाह। अस्वाभाविक विस्तार, निरे उलझे हुए विचार, श्लथ भाव, राजनीति की व्यर्थ जटिल समस्याएँ, ये ही 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की नींव हैं। आज के बौद्धिक धरातल पर छोटे-छोटे जो उपन्यास रचे जाते हैं, उन्हीं में इसका शुमार किया जा सकता है। अनेक वादों से घिरा हुआ यह उपन्यास जीवन के किसी उद्देश्य, दृष्टिकोण को व्यक्त न कर सका। घटनाओं के तारतम्य में कोई प्रवाह नहीं।

भारतीय मध्यकालीन समाज के द्वारा प्रताड़ित अनेक ऐसे मानव-चित्र मिल सकते हैं, जिनका उपन्यास-साहित्य में अच्छा स्थान हो सकता है। केवल मध्यकालीन, बल्कि आरम्भिक काल के भी चित्रों में ऐसे कई चित्र आ उपस्थित होंगे। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की नई दिशा की सूचक कहलायगा। गुजराती के श्रेष्ठ सुप्रसिद्ध

उपन्यासकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐसे कई उपन्यास मिलेंगे, जिनका आधार प्राचीन भारतीय समाज के विशिष्ट व्यक्ति हैं। यद्यपि उनके ऐतिहासिक काल का सम्बन्ध बिलकुल संगत-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता; किन्तु उस समाज में निवास करनेवाले मानव के मनोभाव असत्य नहीं कहे जा सकते। उपनिषद्कालीन 'लोपामुद्रा' की प्रवृत्तियाँ असत्य नहीं ठहराई जा सकतीं। 'तैलप देश' का भी औपन्यासिक वर्णन गलत नहीं सिद्ध किया जा सकता। 'पृथ्वीवल्लभ' का उद्भव भी प्रशंसनीय है। ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत जो सामाजिक तत्त्व हैं, उन पर उपन्यासकार की कलम अवश्य चलनी चाहिये। इस विचार से 'चित्रलेखा' भी अपने में पूर्ण सफल माना जा सकता है। इसी प्रकार का हिन्दी में एक और प्रयास किया गया। 'अंबपाली' उपन्यास भी निकला, जिसके लेखक रामरतन भटनागर 'हसरत' हैं। किन्तु "चित्रलेखा' उपन्यास की विशेषताएँ उनके उपन्यास में नहीं आ सकी हैं।

ऐतिहासिक आधार की पृष्ठभूमि में विशेष उपन्यास नहीं रचे गये। बहुत अधिक जिसकी प्रशस्ति गाई गई या जिसका जीवन स्वयं स्वस्थ, महत्त्वपूर्ण हो अथवा जिसके कृतित्व में बल रहा हो, वह उपन्यास का सहज ही आधार बन सकता है। घटना की मौलिकता नहीं रहेगी; किन्तु लेखक यदि संवेदनशील हुआ, तो वह इस ढंग से उसे ग्रहण करेगा, ऐसी मूल भावना का निचोड़ देगा कि वह मौलिक ही प्रतीत होगा। वृन्दावनलाल वर्मा का "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई", इसके पहले उनका 'गढ़कुंडार'—दोनों ऐतिहासिक घटना के अन्तर्गत हैं।

इस प्रकार अन्य भारतीय सबल व्यक्तियों को भी उपन्यास का आधार बनाया जा सकता है; परन्तु इस ओर कम लेखकों का ध्यान गया है। यदि ऐतिहासिक अनुसन्धान किये जायँ, तो केवल ये ही कुछ विशिष्ट व्यक्ति उपन्यास की आधार-शिला नहीं तैयार करेंगे, बल्कि और कई ऐसे टाइप निकल आयेंगे, जो अवसरानकूल जगत् में मौलिक क्रांति लायँगे। विदेश में सामयिक आन्दोलन, अवसरानुकूल राजनीतियाँ, युद्धकालीन परिस्थितियाँ ये सब अच्छे नये उपन्यास की ठोस सामग्री समझी जाती हैं। परन्तु भारतीय

लेखकों की इस ओर दृष्टि नहीं जाती। पिछली क्रांतियाँ छूट भी जायँ, तो '४२ की क्रांति पर कहाँ कोई अच्छा उपन्यास लिखा जा सका ? बंगाल का अकाल, साम्प्रदायिक विद्वेष की चिनगारियाँ, आजाद हिन्द फौज की दारुण कहानियाँ, ये सब उपन्यास की पृष्ठभूमि हैं;. पर ये साहित्य के विशेष अंग न बन सके। अभी-अभी का 'गोड्से' उपन्यास का बड़ा भयानक खूँखार खल नायक बन सकता है। हमारी प्रत्येक जीवन-प्रगतियाँ औपन्यासिक तत्त्व मानी जा सकती हैं।

पुरानी ऐतिहासिक जगहों की खुदाई में भी अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। परन्तु इस दिशा की ओर अग्रसर होनेवाले उपन्यकार का प्रौढ़ अध्ययन होना आवश्यक होगा। छोटी-छोटी रूमानी घटनाओं को लेकर लिखे गये उपन्यासों में अध्ययन की अपेक्षा न भी हो; किन्तु इतिहास को अपना आधार मानने या बनानेवालों के लिये अध्ययन अनिवार्य है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ऐसे दो उपन्यास हिंदी-जगत् को दिये, जिनका अवतरण ही अनुकरणीय है। लिच्छवी वंश के अन्तर्गत आये हुए प्रमुख योद्धाओं का इनमें वर्णन है। 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' ये हिन्दी-उपन्यास के लिये नये मार्ग कहे जा सकते हैं। परन्तु यह मार्ग दुर्गम है, यह समझ लेना चाहिये। नया जीवन, नई प्रेरणा देनेवाली भावनाएँ इनमें गुम्फित हैं। वर्णन को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानों उस युग में हम पहुँच गये हों। राजनीतिक भावनाएँ भी बड़े सूक्ष्म रूप में व्यक्त हुई हैं।

हिन्दी में हास्य-प्रधान उपन्यासों का सर्वथा अभाव है। जी. पी. श्रीवास्तव और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने इस ओर कलम उठाई भी, तो उसका रूप इतना अश्लील खड़ा किया कि वह अनुकरणीय तो दूर रहा, पठनीय भी शायद नहीं कहा जाय। घासलेटी साहित्य में उन्हीं की कृतियों का नाम लिया जाता है। 'चाकलेट', 'चुम्बन' आदि का काफी विरोध हुआ है; बल्कि कहानियोंमें जहाँ हास्य का पुट आता है, वहाँ वह अधिक ठीक जँचता है। उनके जो थोड़े-बहुत निबंध हैं, उनमें स्थल-विशेष पर जो हास्य का प्रसंग आया है, उसमें व्यंग्य की चिकोटी है। उसका रूप भी संयत, श्लील है।

शब्द-चित्र के रूप में 'निराला' जी ने भी हास्य का निर्माण किया है; किन्तु उनके उपन्यासों में इसको अधिक अवसर नहीं मिला है। 'कुल्लीभाट', 'सुकुल की बीबी' आदि रचनाएँ हास्यप्रधान ही हैं। प्रो० शिवपूजन सहाय जी का 'देहाती दुनिया' हास्य-प्रधान उपन्यास है। मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग है। निरालाजी के दो उपन्यास प्रसिद्ध हैं 'अलका' और 'अप्सरा'। इनके अतिरिक्त 'निरुपमा' और 'प्रभावती' आदि उपन्यास भी कम महत्त्व नहीं रखते।

प्रेमचंद की प्रवृत्तियों से बिलकुल विमुख भिन्न उपन्यास की एक नई धारा प्रवाहित हुई। कुछ अंशों में कहना चाहिए, प्रेमचंद की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ इस धारा की ओर टिक न सकीं। आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख होना इस धारा की मुख्य विशेषता थी। यह धारा जैनेन्द्रकुमार की है। प्रेमचंद की प्रवृत्तियों को यही लाँघ सकें। इनकी संवेदनशील शैली में एक खास प्रभाव था, भावों में नया आकर्षण। पाठक उसमें अपने जीवन की अनुभति पाता था। उनके उपन्यास के पात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकता की ओर अग्रसर थे। 'परख', 'सुनीता' और 'त्यागपत्र', हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में क्रान्तिकारी भावनाओं के सर्जक माने गये। परन्तु उनके 'कल्याणी' में साधारण भावना का निर्वाह मात्र है।

एक और बात, वह यह कि उनके उपन्यास में जिस मध्य-वर्गीय समाज का वर्णन है, जिस जीवन को सामने रखा है, वह आदर्शवादियों के लिए अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। किन्तु उनकी सत्यता में जो यथार्थ की भावना सन्निहित है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ लोगों का कहना है, जैनेन्द्र के उपन्यास भी बँगला के शरत्-साहित्य से अनुप्राणित हैं। परन्तु मैं प्रभावित मान सकता, अनुप्राणित नहीं। पात्र-पात्रियों के द्वन्द्वात्मक अवतरण पर शरत् का प्रभाव कहा जा सकता है। जैनेन्द्र की प्रवृत्तियों ने उनका संस्पर्श किया है, यह संभव है। पर उन्हीं से अनुप्राणित नहीं मान लेना चाहिए। किन्तु इधर जैनेन्द्र की कथा शिथिल पड़ गई है और वह जहाँ थी, जितनी थी, वहीं, उतनी ही रह गई है। वर्त्तमान वातावरण को लक्ष्य कर जैनेन्द्रजी ने इधर कोई उपन्यास नहीं लिखा।

अब हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान गया और बड़े वेग से उनका अनुवाद होने लगा। बँगला उपन्यास-साहित्य का विशेष अनुवाद हुआ और उसका हिन्द लेखकों-पाठकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। शरत् के उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज के खोखले, कमजोर, घृणित प्रवृत्तिवाले मानव की भावनाएँ केन्द्रित हुईं। उनके अहं में जो प्रवंचना घृणित थी, उसका दिग्दर्शन कराया गया। सबसे बड़ी बात यह कि पुरुष और स्त्री का जो समान तराजू पर तौल हुआ, उसका प्रभाव हिन्दी पर अधिक पड़ा। यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिये कि शरत् के उपन्यासों की टेकनीक एवं मनोविश्लेषणात्मक भावों की व्याख्या का ढंग हिन्दी के अधिकांश औपन्यासिकों ने अपनाया।

यशपाल ने आदमी के उस जीवन को अपने उपन्यासों में पकड़ा है, जो राजनीति के अधिक निकट और अपनी अच्छी-बुरी परिस्थितियों में विवश एवं व्यस्त है और समाज के आगे उसे इस रूप में रखा, मानों उसके अवैध नियमों का उग्रतम ढंग से विरोध करता है। उनका यह ढंग क्रान्तिकारी भी कहलायगा। 'देशद्रोही', 'दिव्या', आदि उपन्यासों के ठोस धरातल में सामाजिक, भौतिक, राजनीतिक उपादानों को एकत्र किया गया है। चली आती हुई रूढ़ि और संस्कार की निष्प्रयोजनता सिद्ध करने के ख़्याल से भी उन्होंने कुछ उपन्यास लिखे। किन्तु उपन्यास की अपेक्षा यशपाल की कहानियां अधिक कलात्मक एवं मर्मस्पर्शी तथा यथार्थवादी हैं।

'अज्ञेय' के 'शेखर: एक जीवनी' उपन्यास के दोनों भाग हिन्दी-उपन्यास के विकास-स्तंभ माने गये हैं। पहले की अपेक्षा दूसरा भाग अधिक शक्ति-शाली है। शेखर की शशि कभी नहीं भूली जानेवाली महत्त्वपूर्ण पात्री है, अनेक असंभावित घटनाओं का केन्द्र। जैनेन्द्र की औपन्यासिक विशेषताओं को लाँघकर 'अज्ञेय' ने एक नई विशेषता का निर्माण किया। उन्होंने मानव मन की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था की, जिसका स्तर अति गम्भीर है। इससे सर्वथा पृथक् इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों का अस्तित्व है। फ्रायड की बौद्धिक चेतना से अभिभूत हो, शरत् के कमजोर पात्रों की सहानुभूति में इधर उन्होंने तीन

उपन्यास लिखे—'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित'। मध्य-वर्गीय जीवन की अब कोई उपयोगिता नहीं सिद्ध हो रही है। वह चारों ओर की विभीषिकाओं से घिरा है और इसीलिए वह भीरु एवं अधिक कमजोर है। उसके अन्तर्भाव का सूक्ष्म प्रदर्शन जोशीजी ने कराया है। मानव-मन के अवचेतन भाव की पष्ठभूमि में कौन-कौन-सी अज्ञात प्रेरणायें काम करती हैं, यह मानों उनका अधिकृत विषय हो। किन्तु वे इस अवचेतन भाव की इतनी गहराई दिखाते हैं कि वहाँ तक पहुँचने का पाठक धैर्य खो देता है। उनके पात्र इस प्रकार अपनी बौद्धिक चेतना में उलझे रहते हैं कि उनके लिए किसी खास निर्णय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। ऐसा लगता है, मानों वे उद्देश्यरहित हों। परन्तु जोशी के उपन्यासों ने सिद्ध कर दिया है कि अब हिन्दी-उपन्यास का इतना प्रौढ़ विकास हो चुका है कि साधारण, सस्ती, रूमानी घटनाओं से संयोजित उपन्यासों का युग इनके आगे खड़ा नहीं हो सकता। सिर्फ बुद्धि पर आरूढ़ मानव-मन के चैतन्य भाव का इतना सूक्ष्म विश्लेषण और कहीं दुर्लभ है। इनके उपन्यास चिरकाल तक अपना प्रभाव रख सकने की पूरी सामर्थ्य रखते हैं। यथार्थवाद का ठोस प्रमाण, अधिक संवेदनशील भाव, प्लाट गम्भीर, किन्तु रोचक, बिल्कुल नवीन टेकनीक, जोशी जी के उपन्यास के विशेष अंग हैं। परन्तु 'प्रेत और छाया' का प्रमुख पात्र पारसनाथ या 'निर्वासित' का दिलीप, ये दोनों काफी उलझे हुए, उद्देश्यरहित एवं अति दुर्बल पात्र हैं, जिनकी वजह से उपन्यास का धरातल बहुत ऊँची सतह पर शायद न खड़ा हो। किन्तु इनके पूर्व 'संन्यासी' अधिक यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक और स्थायित्व की शक्ति लेकर है। 'प्रेत और छाया' का भुजौरिया जी, 'निर्वासित' का ठाकुर लक्ष्मण सिंह ये मध्यवर्ग के ऊपरवाले स्तर पर रहनेवाले, समाज के लिए गलित, घृणित, बदबू से भरे रेंगते फिरने वाले जहरीले कीड़े हैं।

भौतिकवाद के अवयवों से पुष्ट राजनीतिक वातावरण से प्रभावित, बौद्धिक चेतना के मूलगत मनोविज्ञान से अनुप्राणित तथा विश्व-युद्ध-जनित परिस्थितियों से सम्बद्ध उपन्यासों का निर्माण वर्त्तमान काल में अधिक महत्त्व

देगा। और जोशी के उपन्यास इनका केन्द्र माने जा सकते हैं। अज्ञेय और जोशी के उपन्यास किसी भी विदेशी उत्कृष्ट उपन्यास के आगे निस्संकोच रखे जा सकते हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' घटनाप्रधान इतिवृत्ति के आधार पर वर्णनात्मक उपन्यास है, जिसका नायक 'चेतन' हमेशा परिवर्तित प्रवृत्ति का पोषक एवं अपनी असंतुष्ट वासना का पुतलामात्र है—यों ही साधारण बातें हैं, जिन्हें अश्कजी ने अच्छे ढंग से कह दिया है। कहीं-कहीं उनका व्यर्थ का विस्तार बोझिल बन जाता है।

नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' प्रगतिशील तत्त्वों से निर्मित एक रोचक उपन्यास है। उसकी भूमिका, जो प्रेमचंद की प्रवृत्तियों की एक अच्छी आलोचना कही जा सकती है, विशेष महत्त्वपूर्ण है। अमृतलाल नागर के उपन्यास हमारे जीवन की चलती-फिरती तस्वीरों का एक अलबम कहे जा सकते हैं।

अनेक वादों, राजनीतिक परिवर्त्तनों एवं युद्ध-जनित परिस्थितियों का हिन्दी के सम्मान्य प्रौढ़ लेखकों पर भी प्रभाव पड़ा। भारत की राजनीतिक हलचलों की ओर वे विशेष रूप से आकृष्ट हुए। सस्ते रोमांस से हटकर, सस्ती भावुकता से पृथक् जिन प्रभविष्णु उपन्यासकारों ने परम्परा के प्रतिकूल नई दिशा की मोड़ ली, उनमें यशपाल, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी विशेष उल्लेख्य माने जाने चाहिये।

इनके अतिरिक्त और भी उपन्यासकार आये; किंतु उनकी औपन्यासिक शक्ति अत्यन्त दुर्बल कही जा सकती है। उपन्यास लिखना था, इसलिये लिख दिया। देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल', राधाकृष्ण प्रसाद, उषादेवी मित्रा, रांगेय राघव, गंगाशंकर मिश्र, ओंकारनाथ शरद, उदयराज सिंह आदि ने अनेक उपन्यास लिखे; परन्तु वे इस प्रकार कुछ सामाजिक, राजनीतिक परिस्थिययतियों एवं छोटी-मोटी रूमानी घटनाओं में उलझे रह गये कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य उनसे गौरवान्वित न हो सका। यह नहीं कि उनकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी; बल्कि हिन्दी-साहित्य को समृद्ध तथा विस्तृत बनाने में उनका विशेष हाथ था। अंचल के 'चढ़ती धूप'

और 'उल्का', रांगेय राघव का 'घरौंदे', 'राधाकृष्ण प्रसाद का 'आदि और अन्त' आदि उपन्यास भी अवहेलनीय नहीं हैं। शिवचन्द्र का 'तैमुन्ना' गाँधी-वादी परम्परा का एक राजनीतिक उपन्यास है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम संप्रदाय की संकीर्ण प्रवृत्तियों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। रामचन्द्र तिवारी का 'सागर, सरिता और अकाल' प्रेमचन्द की शैली का एक अन्तिम उपन्यास माना जा सकता है, हालाँकि प्रगतिशीलता के कुछ ऐसे तत्त्व इसमें समाविष्ट हैं, जो प्रेमचन्द के औपन्यासिक तत्त्व से सर्वथा भिन्न हैं।

इन उपन्यासकारों ने बुद्धिवाद की सत्ता पर पलनेवाले, सिर्फ इसीमें आवेष्टित मध्यवर्ग के मानव को अपने उपन्यासों का धरातल बनाया। साथ ही, पाश्चात्य साहित्य की शैली को माध्यम बनाकर, बिल्कुल उन्हींकी टेकनिक का रूप देकर अपने उपन्यासों की सृष्टि की। इतना था कि उनका वातावरण भारतीय रहा।

हाल के प्रकाशित उपन्यासों में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', डा० देवराज का 'पथ की खोज', रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला', भगवतीचरण वर्मा का 'आखिरी दाँव', धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', राहुल सांकृत्यायन का 'मधुर-स्वप्न', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'जानी, सुनी और देखी' के विभिन्न भाग, द्वारिका प्रसाद का 'घेरे के बाहर', मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'शैतान की देन', मुक्तजी का 'पुलिना के पत्र' और 'मधुर भ्रम', शिवचन्द्र शर्मा का 'नया आदमी', वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी', विष्णु प्रभाकर का 'ढलती रात', प्रभाकर माचवे का 'परन्तु', अंचल का 'मरुप्रदीप' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के उपन्यास-लेखकों के पास लिखने के लिए बहुत कम अवशिष्ट रह गया है। या तो वे अपने सीमित अनुभवों को रचते हैं या पाश्चात्य उपन्यासों के अनुकरण और ग्रहण के द्वारा अपनी सामग्री के अभाव की पूर्ति का अवांछनीय प्रयास करते हैं। यों तो 'नदी के द्वीप' औसत भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में महत्त्व का अधिकारी है; किन्तु उसकी विशेषता के लिए लेखक वर्जिनिया उल्फ की

शैली और 'वडिज रैपचर' जैसे उपन्यासों की वस्तु का अद्यमर्ण है। इसी प्रकार दूसरे उपन्यासों में भी अनुभव का दैन्य सबसे बड़े दोष में दीख पड़ता है, यद्यपि भाषा, शैली इत्यादि के दोषों का भी कोई अभाव नहीं है। 'घेरे के बाहर' लेखकों और पाठकों के लिए एक चुनौती है, जो सर्वथा अनियंत्रित होने के कारण कदाचित अपनी सार्थकता खो बैठता है। इधर आंचलिक उपन्यासों में, प्रमुख रहे फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', हुमायूँ कबीर का 'नदी और नारी' तथा शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' नामक उपन्यास। इधर के सामाजिक उपन्यासों में कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'जहाज का पंछी' (इलाचंद्र जोशी), 'बुढ़िया की गाय' (मुल्कराज आनन्द), 'दूब-गाछ' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'दुखमोचन' (नागार्जुन), 'उबाल' (रांगेय राघव), 'लजवन्ती' (राजेन्द्र सिंह बेदी) आदि।

हिन्दी का कहानी-साहित्य

कहानी क्या है?

बीती बातों की सहज अभिव्यक्ति ही कहानी है। जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ आती हैं, जो थोड़े समय के लिए रहकर भी हमारे लिए अमर बन जाती हैं और हमारे हृदय पर अमिट निशान छोड़ जाती हैं। कहानी उन घटनाओं की विवरणात्मक यादगार है।

हमारे जीवन का प्रत्येक पल अपनी कहानी कहता रहता है; क्योंकि प्रतिक्षण-प्रतिपल हमारे मन में इच्छाओं और अरमानों का उत्थान-पतन होता रहता है। जब मन की अवस्था अधिक तीव्र हो उठती है, तब वह प्रकट होना चाहती है; क्योंकि मनुष्य अनुभावक होने के साथ ही प्रकाशक भी है। वह अनुभव करता है और अपनी अनुभूतियों को दूसरों के सामने खोलकर रखना चाहता है। 'कम से कम मैंने आज तक यही माना है और अब भी जब-जब कुछ भी देख-सुन अनुभव कर कोई संवेदना मन में घुसती रहती है,

१३

या गाँठ पैदा कर देती है, अपने से उस संवेदना को अलग किए बिना रहा नहीं जाता।१ अतः कहानी में बाहर की घटना और अन्तर की अनुभूति का योग रहता है।

कहानी और उपन्यास का अन्तर

किन्तु प्रेषण का यह कार्य तो उपन्यास भी करता है--उप (निकट) + न्यास (रखना)। तो क्या कहानी उपन्यास का एक छोटा रूप है? नहीं, उपन्यास और कहानी में आकार का ही अन्तर नहीं, वरन् प्रकार का भी अन्तर है।

वस्तु, पात्र, शैली और उद्देश्य--जिस दृष्टि से देखिए, कहानी उपन्यास से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र साहित्यांग दीख पड़ेगा। उपन्यास का कथानक प्रायः इतना विस्तृत क्षेत्र ग्रहण करता है, जिसमें सम्पूर्ण जीवन की तस्वीर उतारी जा सकती है। कहानी सम्पूर्ण जीवन को न लेकर उसके एक पहलू को ग्रहण कर जीवन के संक्षिप्त अंश की झाँकी देती है। जैनेन्द्रकुमार के शब्दों में 'इस विश्व के छोटे-से-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं।'

इसलिए कहानियों को Slices from life (जीवन के टुकड़े) कहा गया है। उपन्यास में एक मुख्य कथा के साथ प्रायः कई अन्य गौण कथाएँ भी रहा करती हैं। किन्तु कहानी में केवल मुख्य कथा को ही प्रश्रय मिलता है। उसमें गौण कथाओं के लिए स्थान नहीं है। अतः पाठकों के लिए उपन्यास में जहाँ कई आकर्षण-केन्द्र हैं, वहाँ कहानी में उनका मन एक ही बिन्दु पर टिका रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि कहानी की वस्तु कटी-छँटी, चुस्त-दुरुस्त होने के कारण अधिक कलापूर्ण है और आकर्षण की एकता के कारण उसका प्रभाव भी अधिक तीव्र पड़ता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की सुप्रसिद्ध कहानी 'हार-जीत' पर विचार करते हुए एक आलोचक ने लिखा था--'आदर्श कहानी वही हो सकती है, जो उस अशर्फी के समान हो, जो

---

१ जैनेन्द्रकुमार।

साँचे के एक ही दवाव में तैयार हो जाती है। उसकी टंकार कभी खोटी नहीं होती; क्योंकि उसकी तैयारी में खरी धातु बरती जाती है।'

कथानक के अभाव में उपन्यास की कल्पना नहीं हो सकती। कथानक उसका प्रमुख अंग है। परन्तु कहानी में मांसल कथानक का होना अनिवार्य नहीं है। कितनी ही कहानियों में कथानक होती ही नहीं। 'कभी-कभी केवल कुछ मनोरंजक बातों, चुटकुलों और चित्त को आकर्षित करनेवाली सूझों के आधार पर ही कहानी की सृष्टि हो जाया करती है।' भाव-प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियों में कथानक नाममात्र का ही हुआ करता है। यदि जैनेन्द्रकुमार की 'पत्नी' में अथवा अज्ञेय की कहानी 'रोज' में हम कथानक ढूँढ़ना चाहें, तो हमें निराश ही होना पड़ेगा।

कथावस्तु को छोड़कर जब हम चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं तो यहाँ भी कहानी और उपन्यास की भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगत होती है। चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक अपरिहार्य अंग है। प्रेमचन्द के अनुसार मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। कहानी के सम्बन्ध में भी उसके ऐसे ही विचार हैं। किन्तु आज का कहानीकार चरित्र को चरम वस्तु न मानकर हेय मानता है। इनके चरित्र एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के साधन-मात्र हैं। जिन कहानियों में चरित्रांकन होता है, उनमें भी पात्रों के सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण न होकर उनके चरित्र के किसी विशेष पक्ष का ही चित्रण होता है। अज्ञेय की कहानी 'शत्रु' में लेखक का उद्देश्य ज्ञान के चरित्र का उद्घाटन करना नहीं हैं, वरन् उसके सहारे पाठकों को उनकी दुर्बलता से परिचित कराने के लिए अनुकूल परिस्थिति का सृजन करना है। यही बात यशपाल की कहानी 'परलोक' के लिये भी कही जानी चाहिए। 'कौशिक' जी की 'सभ्यता' और सुदर्शनजी की कहानी 'न्याय-मंत्री' में चरित्र-चित्रण का प्रयास तो है; किन्तु 'सभ्यता' में पात्रों की उन्हीं प्रवृत्तियों का उद्घाटन हो पाया है, जिनका सम्बन्ध चुनावे से है और इस प्रकार 'न्याय-मंत्री' में मंत्री की न्याय-सम्बन्धी दृढ़ता का ही परिचय मिलता है। साथ ही, यह भी जान लेना चाहिए कि

'कौशिक' जी और सुदर्शनजी—दोनों प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकार हैं। अत्या-धुनिक कहानीकारों में हम चरित्र-चित्रण का प्रयास कम देखेंगे।

शैली की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास में कुछ कम अन्तर नहीं है। नाटक की भाँति उपन्यास का आरम्भिक अंश भी परिचयात्मक होता है। उसमें भूमिका का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य रहा करता है। विचारों और घटनाओं की पार्श्वभूमि के रूप में यत्र-तत्र वस्तु का विस्तृत विवरण भी रहता है। इसके आरम्भ में भूमिका और अन्त में उपसंहार के दर्शन होते हैं। उपन्यास का एक निश्चित आरम्भ है और एक निश्चित पर्यवसान। किन्तु कहानी में भूमिका के लिए स्थान नहीं है।

If his very initial sentence tends not to the outbringing effect, then he has failed in first attempt.

—Edgar Allan Poe.

वास्तव में एक पंक्ति भी कहानी में फिजूल नहीं रखी जा सकती। संक्षिप्तता कहानी-कला की जान है (**brevity is the soul of story writing**)। यही संक्षिप्तता आधुनिक कहानियों में पायँगे। इसी संक्षिप्तता और सांकेतिकता के कारण रूस की कहानियाँ संसार में प्रसिद्ध हैं। आधुनिक कहानी का आरम्भ आकस्मिक और अन्त हठात् होता है। लगता है, जैसे कहानी बीच से ही आरम्भ हो गई और उसका अन्त भी तभी हो गया, जब उसे हम अधिक उत्कंठित हो सुनना चाहते थे।

उपन्यास के शाब्दिक अर्थ, जो पहले निवेदन कर दिया जा चुका है, से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उपन्यास के सहारे लेखक अपने पाठकोंके सामने कुछ रखना चाहता है। वह कुछ प्रायः उसका विचार अथवा संदेश हुआ करता है। कला कला के लिए न होकर जीवन को कलित और समुन्नत करने के लिए है। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि कहानी में विचार अथवा संदेश नहीं रहा करता; किन्तु इतना अवश्य है कि कहानी का संदेश अपेक्षाकृत अधिक सांकेतिक हुआ करता है। यही कारण है कि उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहानीकार प्रेमचन्द अधिक सफल है; क्योंकि उनके

उपन्यासों में कहीं-कहीं उपदेशात्मक प्रवृत्ति के नीचे कला कुछ कुंठित-सी हो गई है।

कहानी और एकांकी में साम्य

जो भेद नाटक और एकांकी में है, वही भेद उपन्यास और कहानी में भी है। एकांकी की भाँति ही कहानी संक्षिप्त हुआ करती है। पश्चिमीय परिभाषा के अनुसार कहानी वह रचना है, जो एक बैठक में समाप्त हो जाती है। पो के अनुसार कहानी के पढ़ने में दो घंटों से अधिक समय नहीं लगना चाहिए। एकांकी और कहानी दोनों में जीवन चाहिए। एकांकी और कहानी दोनों में जीवन के पक्ष-विशेष को ग्रहण किया जाता है। दोनों भूमिका और उपसंहार से विमुक्त हैं। दोनों में चलती और सरल भाषा की प्रधानता रहती है।

'यहाँ तो सरलता में सरसता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखला देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नहीं होता।'

एक बात और। जब कोई कहानी की चर्चा करता है, तब लगता है कि वह 'गढ़ी बात' कहेगा।१ यह सही है कि कहानी में कल्पना का अंश यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहता है; किन्तु यह भी सही है कि उस कल्पना का आधार ठोस वास्तविकता ही हुआ करती है। इसलिए कहानी में नाम और स्थान को छोड़कर सब कुछ सत्य है।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कथा और आख्यायिका का भेद बतलाते हुए कहा है कि कथा की कहानी कल्पित हुआ करती है और आख्यायिका की ऐतिहासिक—यद्यपि दंडी ने दोनों में भेद नहीं माना है।

तत्कथाख्यायिकेत्येव जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवाविर्भविष्यन्ति दोषाश्चाख्यानजातयः'

—दंडी

कहानी का मूलाधार

इस कहानी की कहानी वहुत पुरानी है।२ यह सवसे पहले किसकी जुवानी सुनी गयी, नहीं कहा जा सकता। कुतूहल और जिज्ञासा की प्रवृत्ति मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति के कारण वचपन में हम नानी की गोद में बैठकर परियों की कहानी सुनना चाहते हैं और इसी प्रवृत्ति को सतुष्ट करने के लिए हम कहानी गढ़कर अपने मन के अनुकूल सृष्टि-रचना चाहते हैं। अतः सृष्टि के आरम्भ के साथ ही गल्प का प्रारम्भ हुआ होगा।

कहानी का आधुनिक रूप और उसका आरम्भ

किन्तु कहानी का जो आधुनिक रूप है, उसका आरम्भ अभी हाल में हुआ है। आज भारतीय साहित्य में हम जिन कहानियों को देखते हैं, उन पर पश्चिम की टेकनिक और कला का प्रभाव है। और, पश्चिम की आधुनिक कहानियों की उम्र भी थोड़ी है।‡ शायद कहानी के इस आधुनिक स्वरूप को,

---

2. "Whatever men do" is a phrase which describes the theme of the story-teller as well as that of the satirist. The most universal of human interests is the interest of man in his brother man. We should expect this universal interest to manifest itself early, and to do so first in a direct and simple rather than in an indirect and critical fashion. And this is what we actually find. The literary critic can with reasonable accuracy trace the rise of satire; but who shall assign an origin to story? Even the higher criticism would place genesis—comparatively speaking—fairly near the beginning of things.

—Hugh Walker.

‡ While however, the short story as a form of literature is of immemorial antiquity, that the particular type of it with which we have here to deal, namely the short story told in prose and in the English language is of quite recent growth.

—Hugh Walker.

जिसमें जीवन की झाँकी और मन की एक विशेष अवस्था की स्वाभाविक परिणति रहती है, प्रकाश में लाने का श्रेय जर्मन कलाकार गेटे को है।

भारतवर्ष का स्थान

परन्तु यदि हम इन चन्द पश्चिमाक्रान्त वर्षों के उस पार जाकर भारतीय कथा-साहित्य का सिंहावलोकन करें, तो देखेंगे कि कथा-साहित्य की अपार समृद्धि भारती के चरणों में पड़ी है। यूरोप के अनेक विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि कहानी के क्षेत्र में भी भारतवर्ष जगद्गुरू था और संसार-भर में भारतवर्ष से चलकर ही कहानियाँ फैली हैं। वास्तव में ये कहानियाँ भारतीय वाङ्मय की अमूल्य देन हैं।

भारतीय कहानी-साहित्य का प्रारम्भिक रूप

भारतीय कहानी का लिपिबद्ध आरम्भिक रूप वैदिक साहित्य में मिलता है। ये कहानियाँ सम्भाषण या संवाद के रूप में गद्य तथा पद्य में लिखी हैं भाषा सादी और कहानी के उपयुक्त है। यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी सम्बन्धी कथाएँ प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं।

पाली का कहानी-साहित्य

ब्राह्मण और उपनिषदों में भी कहानी का यही रूप मिलेगा; किन्तु इन ग्रंथों की कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक प्रतीकात्मक (Symbolical) हैं। इन रूपक-कथाओं के अतिरिक्त महाभारत में छोटी-छोटी कहानियों का एक अच्छा खासा भंडार मिलेगा। ग्रंथकार ने यत्र-तत्र 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्' कहकर उदाहरण के बहाने प्राचीन काल के अनेक अति सुन्दर उपाख्यान लिख दिए हैं। उसमें तीन मछलियों की छोटी-से-छोटी कहानी भी है और नलोपाख्यान जैसी बड़ी-से-बड़ी कहानी भी।

संस्कृत के अलावे पाली-साहित्य में भी कहानियों के अनेक अनूठे और अमूल्य नमूने मिलेंगे। पाली-साहित्य में जातकों का एक प्रमुख स्थान है। इन जातकों की संख्या ५४७ है। इनमें 'एक-एक पृष्ठ की कहानी और चुटकुलों से लेकर सवा सौ पृष्ठों तक के लम्बे उपन्यासों का सन्निवेश है। जातक प्राचीन भारत के बहुमुखी सामाजिक और धार्मिक जीवन के बोलते चित्रपट

हैं। इनमें राजा-रंक, साधु, लफंगे, ईमानदार-उचक्के, संयमी-पियक्कड़, सदा-चारी-जुआड़ी, गुरु-शिष्य, वैद्यरोगी, सती-वेश्या, बधिक-बहेलिया, बढ़ई-राज, सुनार-लुहार—सबका जीता-जागता खाका है, हू-ब-हू हुलिया है।...महाभारत और पंचतंत्र की बहुत-सी कहानियों का मूल जातकों में है।' बौद्ध-साहित्य का विद्वान् राइस डेविड्स का कहना है कि यूनानी इसप के चुटकुलों का मूल भी जातकों में ही है।

महाभारत, उपनिषद् तथा जातकों की कहानियों का एक विकसित रूप पुराणों में मिलेगा। यहाँ पहुँचकर कहानियों ने एक प्रेमाख्यानी रोमांटिक रूप धारण कर लिया है, जिसमें अद्भुत कल्पना का प्रचुर पुट है।

बृहत्कथा का स्थान

कहानी के आरम्भिक मध्ययुग की चर्चा करते समय हम 'भारतीय कहानी के महारथी आचार्य गुणाढ्य' को नहीं भूल सकते, जिन्होंने पैशाची भाषा में 'बृहत्कथा' लिखी, जो मनोहर कहानियों का अपूर्व संग्रह है; रामायण, महाभारत और 'बृहत्कथा' वस्तुतः संस्कृत के समस्त काव्य, नाटक तथा कथा के मूल आधार हैं। 'बृहत्कथा' की कहानियाँ कितनी सरस थीं, यह उसकी रचना की कहानी से विदित हो जायगा। कुछ लोगों के अनुसार गुणाढ्य का समय ईसवी सन् के पूर्व की पहली शताब्दी है। उस समय सातवाहन नामक एक राजा राज्य करते थे। कहा जाता है कि एक बार संस्कृत भाषा की अल्पज्ञता के कारण उन्हें लज्जित होना पड़ा। तब उन्होंने अपने राजपंडित गुणाढ्य को बुलाया और कहा—आचार्य, हमें शीघ्रातिशीघ्र संस्कृत का ज्ञाता बना दीजिए। गुणाढ्य ने गम्भीर होकर कहा—६ वर्ष लगेंगे। एक दूसरा पंडित बोला—६ महीने काफी हैं। गुणाढ्य के पांडित्य को धक्का लगा। वे तनकर बोले—यदि ६ महीने में कोई संस्कृत सिखा दे, तो मैं उसी दिन से संस्कृत लिखना और बोलना दोनों ही छोड़ दूँगा। विधि का विधान। ६ महीने बाद राजा विशुद्ध संस्कृत लिखने-बोलने लगे और गुणाढ्य संस्कृत बोलना छोड़कर नगर से बाहर हो गए। भ्रमण-काल में उनकी भेंट एक गन्धर्व से हुई, जो शापवश पिशाच हो गया था। उस पिशाच कुलोत्पन्न गंधर्व ने एक ऐसी कहानी सुनायी

जिसे लिपिवद्ध करने को गुणाढ्य व्यग्र हो उठ। पिशाचों के बीच कागज और रोशनाई तो अनुपलब्ध थी; हाँ, चमड़ों, हड्डियों और लहू का अभाव न था। अतः चमड़ों पर रुधिर की स्याही से पैशाची भाषा में 'वृहत्कथा' लिखी जाने लगी। जब कथा पूरी हो गई, तब गुणाढ्य ने सातवाहन के पास उसे भेजा। लोहू और चाम की इस पुस्तक को देखकर राजा ने नाक सिकोड़ ली और तिरस्कार के स्वर में कहा—'का वा वस्तुसार विचारणा' (इनमें विचार करने योग्य पदार्थ ही क्या हो सकता है?) जब गुणाढ्य ने यह सुना, तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। वे उस ग्रंथ को आग में डाल देने को उद्यत हो गये। शिष्यों ने एक बार और सुनाने का आग्रह किया। आचार्य एक-एक पृष्ठ सुनाते जाते थे और सुनाने के बाद उसे आग में डालते जाते थे। कथा इतनी सरस और मोहक थी कि पशु-पक्षी खाना-पीना भूल गये और कहानी सुनने में सुध-बुध खोकर संलग्न हो गये। उनके शरीर का मांस सूखकर कठोर हो गया। एक दिन इनके सूखे मांस खाने से राजा के पेट में दर्द उत्पन्न हुआ। निदान के सिलसिले में राजा को सब हाल मालूम हुआ। वे दौड़कर आचार्य के चरणों पर गिर पड़े। तब तक ६ भाग जल चुके थे; केवल अन्तिम भाग बचा था। राजा केवल उसीकी रक्षा कर सके। दुर्भाग्य है कि इस सातवें भाग का भी मूल रूप उपलब्ध नहीं है। हाँ, इनके संस्कृत-संस्करण क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा मंजरी' और सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' में सुरक्षित हैं। इन पुस्तकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वृहत्कथा' की भाषा सरल, सरस और अनलंकृत होगी।

विकास

आगे चलकर 'वृहत्कथा' की शैली दो रूपों में विकसित हुई। एक रूप को हम बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में पाते हैं और दूसरे रूप को 'वेतालपञ्चविंशति', 'सिंहासन द्वात्रिंशतिका', 'शुक सप्तति' आदि में। 'कादम्बरी' में कथा का ढंग तो वही है; किन्तु भाषा ने अलंकारों के भूषण पहन लिये हैं। 'वेतालपञ्चविंशति' आदि में भाषा तो पूर्ववत् सादी है; किन्तु कथाएँ अपेक्षाकृत अधिक रोमांटिक हो गई हैं।

मुसलमानयुग

मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतीय साहित्य को बड़ा धक्का लगा। लगता है, मानों कुछ दिनों के लिए साहित्य का सृजन ही रुक गया। महमूद गजनवी (११वीं शताब्दी) के समय से ही हिन्दू राज्य हिन्दू-राजाओं के हाथ से निकलने लगे। शहाबुद्दीन गोरी (मृत्यु सं० १२६३) के समय से मुसलमानों के पाँव जमने लगे। गुलाम-वंश की स्थापना ने पठानी सल्तनत दृढ़ कर दी। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारतवर्ष में मुसलमानों का विस्तृत राज्य कायम हो चुका था। इसी समय से भारतीय कहानियों का दूसरा युग आरम्भ होता है। अतः इसके पूर्व के युग को हिन्दू-युग और इस काल को मुसलमान युग कहेंगे। मुस्लिम-संस्कृति के साथ कहानियों की नवीन परम्परा भी आई। अरबवाले 'सहस्र-रजनी-चरित्र' (Arabian Nights) लाये और फारस के सूफी फकीर प्रेमाख्यान लाय। सं० १५६६ में कुयबन ने 'मृगावती' लिखी और सं० १५५६ में मंझन ने 'मधुमालती' लिखीं। सं. १६०५ में जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' को पूरा किया। इन प्रेम-कहानियों के आधार पर अनेकानेक कहानियाँ हिन्दू और मुसलमान लेखकों के द्वारा पद्य में लिखी गयीं। इन कहानियों में वर्णित प्रेम ने लौकिक रूप धारण किया और १९ वीं शताब्दी के मध्य में 'तोता-मैना', 'सारंगा-सदावृक्ष', 'किस्सए चार यार' आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं; क्योंकि इस समय मुद्रण-यंत्र का प्रचार होने लगा था। इन कहानियों के लौकिक प्रेम ने कहीं-कहीं अश्लीलता को भी छू लिया है। इन प्रेम-कहानियों के अतिरिक्त इस काल में कुछ हास्य-विनोद-प्रधान कहानियाँ भी लिखी गई थीं। 'बीरबल-विनोद' इसका एक उदाहरण है। इन कहानियों में प्रेम और विनोद के साथ ही अलौकिक पात्र और प्रसंग की कल्पना भी धड़ल्ले से की गई है। इन कहानियों में वह साहित्यिक रोचकता अथवा रस नहीं है, जो हिन्दू-युग की कहानियों की विभूति है।

अंग्रेज-काल

इधर १७५७ से ही अंग्रेजों के पाँव जमने लगे। १८५७ की क्रांति की

विफलता के उपरान्त एक प्रकार से सारे भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया। और, जैसा पट्टाभि सीतारमैया ने कहा, इस क्रान्ति की पुनरावत्ति की संभावना को रोकने के लिए हमारे नये अभिभावकों ने कई हाईकोर्ट स्थापित किए और अनेक कालेज तथा स्कूल खोले, जिनमें भारत की नयी पीढ़ी के लोगों की अतिरिक्त शक्ति (Surplus energy) इन्हीं वस्तुओं में मग्न रहे। कालेज के विद्यार्थी अंग्रेजी नाटककारों और कलाकारों के सम्पर्क में आने लगे और उनसे उत्प्रेरित होने लगे। प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-कहानी-साहित्य में एक नवीन युग का विधान हुआ।

प्राचीन और नवीन कहानीकाल में अन्तर

इस नवीन युग की कहानियों और प्राचीन काल की कथाओं में बड़ा अन्तर है। आज का युग यंत्रयुग है, विज्ञान-युग है। आज सभी के जीवन व्यस्त हैं। उनके पास लम्बी कथाएँ सुनने का अवकास नहीं है। अतः प्राचीन युग के प्रतिकूल अब छोटी-छोटी कहानियाँ अधिक लिखी जाने लगीं। इन छोटी-छोटी कहानियों के लिए संक्षिप्तता और सांकेतिकता की आवश्यकता हुई। इस प्रकार शैली में भी भेद उपस्थित हुआ। 'एक था राजा और एक थी रानी' की भूमिका के साथ कहानी आरम्भ करने का जो पुराना ढंग था, वह बदल गया। अब कहानियाँ अति गतिशील रूप में उस स्थान से आरम्भ होने लगीं, जो पाठकों को आर्कषित और प्रभावित कर सकें। आज का वुद्धिवादी युग अभौतिक घटनाओं को शंका की दृष्टि से देखता है। इसलिए अब अलौकिक पात्रों ने सबलता और दुर्बलता, खूबियों और खराबियों से युक्त मानवोचित रूप धारण किया। अति मानुषिक घटनाओं की जगह आकस्मिक प्रसंगों को महत्त्व मिलने लगा। मनोरंजन ने मनोविज्ञान के लिए जगह खाली कर दी। सम्पूर्ण कहानी का आधार मनोविज्ञान हो गया। इस स्वतंत्र चिंतन के युग में कहानी के पात्र लेखक के हाथ के बे-जान कठपुतले न रहकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्पंदित व्यक्तित्व रखने लगे। कहानी राज-प्रासाद की चहारदिवारी से बाहर निकल कर हमारे जीवन के अंग-प्रत्यंग में घुस गयो। राजा और राजकुमार के अतिरिक्त निचले स्तर के मनुष्य भी कहानी

के नायक बनने लगे; क्योंकि आज का युग पीड़ितों का युग है, उपेक्षितों का युग है। 'अस्तु आधुनिक कहानी में राजा और राजकुमार के स्थान पर जुम्मन शेख, अलगू साह, घीसू चमार, मुन्नू मेहतर, महादेव सोनार, सेठ छंगामल, लहनासिंह जमादार, वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, प्रोफेसर, कवि, क्लर्क, दीवान, मिनिस्टर इत्यादि सभी लोगों का चित्र उपस्थित किया जाने लगा।'[१] कहानी के विषय का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ, जिसमें पूर्ववर्त्ती पुरुष और नारी के प्रेम के अतिरिक्त अन्य भावों को भी स्थान मिलने लगा। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्राकृतिक प्रभृति विषयों पर कहानियाँ लिखी जाने लगीं। नाटकीय व्यंजना भी आधुनिक कहानियों की एक विशेषता है।

हिन्दी-कहानी- साहित्य का प्रारम्भ

हिन्दी-कथा-साहित्य के तीन अग्रणी हैं—देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी। खत्रीजी ने तिलिस्म, गोस्वामीजी ने प्रेम-कथाएँ और गहमरीजी ने 'जासूस' दिये।

निर्माण-काल

हिन्दी के कहानी-साहित्य में उस दिन विराट् घटना घट गई थी, जिस दिन (जून १९००) 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिन्दी में मौलिक कहानियों का श्रीगणेश हुआ। १९०० ई० से १९१० ई० तक का काल हिन्दी-कहानी-साहित्य का निर्माण-काल है। स्वभावतः इस काल में किसी निश्चित परिपाटी और सर्वमान्य आदर्श तथा शैली का अभाव था। इसलिए अनेक तरह के प्रयोग हुए। अंग्रेजी और बंगला की अनेक कहानियाँ अनुवादित या रूपान्तरित होकर प्रकाशित हुईं। १९०० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई, जिसे हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी होने का श्रेय प्राप्त है और जो शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट से प्रभावित होकर भी अनेक कारणों से मौलिक है। रामचन्द्र शुक्ल ने पुराने ढर्रे पर 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी लिखी। मैथिलीशरण गुप्त की कहानी 'निन्नानवे का फेर' (१९१०) हितोपदेश की उपदेशात्मक प्रवृत्ति की

---

१. डाक्टर श्रीकृष्णलाल

याद दिलाती है। माधव मिश्र और सूर्यनारायण दीक्षित ने पौराणिक शैली का एक विकसित रूप प्रस्तुत किया। इधर इतिहास-वर्णित घटनाओं के आधार पर वृन्दावनलाल वर्मा आदि ने 'राखीवंद भाई' आदि लिखकर ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा चलायी। इस निर्माण-काल की सर्वोत्कृष्ट रचना वंगमहिला की 'दुलाईवाली' (१९०७ ई०) है।

विकास-काल

प्रयाग की 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिन्दी-कहानियों के निर्माण-का आरम्भ हुआ और काशी के 'इन्दु' के प्रकाशन (१९०९ ई०) के साथ उनका विकास-काल प्रारम्भ हुआ। यह काल १९११ ई० से १९२७ ई० तक रहा। इस काल में हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख कहानीकार प्रकाश में आ चुके थे। जयशंकर 'प्रसाद' की प्रथम कहानी 'ग्राम' १९११ ई० में 'इन्दु' में छपी। १९१२ ई० में विश्वम्भर नाथ जिज्जा की 'परदेसी' निकली। १९१३ ई० में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की सरस कहानी 'कानों में कंगना' प्रकाशित हुई। इसी साल 'कौशिक' जी की कहानी 'रक्षा-बन्धन' निकली। १९१५ ई० में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' के दर्शन हुए और १९१६ ई० में कथा-साहित्य के सम्राट् प्रेमचन्द की कहानी 'पंच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त अन्यान्य लेखकों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया, जिनका प्रवेश-काल नीचे उद्धृत है—

चतुरसेन शास्त्री	—१९१४ ई०
रायकृष्ण दास	—१९१७ ई०
वालकृष्ण शर्मा 'नवीन	—१९१८ ई०
गोविन्दवल्लभ पंत	—१९१९ ई०
सुदर्शन	—१९२० ई०
भगवतीचरण वर्मा	—१९२१ ई०
उग्र	—१९२२ ई०
निराला	—१९२३ ई०
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	—१९२४ ई०

विनोदशंकर व्यास —१९२७ ई०
वाचस्पति पाठक —१९२७ ई०

प्रेमचंद-शैली और प्रसादशैली में अन्तर

इस काल में हम निश्चित रूप से दो प्रकार की शैली पाते हैं—प्रेमचंद-शैली और प्रसाद-शैली। हमने अपनी पुस्तक 'प्रसाद और उनके नाटक' में निवेदन किया है कि "कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद और 'प्रसाद' एक दूसरे के पूरक थे। एक में व्यक्त घटनाएँ प्रधान हैं और दूसरे में व्यक्त व्यापार से अधिक अव्यक्त भावना को प्राधान्य मिला है। प्रेमचंद जीवन की मोटी साइकोलौजी पर चलनेवाले थे और प्रसाद मानव-हृदय की सूक्ष्म और सुकुमार मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले। एक ने पुरुष-हृदय को पहचाना और दूसरे ने नारी-हृदय के गहन अन्तस्तत्त्वों के स्पष्टीकरण में अधिक सफलता पायी। प्रेमचंद का कथोपकथन नाटकीय है और 'प्रसाद' का कथोपकथन स्निग्ध और कवित्वपूर्ण है, जिसमें अध्ययन का आनन्द आता है। एक की भाषा इतिवृत्ति के अनुरूप प्रसादपूर्ण, सजीव, उर्दू के लोच और रवानी से भरी, मुहावरों की चुस्ती और कलाम की सफाई से युक्त है, दूसरे की भाषा एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाँति धीर व्यक्तित्व लिए खड़ी है। प्रेमचंद छोटे-छोटे वाक्यों में जो सूक्तियाँ देते हैं, वे निजी अनुभव की देन होने के कारण हृदय पर पत्थर की लकीर की भाँति अमिट प्रभाव छोड़ती है। 'प्रसाद' रह-रहकर अपनी रसात्मक पंक्तियों में जो कोमलतम भाव भरते हैं, वे हमारे प्राणों में मधु घोल देते हैं और हम में सरूर भर देते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में एक डिजाइन है। वे एक निश्चित गति से आरम्भ होती हैं और एक निश्चित परिस्थिति में उनका पर्यवसान होता है, जहाँ पाठक की सारी जिज्ञासाएँ एकबारगी शान्त हो जाती हैं। 'प्रसाद' की कहानियों का अन्त आकस्मिक होता है। वे पाठक को शान्ति देने की जगह उनमें भावोत्तेजन भरती हैं।"

इस काल के सबसे अधिक लोकप्रिय कलाकार प्रेमचन्दजी हैं और इस युग की सबसे उत्कृष्ट कहानी है गुलेरीजी की 'उसने कहा था।'

अत्याधुनिक काल

१६२८ ई० से हिन्दी-कहानी-साहित्य के अत्याधुनिक युग का आरम्भ होता है। यदि मौलिक कहानियों का श्रीगणेश करने का श्रेय 'सरस्वती' को है और उन्हें विकसित करने का 'इन्दु' को तो इन कहानियों को अत्याधुनिक रंग में रँगने और कहानी-साहित्य में एक नवीन युग के विधान करने का गौरव 'विशाल भारत' और 'हंस' को प्राप्त होता है। इस युग के सबसे अधिक प्रिय कलाकार जैनेन्द्र की प्रथम कहानी 'खेल' १६२८ ई० में 'विशाल भारत' में छपी। उसी साल चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की पहली कहानी भी 'विशाल भारत' में ही छपी। भगवतीचरण वर्मा की पहली कहानी यद्यपि १६२१ में ही छपी थी; किन्तु वास्तव में उनकी कहानियों (जिनमें उनके व्यक्तित्व की छाप है) का सिलसिलेवार प्रकाशन १६३१ से आरम्भ हुआ। इसी प्रकार 'अज्ञेय' की पहली कहानी १६२४ में छपी; किन्तु वह उनका एक बाल-प्रयास था। उसमें न तो वह प्रौढ़ता थी और न वह विद्रोह-भावना, जो हम १६३० के आन्दोलन के उपरान्त प्रकाशित कहानियों में पाते हैं। आज के 'अज्ञेय' के दर्शन वस्तुतः १६३२ से होने लगे। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की पहली कहानी १६३३ में 'हंस' में प्रकाशित हुई। विद्रोह-भावना, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, आध्यात्मिक पुट और भाषा का प्रौढ़ घरेलूपन इस काल की कहानियों की विशेषताएँ हैं। संक्षिप्तता और सांकेतिकता उनकी शैली के विशेष गुण हैं। कथानक की मांसलता का अभाव भी इन्हें पूर्ववर्त्ती कहानियों से अलग करता है। जैनेन्द्र की कहानियों में हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोवृत्ति का विश्लेषण मिलेगा। कम-से-कम पात्रों के सहारे जीवन के किसी अंग-विशेष की उद्दीप्तता की झाँकी देना और घरेलू भाषा तथा कतिपय वाक्यों में गहन-से-गहन भाव को प्रकट कर देना कोई जैनेन्द्र से सीखे। हाँ, उनकी कहानियों में जो आध्यात्मिक अन्तर्धारा बहती रहती है, वह अभी अस्पष्ट है और इस कारण उनकी कहानियों में धुँधलापन बना रहता है। शैली की दृष्टि से आपकी तुलना चेखव से की जा सकती है। आपकी कहानियों में जो 'मनोलोक का छाया-प्रकाश' है, वह जेम्स ज्वाइस और लौरेन्स की याद दिलाता है।

'अज्ञेय' की कहानियों में प्रचण्ड विप्लव है और उनकी कला में अपूर्व बल। जैनेन्द्र भावात्मक अधिक हैं, सत्तात्मक कम। 'अज्ञेय' सत्तात्मक अधिक हैं, भावात्मक कम। नवीन शैली और विधान दोनों में हैं; किन्तु जैनेन्द्र में दार्शनिकता अधिक है और 'अज्ञेय' में कला के प्रति मोह।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों का असंतोष और व्यंग बड़ा तीव्र है। भाषा की सजीवता भी अन्यतम है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार 'फार्म' की ओर अधिक आकृष्ट हैं। उन्हें कहानियों के नवविधान में सफलता भी खूब मिली है। 'क ख ग' नामक कहानी में जीवन के तीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। "एक सप्ताह' में हफ्ते-भर की चिट्ठयों के सहारे कहानी लिखी गई है और 'चौबीस घंटे' में एक दिन के भूकम्प का दृश्य अंकित किया गया है।

शिवपूजन सहाय की कहानियाँ बड़ी सजीव होती हैं। चरित्र-चित्रण की सजीवता के अतिरिक्त भाषा की विशुद्धता और रवानी दर्शनीय है। ओजपूर्ण कहानी लिखने में तो आप सबसे आगे हैं। एक बात और। शिवपूजनजी आँचलिक उपन्यासों के अग्रदूत हैं और उनका 'देहाती दुनिया' उपन्यास सम्भवतः हिन्दी का पहला और सही मानी में आँचलिक उपन्यास है। इनकी कहानियों में भी स्थानीय रंग की यह सजीवता वर्त्तमान रहती है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों का सबसे बड़ा आकर्षण है राजा साहब की शैली की मिठास। बँगला के क्षेत्र से आने के कारण उनकी आरम्भिक कहानियों में बंगीय भावुकता की झलक है। जनार्दन झा 'द्विज' की कहानियों में काव्य का पुट और करुणा की सजल अभिव्यक्ति है। बेनीपुरीजी जनता के कहानीकार हैं। स्वभावतः उनकी कहानियों में पीड़ित जनों का क्षुब्ध हाहाकार है। इधर जेल में आपने बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं और उन्होंने स्वयं मुझे एक दिन बतलाया कि इन कहानियों में झोपड़ी के रुदन को कला का रूप दिया गया है। यशपाल जंजीर में बँधी मानवता की छटपटाहट प्रकट करने में विशेष कुशल हैं। काल-क्रम से जड़ हो जानेवाली मान्यताओं के प्रति विद्रोह का स्वर भी तीव्र है। अधिकांश कहानियाँ 'सेक्स' प्रधान हैं। राधाकृष्ण हास्य और व्यंगपूर्ण कहानियाँ लिखने में सबसे आगे हैं।

अन्नपूर्णानन्द 'कल की बात' खूब लिखते हैं। महादेवी वर्मा और वियोगीजी संस्मरण लिखने में बेजोड़ हैं। उग्र की शैली बेपनाह है। अन्य कवियों ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। पंत, निराला और सियारामशरण गुप्त विशेष उल्लेखनीय हैं। लेखिकाओं में शिवरानी प्रेमचन्द, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा और होमवती देवी प्रसिद्ध हो चुकी हैं। मुसलमान लेखकों में प्रो० अहमद अली और सज्जाद जहीर प्रमुख हैं।

इधर ख्वाजा अहमद अब्बास और कृष्णचन्द्र की कहानियाँ विशेष लोकप्रिय हो चली हैं। कृष्णचन्द्र की 'वह आदमी जो मर चुका', 'पेशावर एक्सप्रेस' आदि कहानियाँ और अब्बास की 'सरदार साहब' कहानी अत्याधुनिक कहानियों के मील-स्तम्भ-सी हैं।

अन्य लेखकों में सर्वश्री वियोगी, नलिनविलोचन शर्मा, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', नरेश, नर्मदेश्वर प्रसाद, विश्वमोहन सिनहा, कृष्णनन्दन सिनहा, राधाकृष्ण प्रसाद, शिवचन्द्र शर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

नवोदित लेखकों की बाढ़-सी आ गई है। यह शुभ है।

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य

निबंध और व्यक्तिगत निबन्ध—संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ 'बाँधना' या 'सँवार कर सीना' है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रंथों के बाँधने या सीने के प्रसंग में इस शब्द ने रूप ग्रहण किया। इसी परिवार का एक दूसरा शब्द 'प्रबन्ध' भी अति प्राचीन है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दोनों हीं बन्धन के द्योतक हैं; पर व्यवहार में 'प्रबन्ध' का क्षेत्र निबन्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक रहा और उसमें अनेक मतों का संग्रह होता रहा। 'हिन्दी शब्द-सागर' ने भी इस शब्द का अर्थ 'वह व्याख्या' माना है, 'जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो'। इस परिवार का तीसरा शब्द है 'लेख', जिसका मूल अर्थ

१४

'लिखा हुआ' होता है। यों अंग्रेजी Essay, Treatise और Article के लिए क्रमशः निवन्ध, प्रवन्ध और लेख का प्रयोग हो सकता है; पर व्यवहार में उपर्युक्त सभी प्रकार के गद्यविधानों को निवन्ध कह दिया जाता है। सो, 'निवन्ध' आज एक बहुव्यापक शब्द बन गया है। ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-उपनिषद्, साहित्य, राजनीति इत्यादि किसी भी विषय पर प्रस्तुत भाव-गंफन को निवन्ध कह सकते हैं। पोप की आलोचनात्मक छंदोबद्ध रचना और भारतेन्दु के भाषण तक को निवन्ध की संज्ञा मिल चुकी है।

किन्तु अब पाश्चात्य साहित्य में 'निवन्ध' (Essay) शब्द वैयक्तिक अनुभूतियों पर आश्रित एक ऐसे गद्यविधान के लिए रूढ़ हो गया है, जिसे व्यक्तिगत निबन्ध (Personal Essay) कहते हैं। मराठी में 'व्यक्तिगत निवन्ध' के लिए 'ललित निवन्ध' का प्रयोग चल पड़ा है। प्रो० फड़के का 'नवें लेंणे' ऐसे ही 'ललित निबन्धों' का प्रसिद्ध संग्रह है। 'अंग्रेजी विश्वकोश' (Encyclopaedia Britannica) में निवन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'साहित्यिक रूप के लिहाज से निबन्ध औसत लम्बाई की साधारणतः गद्य में की गई एक ऐसी रचना है, जिसमें किसी विषय पर सरल एवं स्वच्छंद ढंग से विचार किया गया हो और जिसमें विषय का प्रतिपादन उसी रूप में किया गया हो, जिस रूप में उसने लेखक को प्रभावित किया है।"[1] इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट होती हैं; एक तो यह कि व्यक्तिगत निबन्ध आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है, न कि वस्तुनिष्ठ (Objective) और दूसरी यह कि प्रतिपाद्य वस्तु की गौणता के कारण प्रतिपादन-शैली मुखर एवं स्वच्छंद होती है।

इस प्रकार के गद्यविधान का आरम्भ फ्रांस में हुआ और उस देश के विख्यात साहित्यकार मानटेन (Montaigne) इसके आदि लेखक हुए।

---

1. As a form of literature, the essay is a composition of modest length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject and in strictness, with that subject only as it affects the writer.

मानटेन ने ऐसे निबन्धों को 'आत्मा के संवाहन का प्रयत्न'[1] कहा है। उन्होंने निबन्ध को आत्मा का संवाहन कहकर उसकी आत्मनिष्ठा को आत्मकथा की कोटि में ला दिया है। अपनी सफाई में वे कहते हैं कि 'अपने निबन्धों का विषय मैं ही हूँ; क्योंकि मैं ही तो एकमात्र वह व्यक्ति हूँ, जिसे मैं भली-भाँति जानता हूँ।[2] इस प्रकार मानटेन के अनुसार निबन्ध का उद्देश्य केवल आत्म-निवेदन है। इस आत्मनिवेदन की प्रक्रिया में कोई-न-कोई मन:स्थिति (**Mood**) काम करती है। उसी मन:स्थिति के अनुरूप निबन्ध व्यंग्यपूर्ण, विनोदात्मक अथवा गम्भीर हो जाता है। लेखक की इस मनोदशा और उससे उत्पन्न लेखक की आत्मनिष्ठा, स्वाभाविक एवं स्वच्छंद पद्धति को ध्यान में रखकर अंग्रेजी के समर्थ आलोचक और निबन्धकार डा० जानसन नें निबन्ध को 'एक शृंखलित एवं सुव्यवस्थित रचना' न मानकर उसे 'मन का एक हठात् अस्तव्यस्त आक्रमण' तथा 'एक अव्यवस्थित अधपका संदर्भ' कहा है।[3] निबन्ध में आत्मचिंतन की प्रधानता होती है, आदर्श वा संदेश का आग्रह नहीं। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर किसीने निबन्ध को 'भोजनोपरान्त का स्वगत' (**After-dinner monologne**) और किसीने निबन्धकार को 'आराम कुर्सी में पौढ़ा हुआ दार्शनिक' (**Philosopher in an easy-chair**) कहा है। थैकरे ने इस प्रकार के निबन्ध को 'चक्करदार लेख' (**Round-about paper**) कहा है; क्योंकि वह वर्ण्य विषय को केन्द्र में रखकर विशेष मनोदशा में स्थित व्यक्तित्व के सहारे विषय के चारों ओर दूर-दूर तक चक्कर काटता रहता है। निबन्धकार बेकन के 'बिखरे चिंतन' (**Scattered meditation**) को इसी मानी में समझा जा सकता है।

---

1. These essays are an attempt to communicate the soul.

2. I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly.

3. The essay is a loose sally of the mind, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition.

'निवन्ध की विशेषता उसके वर्ण्य विषय में नहीं, क्योंकि कोई भी विषय उसके लिए पर्याप्त होगा, वरन् लेखक के व्यक्तित्व-आकर्षण में है।'[1] प्रीस्टले के शब्दों में 'निवन्धकार का विषय होता ही नहीं। संसार में जितने भी विषय संभव हैं, सभी उसके बन्दे हैं। इसका साधारण कारण यह है कि लेखक का काम अपनी या अपने विषय के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करना है।'[2] वह निवन्ध के एक-एक मुहावरे को व्यक्तित्व में पगा देखता है।[3] आत्म-निवेदन की यह भावना, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति अथवा मनःस्थिति की प्रधानता निवन्ध को गीतिकाव्य के निकट ला देती हैं। इसलिए निबन्ध को 'गद्यगीत' (Lyric in prose) भी कहा गया है। स्मिथ ने निवन्ध से गीतिसाम्य पर विचार करते हुए लिखा है कि 'साहित्य-रूप के विचार से निवन्ध गीति-काव्य से मिलता-जुलता है, उस हद तक, जिस हद तक वह किसी केन्द्रीय मनःस्थिति-प्रक्षेप, गम्भीर अथवा व्यंग्यपूर्ण से उत्प्रेरित रहता है। मनःस्थिति को रूप दीजिए और निवन्ध प्रथम वाक्य से अन्तिम तक उसके चतुर्दिक् उठ खड़ा होगा, जैसे रेशम के कीड़े के चारों ओर रेशम उगता जाता है।'[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक निवन्ध की पाश्चात्य व्याख्या पर विचार

---

1. The point of the essay is not the subject, for any subject will suffice, but the charm of personality—A. C. Benson.

2. But the real essayist has no subject or if you will had every subject in the world at his command, for the simple reason that his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself.

3. The true essay approximates to familiar talk and the essayist is the brilliant and self-revealing conversationalist whose every phrase is salted with personality.

4. The essay as a literary form resembles the lyric, in so far as it is moulded by some central mood—whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay from its first sentence to the last goes round it, as the cocoon grows around the silk-worm.

करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निवन्ध उसीको कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।'

निबंध की विशेषताएँ—ऊपर की व्याख्याओं और परिभाषाओं के आधार पर स्थूल रूप से अब निवन्धों की विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। मोटे तौर पर वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्तिगप निवन्ध में निवन्धकार के व्यक्तित्व की सर्वथा प्रधानता होती है। निवन्ध आत्मनिष्ठ होता है।

२. इसमें किसी-न-किसी मनःस्थिति की प्रेरणा रहती है।

३. व्यक्तित्व और मनःस्थिति की दूरी से लिखित होने के कारण निबंध में विषय के विकास-क्रम और विचारों की श्रृंखला का अभाव रहता है और मनःस्थिति के अनुरूप गम्भीरता, व्यंग्य, विनोद इत्यादि रागात्मक तत्त्वों का बाहुल्य।

४. इसमें शैली की प्रधानता रहती है और उस शैली में कृत्रिम उपादानों का बहिष्कार एवं बातचीत के ढंग की स्वीकृति रहती है।

५. इसका आकार-प्रकार महाकाव्य एवं उपन्यास से न मिलकर शब्द-चित्र (**Sketch**) अथवा गीति (**Lyric**) से मिलता-जुलता है।

पश्चिम में व्यक्तिगत निबन्ध का विकास-क्रम—१५७१ ई० निबन्ध-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण तिथि है; क्योंकि उसी साल मार्च महीने में फ्रांस-निवासी मानटेन ने पहला व्यक्तिगत निबन्ध लिखा था। मगर जिस निबन्ध का आरम्भ फ्रांस में हुआ, उसका विकास हुआ इंगलैण्ड में। इस सम्बन्ध में फ्रांस के एक साहित्यकार आरलो विलियम्स ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। उसने कहा है कि फ्रांस के निवासियों के स्वभाव की अपेक्षा इङ्गलैण्ड के निवासियों का स्वभाव निबन्ध-लेखक की मनोवृत्ति के अनुकूल है। अंग्रेजी के प्रथम निबन्धकार होने का श्रेय बेकन को है। पर, मानटेन की तरह वे प्रतिपाद्य विषय को सर्वथा गौण नहीं रख सके। बेकन के निबन्ध गवेषण, विवेचन, तर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण से भरे हैं। उनमें

व्यक्तित्व की प्रधानता नहीं है। मानटेन साहित्यिक थे, बेकन विचारक। इस कारण बेकन के निबन्धों में मानटेन की आत्मीयता नहीं आ सकी। मानटेन में अनुभव हैं, बेकन में अनुशीलन। काउले और विलियम टेम्पेल अवश्य मानटेन के पथ पर चले। डा० जानसन अंग्रेजी निबन्ध-साहित्य में एक नया दिशा-निर्देश लेकर आये। वे स्वभाव से गम्भीर थे। गम्भीर निबन्ध लिखते-लिखते वे बोलचाल को भी गम्भीर बना चुके थे। स्टील और एडीसन की जोड़ी को भी नहीं भुलाया जा सकता। अपने समय के ये अत्यन्त लोकप्रिय निबन्ध-लेखक थे। दोनों ने अपने निबन्धों में चरित्र-चित्रण और चारित्रिक समस्याओं को विशेष महत्त्व दिया। दोनों में हास्य-व्यंग्य की सजीवता थी और दोनों की शैली में बातचीत की स्वाभाविक लय भी थी। एक प्रकार से १७वीं और १८वीं शताब्दियों के समस्त निबन्धों में सामान्य रूप से कथात्मकता, चारित्रिक विवेचन और सुधार-प्रवृत्ति की विशषताएँ उपलब्ध हैं। १९वीं शताब्दी अंग्रेजी निबन्ध-साहित्य का सवश्रेष्ठ काल कहा जाता है। इस काल के प्रसिद्ध निवन्ध-लेखक हैं——राबर्ट लुई स्टीवेन्सन, गोल्डस्मिथ, हैजलिट, ले हण्ट, इमर्सन, चार्ल्स लैम्ब, मैथ्यू आर्नल्ड, मैकाले इत्यादि। स्टीवेन्सन इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध को प्रभावित करनेवाले प्रथम श्रेणी के निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्धों में अनुभूति-विह्वल व्यक्तित्व की मोहक अभिव्यक्ति हुई है। गोल्डस्मिथ जिस पथ पर चले, उसमें अनेक संभावनाएँ थीं; पर उनके उद्घाटन का श्रेय, उस पथ को अत्यन्त परिष्कृत रूप में उपस्थित करनेवाले चार्ल्स लैम्ब को मिला। स्वप्नों और कल्पनाओं को सत्यवत् अनुभव करानेवाली निश्छलता से लैम्ब ने अपने समय के पाठकों को चमत्कृत कर दिया था और वस्तुतः लैम्ब की यह उपलब्धि अन्यतम है। हैजलिट और ले हण्ट दोनों एक ही समय साहित्य में उतरे। मगर हैजलिट निराला निकला। उसके निबन्ध 'आत्मकथात्मक' तो थे; पर मधुर नहीं। उसमें दार्शनिकता भी थी और रोषपूर्ण चोट भी। वह एक ओर बेकन था और दूसरी ओर लैम्ब। अंग्रेजी निबन्ध-लेखकों के राजकुमार लैम्ब को श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ उसे नहीं मिलीं; पर उसकी आभापूर्ण शैली भी दूसरों को न मिल सकी। ले हण्ट ने भी

अनेक प्रयोग किये। इमर्सन, मैथ्यू आर्नल्ड और मैकाले प्राचीन आदर्शों के निकट होते हुए भी भावुकता और वैयक्तिक कल्पनाओं के कारण आधुनिक बने रहे। मैकाले ने अपेक्षाकृत बड़े-बड़े निबन्ध लिखे।

परवर्त्ती काल के निबन्धकारों में एच० जी० वेल्स, जी० के० चेस्टरटन, इ० वी० ल्यूक्स, लास्की, लिण्डमैन, गार्डिनर, प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-निबन्धों का विकास––हिन्दी-निबंधों का आरम्भ-काल भारतेन्दु-युग है। भारतेन्दु-काल के प्रमुख निबन्धकार हैं––भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बदरीनारायण 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम, मुंशी ज्वालाप्रसाद, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट इत्यादि। भारतेन्दु बाबू इस युग के पारस थे। युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनका ही व्यक्तित्व था। उन्होंने अनेक प्रकार के विचारात्मक, वर्णनात्मक और भावात्मक लेख लिखे। उनके नाटकों की तरह उनके निबन्धों में भी उनकी मार्मिक आत्मकथा प्रतिभासित है। दुराव-हीनता भारतेन्दु के निबन्धों की विशेषता और आकर्षण है। 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' कथात्मक प्रणाली के साथ स्वप्न-शैली को (जिसमें स्वप्न के माध्यम से मन के उच्छ्वास का चित्रण होता है) उपस्थित करता है––एडीसन के 'दी विजन आफ मिरजा' की तरह। पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र की युगलमूर्त्ति अंग्रेजी के एडीसन और स्टील की याद दिलाती है। स्टील और एडीसन की तरह ये दोनों भी पत्रकार थे। यदि उनका सम्बन्ध 'स्पेक्टेटर' से था, तो इनका 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' से। ह्यू ज वाकर ने कहा था कि एडीसन में बौद्धिकता की प्रधानता है और स्टील में हृदय-पक्ष की। तुलना यहाँ भी सटीक उतर आती है। भट्टजी में मस्तिष्क का तर्क प्रबल है, मिश्र जी में हृदय-पक्ष। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही भट्ट जी की तुलना एडीसन से और प्रतापनारायण मिश्र की स्टील से की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश लेखक पत्रकार थे या पत्रों में लिखनेवाले थे। और यदि ठीक-ठीक कहा जाय, तो उनकी रचनाएँ 'लेख' ज्यादा हैं, 'निबन्ध' कम।

हिन्दी में 'निवन्धों' के आरम्भकर्त्ता सही मानी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र हैं। भट्टजी ने साधारण-से-साधारण विषयों—जैसे नाक, कान, आँख, पैसा, नहीं, बातचीत, इङ्गलिश, पढ़ै सो बाबू होय, पसंद, माँ, आँसू, इत्यादि से लेकर असाधारण-से-असाधारण विषयों, जैसे 'पुरुष अहेरी' की स्त्रियाँ अहेर हैं', 'ईश्वर भी क्या ही ठठोल है', 'भकुआ कौन-कौन है इत्यादि तक बड़े ही आत्मीय और विशिष्ट ढंग से लिखा है। उनके निवन्धों में शब्द-चित्र का चमत्कार, अनोखी सूझ और भाषा का चमकदार प्रवाह है। उन्होंने निवन्धों के अनुरूप शब्द और मुहावरे गढ़े भी थे, जैसे 'सुन्दरापा', 'बेवनावट', 'मरपच साहित्य', 'टटके-टटके' इत्यादि। पं० प्रतापनारायण मिश्र एक फक्कड़ जीव थे; पर जाननेवाले जानते हैं कि उनका यह फक्कड़पन कितनी विपदाओं से घिरा था। उनका यही स्वभाव उनके निवन्धों में उतर आया है। चाहे 'मनोयोग', 'हमारी आवश्यकता', 'नारी' आदि जैसे गम्भीर विषय हों, चाहे 'घूरे के लत्ता विनै', 'होली', 'आप', 'तिल', 'भौं', 'और' आदि जैसे समसामयिक और काल्पनिक विषय हों, हास्य और विनोद की फुलझड़ियाँ और फव्वारे बीच-बीच में पाठकों को लोट-पोट कर ही देंगे। स्टील की तरह तर्कों के बीच उनकी हार्दिकता उमड़-उमड़ आती है। इसके अतिरिक्त उनके निवन्धों में व्यक्ति-प्रधान निवन्धों की दो अन्य विशेषताएँ मिलेंगी। एक तो यह कि वे अपने निवन्धों के विभिन्न नामधारी पात्रों में स्वयं उपस्थित रहते हैं और इस कारण सर्वत्र आत्मीयता बनी रहती है तथा दूसरी यह कि उनकी भाषा का स्वच्छंद प्रवाह लोक-जीवन के मुहावरों और रोजमर्रों के सहारे पाठकों को निकट ले आता है और रचना को एक स्थानीय रंग दे जाता है। 'धोखा', 'होली' इत्यादि निवन्धों में भावों और विचारों के चक्कर (diversion) भी खूब हैं।

'प्रेमघन' के निवन्ध अपेक्षाकृत कम और वर्णनात्मक हैं, जैसे पावस ऋतु-वर्णन, फाल्गुन इत्यादि। हाँ, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बालमुकुन्द गुप्त न शिवशम्भू शर्मा के नाम से 'भारतमित्र' में चिट्ठे लिखकर निबन्ध को एक नयी गति दी। उनके निबन्ध 'शिवशम्भू के चिट्ठे और खत' के नाम से

पुस्तकाकार छपे हैं। इन निबन्धों में उनका व्यक्तिगत, मौजी और मस्ताना दृष्टिकोण दर्शनीय है। उनके अनुकरण में हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य-विनोद-पूर्ण पत्रों और चुटकुलों की एक परिपाटी-सी चल पड़ी और आज तक बदस्तूर चल रही है।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ द्विवेदी-काल से होता है। इस काल के प्रमुख लेखक हैं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० माधव मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', श्री गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय इत्यादि। इस काल के निबन्धों और भारतेन्दु-काल के निबन्धों में विशष अन्तर नहीं। हाँ, इस युग के निबन्ध पूर्वकालीन विनोद के स्वर को छोड़कर निश्चयात्मकता एवं विवेचनात्मकता को अंगीकार करने लगे हैं और, साथ ही, इनकी भाषा भी स्थिर-सी है। द्विवेदीजी के निबन्ध-विचारात्मक एवं व्यासशैली में लिखे गए हैं। आपने करीब २५० निबन्ध लिखे हैं। इतने निबन्ध अब तक किसीने भी नहीं लिखे, थे। उनके निबन्धों के संग्रह हैं, 'विचार-विमर्श', 'रसज्ञ-रंजन', 'रेखांजलि' 'समालोचना समुच्चय', 'आलोचना-ञ्जलि' इत्यादि। पं० पद्मसिंह शर्मा एक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और प्रायः कृत्रिम शैली के प्रसंग में उनका उदाहरण दिया जाता है। पर, यही शैली उनकी विशिष्टता है। इसमें जगह-जगह बड़ी चंचल भाषाएँ हैं। उनके निबन्धों का संग्रह 'पद्मपराग' है। गुलेरीजी के निबन्ध 'छुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' प्रसिद्ध हैं। गुलेरीजी शैली के चटपटापन से नीरस विषयों में भी जान डाल देते थे। वे विवेचनात्मक निबन्धों में भी हास्य और शास्त्रीयता का अद्भुत मिश्रण कर देते थे। गहमरीजी ने उपन्यासों के साथ कुछ निबन्ध भी लिखे हैं, जो भावात्मक हैं। उनके निबन्धों की विशेषता विषयानुरूप भाषा है। ब्रजनन्दन सहाय के निबन्धों में अनुभूति की वह तन्मयता है, जो पाठकों को भावविभोर कर देती है। उनके निबन्धों में काव्य की तरंगें उठती रहती हैं।

परवर्त्तीकाल के निबन्धकार हैं रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पूर्ण सिंह, धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियाराम

शरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र कुमार, गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीकान्त झा, माखनलाल चतुर्वेदी, डा० दिवाकर-प्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, केसरी कुमार, दिनकर, श्रीनरेश, शिवचन्द्र शर्मा, डा० रघुवीर सिंह इत्यादि। शुक्लजी और श्यामसुन्दर दास से तो सभी परिचित होंगे। पूर्ण सिंह ने थोड़ा लिखा है; पर जो कुछ लिखा है, हृदय की सजलता से। उनके निबन्धों में भाषा जैसे आत्मा से छनकर निकली हुई है; वह काव्यात्मक और फिर भी अनिवार्यतः स्वाभाविक है। उनके निबन्धों का अन्तरंग आध्यात्मिक भावुकता से बना है। गुलाबरायजी का निबन्ध-संग्रह 'मेरी असफलताएँ' व्यक्तिगत निबन्धों का एक अच्छा संग्रह है। बख्शीजी का भी हिन्दी के व्यक्तिगत-निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। 'दूर के ढोल सुहावने', 'क्या लिखूँ', रामलाल पंडित', 'नहीं', इत्यादि उनके महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत निबन्ध हैं। बख्शीजी के निबन्धों में प्रायः दो विरोधी बातों का आश्चर्यजनक समन्वय मिलेगा, व्यंग्य, पर कटुता नहीं; तथा गीतिकाव्य की भंगिमा पर पहले दर्जे की सरलता। सियारामशरण गुप्त भी उत्कृष्ट व्यक्ति-गत-निबन्धकार हैं। हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन उनका निबन्ध-संग्रह 'झूठ-सच' है। इन निबन्धों में कहानी का वस्तु-आकर्षण, कविता का उच्छ्वास और उपन्यास का विस्तार है। सब मिला-जुलाकर ये निबन्ध बड़े सफल और मनोरम हो गए हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध-संग्रह 'अशोक के फूल' भी अपने ढंग का अनूठा है; द्विवेदीजी उन विरले व्यक्तियों में हैं, जो संस्कृत गलाकर हिन्दी को सँवार सके हैं, जिन्हें संस्कृत के ज्ञान-भंडार से ही नहीं, अपितु शैली से भी बल मिला है। अनुभव और अध्ययन का ऐसा मेल शायद ही कहीं मिले। चुटकुले, संस्मरण और काव्य का संयोग भी विचित्र है। और, सबके भीतर से उभड़नेवाला मार्मिक विवेचन जैसे निबन्धों का जलपूर्ण आकाश है। जैनेन्द्रजी के निबन्ध लगभग सबके सब व्यक्तिगत हैं; क्योंकि चाहे कैसा भी निबन्ध हो, वे उसे कहानीकार की मुद्रा में लिखेंगे जैसे वे किसी से बात कर रहे हों। प्रभाकर माचवे का हाल में प्रकाशित

व्यक्तिगत निबन्धों का संग्रह 'खरगोश का सींग' है। शिवपूजनजी 'मतवाला' में 'अगिया बैताल' के छद्मनाम से जो हास्य-विनोद-व्यंग्य-पूर्ण निबन्ध लिखते रहे, उनका एक संग्रह 'दो घड़ी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। शिवजी की शैली में वह काट है, जो लेखक की प्रभुता बतलाती है। मस्ती, अनुभूत भाव और वर्णन की सटीकता इन निबन्धों की विशेषताएँ हैं। लक्ष्मीकान्त झा ने तो हिन्दी को व्यक्तिगत निबन्ध की एक नयी शैली देने का दावा किया है; क्योंकि अपने निबन्ध-संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'इन निबन्धों के द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली का प्रयोग किया है। य निबन्ध उस शैली के हैं, जिसमें अंग्रेजी के व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध हुआ करते हैं।' माखनलालजी अपने निबन्ध-संग्रह 'साहित्य-देवता' में अन्योक्ति-पद्धति पर लिखे गये निबन्धों के रचयिता के रूप में आये हैं। डा० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, प्रो० केसरी कुमार, श्रीनरेश और शिवचंद्र शर्मा ने व्यक्तिगत निबन्ध थोड़े लिखे हैं; पर जो लिखे हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और हिन्दी के लिए दुर्लभ हैं। प्रो० केसरी कुमार के वैयक्तिक निबन्धों का संग्रह 'निवेदिता' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इधर के प्रकाशनों में दिनकर के 'अर्द्धनारीश्वर' तथा बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' को ध्यान में रखा जा सकता है। प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी के निबंधों का संग्रह 'खजूर के पेड़' के नाम से प्रकाशित है। प्रो० नलिनविलोचन शर्मा द्वारा संपादित 'निबंध मानस' वैयक्तिक निबंधों का अच्छा प्रतिनिधि संग्रह है।

गीति-काव्य की परंपरा

ाति-काव्य में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है। अगर कविता रागात्मक क्षणों की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति हैं, तो निश्चय ही साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा गीत का अधिक महत्त्व है; क्योंकि मनुष्य हर्ष और विषाद के अतिरेक से गीतों में उसी तरह गुनगुना उठता है, जैसे प्रभात की सुनहली

रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द के अतिरेक से चहचहा उठती है। आदिम युग में, जब मनुष्यों के अधरों पर भोलापन खेलता था और दुनिया की सारी चीजें नवीन थीं, तो उनकी अनुभूति विशषत: गीतों में अभिव्यक्त होती होगी। हमारा सम्पूर्ण वेद गीतितत्त्व प्रधान है। सामूहिक रूप से वाद्ययंत्रों के साथ वेदों के गाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। सामवेद तो पूर्ण रूप से गीति-काव्य ही है। इसमें उदात्त और अनुदात्त स्वरों का उल्लेख है। अन्य देश के प्राचीन साहित्य में भी हमें गीत मिलते हैं। प्राचीन मिस्री अपने उत्सवों में धार्मिक गीत गाते थे। ग्रीक साहित्य में भी गाने की प्रथा थी। इसके अतिरिक्त बहुत-से लोकगीत होंगे, जो हमें उपलब्ध नहीं हैं। आज भी आदिम जातियों के बीच हम गीत और नृत्य की प्रथा पाते हैं। त्योहार और विवाह के अवसर पर गीत अनिवार्य रूप से उनके यहाँ गाये जाते हैं; इससे यह पता चलता है कि साहित्य का प्रारम्भ गीत से ही हुआ होगा।

प्रारम्भिक अवस्था में गीत और संगीत एक-दूसरे से इतने सम्बद्ध थे कि दोनों की अलग स्थिति थी ही नहीं। गीतों में कोई सुस्पष्ट भाव नहीं था, भाषा भी इतनी सशक्त नहीं थी कि भावों को स्पष्ट कर सके। अतः ध्वनि की ही प्रधानता थी, जो वाद्ययंत्रों के साथ मिलकर प्रतिध्वनित होती थी। ध्वनियाँ ही उल्लास और विषाद का द्योतक थीं। वाद्ययंत्र का भी पूर्ण विकास नहीं हुआ था, इसलिए लकड़ियों के सहारे ही हृदयगत भावनाओं की अभि-व्यक्ति होती थी। धीरें-धीरे भाव भी स्पष्ट होने लगे और वाद्ययंत्रों का भी विकास हुआ। वेदों में आर्यों के अनेक वाद्ययंत्रों का वर्णन मिलता है, जैसे, दुन्दुभी, अदम्बर, वनस्पति, अधानि,कंधवीणा और वीणा आदि।

कालान्तर में गीत और संगीत साथ-साथ नहीं रह सके। एक में भावना की प्रधानता आयी और दूसरे में स्वरों की। गीत काव्य का अंग हुआ और संगीत की एक विभिन्न सत्ता स्थापित हुई, जिसका आधार नाद हुआ। इतना होने पर भी एक-दूसरे से एकदम विच्छिन्न नहीं हुए। गीत छन्द-बंधन स्वीकार करता हुआ संगीत का बंधन मान लेता है और संगीत में भावों की कुछ-न-कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है। यही कारण है कि सूर, मीरा और कबीर

के गीत में दोनों तत्त्व वर्त्तमान दिखाई पड़ते हैं। उपर्युक्त कवियों के गीतों को जब शास्त्रीय नियमों के आधार पर गाया जाता है, तो वह संगीत की वस्तु हो जाते हैं।

वेद इस बात का प्रमाण है कि भारतीय गीति-परम्परा आरम्भ से ही समृद्ध रही। वैदिक युग के गीतों में तत्त्व और भावना का अपूर्व सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। साथ ही, उसमें लौकिक जीवन के मर्म का विराट सौंदर्य और उसकी विविधता के भी दर्शन होते हैं।

"बौद्धधर्म दुःख-प्रधान है। पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से सुरभित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं।" (महादेवी वर्मा) विरागपूर्ण थेर-गाथाएँ और करुणासिक्त थेरी गाथाएँ अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के कारण वेद-गीतों और काव्य-गीतों के बीच की कड़ी जैसी लगती हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का कितना सुन्दर चित्र अंकित है—

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित पत्तच्छदना विहंगमा
सुमंजुघोसत्थ निताभिगज्जिनो तेतं रमिस्सन्ति वनम्हि झापिनं।

(थेर गाथा)

(जब तुम वन में ध्यानस्थ बैठे होगे, तब गहरी नीली ग्रीवावाले सुन्दर शिखाशोभी तथा शोभन चित्रित पंखों से युक्त आकाशचारी विहंगम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोष-भरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।)

इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों में प्राकृत के कुछ गीत आये हैं, जो अपनी सरसता के लिये प्रसिद्ध हैं। 'गाथा सप्तशती' के मुक्तक काव्य को भी महादेवी वर्मा ने गीतों की परम्परा में स्थान दिया है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनके घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम वीर-गीतों की परम्परा मिलती है। आल्हा-ऊदल खंड और वीसलदेव रासो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यूरोप की

वीरगाथाओं की तरह इनमें युद्ध और प्रेम की प्रधानता है। आज भी बादलों की गड़गड़ाहट के बीच किसी अल्हैत का वीर हुंकार सुनाई पड़ता है। मौखिक रूप में ही इनका विशेष प्रचार है, अतः इन पर लोक-गीतों की छाप स्पष्ट है।

'मैथिल कोकिल' विद्यापति के गीतों का माधुर्य, सौंदर्य और लालित्य अनुपम है। साहित्य की तो वह अमूल्य निधि है ही, ग्राम-गीतों के रूप में भी उसका अत्यधिक प्रचार है। मिथिला की स्त्रियाँ अपने कोमल कंठ से विद्यापति के गीत बड़े ही मधुर स्वर से गाती हैं। विद्यापति के गीतों पर जयदेव का प्रभाव है; यहाँ तक कि लोग उन्हें अभिनव जयदेव कहकर भी पुकारते हैं। विद्यापति ने राधाकृष्ण की शृंगारिक लीला-क्रीड़ाओं का विशद वर्णन किया है। उनके गीतों में वियोग के साथ-साथ मिलन का भी चित्र है।

"चिर दिन से विहि भेल अनुकूल रे
दुहु मुख हेरत दुहु से आकुल रे।
वाहु पसारिए दुहु दुहु धरु रे,
दुहु अधरामत दुहु मुख मधुरे,

स्पष्ट है कि विद्यापति ने अपनी कविता में मानवीय शरीर और मानवीय आनंद को प्रधानता दी है। उनका शृंगार इन्द्रियजन्य है,—उसमें आध्यात्मिकता का आरोप नहीं।

विद्यापति के पश्चात् हिन्दी-गीतों में आध्यात्मिकता का रंग गहरा हो गया। कबीर के गीत दार्शनिकता से बोझिल हैं, उन्होंने ज्ञान को गेयता देने का प्रयास किया है। सांसारिक प्रतीकों के सहारे गूढ़ रहस्यों की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने गीतों में की है। उनके गीतों ने हमारे लोक-जीवन को प्रभावित किया है, और संगीतज्ञ एवं साहित्यिक से लेकर साधारण जनता तक उससे रस-ग्रहण करती है। यही उनके गीतों की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

सूरदास ने अपने गीतों में कृष्ण के सगुण रूप का वर्णन किया है। सूर के गीतों में तीव्रता, मार्मिकता और विदग्धता प्रचुर मात्रा में हैं। भ्रमर-गीत में गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त सहज और मनोहारिणी है। कृष्ण के वाल-रूप का भी उन्होंने बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया है। भक्ति के

पद में उनकी दीनता और कृष्ण के प्रति गहरी प्रीति झलकती है। सूरदास के गीतों में राग-रागिनियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उनकी भाषा में नवनीत की कोमलता है।

तुलसीदास न 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' आदि में गीति-काव्य की रचना की है। यद्यपि सूर के गीतों-सी तीव्रता तुलसी के गीतों में नहीं है; फिर भी, विविध भावों की व्यंजना 'गीतावली' के मधुर पदों में देखने योग्य है। 'गीतावली' पर सूर के गीतों का अत्यधिक प्रभाव है। तुलसी के गीतों में लोक-मर्यादा की भावना अभिव्यक्त हुई है, इसलिए भावना का वह आवेग नहीं, जो सूर में है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से मीरा के गीतों का सौंदर्य अपरिमेय है। सूर की तरह उसने गोपियों के माध्यम से अपनी भावना को अभिव्यक्त नहीं किया, वरन् उसकी वेदना अनायास गीतों में मूर्त्त हो गयी है। उसके गीतों में निर्झरिणी की गति और स्वर है। प्रेम की इस दीवानी का दर्द गीतों के रूप में अमर हो गया है। संगीत तो मानों उनके समस्त गीतों का मूल स्रोत ही है।

रीतिकाल में गीति-काव्य का विकास नहीं हुआ। भारतेन्दु ने सूर की पद्धति पर कुछ गीतों की रचना की। उनके नाटकों में भी गेय गीत मिलते हैं। देशभक्ति के गीतों में उनकी मौलिकता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग बौद्धिक है, अतः आज के गीतों में वह तन्मयता, रागात्मकता और संगीत-तत्त्व नहीं मिलता, जो मध्ययुगीन गीतों के आवश्यक तत्त्व थे। आधुनिक गीत यूरोपीय साहित्य से भी प्रभावित हुआ है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, बच्चन आदि आधुनिक युग के प्रमुख-गीतिकाव्य के रचयिता हैं। प्रसाद के गीतों में गहराई है, पंत में कल्पना की उड़ान है, निराला में ओज, सौकुमार्य और लावण्य है, महादेवी के गीतों में व्यथा की आर्द्रता है और बच्चन में मादकता का गहरा रंग है।

उपर्युक्त कवियों ने अपने गीतों में राष्ट्रीयता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस तरह आधुनिक गीतों में इन्द्रधनुषी वैविध्य है; साथ ही, उसमें सौंदर्य के प्रति आकर्षण और जीवन के प्रति जागरूकता है। अति आधुनिक

गीतों में प्रगतिवाद की झलक मिलती है, जिसका दृष्टिकोण विशेषत: आर्थिक और राजनैतिक है।

---:०:---

हिन्दी का नाटक-साहित्य

नाटक शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है नाचना। यह दृश्यकाव्य के अन्तर्गत माना गया है। दृश्यकाव्य का अर्थ ऐसा काव्य है, जो देखा जा सके अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्यकाव्य को भारत के प्राचीन आचार्यों ने "रूपक" का भी नाम दिया है; क्योंकि इसमें एक व्यक्ति के रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति में होता है। तात्पर्य यह कि नाटक में अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार करते हैं, मानों वे ही कार्य कर रहे हों। अनुकरण या नकल करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। बालक अध्यापक की नकल करता पाया जाता है, छोटे-छोटे बच्चे बूढ़ों का अभिनय करते पाए जाते हैं। "अस्तु नाटकों का मूल रूप मनष्यों के अन्तर्जगत में विद्यमान है। बाह्यजगत् में उसका क्रमशः विकास हुआ।"

अत: नाटक का आरम्भ उसी समय हुआ होगा, जिस समय नकल करने की इस प्रवृत्ति ने नाट्य का रूप धारण किया होगा। मानव जब प्रथम-प्रथम प्रकृति के परिवर्त्तनशील प्रकोपों से भयभीत हो गया, तो स्वभावत: प्राणरक्षा के निमित्त उसके भर्राए गले से देवताओं की आराधना में कुछ अस्फुट गीत निकल पड़े। यहीं नाटक के मूल गीतों का आविर्भाव हुआ। खुशी की घड़ियों में वही मानव मारे आनन्द के नाच उठा। पूजा-अर्चना में भी उसे भिन्न-भिन्न भावों के व्यक्तीकरण के लिए भाव-भंगिमा की आवश्यकता पड़ी। इस तरह नृत्य का आरम्भ हुआ। फिर तो अपने पूर्वजों की 'वीर-पूजा' में उसके गीत और नृत्य में पूर्णतया तादात्म्य स्थापित हो गया। वस्तुत: इसी 'वीर-पूजा' के व्यापार में नाटकों की सृष्टि का रहस्य छिपा है।

यह तो स्वतः सिद्ध है कि नाटकों की उत्पत्ति गीतों अथवा गीति-काव्यों और कथोपकथन के योग से हुई। संसार में सबसे प्राचीन उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है। ऋग्वेद में इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की गई हैं, जिनकी गणना गीति-काव्यों में होती है। कहीं-कहीं विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियों और राजाओं के यशोगान भी हैं, जिनमें हमें आख्यान के मूल के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त सरमा और पणि, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी (जिनके संवाद को ही कालिदास ने नाटक का रूप दे दिया है) आदि के संक्षिप्त कथोपकथन भी हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नाटक के तीनों मूल तत्त्व—गीत, आख्यान तथा कथोपकथन—संसार की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में विद्यमान हैं। इसीलिए मैक्समूलर, मेकडानल, कीथ, पीसल, लेवी आदि पश्चिमी विद्वानों का भी एकान्त मत है कि नाटकों का आरम्भ भारत-भूमि से ही हुआ, यद्यपि रिजवे ने यह प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है कि भारत में नाटकों का आरम्भ बहुत पीछे हुआ है। हँसी तो तब आती है, जब हम देखते हैं कि स्वयं रिजवे साहब ने ही यह स्वीकार किया है कि पाणिनि और पतञ्जलि के समय में भारत में नाटकों का यथेष्ट विकास हो चुका था। इस यथेष्ट विकास का बीज-वपन कितने दिन पहले हुआ होगा? इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि भारत में नाटकों का सूत्रपात ऋग्वेद के निर्माण-काल के कुछ उपरान्त, वैदिक काल में ही हो गया था।

वैदिक काल के उपरान्त पौराणिक काल आता है। इस युग के ग्रन्थों के अवलोकन से यह निश्चित-सा हो जाता है, कि उन दिनों नाटक का भारतवर्ष में काफी प्रसार हो चुका था। यों तो नाट्य-कला का प्रचार बहुत प्राचीन है; किन्तु उसके सम्बन्ध में इतिहास अभी तक मौन है। नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से आरम्भ होता है। भरत का समय ईसा से कम-से-कम तीन-चार सौ वर्ष पूर्व का तो अवश्य ही है। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र भी, जिसमें नाटकों और रंगशालाओं का वर्णन है ईसा से ३०० वर्ष पहले का है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ईसा के

कम-से-कम तीन-चार सौ वर्ष पूर्व तो भारतवर्ष में नाटकों का अवश्य प्रचार था। महाभारत में 'नट' शब्द का उल्लेख है। इससे यदि नाटक के अभिनेता का अर्थ लिया जाय, तो नाटक का उस समय तक प्रचार हो जाना निश्चित हो जाय; किन्तु कुछ पश्चिमीय विद्वान् संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता में सन्देह करते हुए नट शब्द का अर्थ केवल नृत्य करनेवाला लगाते हैं। 'हरिवंश' में, जो महाभारत का उपसंहार है और जिसकी रचना महाभारत के कुछ ही वर्ष पीछे हुई है, रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट उल्लेख है। उसमें यह भी लिखा है कि वज्र-नाभ नगर में 'कौवेररंभाभिसार' नाटक खेला गया था और उसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखलाया गया था। उक्त पुराण में यह भी कहा गया है कि 'कौवेररंभाभिसार' नाटक में प्रद्युम्न ने नल-कूबर का और मनोवती ने रंभा का रूप धारण किया था। यदि इस कथा को सत्य करार दिया जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि कृष्ण के समय में ही सुन्दर-से-सुन्दर नाटकों का सुन्दर अभिनय होता था। अग्नि-पुराण के ३३६ से ३४६ तक के सर्गों में भी श्रव्य और दृश्यकाव्य की विवेचना की गई है।

इस काल के अनन्तर तृतीय शताब्दी पूर्वेसा काल में वैयाकरण पाणिनि आते हैं और शिलालीन् तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख करते हैं। उनके डेढ़ शताब्दी बाद पतंजलि आते हैं और अपने महाभाष्य में 'कंस-वध किया जाता है', 'बलि-बन्धन होता है' आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं। कालिदास का समय अधिकतर विद्वानों ने प्रथम शताब्दी पूर्वेसा मान लिया है और भरत उनके पूर्ववर्ती थे ही। अश्वघोष के नाटक निश्चय ही आज से उन्नीस शताब्दी पहले की रचना है। अतः भारतीय नाट्य-रचना का आरम्भ ढाई हजार वर्ष पहले हो चुका था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

यद्यपि कालिदास के पूर्व भी भास तथा अश्वघोष के नाटक मिलते हैं; किन्तु इस काल की काफी सामग्री न मिलने के कारण हम उनके सम्बन्ध में अधिक नहीं कह सकते।

हमारे नाटकों के ज्ञातकाल का आरम्भ कालिदास से होता है और उनके

समय से लेकर नवीं शताब्दी तक भारतीय नाटकों का आरम्भिक काल माना जाता है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मालविकाग्निमित्र', ये तीन नाटक लिखे हैं। शकुंतला की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। कालिदास के अनन्तर श्रेष्ठ नाटककारों में कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष की गणना है, जिनका राज्यकाल सं० ६६३-७०५ वि० था। आपने 'रत्नावली' तथा 'प्रिदर्शिका' नाटिका तथा 'नागानंद' नाटक लिखे हैं। पल्लवनरेश सिंहविष्णु वर्मा के पुत्र महेन्द्रविक्रम भी श्रीहर्ष के समकालीन थे। इनका 'मत्तविलास' नामक एक प्रहसन प्राप्त हुआ है। इनके बाद भवभूति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका समय सातवीं शताब्दी का अंतिम भाग है। इन्होंने 'महावीरचरित', 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती-माधव' नामक तीन नाटक लिखे हैं और तीनों ही कालप्रिय के उत्सव के अवसर पर लिखे गए थे। इसके बाद नवीं शताब्दी में विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' और 'भट्ट-नारायण ने 'वेणीसंहार' नामक नाटक लिखे। विशाखदत्त के दूसरे नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' के केवल छः उद्धरण ही उपलब्ध हुए हैं। विशाखदत्त को नाट्य-कला की दृष्टि से खूब सफलता मिली है। वस्तु-योजना बहुत सुन्दर है। 'वेणीसंहार' में चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। नवीं शताब्दी के अन्त में राजशेखरने 'कर्पूरमंजरी' 'बालरामायण', 'बालभारत' और 'विद्धशालभंजिका' इन चार नाटकों की रचना की। ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमित्र ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक एक भावात्मक नाटक लिखा, जो इस काल के प्रसिद्ध नाटकों में गिना जाता है।

ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटकों का यथेष्ट विकास हो चुका था, अच्छे-से-अच्छे नाटकों की रचना हो चुकी थी। नवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक उनका मध्यकाल कहा जा सकता है।

इसके बाद संस्कृत-नाटकों का पतनकाल आरम्भ होता है। यवनों का आक्रमण होता है और चतुर्दिक अशान्ति की चिनगारियाँ फूट पड़ती हैं। जब जीवन के लाले पड़े थे, कौन अभिनय करता और कौन देखता? साथ ही मुसलमानों की धार्मिक अभिरुचि भी नाटकों के विरुद्ध थी। अतः मुसलमानी

आक्रमणों के समय संस्कृत-नाटकों का खूब ह्रास हुआ। जब पुनः शान्ति लौटी तब तक संस्कृत का जमाना बीत चुका था। अतः अब नाटकों की रचना प्रान्तीय भाषाओं में होने लगी।

हिन्दी-नाटकों का आरम्भ वस्तुतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही होता है। उनके पहले की कुछ रचनाएँ अवश्य हैं; किन्तु उनमें कुछ तो नाटक के अन्तर्गत आ ही नहीं सकतीं और कुछ नाम के ही नाटक का दावा कर सकती हैं। अतः हिन्दी-नाटकों के इतिहासों को हम निम्नलिखित तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. पूर्व-भारतेन्दु-काल (आरम्भिक काल)
२. भारतेन्दु-काल (विकास काल)
३. वर्त्तमान काल (आधुनिक काल)

पूव-भारतेन्दु-काल का आरम्भ लगभग १७ वीं शताब्दी में होता है और यह १९ वीं शताब्दी तक चलता है। भक्ति-काल में ही कुछ कवियों ने अपने काव्यों में कुछ कथोपकथन का पुट देकर उन्हें नाटक का नाम दे दिया था। ऐसा सर्वप्रथम १६७० के आस-पास की रचना में पाया जाता है। हाँ, अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ रचनाएँ ऐसी अवश्य मिलती हैं, जिनमें कविता के साथ-ही-साथ नाटक के मूल तत्त्व, नाटक की रूप-रेखा भी विद्यमान हैं। जैन कवि बनारसीदास ने सं० १६९३ में जो 'समयसार' नाटक लिखा, वह वास्तव में नाटक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल जैन-धर्म सम्बन्धी तत्त्वों का पद्यमय वर्णन है। प्राणचन्द चौहान ने सं० १६६७ में 'रामायण' महानाटक लिखा है। यह भी विशेषतः चौपाइयों में है; किन्तु कथोपकथन के रूप में होने के कारण यह नाटक कहा गया है। 'देवमाया प्रपंच' की रचना १७ वीं शताब्दी के मध्य में हुई है। इसके रचयिता व्यासजी शिष्य देव हैं। हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' या महानाटक का सं० १६८० में हिन्दी-अनुवाद किया। जोधपुर-नरेश महाराज यशवंत सिंह ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का सं० १७०० के आस-पास हिन्दी में अनुवाद किया। इसके अनन्तर सं० १७२६ में अनाथदास ने उनका दूसरा अनुवाद किया।

सं० १७३७ में नेवाज कवि ने शंकुतला नाटक के आख्यान को ब्रजभाषा-पद्य में लिखा। यह नाटक कहलाते हुए भी काव्य ही है। रघुराम नागर ने सं० १७७५ में 'सभासार' नामक नाटक की रचना की। इसकी भाषा में खड़ी बोली का भी पुट है। सं० १८०९ में सोमनाथ ने 'मालती-माधव' का अनुवाद 'माधवविनोद' नाटक के नाम से किया। सं० १८७८ ई० में रीवाँ के प्रसिद्ध नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का अभिषेक हुआ। आपने प्रायः तीस ग्रन्थ रचे थे। इन्हीं रचनाओं में एक 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक भी है। इस पुस्तक में रामायण की सारी कथा को एक नाटक का रूप दे दिया गया है; किन्तु नाटककार अपने प्रयास में सफल नहीं हो सका है। कथा-वस्तु-गठन के अंग-प्रत्यंग सभी कथोपथकन में विलीन हो गए हैं। पात्रों की संख्या भी सैकड़ों हैं, अतः चरित्र-चित्रण भी नाम का ही है। ब्रजभाषा में भी न ओज है न प्रसाद। सं० १८९८ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द उपनाम गिरधरदास ने 'नहुष' नाटक की रचना की थी, जिसका प्रथम अंक 'कविवचन सुधा' के प्रथम वर्ष के एक अंक में छपा था। इसकी भाषा भी ब्रजभाषा ही है। भारतेन्दुजी के पहले यही हिन्दी का प्रथम नाटक है। यह पुस्तक नाट्यकला के सभी अंग-प्रत्यंगों से युक्त है; किन्तु दुःख है कि इसकी पूर्ण प्रति नहीं मिलती। सन् १८६३ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला का गद्य में अनुवाद किया। काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के राज्यकाल (सं० १८९२-१९४६) में इनके आश्रित कवि गणेश ने 'प्रद्युम्नविजय' नाटक लिखा, जो सात अंकों में विभक्त है। यह नाटक गणेश कवि कृत 'साहित्य सागर' के नाटक-निरूपण नामक द्वादश तरंग में दिया गया है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटक-विषयक निबन्ध में जिस "श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक" का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः यही नाटक है और नायिका के नाम पर उसका यह नामकरण कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त मैथिली में बहुत-से नाटक समय-समय पर लिखे गये, जिनमें कुछ प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ (अधिकांश) अप्रकाशित हैं। स्थानाभाव से उनका विशेष परिचय नहीं दिया जा सकता।

इसके बाद हम भारतेन्दु-काल में प्रवेश करते हैं। इस बात का अन्यत्र जिक्र हो चुका है कि भारतेन्दु के पहले किसी भी मौलिक हिन्दी-नाटकों को यथार्थ नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसीलिए कहा जाता है कि भारतेन्दु ने ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य-सदन का शिलान्यास किया।

भारतेन्दु के पूर्व स्वतन्त्र ग्रंथों में पद्यों की ही तूती बोलती थी और नाटक केवल नाम के ही होते थे। वास्तव में उनका कलेवर काव्य से निर्मित होता था। भारतेन्दु ने ही सिद्धांतरूप से नाटकों में गद्य को प्रधानता दी।

आपके पूर्ववर्त्ती कवि नाटककार प्राचीन लीक परही बढ़नेवाले व्यक्ति थे। समय के साथ चलने में वे असमर्थ थे। अतः प्रगतिशीलता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु को ही आगे आना पड़ा। प्राचीन पद्धति का आदर करते हुए भी आपने अर्वाचीन भावों को अपनाया। नाटक विषयक लेख में आपने स्वयं लिखा है, "अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी-नाटक में इनका अनुसन्धान करने वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी-नाटक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि का शोभा-संपादन करने से उल्टा फल होता है और प्रयत्न व्यर्थ जाता है।" तात्पर्य यह कि भारतेन्दुजी ने समय के अनुसार प्राचीन और नवीन को समेटकर नाटकों की गतिविधि में युग-वांछित तीव्रता ला दी और इसलिये वे नाट्य-रचना को नया रूप देने में सफल भी हुए।

भारतेन्दु के पहले नाटकों की कथा पुराण आदि प्राचीन ग्रंथों से ली जाती थी। नवीन युग ने इन नाटकों में कुछ और देखना चाहा। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। वे नाटकों को इसी अर्थ के प्रतिपादन में संलग्न देखना चाहते थे। जनता की विचार-धारा एक ओर बहती जा रही थी और साहित्यकारों की परम्परागत विचार-धारा दूसरी ओर। जनता अपनी कुरीतियों को साहित्य के सहारे दूर करना चाहती थी और साहित्य-निर्माता प्राचीन आख्यानों का अनुवाद कर रहे थे। साहित्य और जीवन में एक खाई

पड़ गई थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ऐसे ही अवसर पर आविर्भूत हुए। उन्होंने युग की नब्ज पहचानी और साहित्य को जीवन से सम्बद्ध कर दिया। अपने नाटकों में उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों और त्रुटियों का सजीव चित्र खींचा और उन्हें दूर करने के उपाय भी बताए।

भारतेन्दुजी ने कुल अठारह नाटक लिखे, जिनमें 'प्रवास' नाटक अपूर्ण और अप्राप्त है। पाँच नाटकों का संस्कृत से, एक का बँगला से तथा एक का अंग्रेजी से अनुवाद हुआ है तथा दस नाटक मौलिक हैं। इनके नाटकों का रचनाकाल सं० १९२५ से आरम्भ होता है। सर्वप्रथम 'प्रवास' नाटक में ही हाथ लगाया गया; किन्तु वह अपूर्ण ही छोड़ दिया गया। इसके बाद भारतेन्दुजी ने 'रत्नावली' का अनुवाद किया। इसी वर्ष 'विद्यासुन्दर' नाटक भी लिखा गया, जिसका आधार 'सुन्दर' तथा संस्कृत का प्रसिद्ध काव्य 'चौरपंचाशिका' है। सं० १९२९ में 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का 'पाखण्ड विडंबन' के नाम से अनुवाद हुआ। इसकी भाषा 'विद्यासुन्दर' से अधिक प्रौढ़ है और कविता भी श्रेष्ठ है। सं० १९३० भारतेन्दुजी ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा, जो इनकी अपनी कल्पना है, मौलिक सूझ है। धर्म की आड़ में होनेवाले अत्याचारों और अनाचारों का इसमें सफल चित्रण है। पात्रों के उपयुक्त चित्रण और प्रहसन के योग्य चलती भाषा ने इस पुस्तक में विशेष जान डाल दी है। इसी वर्ष 'धनंजय-विजय व्यायोग' का भी अनुवाद हुआ, जो सुन्दर उतरा है। सं० १९३२ में 'प्रेम-योगिनी' नामक नाटिका की रचना आरम्भ हुई; किन्तु किसी कारणवश उसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गए। इसके बाद 'सत्य हरिश्चन्द्र' लिखा गया, जो भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। "वीर-करुण-रस का यह अपूर्व नाटक इसी उपाख्यान के संस्कृत-नाटकों से बहुत आगे बढ़ गया है।" 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भी इसी वर्ष में समाप्त हुआ। इसका अनुवाद इतना सफल हुआ कि इसके पढ़ने में मूल का ही आनन्द आता है। 'कर्पूर-मंजरी' का अनुवाद सं० १९३३ में हुआ। इसके अनुवाद में कवि ने कुछ स्वतन्त्रता दिखलाई है। इसी वर्ष बड़ौदा-नरेश मल्हारराव के राज्यच्युत होने

परं विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण लिखा गया, जो रूपक का एक भेद है। 'श्रीचन्द्रावली' नाटिका की रचना भी इसी वर्ष हुई। यह नाटिका भी भारतेन्दु जी की एक उत्कृष्ट रचना है। इसका इतना आदर हुआ कि उसी समय यह संस्कृत और व्रजभाषा में अनूदित भी हो गई। 'भारत-दुर्दशा' की रचना भी इस साल हुई; यह करुणारस से ओत-प्रोत एक लघु रूपक है। सं० १९३४ में 'भारत-जननी' लिखी गई और सं० १९३७ में 'नीलदेवी' का प्रणयन हुआ। इसके अनन्तर शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अनुवाद भी इसी वर्ष आरम्भ हुआ। परन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसको भारतेन्दु-कृत नहीं माना है। इसमें अंग्रेजी नामों का भी रूपान्तर करके उन्हें सुन्दर हिन्दी-रूप दे दिया गया है। सं० १९३८ में 'अंधेरनगरी' नामक प्रहसन प्रकाशित हुआ। सं० १९४१ में 'सतीप्रताप' का लेखन आरम्भ हुआ, किन्तु इसके चार ही दृश्य समाप्त हो पाए थे कि भारतेन्दुजी का स्वर्गवास हो गया। बाद में राधाकृष्णदास ने इस पुस्तक को पूर्ण किया।

भारतेन्दु के अतिरिक्त भारतेन्दु-काल (१९०१–१९५० वि०) में कुछ और भी नाटककार थे, जिनमें लाला श्रीनिवासदास, पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, बालकृष्ण भट्ट, पं० दामोदर शास्त्री, पं० मोहनलाल विष्णुलालजी पंड्या, पं० प्रतापनारायण मिश्र, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास तथा अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लालाजी ने 'प्रह्लादचरित', 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर', और 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' चार नाटक लिखे। प्रेमघनजी ने 'भारत-सौभाग्य' नाटक की रचना सन् १८८९ ई० में तथा 'प्रयागरामागमन' रूपक की रचना १९६१ में की थी। 'भारत-सौभाग्य' सफल न हो सका। राधाचरणजी ने सात-आठ छोटे-छोटे रूपक लिखे हैं, जिनमें 'सरोजिनी' अनूदित है और सभी मौलिक हैं। तोताराम का 'कीर्त्तिकेतु' नाटक विशेष प्रसिद्ध है, जो सन् १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था। बालकृष्ण भट्ट ने भी चार-पाँच नाटक लिखे हैं—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा तथा चन्द्रसेन। दामोदर शास्त्रीने सातों कांड रामलीला को रूपक का रूप दिया है और

बालखेल तथा राधामाधव दो नाटक लिखे हैं। पंड्या जी लिखित प्रह्लाद नाटक है। प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु-कृत भारत दुर्दशा के आधार पर भारत दुर्दशा नाम का ही एक रूपक लिखा था; किन्तु उसमें भारतेन्दु जी का चमत्कार न आ सका। इसके अतिरिक्त इन्होंने जुआरी खुआरी नामक प्रहसन और गोसंकट, कलि-प्रभाव नामक नाटक भी लिखे हैं। काशीनाथ खत्री के दो नाटक ग्रामपाठ तथा निकृष्ट नौकरी उल्लेखयोग्य हैं। राधाकृष्ण ने भारतेन्दु के सती-प्रताप को पूरा किया था। साथ ही, इन्होंने दुःखिनीबाला नामक रूपक और महारानी पद्मावती नाटक भी लिखे हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक महाराणा प्रताप सिंह है, जिसकी रचना सं० १९५४ में हुई थी। इसका हिन्दी संसार में खूब आदर हुआ और बहुत स्थानोंमें अभिनय भी हुआ।

अब हम वर्तमान काल (१९५० वि० से) के प्रथम उत्थान में प्रवेश करते हैं। इस समय परिस्थितियां बदल चुकी थीं। अब शैली और भाषा पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। इसके पहले प्रचार-काल था, जिसमें शैली और भाषा की ओर विशेष दृष्टि न रहना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त इस समय अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव भी खूब बढ़ रहा था। उन्हीं की देखादेखी बंगला नाटकों से नन्दी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना आदि को विदाई मिल चुकी थी। उनके प्रभाव से हिन्दी के नाटक भी अछूते न बचे। यद्यपि भारतेन्दु जी पर भी अंग्रेजी ढंग का प्रभाव पड़ा था, फिर भी, वे नाटक के आरंभ में शास्त्रीय ढंग की प्रस्तावना तथा नान्दीपाठ आदि के मंगलगान अवश्य रख देते थे। (उदाहरण-सती प्रताप, नील देवी आदि)। किन्तु उनके बाद अब उसकी भी आवश्यकता नहीं समझी जाने लगी। एक बात और। प्राचीन काल के नाटकों में घटना-वैचित्र्यके साथ रस पर भी ध्यान रखा जाता था; पर अंग्रेजी नाटकों में अन्तः प्रकृतिके द्वन्द्व चित्रण को ही ओर विशेष दृष्टि रहती है। इसका यह प्रभाव पड़ा कि हिन्दी नाटकों में भारतीय पद्धति और पश्चिमीय पद्धति, दोनो का मेल हो गया।

वर्तमान काल के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ नाटककार बाबू जयशंकर प्रसाद हैं। सन् १९१० से "सज्जन" की रचना के साथ आपके नाटक रचना

काल का आरंभ होता है। १९२१ ई० में विशाख निकला। १९२२ ई० में 'अजातशत्रु', १९२६ ई० में 'जनमेजय का नागयज्ञ", १९२७ में 'कामना', १९-२८ ई० में 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' और १९२९ ई० में 'एक घूँट' प्रकाशित हुए। इनका अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' है। 'प्रसाद' जी के तेरह नाटकों में आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं। आपके नाटक मुख्यतः ऐतिहासिक हैं और आपको हम प्रधानतः ऐतिहासिक नाटककार कह सकते हैं। दो-तीन नाटकों को छोड़ कर शेष बौद्ध अथवा हिंदूकालीन हैं। उनके नाटकों में प्राचीनता, सभ्यता और संस्कृति की सुन्दर झलक है। आपने इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप देने की चेष्टा की है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में उक्त युग के अनुरूप यथार्थ का और आदर्श का सुन्दर सम्मिश्रण है। 'प्रसादजी के नाटक बंगला के द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों की अपेक्षा अधिक गूढ़ और गंभीर हैं। उनमें न केवल ऐतिहासिक युग की राजनीतिक चहल-पहल और प्रणय का घात-प्रतिघात है, वरन निगूढ़तम अंतर्द्वन्द्व भी है। द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक घटना-प्रधान हैं, 'प्रसाद' के नाटक अन्तर्द्वन्द्व प्रधान। 'प्रसाद' जी ने प्राचीन नाट्य पद्धति को छोड़कर कला की स्वतंत्रता और युगानुगामिता प्रदर्शित की है। फिर भी प्राचीन परिपाटी के 'स्वगत', 'विदूषक' और 'गान' आदि रह गये हैं। उनके नाटक खेलने की अपेक्षा अध्ययन के अधिक उपयुक्त हैं। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है और कहीं कहीं साधारण दर्शक के लिए दुरूह और दुर्बोध है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में स्त्री पात्रों की प्रायः सर्वत्र प्रधानता है और उनके चित्रण में आपको विशष सफलता मिली है। उनके गीत बड़े मार्मिक होते हैं; किन्तु उनमें अस्पष्टता भी रहती है, जो नाटक की सफलता के लिए बाधा स्वरूप है। 'प्रसाद' जी के नाटकों का अन्त एक करुणापूर्ण शांति में होता है। उनके नाटकों में समुद्र का सा दिगन्तव्यापी हाहाकार सुनाई पड़ता है, जिसका निष्कर्ष निकलता है दुःख, वेदना और अन्त में वैराग्य। प्रसादजी की मृत्यु से नाटक साहित्य ही सूना हो गया है। प्रसाद जी के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त ने भी चन्द्रहास नामक नाटक एक पौराणिक आख्यान लेकर लिखा है

जो पहली बार सं० १९७३ में प्रकाशित हुआ था। आपने बंगला के तिलोत्तमा आदि नाटकों का भी अनुवाद किया है। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का मधुर मिलन नाटक सं० १९८० में प्रकाशित हुआ, जो हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन में खेला भी गया था। मिश्रबन्धुओंने 'शिवाजी' नामक एक नाटक लिखा है। प्रेमचन्द ने भी कर्बला और संग्राम नाटक लिखे हैं। बद्रीनाथ भट्ट ने दुर्गावती, चन्द्रगुप्त, वेनचरित, तुलसीदास आदि अनेक नाटक रचे हैं, जिनमें दुर्गावती बहुत प्रसिद्ध है। लक्ष्मीनारायण के अशोक, संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। अशोक सं० १९८४ में प्रकाशित हुआ था। आपके नाटकों का हिन्दी-संसार ने अच्छा स्वागत किया है। जगन्नाथप्रसादजी 'मिलिंद' ने प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक बहुत पहले लिखा था, जो १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। 'उग्र' ने भी नाटककार के रूप में काफी ख्याति प्राप्त कर ली है यद्यपि उनकी रचनाएँ रुचि को विकृत बनानेवाली ही हैं। आपका प्रथम नाटक है महात्मा ईसा और दूसरा है 'गम्भीर' चुम्बन। अभी हाल में आपके 'उजबक' और 'डिक्टेटर' भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें 'महात्मा ईसा' को हम उत्तम नाटकों की कोटि में स्थान दे सकते हैं। गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला' नाटक की भी काफी प्रसिद्धि है। पंतजी लेखन-कला और अभिनय-कला दोनों में कुशल हैं। अतः उनकी सफलता से किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आपका 'कंजूस की खोपड़ी' नामक प्रहसन भी सुन्दर है। 'अंगूर की बेटी' और 'राजमुकुट' भी अच्छे हैं। सुदर्शनजी का प्रसिद्ध नाटक है 'अंजना', जो सं० १९८० में प्रकाशित हुआ था। आपने 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' नामक एक प्रहसन और 'चन्द्रगुप्त' नाम का एक एकांकी भी लिखा है। कौशिकजी ने कई उपन्यासों के अलावे 'भीष्म' नामक एक नाटक भी लिखा है। माखनलाल चतुर्वेदी ('भारतीय आत्मा') का 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक भी अच्छा उतरा है और उसका अभिनय भी कई बार हो चुका है। सुमित्रानन्दन पंत ने भी 'ज्योत्स्ना' नामक एक नाटक लिखा है, जो केवल नाम का ही नाटक है। ग्रंथकार नाटककार के रूप में न आकर कवि के रूप में ही उतरा है। जी० पी०

श्रीवास्तव ने मोलियर के दस-बारह नाटकों को अपनाकर, उनका संस्कार कर, 'हिन्दुस्तानी बना लिया है'। श्रीवास्तवजी ने अनुवादों के अतिरिक्त बारह-चौदह छोटे-बड़े स्वतन्त्र नाटक भी लिखे हैं, जिनमें 'साहित्य का सपूत', 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'भूल-चूक' 'दुम-दार आदमी', 'नोंकझोंक', 'उलटफेर' आदि विशेष प्रशंसित हैं। वियोगी हरि ने 'प्रबुद्ध यामुन' नामक नाटक लिखा है। सेठ गोविन्ददास ने भी प्रायः बारह नाटक लिखे हैं, जिनमें 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश', 'स्पर्द्धा', 'शशिगुप्त' आदि प्रकाशित हो चुके हैं। नाटककार के रूप में आपने हिन्दी-साहित्य में एक खासा अच्छा स्थान बना लिया है। चतुरसेन शास्त्री ने दर्जनों कहानियों और उपन्यासों के अतिरिक्त दो नाटक भी लिखे हैं, जिनके नाम हैं 'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग'। द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के अतिरिक्त रूपनारायण पांडेय ने और भी कई बँगला-नाटकों का अनुवाद किया है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री हरिकृष्ण प्रेमी तथा श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने जयशंकर प्रसाद के बाद नाटक के क्षेत्र में यश पाया है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने जेल में 'अम्ब-पाली' नामक एक सुन्दर नाटक लिखा है, जो प्रकाशित हो चुका है। इतना होने पर भी यह तो कहना ही पड़ता है कि आज नाटक के क्षेत्र में किसी विशेष व्यक्तित्व की झाँकी नहीं मिल रही है। आज कहानी-लेखकों और कवियों की ही भरमार है। फिर भी, जिस द्रुत गति से हमारा साहित्य प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है, उसको देख हमें आशा ही नहीं, प्रत्युत् पूर्ण विश्वास होता है कि वह समय दूर नहीं है, जब हमारे बीच फिर महान् नाटककारों का आविर्भाव होगा और तब हमारे हिन्दी-साहित्य में भी संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं की समकक्षता प्राप्त करनेवाले नाटकों की कमी न रह जायगी। यह विश्वास अकारण नहीं है, क्योंकि अभी-अभी मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' नामक एक अत्यन्त सजीव और सही अर्थ में एक अनुपम नाटक लिखा है। प्रो० रामेश्वर सिंह काश्यप का भोजपुरी नाटक 'लोहा सिंह' रेडियो में बहुत लोकप्रिय हुआ है।

हिन्दी आलोचना

साहित्य पाठकों को प्रभावित करता है, यह मानी हुई बात है। लेकिन साहित्य के अन्दर अनेक कृतियाँ हैं—सफल और असफल। सफल कृतियों में कुछ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें अन्य कृतियों की अपेक्षा पाठक अधिक पसन्द करता है। प्रेमचन्द का 'गोदान' उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। उनकी अन्य रचनाएँ भी सफल कृतियाँ हैं; लेकिन 'गोदान' की तुलना में वे उतनी उत्कृष्ट नहीं। दूसरी ओर बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के असफल उपन्यास हैं। इन उदाहरणों से दो पक्ष पैदा होते हैं।

एक, प्रेमचन्द की कृतियाँ क्यों सफल हैं, वृन्दावनलाल वर्मा की क्यों नहीं! दूसरा, प्रेमचन्द का 'गोदान' उनकी अन्य सफल रचनाओं की तुलना में क्यों सर्वश्रेष्ठ है? दूसरे शब्दों में इन प्रश्नों को इस प्रकार रखा जा सकता है—हम क्यों किसी रचना को सफल कहते हैं? सफल रचनाओं में किसी एक को क्यों सर्वश्रेष्ठ करार देते हैं?

इन दोनों प्रश्नों के उत्तर जिस प्रकार की रचना द्वारा दिये जाते हैं, उसे हम आलोचना कहते हैं। इस परिभाषा की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार होगी।

साहित्यिक कृतियों में कुछ ऐसे गुण होते हैं, जो हमें प्रभावित करते हैं, आनन्दित करते हैं। ये गुण सौंदर्यमूलक और संदेशमूलक, दोनों तरह के होते हैं। आलोचना का काम है कि वह साहित्यिक कृतियों में निहित सौंदर्य का उद्घाटन करे, उसका विश्लेषण प्रस्तुत करे और अन्त में यह बतावे कि अमुक कृति का क्या सामाजिक महत्त्व है।

अब इनमें से एक-एक पर अलग-अलग विचार करें। 'गोदान' का उदाहरण सामने रखिये। पाठक जब इसे पढ़ता है, तो उसके मन में तरह-तरह की प्रतिक्रियायें होती हैं। उपन्यास के बीच अनेक स्थल ऐसे आते हैं, जब पाठक दुःखित होता है, चिन्तामग्न होता है, उल्लसित होता है। ऐसे स्थल भी आते हैं, जब उसके विचार बहुत उत्तेजित होते हैं और वह जीवन

की यथार्थता पर अपन तौर पर सोचने के लिए बाध्य होता है। पाठक जब उपन्यास खत्म करता है, तो 'धनिया' का पछाड़ खाकर गिरना, 'होरी' के मरने के बाद, और लोगों का कहना, "गोदान करा दो", ये घटनाएँ और बातें भुलाये नहीं भूलती हैं। पाठक लगातार कई दिनों तक इनके प्रभाव से पीड़ित रहता है। साथ ही, उपन्यास पढ़ने के सिलसिले में जो तरह-तरह के भाव उत्पन्न हुए थे, जो तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ हुई थीं, वे सब अव्यवस्थित रूप में रह जाती हैं। 'गोदान' ने यह सब जो-कुछ किया, वह उसका सौंदर्य है। पाठक कारण भले ही न बता सके; लेकिन वह इसे पढ़ने के बाद एक विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव करता है। यह भी उपन्यास के विदित कला-सौंदर्य का परिचायक है। इतना ही नहीं, पाठक के विचार भी उत्तेजित होते हैं। वह 'गोदान' के संसार के बारे में सोचने के लिए बाध्य होता है। वह संदेश स्वीकार करे या न करे, बोध तो उसको हो ही जाता है। याद रहे, कलाकृति में निहित संदेश को कलाकार तर्कों के सहारे पाठक के दिल पर नहीं उतारता; बल्कि भावों के अनुबन्ध द्वारा।

यह सब कला की जादूगरी है। इसीका तर्कसंगत और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना आलोचना का काम है। साधारण पाठकों के मन में जो अव्यवस्थित प्रभाव थे, उन्हें आलोचना व्यवस्थित करती है।

इतने से ही आलोचना का कार्य खत्म नहीं हो जाता। उसे यह भी बताना पड़ता है कि 'गोदान' जैसी कृति का क्या सामाजिक महत्त्व है, क्या सामाजिक मूल्य है; क्योंकि अगर किसी कृति का कोई सामाजिक मूल्य नहीं हो, तो वह निरर्थक है। पाठक उसे मन-बहलाव के लिए पढ़ सकता है, पर उसका कुछ मोल उसके लिए नहीं होगा। एक जासूसी कृति और साहित्यिक कृति में यही बुनियादी भेद है। साहित्यिक कृति का सामाजिक महत्त्व ही उसे उच्चस्थान पर प्रतिष्ठित करता है। साहित्य का पाठक एक व्यक्ति होता है, जो समाज का एक प्राणी होता है, दोनों हैसियतों से ही वह कलाकृति का मूल्य निर्धारित करता है। एक व्यक्ति को 'चन्द्रकान्ता सन्तति' अच्छी लग सकती है, वह उसमें रम सकता है; लेकिन वह उसका दिमागी

विलास होगा; क्योंकि उस किताब के पढ़ने के बाद न तो वह खुद अपनी आदमियत में इजाफा करता है और न समाज की प्रगति में सहायक होता है। इस तरह की प्रवृत्ति व्यक्ति को एकांतिक बनाती है, जीवन से विच्छिन्न करती है और तब अन्त में जीवन का मोह ही उस व्यक्ति में नहीं रह जाता है। इन सबका बहुत बुरा प्रभाव उस पर पड़ता है। वह व्यक्ति रुग्ण हो जाता है, व्यक्तिगत और सामाजिक हैसियत से। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को उदाहरण के रूप में ही लेना चाहिए। मेरा मतलब उस तरह की तमाम रचनाओं से है, जिनसे कोई सामाजिक हित-साधन नहीं होता। मगर ऐसी कृतियों की संख्या बढ़ने लगे, तो समाज का ह्रास होने लगता है, प्रगति की ओर वह बढ़ नहीं सकता। इसलिए साहित्यिक कृति के लिए सामाजिक मूल्य का होना अनिवार्य शर्त माना गया है। यह आलोचना का काम है कि कृति के मूल्यांकन के सिलसिले में इस बात की भी परीक्षा करे।

वैसे तो प्रत्येक रचनाकार में आलोचनात्मक बुद्धि होती है जो उसकी रचना को शासित करती है, इसलिए सिद्धान्ततः साहित्यक आलोचना का आरम्भ साहित्य के आरम्भ के साथ ही होता है। पर जैसे निश्चित व्याकरण भाषा के प्रचलन के बहुत बाद होता है वैसे ही साहित्यिक आलोचना की परम्परा साहित्य के निर्म्माण के परे होता है। हिन्दी में आलोचनात्मक परम्परा का आरम्भ रीतिकाल से मानना चाहिए। रीतिकाल में रस, अलंकार आदि का उल्लेख और विवेचन हुआ तथा उनके उदाहरण उपस्थित किए गए। इसी चेष्टा में सैद्धान्तिक आलोचना ने जन्म ग्रहण किया। इस आलोचना पर संस्कृतकी आलोचना परम्पराका प्रभाव था क्योंकि केशव, चिंतामणि, जसवन्त सिंह, भिखारीदास, पद्माकर आदि ने रस, भाव, अलंकार एवं नायिका भेद का जो विवेचन किया था इनमें जो नवीन उद्भावनाएं कीं उन सबका प्रेरणा-स्रोत संस्कृत का काव्यशास्त्र था।

बाद में पाश्चात्य प्रभाव आया। भारतेन्दु ने 'नाटक' पर जो निबंध लिखा उसमें उन्होंने नाटक के प्राचीन तत्वों के साथ नवीन आवश्यकताओं

का भी उल्लेख किया। इस प्रकार भारतेन्दु के साथ हिन्दी आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का समावेश होने लगा।

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आया। यह युग प्राचीनता का पुनरुत्थानवादी युग था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी प्राचीन आलोचना पद्धति के अनुगामी थे। 'रसज्ञ रंजन' आदि पुस्तकों में द्विवेदी जी ने जो आलोचना प्रस्तुत थी उसमें उन्होंने प्राचीन पद्धति का ही आधार लिया। हाँ, द्विवेदी जी की आलोचना में सामाजिक पक्ष भी आया। उन्होंने अपनी आलोचनाओं में दो बातों पर अधिक जोर दिया—विचार कहां तक उपयोगी है और भाषा कितनी शुद्ध है। गुप्तजी की 'भारत भारती' की प्रशंसा उन्होंने इसीलिए की कि उसके विचार उपयोगी थे और भाषा सुबोध। एक बात और हुई। द्विवेदी-युग में भक्ति एवं रीतिकाल के अनेक ग्रंथों की टीकाएँ लिखी गईं। इन टीकाओं में तथा काव्यसंग्रहों की भूमिकाओं में व्यावहारिक समालोचना ने जन्म लिया, हालाँकि इनमें जो आलोचनाएँ की गईं वे वस्तुतः परिचयात्मक तथा ऊहात्मक (आह-वाहवाली) ही थीं।

इसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी ने एक महाप्राण आलोचक के दर्शन किए। शुक्ल जी ने भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का निचोड़ लेकर अद्भुत कार्य किया। उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में साहित्य की भावधाराओं का अध्ययन प्रस्तुत किया, 'त्रिवेणी' 'तुलसीदास' आदि ग्रंथों में सूर, तुलसी एवं जायसी पर प्रथम श्रेणी की व्यावहारिक अलोचनाएं उपस्थित कीं तथा 'रस मीमांसा' में सैद्धान्तिक आलोचना के मौलिक आदर्श खड़े किए।

शुक्ल जी के बाद हिन्दी आलोचना ने नई समस्या-संकुल भूमि में पदार्पण किया। अब इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के भीतर से आलोचना होने लगी। अच्छा होगा, यदि हम इन आलोचना-सरणियों के साथ परवर्ती आलोचकों पर विचार करें।

जो लोग शुक्ल जी के आदर्श पर चल रहे हैं वे रसवादी आलोचक हैं पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर मिश्र, बाबू गुलाब राय, 'सुधांशु' इत्यादि।

हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रवाहवादी आलोचक हैं जो इतिहास के भीतर से साहित्य पर विचार करते हैं और इस प्रकार प्राचीनता के विकसित रूप में नवीनता को देखते हैं।

डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय आदि मार्क्सवादी आलोचक हैं और समाजशास्त्र के मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी को प्रभाववादी (Impressionist) आलोचक कहना उचित होगा, क्यों कि वे कवि आलोचक हैं और कृति-संबंधी अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

डा० नगेन्द्र, सत्येन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि अध्ययनात्मक आलोचना के क्षेत्र में प्रसिद्धि पा चुके हैं।

अज्ञेय को प्रयोगवादी आलोचक कहना ही उचित है, क्योंकि वे कहानी, उपन्यास एवं कविता की तरह आलोचना में भी वे मनोविश्लेषण के आधार पर नवीनता का अनुसंधान करना चाहते हैं, हालाँकि वे इस दिशा में पाश्चात्य आलोचकों से ही अभिभूत रहे हैं।

वैज्ञानिक पद्धति के वरेण्य आलोचकों में श्री नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, प्रभाकर माचवे आदि की गणना होगी।

अन्य आलोचकों में डा० देवराज उपाध्याय, डा० देवराज, डा० धर्मवीर भारती, डा० नामवर सिंह, प्रो० जगदीश पाण्डेय प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

इधर विश्वविद्यालयों में शोध-कर्त्ताओं और डा० उपाधिधारियों की भीड़ लग रही है पर इनकी शोध-पोथियों में मौलिक आलोचना के नाम पर शायद ही कुछ मिले।

हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

सृष्टि के आरम्भ से ही मानव-समाज का प्रकृति से गहरा सबन्ध रहा है। डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त को यदि हम न भी मानें, तब भी

यह तो मानना ही पड़ेगा कि अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य बहुत-कुछ अंशों में जंगली-जैसा था। प्रकृति के खुले मैदान में रहना और सीधे प्राकृतिक उपादानों से ही अपनी खाद्य-सामग्री ग्रहण करना उसने जाना था। प्रकृति से उसका सम्पर्क बहुत निकट का था। वह उससे घिरा हुआ था। लेकिन वन, पर्वत, कन्दराओं, उपत्यकाओं द्वारा जहां वह पोषित तथा रक्षित था, वहीं ज्वालामुखी के विस्फोट, दावाग्नि, घनघोर वृष्टि द्वारा भक्षित भी। बड़ी-बड़ी नदियां न केवल अपने उभय कूलों को प्लावित कर कृषि के योग्य जमीन तैयार करतीं थी, अपितु अपनी सबल धारा से सैकड़ों बस्तियों का संहार भी कर देती थीं। प्रकृति के प्रकोप से बचने के लिए तब आज की तरह सुलभ साधन तो थे नहीं। इसलिए आदिम मानव के हृदय में प्राकृतिक उपादानों के प्रति पूजा की आस्था थी और भय का भाव भी। संभव है भय ही पूजा का कारण हो। और, उसने इनको एक-एक कल्पित देवता मानकर अर्चना आरंभ कर दी। प्रकाश, अन्धकार, हवा, आग और पानी के लिए मित्र, वरुण, सूर्य, पवन, अग्नि, सविता, पूषण, इन्द्र आदि की कल्पना उसी युग की याद दिलाती है। स्मरण रहे, ये देवता उस आदि वैदिक काल के हैं, जब त्रिदेवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी।

यह नहीं कि प्रकृति की उपयोगिता ने ही केवल मानव-मन को प्रभावित किया था। निश्चय ही उसके सौंदर्य ने भी उसको आकृष्ट किया होगा। प्रकृति के रमणीय दृश्य, ऊषा की स्निग्ध छटा, सान्ध्यकालीन समुद्र-तट पर समीर की मन्थर गति, पावस के इन्द्र-धनुष का सतरंगा आलोक सदा से मनुष्य के हृदय के उल्लास के स्रोत बहाते रहे हैं। ऋग्वेद की—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
प्रबोधमन्त्यरुणेभिरश्वै
रुषऽऽभाति सुमुजा रथेन

जैसी सौन्दर्यानुभूतिपरक पंक्तियों को निरे उपयोगितावाद की कसौटी पर कसना उनके साथ अन्याय करना होगा। प्रगतिशील शब्दों में ही कहें, तो मानव-

तन की भूख ही सब कुछ नहीं। उस जमाने में भी मन की भूख उतनी ही बलवती होगी, जितनी आज है। इन्हीं कारणों से प्रकृति ने मनुष्य के जीवन में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। और, जब उसकी भावनाएं हृदय की कारा तो तोड़कर बाहर निकलीं, विचारों ने वाणी पाई, अनायास ही प्रकृति के चित्रों का उनमें समावेश हो गया। वाल्मीकि या हिन्दी के आदि कवियों ने प्रकृति का चित्रण इसी रूप में किया है। प्राकृतिक दृश्यों के निरीक्षण से उनके मन में जो आनन्द उत्पन्न हुआ, उसको उन्होंने जैसे-का-तैसा वर्णित कर दिया है। अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं मिलाया। संस्कृतवालों को छोड़ दें, तो हिन्दी के सिद्ध और वीरगाथा कालों में भी इसके अनेक उदाहरण मिल जायँगे।

किन्तु सभ्यता के विकास के साथ ही मानव के भावों में भिन्नता आती गई। उसने मानव-मस्तिष्क को जटिल क्रमशः बना दिया। अब उसमें सरोवर के शांत जल जैसी स्वच्छन्दता, स्थिरता न रह गई। वह प्रकृति में अपने हृदयगत भावों का विश्लेषण खोजने और देखने लगा। प्रेममार्गी-भक्ति-शाखा के कवियों को प्रकृति अपने सुखों के साथ हँसती और दुःखों के साथ रोती दिखलाई देती थी। जायसी के 'पद्मावत' में सारी प्रकृति का पुरुष के समागम के हेतु शृङ्गार, उत्कण्ठा या विरह-विकलता का चित्रण है। कुछ बाद की कविता में ऐसे ही वर्णन का आधिक्य है, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का साम्राज्य है।

और, आगे बढ़ने पर प्रकृति से पृष्ठभूमि तथा उद्दीपन का काम लिया गया मिलेगा। किसी घटना का पूर्वाभाव या उसके बाद की अवस्था दिखलाने के लिए भी प्रकृति की आवश्यकता होती है। शृगाल या उल्लू का अपशकुन के लिए तथा भरे-कलश और मोर का शकुन के लिए बहुधा प्रयोग होता है। बेर का वृक्ष अशुभ माना जाता है, सहकार का शुभ। दृश्यों की इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक योजना द्वारा प्रभाव और प्रेषणीयता में बहुत वृद्धि हो जाती है। राम-वन-गमन के समय अयोध्या में शोक का व्यापक प्रसार हो गया था। तुलसी ने वहां प्रकृति को भी रोती हुई चित्रित किया है। क्या

जड़, क्या चेतन उस समय सब राम के वियोग में विलाप करते हैं। सूर ने भी कृष्ण के व्रज छोड़ते समय कुछ ऐसी ही दशा दिखलाई है। यहां तक आते-न-आते प्रकृति का निजी महत्त्व बहुत-कुछ कम हो जाता है एवं उसकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त होने लगती है। उसके सारे क्रिया-कलाप अपने न रहकर मानव-मतिष्क के अधीन हो जाते हैं।

चौथे प्रकारके प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के लिए होता है। इस कोटि की कविताएँ हिन्दी में सबसे अधिक मात्रा में मिलती हैं। कहने को तो इस शैली की उद्भावना वीरगाथा-काल में ही हो चुकी थी; क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में—

"चन्द-बदन चरन-कमल भौंह जनु भ्रमर गंध रत,
कीर नासबिंबौष्ठ दशन ज्यों दामिनि दमक्कत।
भुज-मृणाल कुचकोक सिंहलकी गति वारुन,
कनक कांति दुति देह जंघ कदलीदल आरुन ॥
अलसंग नयन भयनं मदित
रुनित अनंगह अंग तिहि।
आनी सुमन्त आरम्भ बर,
भूलत देख देह जिहि।"

जैसी पंक्तियाँ मिलती हैं; पर रीतिकालवालों ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिया। जहां कहीं नायक या नायिका की सुन्दरता का वर्णन करना हुआ, बस लीजिए, उपमानों की झड़ी लगा दी गई, जैसे वर्णित व्यक्ति के अंग अपने में कोई महत्त्व ही न रखते हों। 'मुख-कमल' का रूपक कविता के आदि काल से चला आ रहा है। तुलसीदास तक इस परम्परा का मोह न छोड़ सके। एक ही पंक्ति में एक उपमान चार-चार उपमेयों के साथ लाया गया है—

नवकञ्ज-लोचन कञ्ज-मुख कर-कञ्ज पद कञ्जारुणम्

और रीतिकाल का तो कहना ही क्या ! आँखों के लिए कमल, नाक के लिए शुक, दाँतों के लिए कुंदकली, बाँहों के लिए मृणाल, जाँघों के लिए

कदलीस्तंभ, बेणी के लिए सर्प, चाल के लिए गज—तात्पर्य यह कि हर अंग के लिए प्रकृति से उनलोगों ने उपमान ग्रहण किए। इनका प्रचलन इतना बढ़ा कि उपमाओं की लड़ी-सी लगा दी कई। अतएव आज भी अलंकारों में उपमा का स्थान सर्वप्रथम है। रीतिकाल की कविता में इसके उदाहरण पग-पग पर मिलेंगे। ऐसी बाढ़ है कि उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का ध्यान भी बह-सा गया है। श्रीपति कवि कहते हैं—

"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे
चपला, निकाई अति लागत सहल-सी।"

इसे यदि केवल 'व्यतिरेक' अलंकार का उदाहरण माना जाय, तब तो कोई बात नहीं; मगर जरा भी गौर करने पर गात की गुराई की चपला की चमक से उपमा देना अनुचित लगेगा। इस तरह 'नित-प्रति पूनों ही रहत आनन ओप उजास' में भी चमत्कार भले ही हो, कवित्व की मात्रा नहीं-के बराबर है। फिर क्यों न

"खिड़की से मत झांकियो चन्द्रबदनि अभिराम।
नहीं फेल कर जायगा ब्लैक आउट प्रोग्राम।"

को भी सत्कविता की उपाधि दे दी जाय? रीतिकालीन कुछेक कवियों ने प्रकृति से उद्दीपन विभाग का भी काम लिया है। कहीं तो ये विभाव इतना छा गए हैं कि केवल उन्हींसे रस की निष्पत्ति भी मान ली जाती है। उदाहरणार्थ श्रृंगार का एक विभाव—

'नभ में घनघोर सी स्यामघटा,
अति जोर भरी घहरान लगी।
पिक, चातक, मोरन की धुनिहू,
चहुं ओरन धूम मचान लगी॥
मलयानिल सीतल मन्द चली,
मदनानल को धधकान लगी।
निरखै किन पीतम पाय परे?
रहि हैं कबलौं अब मान पगी?"

वहुत-से कवि उपदेश देने के लिए भी प्रकृति का सहारा लेते हैं। उपदेश देने या दार्शनिक तत्त्वों का समावेश करने में इस वातका सदा ध्यान रखना होता है कि कल्पना मनमाना काम न करने पाए। साधर्म्य का आरम्भ होना अनिवार्य है। तुलसीदास ने वर्षा और शरद ऋतुओं के वर्णन के साथ वहुत-से उपदेश दिए हैं। चित्रकूट की पयस्विनी नदी का मानस में वर्णन कवि के मानसिक विचारों का ही द्योतक है। दो-एक उदाहरण किष्किन्धा-काण्ड से—

"दामिनि दमकि रही घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥
वरषहिं जलद भूमि नियराए।
जथा नवहिं वुध विद्या पाए॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के वचन सन्त सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेहु धन खल बौराई॥
पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप के जस करनी॥"

प्राकृतिक उपादानों को लेकर संस्कृत और हिन्दी में बहुत-सी 'कवि-प्रसिद्धियाँ' चल पड़ी हैं। इनमें से अधिकांश वस्तु-जगत् में नहीं देखी जातीं, कुछ भावार्थ के विपरीत होती हैं और कुछ पर तो वास्तव में हँसी आती है। संस्कृत के आचार्यों ने इनका बड़ा विशद विवेचन-विश्लेषण किया है। लेकिन हिन्दी में ये सीधे संस्कृत से ग्रहण कर ली गई हैं। वृक्षों, पुष्पों के सम्बन्ध में कुछ कवि-प्रसिद्धियां यों हैं—सुन्दरियों के पटु-मदु हास्य से चम्पा, वीक्षणमात्र से तिलक, स्पर्श से प्रियंगु, गर्भकाव्य से मंदार, मुख मदिरा से सिंचकर वकुल और सहकार, आलिंगन से कुरवक, पदाघात से अशोक और सामने नृत्य करने से कर्णिकार विकसित और पुष्पित होते हैं। इनमें कल्पना को छूटकर उड़ान भरने का अवसर दिया गया है। कुछ ऐसे 'कवि समय' हैं, जो सूक्ष्म

निरीक्षण-शक्ति के अभाव में चल पड़े हैं, जैसे—अशोक, चन्दन, वेंत आदि में फूल-फल नहीं लगते, ऐसा माना जाता है। गोसाईं जी ने स्पष्ट 'फूले फले न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद' लिखा है। पर सत्य इसके विपरीत है। कोकिल का केवल वसन्त में बोलना और चकोर का अंगार खाना भी ऐसी ही भ्रान्तियाँ हैं। कविता में प्रकृति से किनाराकशी ठीक नही; पर उसे इस प्रकार अनुचित ढंग से घसीटना भी नहीं चाहिए। आज के वैज्ञानिक युग में इस तरह के वर्णन हास्यप्रद ही कहे जायँगे। इसलिए अब इनका प्रचलन भी कम हो गया है। फिर भी ये रीतिकाल के प्रकृति-चित्रण के एक महत्त्वपूर्ण अंश हैं, जहाँ आचार्यों ने अपनी सारी कला खर्च कर दी है। उन्होंने प्रकृति को दूर से देखा है, उससे साहचर्य नहीं स्थापित किया।

आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही प्रकृति-चित्रण के तरीके भी बदल जाते हैं। खड़ी बोली के कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओं को उपमान बनाकर उनकी माला गूँथने की अपेक्षा उनका स्वतन्त्र चित्रण करना ही श्रेयस्कर समझा। प्रकृति, जो मनुष्य के चारों ओर आज भी अपनी राशि-राशि सुन्दरता बिखेरती हुई निष्प्रयास विखरी पड़ी है, एकदम अस्तित्वहीन, स्पन्दनशून्य नहीं। फिर क्यों उसे अचेतन-निष्प्राण की तरह चित्रित किया जाय, जबकि गत्यात्मकता आज के युग की पहली शर्त्त है? फलतः नवयुग के प्रकृति-चित्रण में दो ही प्रकार के चित्र निकलेंगे-चाहे तो कैमरे से लिया हुआ एक दृश्य का स्नैप या चल-चित्रों की रवानी, जिसमें जीवन की गति हो। खड़ी बोली की कविता के प्रादुर्भाव-काल में, जब गत्यात्मक चित्रों की ओर कलाकारों का ध्यान नहीं गया था अथवा उन्हें शब्दों में उतारने की शक्ति उनके पास नहीं थी, प्रकृति की निश्चल सुन्दरता, जो गतिशील न होकर भी सजीव थी, कविता का विषय बनी। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक आदि में हम वही पाते हैं। खड़ी बोली के पहले महाकाव्य 'प्रियप्रवास' का आरम्भ भी एक ऐसे ही वर्णन से होता है। यथा—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला;

'तरुशिखा पर थी अव राजती
कमलिनी कुलवल्लभ की प्रभा ।'

यह प्रकृति का एक निष्कलुष चित्र है। इसमें अपनी ओर से कवि न उसे न तो कुछ दिया है, न उसकी सजीवता ही हरण की है। गुप्तजी के काव्य में भी ऐसे चित्रण प्रचुर मात्रा में मिलेंगे।

छायावादी युग ने प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को एक नई दिशा दी है। छायावाद एक शब्द में प्रकृति-काव्य है। उसमें प्रतीकवादी विधान अपनाया जाता है। उसकी अधिकांश लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ प्रकृति से सम्बद्ध हैं। प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं के मूर्त्त लाक्षणिक रूप से छायावाद की कविता अनुप्राणित हुई है। उसकी व्यंजनाओं में प्रकृति के मूक दृश्यों ने वाणी पाई है, जिसके शब्दों में उसका संगीत मुखर हो उठा है। लहर, हिलोर, तरंग, वीचि और उर्म्मि का अन्तर पहली बार छायावाद ने ही परखा; संध्या की झुटपुट वेला में बाँसों के झुरमुट में 'टी वी टुटटुट' चहकती चिड़िया की ओर पहली बार उसीकी नजर गई। प्रसाद ने प्रकृति के वासनात्मक पहलू को अपना कर उसपर गीत लिखे हैं। प्रकृति से जिस प्रकार का इन्द्रियग्राह्य सुख-दुःख उन्हें प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने ज्यों-का-त्यों वर्णित किया। विराट् को सीमा में बाँधने की शक्ति उनमें ही थी। 'कामायनी' में प्रकृति के विविध रूपों के अनुपम चित्र उतारे गए हैं। जहाँ मिट्टी को कठोर वस्तुवादी मान्यताओं से पलायन कर प्रकृति की गोद में उन्होंने शांति पाई है, वहीं उससे आगे बढ़ने, कर्म करने की प्रेरणा भी ली है।

पन्त किसी समय प्रकृति के कवि ही थे। हिन्दी को जितने अधिक प्राकृतिक चित्र उन्होंने दिये हैं, उतने शायद ही किसी दूसरे कवि द्वारा मिले हों। पर पन्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह प्रसाद या महादेवी की तरह तह में नहीं पैठ सकते। उन्हें डूबने का भय है और 'सतह की चल-जल माली' ही ज्यादा भाती है। यह उनकी अचेतन स्वीकारोक्ति है। इसलिए उनमें मुग्ध करने की शक्ति अधिक है; वह रुककर कुछ देर सोचने को बाध्य नहीं करते। कहीं-कहीं उन्होंने प्रकृति को बहुत अधिक मूर्त्तिमान

कर दिया है । निस्सन्देह वहाँ उनकी कला अपने उत्कर्ष पर है । एक उदाहरण–

"कौन-कौन तुम परिहित-वसना
म्लानमना भूपतिता-सी ?
धूलि-धूसरा मुक्त-कुन्तला
किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि, ध्यान में अब आया,
तुम इस तरु की छाया हो
मैं उनके पद की छाया !"

इस प्रकार की कविता समस्त रीति-युग में एक भी नहीं मिलेगी । उस समय यह सम्भव ही न था । बाद की कुछ प्रगतिवादी कविताओं में पन्त ने प्राकृतिक उपादानों से प्रतीकों का काम लिया है । मेरा आशय 'द्रुत झरो जगत से जीर्ण पत्र', 'गा कोकिल, बरसा पावक कण !' आदि से है । 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण धूलि' में अपराजिता भाषा के साथ चित्रमयी कल्पना पुनः निखर रही है ।

निराला के चित्रों में दार्शनिकता का अधिक समावेश हुआ है । निराला ध्वनि को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं । वह किसी बात को सीधी तरह न कहकर एक समां बांध देते हैं, एक वातावरण उपस्थित कर देते हैं । उन्होंने अपनी पहली ही कविताओं में कुछ ऐसे क्षण प्रस्तुत किये हैं, जिन पर पाठक सहसा दो क्षण सोचने को बाध्य हो जाता है । यही उनकी कला की सफलता है। तुलसीदास में प्रकृति सदैव कुछ कहती-सी जान पड़ती है । एक दूसरा चित्र संध्या का कितना सजेस्टिव है, देखिए—

"आता चल रवि चल, जल छल-छल
छवि स्तब्ध विश्व कवि, जीवन उन्मन।
मंद पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन ।"

इसे देखकर वर्ड्सवर्थ की ये पंक्तियाँ, जो पुनः-पुनः प्रशंसित हो चुकी हैं, सहसा याद आ जाती हैं—

It is a beauteous evening calm and free,
The holy time is quiet as a Nun,
Breathless with adoration the broad sun
Is sinking down in its tranquility."

कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रण में निरालाजी रवीन्द्र से होड़ लेते-से दीखते हैं। महादेवी के काव्य में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन-स्वरूप होता है। उन्होंने अपने अनन्त विरह को प्रकृति के विरह के साथ मिलाकर एकाकार कर दिया है। उनका प्रिय सदैव प्रकृति के धुधले चित्रोंमें छिपा रहता है, जिसे खोजने के मिस वह उसके पट-पर-पट उघारती जाती हैं। 'दीपशिखा' की भूमिका में उन्होंने लिखा—"प्रकृति का शांत रूप मेरे हृदय को चंचल लय से भर देता है, उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्मा को शांत अस्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रता की प्रतिक्रिया ही सम्भवतः मेरी एकाग्रता का कारण रहती है। मेरे अन्तर्मुखी गीतों में तो यह एकाग्रता ही व्यक्त हो सकती है; परन्तु, चित्रों में उनका बाह्य आवरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी-तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिनपर चित्र बनाना अनायास और, बना लेने पर, आनन्द स्थायी होता है।" उनका प्रकृति-चित्रण यथार्थ का प्रतिबिम्ब न होकर स्थूलगत सूक्ष्म का भावक है।

प्रकृति की तस्वीर उतारनेवाले कवियोंमें बच्चन और नेपाली मुख्य हैं। व्यक्ति की प्रधानता जितनी बच्चन की कविता में है, आधुनिक युग के किसी अन्य कवि की कविता में उतनी नहीं। व्यक्ति' उसके मनोभाव और फिर उसकी चहारदीवारी—बच्चन को बस इतने की ही आवश्यकाता है। इसलिए वह प्रकृति को कहीं और कभी नहीं छोड़ सके हैं। प्रकृति में बराबर उन्होंने अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण पाया है। वह उनके सारे कार्य-व्यापारों की अक्षिणी है। अपनी इधर की रचनाओं में उन्होंने प्रकृति के वासनात्मक पहलू को ही अपनाया है। 'मिलन यामिनी' के कुछ गीत

सचमुच बहुत सुन्दर उतरे हैं। एक ओर जहाँ उनमें 'प्रिय शेष बहुत है रात, अभी मत जाओ !' और 'प्रिय मौन खड़े जलजात, अभी मत जाओ !' की उद्दाम वासना और आकर्षण है, तो दूसरी ओर 'कुदिन लगा, सरोजिनी सजान सर' और 'मैं गाता हूँ इसलिए कि पूरब से सुरभित जो सोना शुभ्र-सलोना नित्य बरसता है, उसको कोई बस प्रातकिरण मत कह बैठे' की दुदम अनुरक्ति भी। 'प्रहर शीत बात काज हुआ निठुर' आदि कुछ प्रगीतों में सांकेतिकता का प्रयोग बेजोड़ है। नेपाली तो जैसे रूप और रूप से अधिक प्रकृति के कवि हैं। उन्होंने प्रकृति की रमणीयता को गीत-चित्रों में बाँधा है। जैसे' हम कोई अत्यन्त मनोरम दृश्य देखकर उसका एक स्नैप ले लेते हैं, वैसे ही नेपाली की आँखें कैमरे की आँखें हैं। उनके चित्रों में गति तो नहीं मिलेगी; पर रंगों की विविधता दर्शनीय हो जाती है। और रङ्ग भरने की कला में उन्हें इतना कमाल हासिल है कि कभी वह पुनरोरारोप नहीं होने देते। 'नवीन' में उनकी कविता का नया निखार है। अपनी नई दिशा में वह पूरे सफल हैं। दो-एक कल्पनाएँ—

"दो मेघ मिले हौले-हौले,
बरसाकर दो-दो फूल चले !"
और 'उषा ने मले अबीर-गुलाल
कमल के गाल लाल कर दिए"

प्रगतिवादियों का प्रकृति-निरीक्षण छायावादियों और रोमांटिकों से तत्त्वतः भिन्न है। जहाँ रोमांटिक कवि प्रकृति के सुनहले पक्ष को देखकर ही उससे आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता था, वहाँ प्रगतिवादी कवि उसके कुरूप रूप की ओर भी आकृष्ट हुआ है और उसमें भी उसने सुन्दरता पाई है।

"कूड़ा-करकट जो कुछ भू पर,
सब कुछ सार्थक, सब सुन्दर !"

प्रगतिवाद की वर्त्तमान प्रचलित व्याख्या को मार्क्सवाद का व्यावहारिक साहित्यिक रूप मानना अनुचित न होगा। मार्क्सवाद को आधुनिक समाज-व्यवस्था में सन्तोष नहीं। वह सृष्टि का पुनर्निर्माण चाहता है। जो कुछ

प्राचीन और रूढ़िवादी हैं, उन सबको तोड़-फोड़कर वह नई दुनिया नये सिरे से गढ़ना चाहता है। उसकी दृष्टि में साहित्य आइना नहीं, हथौड़ा है।—(ट्राट्स्की)। इसका चित्रण कल्पना से दूर विशुद्ध यथार्थवादी होता है। नरेन्द्र शर्मा, अञ्चल, सुमन आदि का दृष्टिकोण प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में प्रगतिवादी रहा है। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तो प्रगतिवाद का जयघोष ही है। इनमें वह अपनी मूर्ति-विधायिनी शक्ति छोड़ सादे पेंसिल-स्केच बनाते दीखते हैं। तुच्छता में गौरव-दर्शन की प्रवृत्ति ने निराला के विचारों में भी क्रान्ति ला दी है, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने कुरूप 'कुकुरमुत्ता' का भी चित्र दिया है। नरेन्द्र शर्मा के 'मिट्टी और फूल' में भी फूल के सौरभ से मिट्टी की पार्थिवता ही अधिक है। इस दिशा में अज्ञेय अधिक सफल होते, यदि उनके सिद्धान्त और व्यवहार पक्षों में साम्य होता।

यह विचारणीय है कि इन दिनों हमारे अधिकांश कवि गाँवों में न रहकर बड़े-बड़े शहरों में रहते हैं। फलतः उन्हें नगर-सुलभ दृश्य ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। उनके सामने प्रकृति को वन-उपवनों, मुक्त आकाश में देखने की अपेक्षा खिड़की से अपने घर के साथ कृत्रिम रूप से बनाए गए गमले की गुलदाउदी और स्वीट-पी को ही देखने का अवसर ज्यादा रहता है। वे तरु-गुल्मादि आच्छादित शैल-शृङ्गों का गगन-चुम्बन देखने की अपेक्षा पास के कारखाने की चिमनी से उठता धुआँ ही देखा करते हैं। अतः दिनों-दिन हिन्दी-कविता से प्रकृति-चित्रण दूर होता जा रहा है। जहाँ है भी, वहाँ एक बहुत संकुचित वातावरण के चित्र के रूप में गद्यात्मक, सेकेण्ड-हैंड जैसा। दूसरी बात, अब उसकी सुन्दरता-शालीनता की अपेक्षा रौद्रता-भयंकरता ही कवियों को अधिक आकृष्ट कर रही है। आजकल नई रचनाओं में विध्वंस, कुरूपता के ही चित्र ज्यादा देखनेको मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के कवियों में सबसे सशक्त व्यक्तित्व दिनकर का है—यों उनके 'द्वंद्वगीत' में प्रकृति-चित्रण का दार्शनिकता के साथ संयोग किया गया है। व्यंग्य और कटुता की मात्रा प्रभाकर माचवे और रांगेय राघव में ज्यादा है।

आज के इस प्रयोगवादी युग में प्रकृति-चित्रण की नई-नई प्रणालियों

से काम लिया जा रहा है। हिन्दी-कविता एक बहुत संकुचित क्षेत्र में पहुँचा दी गई है। अतः दृष्टिकोण और कैनवास में भी प्रसार की आवश्यकता है। कुछ प्रगति के चिह्न भी दिखलाई दे रहे हैं; मगर इस दिशा में परिणतियों से संभानाएँ ही अधिक हैं। भविष्य में काव्य का प्रकृति से क्या और कैसा सम्बन्ध रहेगा, यह तो कहना कठिन है; लेकिन अगर अनुकरण को छोड़कर चिन्तन-अनुवीक्षण से काम लिया गया, तो निस्सन्देह एक नया अध्याय जुड़ेगा।

भारतीय साहित्य में राधा

राधा की परंपरा

राधा लोक-मानस की सृष्टि है; क्योंकि उसका उल्लेख देशी भाषाओं में पहले हुआ है, संस्कृत-ग्रंथों में बाद को। इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है।

वेद में कृष्ण का नाम तो आया है, किन्तु राधा का नहीं। महाभारत के विस्तृत क्षेत्र में भी कहीं राधा का पता नहीं है। श्रीमद्भागवत में एक गोपी का, जो कृष्ण की विशेष कृपा-पात्र है, वर्णन तो हुआ है; किन्तु राधा का नहीं।

'राधा' शब्द 'राध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है आराधना करना और इस प्रकार 'राधा' का अर्थ 'आराधक' होगा।१ अतः सम्भवः है कि भागवत की यही कृष्ण-आराधिका आगे चलकर मध्ययुग में कृष्ण-काव्य की राधा बन गई हो।

राधा की कल्पना प्रथम शताब्दी के आस-पास हुई, यह निश्चित है; और अनुमान किया जाता है कि लोक-गीतों की राधा दशवीं शताब्दी के लगभग संस्कृत के धर्म-ग्रंथों में भगवान् कृष्ण की पत्नी के रूप में स्वीकृत हुई। काव्य में राधा का प्रथम उल्लेख प्राकृत-ग्रंथ 'गाथा सप्तशती' २ में मिलता

---

१. अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः (भा० १०–३–२८)
२. विक्रम संवत् के जन्मकाल के आस-पास।

है और इसके बाद 'पंचतंत्र' में। दसवीं शताब्दी के आस-पास लिखे गए 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' में राधा पहली बार कृष्ण की पत्नी के रूप में आई है—

स्वयं राधा कृष्णपत्नी कृष्णवक्षस्थल स्थिता।

—ब्र० वै० पु०

इसके बाद ही दक्षिण में भक्ति की जो लहर आई, उसके फलस्वरूप अनेक सम्प्रदाय उग आए। निम्बार्क ने 'वृषभानुजा' राधा को 'कृष्ण की मूल प्रकृति' मानकर उनके वामपक्ष में बैठाया—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा।
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।

और, जयदेव[1] ने उसे कविता की रानी बनाया। सच तो यह है कि साहित्य में राधा की मधुर अवतारणा करने का श्रेय जयदेव को यद्यपि, कहा जाता है कि उसकी कल्पना अलवारों के पूर्ववर्त्ती साहित्य में हो चुकी थी।

जयदेव की राधा

जयदेव की राधा अत्यन्त कोमल और मृदुल है। कृष्ण के 'सौंदर्य-मन्दिर सुवेशम्' पर वह मुग्ध है; अतः, यह जानकर भी कि कृष्ण बहुवल्लभी हैं— 'गोप कदम्ब नितम्बवती चुम्बन' वह उनपर न्योछावर है। जयदेव की राधा केलि और विलास-प्रिय यौवन-प्राप्त रमणी है—

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।

उसमें वनवाला की सजल-निश्छल प्रगल्भता और निर्बन्ध प्रेम का अजस्र वेगवान प्रवाह है। जयदेव की राधा धरती की मृत्तिका से रची गई है, अतः उसका शारीरिक पक्ष मांसल है—

प्रथम समागम लज्जितया पटु चाटु शतैरनुकूलम्।
मृदु मधुरस्मित भाषितया शिथिलीकृत जघन दुकूलम्॥

विद्यापति की राधा

जयदेव के बाद बंगाल में चण्डीदास, विहार में उमापति और विद्यापति

---

१. बारहवीं शताब्दी।

और गुजरात में नरसी मेहता ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी काव्य रचे। राजस्थान की मीरा तो स्वयं राधा ही बन गई।

'अभिनव जयदेव' विद्यापति ने 'गीतगोविन्द' की नव यौवना राधा को वयः-संधि में खड़ा किया है--

शैशव-यौवन दुहुँ मिलि गेल;
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन लेल।
वचनक चातुरि लहु-लहु हास;
धरणिक चाँद करत परकास।
मुकुर लेई अब करत सिंगार;
सखि से पूछइ कइसे सुरत-विहार।
निरजने उरज हेरइ कत बेरि;
हासत अपन पयोधर हेरि।

राधा का यह चित्र अत्यन्त मादक है; पर अस्वाभाविक नहीं। शैशव और यौवन की संधि में खड़ी राधा के लोचनों का आकर्ण विस्तार, उसका मधुर-मधर हँसना, दर्पण लेकर शृंगार करना, सखी से उत्सुकतावश सुरत-विहार का हाल पूछना और एकान्त में अपने उरोजों को बार-बार देखना कितना मादक, पर कितना स्वाभाविक है।

विद्यापति की राधा जयदेव की राधा की भाँति ही कौशल-कुशल है, पर जयदेव की राधा में जहाँ यौवन का मांसल विलास है, वहाँ विद्यापति की राधा में यौवन सौंदर्याकर्षण के साथ शैशव की चंचलता भी--

खने-खने नयन कोन अनुसरई;
खने-खने वसन-धूलि तनु भरई।

यह चंचल-विलास-प्रिय 'नव यौवनाभिरामा वामा' आगे चलकर कृष्ण-मिलन के उपरान्त तन-मन से कृष्ण में लीन-सी हो जाती है। शायद इसी-लिए डा० ग्रियर्सन ने विद्यापति की राधा को भगवान की परम शक्ति (**Supreme Mistress**) कहा है। पर, अधिकांश पदावलियों में हृदय-पक्ष से शरीर-पक्ष अधिक प्रबल हो उठा है, तन्मयासक्ति की अपेक्षा

विलास-वासना अधिक मुखर हो गई है। कृष्ण-मिलन के प्रसंग में वह स्थान-स्थान पर अधीर हो गई है और उसे शील एवं मर्यादा बोझ जान पड़ने लगी है—

सामर सुन्दर ए वाट आएत
ते मोरि लागलि आँखि।
आरति आँचर साजि न भेले
सब सखी जन साखि।।
कि मोरा जीवन कि मोरा यौवन
कि मोरा चतुरपने।
मदन-वान मुरुछलि अछओं
सहओं जीव अपने।।
आध पद धरमत मोए देखल
नागरजन समाज।
कठिन हृदय भेदि न भेले
जाओ रसातल लाज।।

विद्यापति स्वभाव से कवि थे—सौंदर्य-निरीक्षण की सिद्धकला के कवि। अतः राधा के सौंदर्य की जो अनुपम सृष्टि विद्यापति ने की है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। विद्यापति का प्रभाव वंगकवि गोविन्द दास पर तो पड़ा ही है, उनकी राधा के सौंदर्य-वर्णनों की प्रतिध्वनि महाकवि सूरदास की पंक्तियों में भी सुनाई पड़ती है।

चण्डीदास की राधा

चण्डीदास विद्यापति के समसामयिक थे और मित्र भी। चंडीदास की राधा एक भिन्न सृष्टि है। वह परकीया है। उसके मिलन में गुरुजन, ननद आदि पुरजन-परिजन वाधक हो रहे हैं—

घरे गुरुजन ननदी दासन, विलंबे वाहिर है नू।
अहा मरि मरि, संकेत करि, यतना यातना दिनू।।

इन बाधाओं ने उसका चांचल्य छीन लिया है और उसके प्राण को भय, आशंका और मिलन की आकुल आनन्दानुभूतियों से भर दिया है। वह कभी

कलंक के भय से त्रस्त हो जाती है और कभी मिलन के आनन्द की कल्पना से विह्वल।

चण्डीदास की राधा नवनीत-सी कोमल है। इतनी कोमल-करुण राधा दूसरी नहीं हुई। क्षणभर का वियोग भी उसे असह्य है। संयोग के आनन्द में भी भावी वियोग की कल्पना करके वह सिहर उठती है। चण्डीदास ने भक्ति-विह्वल आँसुओं से उसकी सृष्टि की है। विरह का अश्रुअर्घ्य लेकर खड़ी चण्डीदास की तन्मयासक्त राधा की प्रीति सचमुच निराली है—

एमन पीरित कभु देखी नाइ शुनि।
पराणे पराण बाँधा आपने आपनि।।
दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।
आध तिल ना देखिल चाय ये मरिया।।
जल बिनु मीन जनु कबहुँ ना जीये।
मानुखे एमन प्रेम कभू ना देखिए।।

विद्यापति की राधा केलि-प्रिय है और चण्डीदास की राधा तन्मयासक्त—

तुम मोर पति तुम मोर गति मन नाहि आन भाय।

विद्यापति की राधा चंचल है, चण्डीदास की राधा मुग्धा और भावुक। विद्यापति ने 'राधा की वयःसंधि' में संधिकालीन चंचल-विलास का वर्णन किया है और चण्डीदास ने 'नायिकार पूर्वानुराग' में भावुकतापूर्ण आवेश का। चण्डीदास की पूर्वानुरागिनी 'विनोदिनी' भी वस्तुतः 'महायोगिनी' है। श्याम को देखते ही वह शरीर की सुधबुध खो बैठती है। योगिन की तरह एकांत में हाथ पर कपोल रखकर मन की आँखों से देखती, आँसू बहाती रहती है। आँखों में सावन उमड़ा होता है। वस्त्र और वेणी सँभालने का तो उसे कभी ध्यान ही नहीं रहता। यथा,

यमुना जाइया श्यामरे देखिया
घरे आइलो विनोदिनी;
बिरले बसिया काँदिया-काँदिया
धेयाय श्याम-रूप खानि।

निज करोपर राखिया कपोल
महायोगिनीर पारा;
ओ दुटी नयने बहिछे सघने,
श्रावण मेघेरि धारा।

और,

चाँचर चिकुर, कभू ना संवर,
केने होइल अगेयान;
चण्डिदास कहे, वेंझेछे हृदये,
श्यामेर पिरीति-बान।।

इस प्रकार जहाँ जयदेव की राधा का शरीर-पक्ष मांसल है और विद्यापति की राधा का अंग-अंग थिरकता है, वहाँ चण्डीदास की राधा की दसों इन्द्रियाँ मुग्ध-मौन हैं। विद्यापति की राधा का प्रेम अतृप्त है—

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल

चण्डीदास की विस्मय-विमुग्ध राधा के समक्ष तृप्ति-अतृप्ति का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है।

सूरदास की राधा

सूरदास की राधा ब्रजवनिता के शील और मर्यादा के बीच विकसित होनेवाली सौंदर्य-प्रतिमा की प्रतीक है। उसमें वास्तविकता और आदर्श, शृंगार और भक्ति का अपूर्व मेल हुआ है। राधा का यह संयमित और मर्यादित रूप अत्यन्त विरल है—

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौं मन कर्मना करि हृदय दुबिधा टारि।
स्याम की एक तुही जान्यो दुराचरनी और।
जैसे घट पूरन न डोलै अधखुलो डगडौर।

ऐहिक दृष्टि से सूरदासजी ने राधा के प्रेम का स्वाभाविक विकास

दिखलाया है। बचपन में यमुना के किनारे खेलते समय एक दिन संयोगवश कृष्ण और राधा मिल जाते हैं—

गये श्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।
औचकि ही देखी तहाँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।

दोनों में परिचय होता है—'पूछत श्याम कौन तू गोरी' और दोनों मन-ही-मन एक-दूसरे को चाहने लगते हैं—

प्रथम स्नेह दुहुन मन जानि।
सैन-सैन कीनी सब बातैं गुप्त प्रीति शिशुता प्रगटानि।

बचपन की यह प्रीति धीरे-धीरे गहरी होने लगती है। दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं; पर दोनों शीलवश अपने प्रेम को छिपाये रखने का यत्न करते हैं; फिर दोनों एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने लगे हैं। दोनों के प्रेम-विकास में नंद, यशोदा, ललिता आदि सभी सहायक हैं। चण्डीदास की राधा की-सी बाधा का भय सूरदास की राधिका को नहीं है। नंद राधा को संकोचवश खड़ी देखकर बुला लेते हैं और बड़े प्यार से कृष्ण के साथ खेलने का आग्रह करते हैं। जब आसमान में घटा छाई और बिजली चमकती होती हैं, वे राधा से कहते हैं कि वह कृष्ण को घर पहुँचा दे—'कह्यो वृषभानु की कुँवरि सो बालिकै राधिका कान्ह घर लिये जा री।' इस प्रकार सूरदास की राधा के प्रेम का प्रस्फुटन पारिवारिक सम्बन्धों के बीच हुआ है। उस प्रेम का आधार न केवल रूप-लावण्य है, वरन् दीर्घ साहचर्य भी।

वयस्क होने पर भी यह राधा जयदेव, चण्डीदास अथवा विद्यापति की राधा से भिन्न रहती है। इसके हृदय की प्रेमधारा मर्यादा के उपकूलों को डुबाकर नहीं बहती। सूरदास की राधा को मनाते-मनाते कभी-कभी कृष्ण मूर्च्छित तक हो जाते हैं। स्वयं राधा भी मिलने के लिए व्याकुल रहती है; पर, फिर भी, चण्डीदास की राधा की तरह कृष्ण की जरा-सी मनुहार पर मान नहीं जाती—

भरि भरि अँखियन नीर लेति पै ढारति नाहीं।
अति रिस काँपति अधर करकि करि भृकुटि तानहीं।

राधा की इस आन में किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं, वरन् प्रीति की प्रतीति है।

सूरदास की राधा कृष्ण की प्रेमिका नहीं, पत्नी है––युग-युग की, जन्म-जन्म की। विरह-काल में उसका रूप अत्यन्त नमस्य और प्रणम्य हो गया है। सूरदास की राधा के विरह की कोई इयत्ता नहीं है—

मनहुँ विरह दव जरत विश्व सम राधा रुचिर निकेत।
धुज होइ सूखि रही सूरज प्रभु बँधी तुम्हारे हेत।

पर, फिर भी, वह साधारण गोपियों की तरह कृष्ण की निन्दा नहीं करती—'सखि री, हरि को दोष न देहु।' पर, वही राधा कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटते समय स्वयं ललककर आगे नहीं बढ़ती। प्रेम और संयम के तत्त्वों से गढ़ी सूरदास की राधा सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य में अकेली है।

दर्शन की दृष्टि से सूरदास की राधा कृष्ण की मूल प्रकृति है—

(१) ब्रजहिं बसै आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।

(२) नित्य धाम वृन्दावन श्याम।
नित्य रूप राधा ब्रजवाम।

परवर्त्ती काल की राधा

परवर्त्ती काल में, अर्थात् रीतिकाल में, जब कविता सभा की परी बनी, तब उसके साथ विदग्धा राधा को भी व्यभिचारिणी बनाया गया—

कौन संकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहूँ तरसावति।
बावरी, जोपै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंग लगावति।।

कालोपरान्त नवयुग का स्वर्णविहान आया और उस युग के विधाता 'राधारानी के गुलाम' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राधा-कृष्ण के विवाह की कल्पना करके उसके कलंक का परिमार्जन किया—'राधा-मोहन व्याह सों, जैहैं लोग कलंक।'

'प्रियप्रवास' की राधा

इस प्रकार राधा काव्य की उपेक्षिता नहीं रही है। मध्यकाल में तो वह जैसे काव्य की आत्मा ही बन गई। पर कृष्णकाव्य की अनुराधा अन्ततः शोकपर्यवसायिनी ही रही, किसीने उसके आँसुओं को पोछने की चेष्टा नहीं की। राधा जीवन-भर रोती रही। वस्तुतः उसके जीवन के अन्तिम दिनों का चित्रण हुआ ही नहीं।

फिर, राधा को किसीने प्रेमिका के रूप में देखा, किसीने प्रेम-योगिनी के रूप में और किसीने परिणीता के रूप में। इस प्रकार सभी ने राधा को एक व्यक्ति के रूप में देखा। वह अपने सुख-साधन के लिए चिंतित है, अपने दुःख-दर्द के कारण विकल है। सामाजिक उत्तरदायित्व-बोध की वह गरिमा उसे न मिल सकी, जो राम, कृष्ण और सीता को मिली।

तीसरे, राधा मात्र रूप की रानी रही। सभी ने उसके लावण्य का, शारीरिक कान्ति और सौष्ठव का चित्रण किया। मध्ययुग में तो इस रूपा-सक्ति को भक्ति का गौरव भी दे दिया गया। पर शायद ही किसीने उसके विचारों की ओर ध्यान दिया।

'प्रियप्रवास' के विधाता, हरिऔधजी, द्विवेदीयुग में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं, यद्यपि स्वयं द्विवेदी-मंडल से बाहर काव्य-साधना करते रहे। द्विवेदी युग एक आदर्शवादी, शुष्क आचारवादी पुरुषकाल थे, जिसने रतिशास्त्र को अग्निसात किया था और प्रेम एवं शृंगार को वर्जित-प्रदेश (Forbidden land) मान लिया था। पर नैतिकता से शंकित यह काल नाना चिंताओं से संकुल था और इसी कारण उसका साहित्य विविध-विषयक था और उसकी भाषा विषयोपयोगी। फिर यह संधिकाल था, जिसमें तत्कालीन आचार्यों के आचार और आदर्शवाद से लोहा लेने के लिए छायावादी कवियों का स्वच्छं-दतावाद या हृदयवाद उठ खड़ा हुआ था। पश्चिम की आर्थिक क्रांति और स्वदेश के स्वातंत्र्यान्दोलन ने साहित्य में सामाजिक उत्तरदायित्व और देश-सेवा की भावना भरी थी।

उसी काल की अनुरूपता में 'प्रियप्रवास' की रचना हुई है। इसमें नवयुग का कंठ-स्वर बोलता है। भूमिका में हरिऔधजी लिखते हैं—

"इस ग्रंथ का विषय श्री कृष्णचन्द्र की मथुरा-यात्रा है; और इसीसे इसका नाम 'प्रियप्रवास' रखा गया है। कथा-सूत्र से मथुरा-यात्रा के अतिरिक्त उनकी और व्रज-लीलाएँ भी यथास्थान इसमें लिखी गई हैं। ...मैंने श्रीकृष्ण-चन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।...आधुनिक विचारों के लोगों को यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति में तो भगवान श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चित्र लिखने के समय 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः प्रभु:' के रंग में रँगकर ऐसे कार्यों का कर्त्ता उन्हें बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनष्य को भी घृणा होवे। मैंने उसी विचार को सम्मुख रखकर इस ग्रंथ को लिखा है; और कृष्ण-चरित्र को इस प्रकार अंकित किया है, जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सकें।"

उपर्युक्त संदर्भ से कवि की युगानुगामिता का परिचय मिलता है। प्रथमतः, 'प्रियप्रवास' का मुख्य स्वर आध्यात्मिक नहीं, नैतिक है; द्वितीयतः, इसमें भावुकता से अधिक तार्किकता को महत्त्व दिया गया है। तृतीयतः, इसे आधुनिक युग के अनुरूप बनाया गया है। ये बातें जितनी दृढ़ता के साथ 'प्रियप्रवास' के कृष्ण के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं, उतनी ही दृढ़ता से राधा के सम्बन्ध में भी।

'प्रियप्रवास' की राधा चिरकुमारी है। वह न तो जयदेव की राधा की तरह प्रगल्भा है, न चण्डीदास की राधा की तरह परकीया और न सूरदास की रा ा की भाँति परिणीता।

यदि 'प्रियप्रवास' के कृष्ण 'नृ-रत्न' हैं, तो राधा 'रमणि-वृन्द-शिरोमणि' है—

यक सुता उनकी अति-दिव्य थी।
रमणि-वृन्द-शिरोमणि राधिका।

सुयस-सौरभ से जिनके सदा।
व्रजधरा बहु-सौरभवान थी।
(चतुर्थ सर्ग, ३)

वैसे यह राधा भी सूरदास की राधा की भाँति सुन्दर और विद्यापति की राधा की भाँति 'क्रीड़ा-कला पुत्तली' है। वह हावभाव में निपुण और कटाक्ष-पात में पंडित है—

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद आपूरिता।
लीला लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभंगिमा-पंडिता।
(चतुर्थ सर्ग, ६)

पर, इस राधा की काया जितनी कान्तिमयी है, उतना ही उसका हृदय उदार और मन पवित्र है। वह समाज-सेविका है—रोगी और वृद्धजनों की सुश्रूषा करती है और सदा दूसरों के दुःख-निवारण के लिए चिंतित एवं क्रियाशील रहती है।

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकाररता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थीं सुमना, प्रसन्नवदना, स्त्री-जाति-रत्नोपमा।

राधा का यह व्यापक रूप साहित्य के लिये सर्वथा नवीन एवं अभिनंदनीय है। 'प्रियप्रवास' के लेखक ने आधुनिक युग के उपयुक्त बनाकर राधा के चरित्र को पूर्णता देना चाहा है। पहले की राधा पूर्ण नारी नहीं, अधूरी नारी है—प्रेम से विह्वल और विरह से संतप्त। नारी-जीवन का मातृपक्ष—स्नेह-सेवा-पक्ष—लेकर प्रियप्रवास की राधा पूर्ण नारीत्व की ओर आई है; पर इस प्रक्रिया में उसका युग-युग का सहज सौकुमार्य मर्माहत हो गया है।

'प्रियप्रवास' में राधा के प्रेम-विकास की सूचना तो मिलती है; पर उसमें वह रस नहीं, जो जयदेव, विद्यापति और सूरदास के प्रेम-वर्णनों में है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक का सम्बन्ध आदर्श से है और दूसरे का उद्देश्य से। कवि द्विवेदीकालीन तथाकथित आचारपूत, आदर्शवाद का निर्वाह कर

रहा है, जिसमें प्रेम के हाव-भाव, चहल-पहल, लीला-चुहल, आदि के लिए स्थान न था। स्वभावत: कवि ने राधा की प्रेम-लीलाओं और चेष्टाओं को छुआ ही नहीं। साथ ही, लेखक का उद्देश्य राधा के जीवन के पूर्व पक्ष का नहीं, वरन् उत्तर पक्ष का—कृष्ण-प्रवास के बाद की राधा का—चित्रण करना है। अत:, उसने वस्तु-विकास के हेतु प्रसंगवश राधा के प्रेम-क्रम का उल्लेख-भर कर दिया है।

इस प्रकार जहाँ पूर्ववर्त्ती काल के अधिकांश कवियों में राधा का संयोग-पक्ष प्रधान है और सूरदास में संयोग और वियोग दोनों समान हैं, वहाँ 'प्रियप्रवास' में उसका वियोगपक्ष प्रधान है।

जहाँ नन्ददास की गोपी वियोग में भी संयोग की कल्पना कर लेती है, वहाँ हरिऔध की राधा संयोग-काल में भी वियोग की आशंका से त्रस्त रहती है। राधा, जो अपना हृदय कृष्ण को कभी चढ़ा चुकी है, कृष्ण को 'सविधि-वरण' करने की कामना कर रही थी कि एक दिन मधुपुर से बुलावा आ गया। सब कहते हैं, कृष्ण जाकर लौट आवेंगे; पर, न जाने क्यों, राधा का मन इसे स्वीकार नहीं करता। उसे लगता है कि यह बुलावा उसके भाग्य की गति को बदलने आया है।

किन्तु चण्डीदास की राधा की तरह वह 'मोम की पुतली' नहीं और न जयदेव की राधा की तरह प्रगल्भा है। वह न तो सबके सामने (ललिता को छोड़कर) हृदय के काँटे खोलती है और न कभी विवेक-शून्य अथवा क्रियाहीन होती है। मन की आकांक्षा और व्यथा मन में ही रखकर वह भगवती की विधिवत् पूजा करती है, व्रत रखती है और देवी-देवता मनाती है।

स्पष्ट है कि 'प्रियप्रवास' की राधा सुसंस्कृत नागरी है। वह ब्रज की गँवई से निकलकर नगर की ओर चली आई है। इस अर्थ में भी वह राधा की परम्परा में एक नई कड़ी जोड़नेवाली है।

राधा की आशंका ठीक निकली। कृष्ण नहीं लौटे : राधा उदास हो गई। पर पूर्व ग्रंथों की राधा की तरह न तो वह रो-रोकर मूर्च्छित होती है, न कंचुकी भिगोती है और न मधुवन को कोसती है। वह एकबारगी मौन एवं

समुद्र-सी प्रशान्त हो गई है। सूरदास की राधा कृष्ण-गमन के पूर्व पूर्ण संयोगिनी है और बाद में पूर्ण वियोगिनी। 'प्रियप्रवास' की राधा दोनों अवस्थाओं में विवेकिनी है। इस कारण वियोग में भी उसके मुख की शान्ति और प्रफुल्लता, किंचित् म्लान होकर भी बनी रहती है।

सूरदास की राधा प्रेम की बावरी है। प्रेम-वारि से वह इस तरह भींगी है कि उसके पास तर्क के लिए अवकाश ही नहीं है। प्रेम ही उसका तर्क है, ज्ञान है। प्रेम के अभाव में वह किसी भी पदार्थ से संतुष्ट नहीं हो सकती। हरिऔध की राधा विवेक और ज्ञान को लेकर पैदा ही हुई है। इसलिए ऊधो के आने के पूर्व से ही अपने मन को प्रबोधन देती रहती है। जब ऊधो आते हैं, तो पूर्वग्रंथों की गोपियों की तरह वह उनका मजाक नहीं उड़ाती, उन पर व्यंग्य नहीं करती, वरन् बड़े शिष्ट ढंग से उन्हें आसन देती है और कृष्ण का संदेश-पत्र सुनकर कहती है कि मैं तो न जाने कबसे अपनी 'विरह-जनित वासना-व्यथा' को संयम में बाँध रही हूँ।

उसमें विद्यापति की राधा की-सी प्रेम की उत्कंठा अवश्य है। विद्यापति की राधा 'नन्दनन्दन' से मिलने के लिए सुरपति से लोचन और गरुड़ से पंख' माँगती है। हरिऔध की राधा भी आकाश में पक्षियों को उड़ते देखकर पंखों की आकांक्षा करती है और पवन को डोलते देखकर पवन बन जाना चाहती है।

पर, भेद यह है कि 'प्रियप्रवास' की राधा, यद्यपि 'श्याम की याद' से यदा-कदा व्यथित हो उठती है; पर अधिकतर वह संयत और निर्लिप्त रहती है—

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।

इस यौवन-काल में इस प्रकार निर्लिप्त रहना मनोविज्ञान के आचार्यों को शायद खटके; पर इतना तो निश्चय है कि हरिऔधजी ने राधा को स्वस्थ मानवी का रूप दिया है। उसमें रति-विरति का अन्तर्द्वन्द्व है; उसका कायिक पक्ष मांसल नहीं है। उसका प्रेम निरावृत्त नहीं है। उसमें प्रेम का

आकर्षण है, विरह की वेदना है; पर सब कुछ संयम और विवेक से बँधा है। 'प्रियप्रवास' की राधा परम्परागत राधा की एक आधुनिक व्याख्या है।

प्रकृति का विस्तार उसके प्रेम को व्यष्टि से समष्टि की ओर, शरीर-पक्ष से भाव-पक्ष की ओर खींच लाया। प्रकृति में प्रियतम का भाव-विस्तार पाकर वह कायिक वियोग को भूलने लगी। वियोग तभी तक दुःखदायी होता है, जब तक शारीरिक सम्मिलन की आकांक्षा होती है। शरीर को गौणता देने पर वियोग कहाँ? अतः राधा पहले जिन प्राकृतिक पदार्थों को देखकर दुःखी होती थी, अब उन्हींको देखकर सुखी होती है।

इस प्रकार हरिऔधजी ने राधा के मोह को शुद्ध प्रणय का रूप दिया है। राधा के प्रेम में अब शृंगार नहीं, शान्त रस है।

हिन्दी-काव्य में विरह

विरह प्रेम की कसौटी है; प्रेम जीवन में पवित्रता तथा सच्चाई का दृष्टान्त उपस्थित करनेवाला एक प्रशंसनीय साधन है। पाकर खोने में दुःख है, कष्ट है और खोकर पाने में सुख है, आनन्द है। विरह मानव-जीवन की एक स्वाभाविक दशा है और हमारे हिन्दी-साहित्य के कवियों ने इस मनोदशा का बड़ा ही हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसे पढ़कर कभी आँखों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं, कभी दग्धता का स्पष्ट यथार्थ अनुभव होता है और कभी होता है वियोगी की मर्मान्तिक पीड़ा का बोध।

काव्य-प्रेमी कवियों ने प्रेम और विरह को धूप-छाँह के सदृश चित्रित करने का प्रयास किया है, जिसमें नायक के आते ही प्रेम और मिलन की स्वच्छ चाँदनी चारों तरफ छिटक जाती है एवं नायक के प्रस्थान करते ही विरह का अन्धकार घनीभूत होकर नायिका के मस्तिष्क पर छा जाता है। वह चारों तरफ प्रकाश-पुंज पर अठखेलियाँ करती हुई अन्धकार के विरह-सागर में निमज्जित होने लगती है।

हमारे काव्य-साहित्य में सर्वप्रथम मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में राजा रत्नसेन के विरह में नागमती की दिली हालत का, प्रेम-परवशता का मार्मिक खाका खींचा है। हीरामन तोता से राजकुमारी पद्मावती के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा सुनते ही राजा रत्नसेन उस रूपवती नारी को प्राप्त करने के उद्देश्य से घर से बाहर निकल पड़ते हैं। उनके जाने के पश्चात् रानी नागमती राजा के प्रेम में कितना प्रलाप करती है, इसे आप उनके प्रसिद्ध बारहमासा में देख सकते हैं।

"चढ़ा असाढ़ डगत घन गाजा। साजा विरह दुन्द दल बाजा।"

आषाढ़ मास में विरहिणी मेघ की गर्जना में विरह-युद्ध की घोषणा सुनती है। नागमती के विरहोच्छ्वास से ही चारों ओर आग लग जाती है—

"गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहिं वह आगि।
मुहम्मद सती सराहिए, मरे जो अस पिउ लागि।।"

उसकी आह का, विरह-ताप का, अत्युक्तिपूर्ण वर्णन यद्यपि कवि ने पाठक के सम्मुख चित्रित किया है; लेकिन उसकी वर्बर उष्णता का अनुभव दूसरी तरह से प्राप्त कर सकना भी असंभव था। नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि ओत-प्रोत दिखाई देती है—

कुहुकि कुहुकि जउ कोइल रोई। रक्त-आँसु घुंघची बन कोई।।
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गूँजि करै, "पिउ पीऊ'।।
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहि-बूड़ि उठे होइ राते।।
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहू।।

नागमती को सारा संसार दहकते अंगारे-सा मालूम होता है और सारी प्रकृति उसकी अनन्त वेदना में संवेदनशील है। वह वियोग में "हौं दिन राति विरह कोकिला" बन जाती हैं। वह तो विरह की आग में जलकर 'दहि कोयला भई कंत सनेहा' हो गई थी। उसका शरीर तो विरह की विभीषिकाओं का केन्द्रस्थल-सा था। वह पाठक की करुणा, दया और सहानुभूति की पात्र हो जाती है। नागमती की मनोदशा विक्षिप्त-सी है। मरने के समय

भी उस वियोगिनी स्त्री के हृदय में अपने स्वामी से परलोक में मिलने की भी भावना थी—

जियत, कंत ! तुम्ह हम्ह गर लाई। मुए कंठ नहिं छोड़हि साईं ।।
औ जो गाँठि, कंत ! तुम्ह जोरी। आदि अन्त लहि जाइ न छोरी ।।
यह जग काह की अछहि न आथी। हम तुम, नाह दुहूँ जग साथी ।।

विरहिणी ने मरकर भी दाम्पत्य जीवन की सुन्दर भावना को करुणा का रूप देकर साकार कर दिया है, जो युगयुगों तक प्रकाशपूर्ण रहेगा ! नागमती का विरह इतना रस-सिक्त हो गया है कि पाठक की आँखें सहानुभूति से बरबस उमड़ आती हैं।

मैथिल-कोकिल विद्यापति की राधा की विरहावस्था एक अपूर्व प्रेम की झाँकी है, जिसमें अन्तस्तल की दाहक पीड़ा का सरस स्वरूप है, जो भिन्न-भिन्न गीतों में अभिव्यंजित हुआ है। राधा के हृदय की जलन पपीहे की पुकार से किसी भी तरह कम नहीं और वह अपने प्रियतम के सामीप्य के लिए सदा प्रार्थिनी बनी रहती है। विद्यापति ने उसके हृदय की पुकार को कितने सुन्दर एवं मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है:—

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज की सरसिज विनु सूरे।
यौवन बिनु तन, तन विनु यौवन, की यौवन पिय दूरे।।

इस पद में प्रियतम के अभाव की सूचना है और है यौवन की सुखद विलास-क्रीड़ा के लिए आह्वान। राधा केवल इसलिए विकल है कि हृदय से निष्कासित स्नेह-रस को, जो प्रेमपुष्प होकर प्रवाहित हो रहा है, अपने प्रियतम कृष्ण के चरणों पर समर्पित कर आत्म-तुष्टि प्राप्त करे। राधा का विरह भावावेश, तन्मयता एवं अनन्यता से अभिभूत है। जागृतावस्था में प्रियदर्शन की लालसा हृदय में उठती है और सुप्तावस्था में उसकी भावनाएँ साकार हो जाती हैं—

"लोचन धाए फेधाएल हरि नहिं आयल रे।
....

सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा विहि विघटाओल निन्दओ हेरायल रे।"

प्रेम-पथ में पथिक थकना नहीं जानता, हार मानकर बैठना नहीं जानता। विरहकातर राधा के जीवनाकाश में (स्वप्न में) जो सुख का संयोग होता है, उससे ही वह वंचित हो जाती है और उसकी दशा घायल हरिणी के समान हो जाती है।

भक्त-शिरोमणि सूर की राधा भी विद्यापति की राधा से किसी भाँति कम नहीं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर सारा ब्रजमण्डल अनाथ सा हो गया; क्योंकि वे ही उसके सच्चे सखा तथा स्वामी थे। उनके वियोग में माता, पिता, परिजन, पुरजन, सखा, सखी और पशु-पक्षी सभी विरह-विवश हो गये थे, और विरहानल सारे ब्रजमण्डल को झुलसा रहा था। कृष्ण की छोटी-मोटी बातें सभी गोपियों को प्रिय थीं। उनकी याद में गोपियाँ रोती थीं, बिलखती थीं; क्योंकि उनके 'उर में माखनचोर गरे' थे। पुनर्मिलन एवं दर्शन को दुस्साध्य जान प्रेम-विरहिणी गोपियों ने पत्र लिखकर अपने हृदय की अभिलाषाओं को प्रिय तक पहुँचाना चाहा, किन्तु--

मसि खूटी, कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे।।
पाती लिखैं कहो क्यों करि, जो पलक कपाट अरे।।

विरहिणी की मनोवैज्ञानिक अवस्था का कितना सूक्ष्म पर सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। स्मृति-पट पर संयोग के दृश्य उपस्थित होते ही आकुल प्राणी के हृदय में जो भावों की सरिता बहने लगती है, उसके थपेड़ों को सहनकर पत्र लिखना सरल-हृदया गोपियों के लिए संभव नहीं था। उनका मन कृष्ण में तन्मय था। उनकी दशा का कितना सुन्दर वर्णन कवि ने किया है--

लखियत कालिंदी अति कारी।।
कहियो पथिक जाय हरि सों क्यों भइ विरह-जुर-जारी।।
....
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी।।"

तन्वंगी यमुना के सदृश गोपियाँ कृश एवं विरह में विह्वल हैं। काले-काले मेघ को आकाश में देखते ही गोपियों को घनश्याम का ध्यान हो आता है। बिजली की कड़क में माधव की हँसी का अनुमान करती हैं। स्मृति की प्रवलता आँखों की राह बन जाती है और ऐसा मालूम पड़ता है कि सारे व्रजमण्डल में एकमात्र वर्षाऋतु ही है--

निशि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-ऋतु हम पै जब तें श्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपोल भये कारे।।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे।।

महाकवि सूरदास के विरह-वर्णन ने हिन्दी के अनेक कवियों को वियोग की तीव्रानुभूति की आँच से तप्त किया है। उनका विरह-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट हुआ।

कवि-कंठहार नन्ददासजी ने भी अपने भँवर-गीत में विरह की अन्तर्धारा बहाई है। उन्होंने सर्वत्र गोपियों की वियोगावस्था के ही चित्र दिये हैं, जहाँ हृदय की वेदी पर मन्मथ का राज्य है; पर अनल की विभीषिका प्रज्ज्वलित हो रही है।

रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै रही साँवर गात।
कल्प-तरोरुह साँवरो ब्रज वनिता भई पात।।

इस पद की ध्वनि में एकात्मभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। विरह साक्षात् मूर्त्तिमान हो रहा है। गोपिकाओं का रोम-रोम कृष्णमय है और कृष्ण-गोपी का सम्बन्ध अविचल-अटूट है--वृक्ष के पत्ते के समान।

सरस और प्रवाहपूर्ण भाषा में नन्ददासजी ने गोपियों का विरह-वर्णन अत्युत्तम ढंग से किया है:--

कोऊ कहैं अहो दरउ देहु पुनि वेनु बजावौ,
दुरि-दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ।

हमको तुम पिय एक हो तुमको हम-सी कोरी,
बहुत भाँति के रावरे प्रीति न डारौ तोरी।
एक ही बार यों।।

प्रीति में आत्मविश्वास है; परन्तु समय-समय पर जब विरहिणी प्रेम में आकुल-व्याकुल हो जाती है, उस समय उसे यह भान होने लगता है कि शायद प्रियतम ने उसे विस्तृत तो नहीं कर दिया। उनकी पुण्य-स्मृति पुनः विश्वास उत्पन्न कर देती है। कितनी सुन्दर व्यंजना है!

विरह की एक झाँकी कवि सत्यनारायणजी के 'भ्रमरदूत' में भी मिलती है।

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
स्याम-बिरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई।।
जिय प्रिय हरि-दर्शन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, बिसरतु नैननु नीर।।
बिकल कल ना हिये।

बिलखती माँ की स्नेह-विवशता आँखों में नीर बनकर अपने लाड़ले श्याम के लिए धावमान है। अन्तिम पंक्ति में हृदय की कारुणिक अवस्था का कितना सजीव चित्रण है। इसे पढ़कर कृष्ण-विरह की बेलि ताजी हो जाती है। जहाँ एक तरफ सुन्दर शुद्ध स्नेह का वर्णन है वहाँ दूसरी तरफ रत्नाकरजी ने पवित्र प्रेम की अश्रु गंगा भी प्रवाहित की है।

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
काऊ थहरानी, कोऊ थानहि थिरानी हैं।
कहै 'रत्नाकर' रिसानी, बररानी कोऊ।
कोऊ विलखानी, बिकलानी विथकानी हैं।
कोऊ खेद-सानी, कोऊ भरि छग-पानी रहीं
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि विललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं।।"

उद्धवजी की प्रेम-विरोधी बातें सुनकर गोपियों का हृदय-विदारक दृश्य आँखों के सामने छा जाता है गोपियों की प्रेम-विह्वलता, उनकी अधीरता तथा तन्मयता एक साथ ही पाठक को आक्रन्त कर देती है और क्षण-भर के लिए पाठक-रस-निमग्न होते हुए विरहिणी की व्यथा से मर्माहत-से हो जाते हैं। विरहिणी गोपियाँ कितने सुन्दर ढंग से कृष्ण तक अपनी विदग्ध दशा का संदेश पहुँचाती हैं, उसे सुनकर कलेजा फटने लगता है और कवि की उत्कृष्ट कल्पना की वेगवती धारा मर्त्यलोक में व्यथा-पीड़ित गोपियों का संदेश सुनाने में सफलीभूत होती है।

औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछू न दसा देखि सते दिखाइयो।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू।
कहिब कौ चाही हिचकी लै रहि जाइयो।।

विद्यापति-चित्रित राधा विरहाधिक्य से विकल होकर 'अनुखन माधव-माधव सुमरइत' भावोद्रेक के कारण कृष्णमय हो जाती है, तो उसे राधा का अभाव खटकने लगता है और वह 'अनुखन राधा-राधा रटतहिं' राधामय हो जाती है। तादात्म्य की इस भावना विरहिणी राधी की भावमयी मूर्त्ति का स्पष्ट आभास मिलता है जिसमें पीड़ा के मनमोहक पुष्प तिरोभूत हो जाते हैं। परन्तु हरिऔधजी की राधा विरहाधिक्य से विह्वल होकर भी सारे संसार में कृष्ण की मूर्त्ति देखती है, विश्वातमा का अनुभव करती हुई अपनी विकलता का परिचय देती है:—

"पाई जाती विविध जितनी वस्तु हैं, जो सवोंमें।
मैं प्यारे को अमित रंग औ रूप में, देखती हूँ।।"

राधा का प्रेम विरह के झोकों में झूलकर भी उच्छ्वास बनकर नहीं, बल्कि सेवा-भाव से आन्दोलित हुआ है:—

गिन-गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहा के।
यदि निजनिसि कोई बाल होती बिताती।।

वह ढिग उसके भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम राधा की सार्थकता से।

सच्चा प्रेमी प्रेम की पीड़ा का अनुभव कर उसके स्वाद को चखता हुआ सन्तोष मानता है। ऐहिक जीवन में भौतिक विलास सुख-क्रीड़ा की कामना करता हुआ भी उसके अभाव में अविचल धैर्य धारणकर प्रेम के पुनीत पथ को प्रशस्त करता है। कवि के गान उस सत्य-प्रेम के प्रशस्ति स्वरूप हैं, जो निष्काम हैं। मीरा की प्रेम-साधना आँसू के तप्त सागर उड़ेलती हुई भी शीतल मणि है, जिसके पावन स्पर्श से प्रेमपथ आलोकित रहता है। इस साधना-पथ पर अग्रसर होनेवाली मीरा ने अच्छी तरह समझ लिया था कि कबीर के शब्दों में "सीस काटकर भुईं धरे तापर रखे पायँ" की असिधार पर चलना होगा। मीरा की आँखों में नन्दलाल की मोहिनी मूरत बसी थी, उसका प्रेम अनन्य था। राणा की पत्नी होते हुए भी अपने सुन्दर सलोने श्याम के प्रेम का ढिंढोरा पीटने में उसने कोई कोर-कसर उठा न रखी। मीरा ने कुल-लज्जा और वंश की मर्यादा को भूलकर शुद्ध प्रेम परवश होकर जो गीत गाये हैं, वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे। आँसुओं के जल से सींच-सींच कर जिस प्रेम-वेलि को उसने बोया, वह प्रेम लौकिक दृष्टि से मर्यादाहीन होता हुआ भी निष्कलंक है। आज घर-घर में मीरा के गीत गूँज रहे हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
साधु संग बैठि बैठि लोक लाज खोई।।

ऐसे प्रेम में विष का प्याला भी अमृत हो जाता है।

महादेवी वर्मा, जो आधुनिक युग की मीरा समझी जाती हैं, उनमें मीरा जैसी ही कारुणिक व्यथा और प्रेम-विह्वलता है। आपने दुःख में ही सन्तोष माना है और उनकी यह अनुभूति नारी जीवन के समस्त सरस सौन्दर्य की एक अनोखी देन है। अतृप्ति और असन्तोष में सुख मानकर पीड़ा ही को अपनाया है। "हे हरी, मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय" को ही वर्माजी ने अपना आदर्श माना है। उनकी वेदना ने एक ऐसे संसार का सृजन किया है, जो प्रकृति की तरह चिरन्तन है। कवयित्री ने सम्पूर्ण चैतन्य

प्राणियों में एक विराट् चेतना का अनुभव किया है। एक स्फुलिङ्ग की तड़पन उनके जीवन में निरन्तर गतिमान है—

सजनि ! मैं इतनी करुण हूँ करुण जितनी रात।
सजनि ! मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात।

जीव और प्रकृति, जड़ और चेतन, करुणा और वेदना में एकरूप हो गये हैं। 'रश्मि' की भूमिका में "दुख मेरे समीप जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी नहीं पहुँचा सकें; किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।" वेदना की इसी धारा में उनकी काव्य नौका प्रिय-मिलन की लालसा लिए हुए झंझावात के झकोरों को सहते हुए अभिसार कर रही है। "विरह की घड़ियाँ हुईं अलि, मधुर मधु की यामिनी सी", "मैं नीर भरी दुख की बदली" आदि गीतों में आँखों का आँसू नहीं, जो आज उमड़ता है, कल मिट जाता है; वरन् आकाश के बादल के समान सम्पूर्ण जगत् पर छा जाता है।

प्रातःस्मरणीय महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अमर काव्य 'रामचरित मानस' तथा 'बरवे रामायण' में विरह के महत्त्व का निदर्शन किया है। सीताहरण के पश्चात् राम सीता के वियोग में लता, गुल्म वृक्षादि से पूछते हैं:—

हे खग-मृग, हे मधुकर श्रेणी।
तुम देखी सीता मृग-नैनी।।

सूरदासजी द्वारा चित्रित गोपियों की विरह दशा सुनकर कृष्ण की अवस्था 'सूर स्याम भूतल गिरे रहे नयन जल छाय' से राम की विरह दशा न्यून नहीं। राम के वनगमन के समय माताओं के हृदय में स्नेह का जो संचार हुआ, उसकी मर्मस्पर्शी तस्वीर रामायण में पूर्ण रूप से वर्णित है। 'बरवे-रामायण' में तो विरह की ज्वाला का स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं—

डहकनु है उजियारिया, निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागइ मोहि बिनु राम।।

राम के वियोग में शीतल चाँदनी की शीतल ज्योत्स्ना प्रखर धूप के समान जलाती हुई मालूम होती है और सारा संसार जलता हुआ उल्का-पिंड-सा मालूम पड़ता है।

उपर्युक्त विरह-वर्णन संसार के सुख-भोग के प्रवर्द्धक रूप में नहीं था; वरन्, आत्म-सुख, आत्म-तृप्ति, एवं आत्म-शान्ति के लिए था। हिन्दी-काव्य-गगन में कतिपय कवियों ने सौंदर्य और प्रेम को ही ऐहिक सुख का प्रेमनक्षत्र माना है। प्यार के व्यापार में उनकी नायिका विरह में जलती हुई अङ्गारे-सी लगती है; लेकिन जब किसी रूपाश्रय तरुण युवा की ललचाई आँखें उसके उन्नत उरोज को चूमती हैं, तो वह एक अजीब शीतलता अनुभव करती है। एक तरफ जहाँ भोग-भावना का परिष्कृत रूप है, आत्मिक मिलन की उत्सुकता है, वहाँ दूसरी तरफ दैहिक सुख-भोग की विकारयुक्त भावना है, दैहिक मिलन की उत्कंठा है। एक तरफ गंगा की स्वच्छ निर्मल धारा का प्रवाह है तो दूसरी तरफ स्रोतहीन सरिता का जल। वास्तव में कहना तो यों चाहिए कि एक प्रेम की ललित नीलिमा की मधुर आभा है और दूसरी विषयवासना की उन्मुक्त आँधी। ऐसे कवियों का विरह-वर्णन अतिशयोक्ति-अत्युक्ति की सीमा को पार कर जाता है। बिहारीजी की विरह-विदग्धा नायिका का एक चित्र देखिए:—

औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललाति।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुई न गात।।'

यहाँ नायिका विरहाग्नि से जल रही है। उसकी एक दयार्द्र सखी नायिका के ऊपर गुलाबजल की भरी शीशी उड़ेल देती है; किन्तु विरह की उष्णता इतनी अधिक है कि गुलाब जल वाष्प बनकर हवा में विलीन हो जाता है और जल का एक कण भी उस दग्ध शरीरवाली नायिका के शरीर पर नहीं पड़ता। इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण अनेकानेक चित्र कविवर बिहारी में मिलेंगे—

करके मीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हलाय।
सदा समीपिनि सुखिनुहुँ, नीठि पिछानी जाय।।

विरह से तड़पती हुई नायिका की उपमा कितनी सुन्दर है! पं. पद्म सिंह शर्मा ने लिखा है, "कोमलांगी नायिका की विरह विवर्णिता को मसले हुए फूल की उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। परन्तु बिहारी की विरहिणी में मार्मिकता का अभाव है, जिसमें दिमागी कसरत तो होती है; किन्तु रस का संचार नहीं होता।"

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरै से रहे, लगी उसासनु साथ।।

साँस के झूले पर बिहारी ने अपनी नायिका को बैठाकर छः-सात हाथ झुला दिया है। तात्पर्य यह कि नायिका विरह से इतनी कातर हो गई है कि केवल स्पन्दन ही शेष है; यही नहीं, कहीं-कहीं तो नायिका विरह से इतनी जल रही है कि माघ महीने में उस ग्राम में जब कोई पथिक आता है, तो उसे ग्रीष्म की लू का बोध होता है।

रीतिकालीन कवियों में केशव, मतिराम, आलम और पद्माकर की विरहिणी नायिका भी कविवर बिहारी की विरहिणी से किसी प्रकार कम नहीं हैं। मतिराम की नायिका नायक के बिछोह में गर्म-गर्म श्वासें फेंक रही थी कि इस दशा को देखकर उसकी कुछ सखियों ने नायिका के शरीर को शीतल करने के हेतु कमलिनी के चन्दन-चर्चित पत्तों को उसके शरीर पर रखा। शरीर-स्पर्श से ही वे पत्ते पापड़ सदृश हो गये—

जागत ओज मनोज के, परसि तिया के गात।
पापड़ होत पुरैनि के, चन्दन पंकिल पात।।

केशवजी ने 'रामचन्द्रिका' में भगवान राम के विरह का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। हनुमान द्वारा सीताजी सुन रही हैं कि भगवान् विरहविवश हो गये हैं—

अपनी दशा कहा कहौं, दीप दशा-सी देह।
जरत जाति वासर निशा, केशव सहित सनेह।।

इस पद में अहर्निश जलन की सूचना मिलती है। जिस प्रकार दीपक में तेल और बत्ती जलती है, उसी प्रकार शरीर-रूपी दीप में प्रेम-रूपी बत्ती जल रही है। कितना भावमय पवित्र विचार है।

आलमकवि की नायिका का विरह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है—

ऐरी पर-घर कित मांगन को जैहै आजु

आँगन में चन्दा तैं अँगार चारि झारि लै

साँझ भये भौन सँझवाती क्यों न देत आली

छाती तें छुपाय दिया-बाती क्यों न बारि लै।

यहाँ कवि किसीको संबोधन करते हुए कहते हैं कि ऐ सखी; तू आग माँगने कहाँ जा रही है? यहीं वियोग में जलती हुई नायिका के मुखचन्द्र से दो-चार अँगारे ले ले और सँझा-बाती देने के लिए दियासलाई को मत ढूँढ़, इसी विरहिणी बाला की छाती में बत्ती लगाकर दीपक जला ले। कवि के विरह-वर्णन में ज्वाला की जोत है जो जलती ही रहती है, बुझती नहीं।

आह से संतप्त जीवन की दशा का सुन्दर वर्णन 'पद्माकर' जी के 'जगद्विनोद' में भी प्राप्त होता है। 'पद्माकर' जी को तो चारों तरफ खिले हुए लाल-लाल फूल जो सुखदायी होते हैं, अंगारे की तरह लाल चमकते हुए दाहक प्रतीत होते हैं। उनकी नायिका अनङ्ग के जागरण से कितनी बेचैन है, इसका अनुमान निम्न पंक्तियों से कीजिए:—

"घर ना सुहात ना सुहात बन बाहिर हूँ, बाग ना सुहात न खुशाल खश बोही सों। कहै पद्माकर घनेरे धन-धाम त्योंही चाँद ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोहो सों।। साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछु, व्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों। राति ना सुहाति ना सुहात परभात आली, जब मन लागि जात काहू निर्मोही सों।।"

जहाँ विरहिणी की दशा का इतना सुन्दर चित्र है वहाँ 'ग्वाल' कवि के अतिशयोक्ति और अत्युक्तिपूर्ण चित्र हैं। उनकी नायिका ऊपर-लिखित सभी विरहिणियों से बाजी मार ले जाती है। देखिए—

तांदुर ले आई तिया आँगन में ठाढ़ी भई
करके पसारिवे में भात हाथ में भयो

विरह की ज्वाला में जलती हुई नायिका हाथ में चावल लेकर खड़ी हो होती है कि वे चावल हाथ में पककर भात हो जाते हैं। कवि की विरह-कल्पना कितनी प्रशंसनीय है।

इस प्रकार के अनेकानेक पद हिन्दी-काव्य में भरे पड़े हैं। विरह में दुबले हो जाना, कृश तथा क्षीण दिखाई पड़ना एकदम स्वाभाविक है। रीतिकालीन प्रायः सभी कवियों ने इस दशा का वर्णन किया है। बिहारी की नायिका क्षीण शरीरवाली इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि यमराज को भी उसे खोजने के लिए चश्मे की जरूरत आ पड़ती है—

करी विरह ऐसी तऊ गैलु न छाँड़तु नीचु।
दीनें हु चश्मा चखनि चाहै लखै न मीच॥

हिन्दी-काव्य में भक्ति-युग और रीति-युग के कवियों ने अपनी-अपनी विशेषता के साथ मानव के अन्तर में बास करनेवाले प्रेम और विरह का बड़ा ही मार्मिक एवं रोचक रूप पाठकों के सम्मुख रखा है। भक्ति-युग में विरह की तीव्रता नायक एवं नायिका की सत्यानुभूति एवं सत्य-प्रेम पर आश्रित है; किन्तु रीति-युग के कवियों का विरह बाह्य एवं स्थूल दृष्टि से रोचक है, जिसमें गांभीर्य नहीं। एक में हृदय की अनन्त धारा का प्रवाह है, दूसरे में कल्पना-द्वारा मानसिक विरह का वर्णन। एक आध्यात्मिक शृंगार की रंगभूमि में अनन्त का स्पर्श करने के लिए उत्सुक है, दूसरा भौतिक गार के दलदल में वासना की तृप्ति के लिए प्रयत्नशील है। एक आह की आँधी में चिरन्तन सत्य का दर्शन है दूसरा विरह की ज्वाला में उद्दाम वासना का उद्दीपन है। नारी के रूप में आकर्षण है। उसे देखकर छटपटा जाना, मर्माहत हो जाना, सुध-बुध खो देना एक बात है और नारी के सौंदर्य, रूप-रंग को देखकर उसके अन्तर का सौंदर्य आँकना तथा उसके कुसुम-से कोमल हृदय का अनुरागी बनना दूसरी बात है।

अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य में यदि मानव के शाश्वत सौन्दर्य का परिचय प्राप्त हो तो कितना सुन्दर है। आधुनिक युग में भी आकर विरह-विषय की उत्कृष्टता के कारण कवि आकृष्ट हुए हैं। विरह एक ऐसी मनोदशा है जिसका बोध प्रायः सभी को हुआ करता है। भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली के विरह का जो सूक्ष्म अन्वेषण किया है उसके प्रेम को देखकर कौन ऐसा पाठक होगा, जिसका हृदय बेचैन नहीं हुआ होगा ?

भारतीय साहित्य में नारी

मनुस्मृति में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने अपने को दो भागों में बाँट दिया। तब उनका आधा भाग पुरुष और आधा स्त्री हो गया।१ देवीभागवत के अनुसार जब मौजी भगवान् अपनी इच्छा से दो रूप हो गये तो उनका वाम भाग नारी बन गया और दक्षिण भाग पुरुष।२

भगवान् के ये दोनों अंश (पुरुष और नारी) आरम्भ से ही एक-दूसरे के पूरक-रूप में चलते रहे। पुरुष के अभाव में नारी और नारी के अभाव में पुरुष किसी प्रकार की सृष्टि नहीं कर सकता। कृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं शक्ति के अभाव में कोई भी सृजन नहीं कर सकता,३ और शक्ति भी मेरे ही तत्त्वावधान में जगत् की सृष्टि करती है।'४

---

१. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः।।
२. स्वेच्छामयः स्वेच्छमायं द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्री रूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।।
३. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।
४. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम।

कर्म-मीमांसा दर्शन मानता है कि सृष्टि के आरम्भ से ही नारी और पुरुष दो धाराएँ स्वतन्त्र रूप से चलीं,१ पर वह यह भी स्वीकार करता है कि स्त्री धारा पुरुषधारा से मिलकर ही मोक्ष की अधिकारिणी बनती है।२

इस प्रकार भारतीय धर्मग्रंथों में पुरुष और नारी दोनों को भगवान् का पवित्र अंश परस्पर-निर्भर और पूजनीय कहा गया है। भारतीय परिवार में नारी-समादर के बिना सुख-समृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती, भगवान् कहते हैं कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता रमते हैं।३

भारतीय साहित्य में नारी-पुरुष-सम्बन्ध के अन्तर्गत जन्मान्तर सम्बन्ध, पाणि की पावनता, नारी के तपप्रधान रूप, कन्यादान की श्रेष्ठता, स्त्री को प्रसन्न रखने के उपाय, उसके जायात्व और पति-पत्नी-सम्बन्ध की एकरूपता इन सात बातों को विशेष महत्त्व दिया गया है। ४

शंकर-पार्वती की कथा भारतीय संस्कृति के दाम्पत्य-जीवन की चरम कथा है। उसमें उपर्युक्त सप्त तत्त्व अत्यन्त विकसित रूप में वर्त्तमान हैं। पति के अपमान से विह्वल होकर शरीर-त्याग करने के बाद सती शिवा हिमालय के आँगन में पार्वती के रूप में अवतरित हुई और तरुणाई के पहले ही पिता की आज्ञा लेकर शिव-हेतु तप करने के लिए गिरि-शृंग पर चली गई। सती के शरीर-त्याग के बाद शंकर ने पुनर्विवाह की कल्पना ही नहीं की; वरन् स्वयं जो सबको तपस्या का वरदान देते थे सती-मिलन के लिए तपस्या

---

१. द्वे धारे स्वतंत्ररूपत्वात्।

२. स्त्रीधारा पुरुषधारापयी कैवल्याधिकारिणी।

३. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

४. जन्मान्तरीय सम्बन्धस्तथा पाणिपवित्रता।
तपः प्रधान नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता।।
स्त्रियः प्रसादाय कृतिः जायात्वमेकरूपता।

५. नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तें भववारिधौ।
एतत्संदर्शनार्थाय तथा चक्रे भवोद्भवः।।

करने लगे। पुनर्मिलन के लिए इधर शंकर तपस्यारत हैं, उधर पार्वती अपर्णा हैं। ऐसा था उनका जन्मान्तर प्रेम और ऐसी थी उनके प्रेम की एकरूपता। पाणि-पवित्रता तो ऐसी कि जब स्वयं भगवान् शंकर ब्रह्मचारी का रूप धारण कर जलकुण्ड में गिर गये और पार्वती से आग्रह किया कि वे अपने पवित्र दाहिने हाथ से निकालकर ब्राह्मण ब्रह्मचारी की प्राणरक्षा करें तो पार्वती ने ब्राह्मण के रक्षार्थ ऐसा तो किया; किन्तु इसके बाद ही यह सोचकर कि पर-पुरुष के स्पर्श से दाहिना हाथ पति के अयोग्य हो गया है दाहिने हाथ को जला देने के लिए योगाग्नि में बैठने का निश्चय किया। स्कंदपुराण में इस कथा की जो व्याख्या की गई है वह भारतीय नारी की महानता के ही अनुरूप है। स्कंदपुराण के शब्दों में 'नारी भवसागर में डूबते हुए पुरुष को उबार लेती है। इसी तथ्य को दिखलाने के लिए जगत-कर्त्ता होकर भी शंकर ने यह लीला की।

नारी के दोनों रूपों——माता और पत्नी रूपों——की विराट् कल्पना भारतीय साहित्य में की गई है। नारी जगज्जननी है। तभी तो भगवान् शिव स्वयं बाल-रूप धारण कर पार्वती की गोद में सोये थे। नारी का यह रूप भारतीय दृष्टि में स्वर्ग से भी महानतर है।१ हमारे मन्त्रद्रष्टाओं की दृष्टि में कुपुत्र हो सकते हैं; किन्तु माता कुमाता नहीं हो सकती।२

नारी का पत्नी-रूप भी कम महिमामय नहीं है। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। विवाह के अवसर पर जो मंत्र पढ़े जाते हैं। उनमें स्त्री पुरुष से कहती है कि मैं तुम्हारे सभी कामों में अर्द्धांगिनी रहूँगी और तुम भी किसी परकीया को नहीं अपनाओगे। अर्द्धांगिनी का जब तक समादर नहीं होगा तब तक पारिवारिक आनन्द कहाँ? इसलिए दम्पति-सम्बन्ध के जिन सात तत्त्वों का हवाला ऊपर दिया गया है, उनमें पत्नी को प्रसन्न रखने की चेष्टा का भी उल्लेख है। अर्द्धनारीश्वर शंकर का आचरण इस तत्त्व को पूर्णरूपेण

---

१. जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।
२. माता कुमाता न भवति।

अभिव्यक्त करता है। शंकर प्रेमभरी पार्वती को अपने अंक (वामांग) में लिये हुए हैं। चलते समय जहाँ-कहीं ऊबड़-खाबड़ धरती मिलती है वहाँ पहले अपना ही (दायाँ) पाँव रखते हैं। पार्वती श्रम से थक न जावें, इस आशंका से वे अपन ही हाथ से वृक्ष के फूल तोड़ते हैं। मृगछाला डालकर जब सोने लगते हैं तो शरीर के अपने ही अंग को नीचे रखकर सोते हैं।१ नारी तो गृहदेवी है। गृह-यज्ञ के प्रत्येक अनुष्ठान में उसके सहयोग की आवश्यकता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में लिखा है कि किस प्रकार निभृत वन-प्रदेश में ऋषि वशिष्ठ अपनी पत्नी अरुन्धती के साथ मिलकर संध्या का होम-यज्ञ करते थे।२

हाँ, भारतवर्ष में नारी को साधना का अंग माना गया है यौन (Sex) मात्र नहीं। इसलिए यहाँ नारी का कामिनी-रूप सदा गर्हित समझा गया और उसे जलाने के लिए शंकर के तीसरे नेत्र की व्यवस्था की गई। विवाह का अर्थ यौन-तुष्टि नहीं; वरन् ऋणमुक्ति द्वारा मोक्ष-लाभ करना समझा गया। मनुष्य पर तीन ऋण हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण। इन तीनों ऋणों से उद्धार पाकर उसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसके लिए उसे वेदों का अध्ययन, यज्ञों का अनुष्ठान और धर्मानुमोदित रीति से पुत्र उत्पन्न कर (इस प्रकार क्रमशः तीनों ऋणों से मुक्त होकर) मोक्ष में ध्यान लगाना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है।३ वैसे नारी को प्रेम की स्वच्छंदता दी गई है

---

१. आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि।
स्वीनैव करेण कर्षति तरोः पुष्पं श्रमाशंकया।
तल्पे किं च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भागैर्निजै-
रन्तः प्रेमभरालसां प्रियतमामंके दधानो हरः।

२. विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धन्त्या स्वाहयेव हविर्भुजम्।

३. अधीत्य विविधान् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

और विवाह के आठ प्रकार (ब्राह्म--जिसमें वर को बुलाकर कन्यादान किया जाता है; दैव--जिसमें यज्ञ में कन्यादान किया जाता है; आर्ष--जिसमें वर से धर्म-कार्य के निमित्त को लेकर कन्यादान करने की रीति है; प्राजापत्य--जिसमें वर की पूजा करके कन्यादान होता है; आसुर--जिसमें स्वेच्छा से कन्या को या उसके कुटुम्बियों को धन देकर शादी की जाती है; गांधर्व--जिसमें वर और कन्या स्वेच्छा से विवाह करते हैं; राक्षस--जिसमें वीरता से कन्या का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है और पैशाच--जिसमें सोयी हुई, मदिरा से मत्त या किसी अन्य प्रकार से उन्मत्त नारी से विवाह किया जाता है।) माने गये हैं। पर प्रथम चार प्रकारों को ही श्रेष्ठ समझा गया है और शेष को हीन। तात्पर्य कि भारतवष में प्रेम को समाज-शून्य और सर्वथा ऐकान्तिक नहीं माना गया है। धनुष-यज्ञ निरर्थक नहीं था। उसमें केवल सीता के विवाह का ही प्रश्न नहीं; वरन् अनाचारियों से धरती की पवित्रता की रक्षा का प्रश्न भी सन्निहित था। कालिदास की काव्य-श्री शकुंतला का प्रेम ऐकांतिक, लोकवाह्य हो गया था। द्वार पर आये हुए ऋषि-अतिथि के सेवा-सत्कार के साधारण शिष्टाचार को भी वह ध्यानमग्ना भूल गई और फलस्वरूप दुर्वासा के शाप से उसे शापित होना पड़ा। भारत-वासियों ने विवाह के उन चार रूपों को ही अधिक महत्त्व दिया है जिनमें पितृ-पक्ष से कन्यादान होता है। विवाह का यह सामाजिक रूप है। जब शंकर पार्वती पर रीझ गये तब पार्वती ने कहा था--मैं आपको अन्तःकरण समर्पित करती हूँ। पर मेरे शरीर के मालिक मेरे माता-पिता हैं। इसे उन्हीं से माँगिए और इस प्रकार सम्मान कीजिये।१

पर नारी का यह तपःपूत शक्ति-प्रकाशित रूप रामायण और महाभारत इत्यादि ग्रंथों में ही मिलता है। परवर्तीकाल के संस्कृत-ग्रंथों, विशेषतः नाटकों में नारी वीरभोग्या मात्र रह गई है। पतिव्रता वह अब भी है; किन्तु

---

१. मनसस्त्वं प्रभुः शम्भो! दत्तं तच्च मया तव।
बपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि। (स्कंदपुराण)

उसका तेज समाप्त हो गया है। उसकी आँखों में वियोग के आँसू हैं; किन्तु उसके लिए धरती नहीं फटती। एक शब्द में नारी की कल्पना विराट् से कोमल हो गयी है, अत्यन्त कोमल——जिसका अर्थ साधारण भी हो सकता है।

हिन्दी में वीरगाथा-काल के ग्रंथ मूलतः वर्णनात्मक हैं। इन ग्रंथों में राजाओं के युद्धों, विवाहों और प्रेम-सम्बन्धों का वर्णन है। अतः इनमें चरित्र-चित्रण की विशेष गुंजाइश नहीं है। हाँ, नारी-पात्रों के दो ही भाव प्रगट हुए हैं——प्रेम और शौर्य। इस दृष्टि से हम इन ग्रंथों को विशुद्ध वीरकाव्य न कहकर प्रेम-वीरकाव्य कहना चाहेंगे। नरपति नाल्हकृत वीसलदेव रासो में संयोग-वियोग की खासी गाथा प्रस्तुत की गई है। वीसलदेव अपनी पत्नी राजमती से रूठकर उड़ीसा चला जाता है। उसके वियोग में राजमती रोती रहती है——

कुँवरि कहइ सुणि सामरया राव
काईं स्वामी तू उलगईं जाइ?
कहेउ हमारउ जइ सुणेउ
थारइ छइ साठ अँतवेरी नारि।।
इत्यादि।

इस प्रकार के संयोग-वियोग-वर्णन अनेक हैं और लगभग सभी साधारण कोटि के परम्परा-मक्त; किन्तु जब हम तत्कालीन नारियों की शौर्य-मनोवृत्ति पर विचार करते हैं, तो आँखों में अचानक एक नई चमक कौंध जाती है और लगता है कि समस्त वीरगाथाओं में यदि काव्य के अन्वेषकों को कुछ न मिले तो भी ये जीयेंगी और सम्मान के साथ; केवल इसीलिए कि इनमें क्षत्राणी-स्त्रियों की वीर-भावना एवं मातृभूमि के प्रति प्रेम का सर्वथा मौलिक एवं अभूतपूर्व वर्णन हुआ है। पति युद्ध में गया है। पत्नी सोच रही है कि वे विना विजयी हुए या बिना वीरगति को प्राप्त हुए घर लौटे तो मैं कदम-कदम पर चूड़ियाँ तोड़कर बिखेर दूगी। मैं राजपूत की बेटी जो हूँ——

बिण मरियाँ बिन जीतियाँ जो धव आवै धाम।
पग-पग चूड़ि पाछटूँ तो रावत री जाम।।

ऐसे वर्णन हिन्दी-साहित्य की अमर पूँजी हैं और इस दृष्टि से तत्कालीन रचनाओं का आभार-स्वीकार करना पड़ेगा।

वीरगाथा-काल के वाद संत-युग आता है। संतसाहित्य की दो धाराएँ हुईं—ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। ज्ञानाश्रयी शाखा का नेतृत्व किया कवीर ने और प्रेमाश्रयी शाखा का जायसी ने। कवीर ने नारी को मुख्यत: तीन रूपों में देखा—आराधिका की प्रकृति के रूप में, पतिव्रता गृहिणी नारी के रूप में और माया-जाल फैलानेवाली कामिनी के रूप में। प्रथम दो रूपों को उन्होंने अनुकरणीय एवं वंदनीय माना, तीसरे की निन्दा की। कवीर मानते हैं कि जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री को आँखें नैहर में रहने पर भी पति पर लगी रहती हैं, उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मा संसार में रहने पर भी भगवान् को नहीं भूलते—

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहे पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाँहि।

इस प्रकार पतिव्रता स्त्री कवीर की आराधना का आदर्श है। कवीर स्वयं राम की अनुरागिणी प्रिया बने हुए हैं—हरि मोरे राम मैं हरि की बहुरिया।" गृहिणी के रूप में भी कवीर ने पतिव्रता पत्नियों की प्रशस्ति गाई है—

पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत।।

मायाविनी कामिनी की कबीर ने बहुत भर्त्सना की है। उनकी दृष्टि में ऐसी नारी नागिन से भी अधिक विषैली होती है—

नारी की छाया परे अंधा होत भुजंग।

जायसी आदि सूफी कवियों के ग्रंथों में नारी-जीवन की प्रेम-गाथा वर्णित है। ये प्रेमगाथाएँ लौकिक हैं। प्रेमचेष्टाएँ प्राय: स्थूल हैं और साथ ही यह प्रेम समाज के उत्तरदायित्व से शून्य है; पर इन गाथाओं में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक संकेत दिये गये हैं जिनसे आभास मिलता है कि नारी ब्रह्म की प्रतीक है। लौकिकता और आध्यात्मिकता का मेल न होने के कारण नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण अस्पष्ट और अनिश्चित हो गया है। हाँ बहुलांश

में येगाथाएँ लौकिक गाथाएँ हैं और इनमें वर्णित प्रेम एवं विरह मोहक हैं; पर इनमें वर्णित प्रेम को आदर्श नहीं माना जा सकता। आखिर पति-व्रता नागमती को दौड़कर पद्मावती की खोज में जाने का क्या करण हो सकता है; सिर्फ रूमानी प्रवृत्ति ही न? हाँ कंगन उतारकर राघव चेतन को दे देने में नारी के उत्तरदायित्व-बोध की एक रेख भी मिल जाती है। पर उत्तरदायित्व-ज्ञान के ऐसे स्थान बहुत थोड़े हैं।

भक्तिकाल के भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी ने भारतीय नारी के परम आदर्श रूप को खड़ा किया। नारी की जन्मान्तर प्रेम-निष्ठा रामचरित मानस में पार्वती की इस प्रतिज्ञा में उद्घोषित हुई है—

जनम कोटि लगि परन हमारी।
बरौं संभु न त रहौं कुआरी।।

नारी इसलिये वरेण्य नहीं है कि वह उपभोग्या है; वरन् इसलिए कि उसमें त्याग और तपस्या की अक्षय मात्रा है। मानस की पार्वती इस आदर्श को साकार करती है—

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी।
उचित कहेउ मुनिबर बिग्यानी।।
तुम्हरे जान कामु अब जारा।
अब लगि संभु रहे सविकारा।।
हमरे जान सदा शिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी।।

गोस्वामीजी ने चार प्रकार की पतिव्रताओं का उल्लेख किया है और उनकी कोटियाँ स्थिर की हैं—

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं।
वेद पुरान संत अस कहहीं।।
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।।

मध्यम पर पति देखहिं कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।।
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं।।
बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई।।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी नारीत्व को आत्मिक मानते हैं और उसके नियम को अनायास नारी के शील और संकोच का सुन्दरतम चित्र सीता उपस्थित करती है। सीता अतुलनीय हैं। वह सरस्वती की तरह प्रगल्भा नहीं, मितभाषिणी तथा शील एवं संकोचवाली है। सीता पूर्ण नारी है, पार्वती की तरह अर्द्धनारी नहीं। वह प्रसन्नवदना है, रति की तरह म्लानमुखी नहीं। वह मंगलमूर्त्ति है; अमृतमयी है; लक्ष्मी की तरह उसमें हलाहल और विष नहीं—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुःखित अतनु पति जानी।।
विष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही।।

सीताजी की लोक-लाज और ब्रीड़ा का बड़ा सुन्दर वर्णन गोस्वामीजी नें किया है। रंगभूमि में सीता खड़ी है। धनुष किसीसे न टूटा। जनकजी क्षुब्ध हो गए। तब उदयाचल पर उगनेवाला सूरज की तरह राम धनुष तोड़ने को उठ खड़े हुए। उस समय सीताजी ने एक क्षण के लिए अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा से उनकी ओर देखा; पर दूसरे ही क्षण वह लोक-लाज और कुल-मर्यादा से धरती की ओर देखने लगी—

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-जुग, जनु बिधुमंडल डोल।।

सीताजी का प्रेम अचला भक्ति है। उनमें लौकिक व्याकुलता और चिन्ता है अवश्य; पर सबको संयमित करनेवाला आध्यात्मिक विश्वास और धैर्य है।

सीताजी के शील का अत्यन्त सुषमापूर्ण विवरण यहाँ मिलता है, जहाँ सीता राम और लक्ष्मण के साथ वन जा रही है। गाँव की स्त्रियाँ राम की ओर संकेत करके सीता से पूछती हैं कि आप कौन हैं? और तब—

वहुरि बदन विधि अंचल ढाँकी।
प्रिय तन चितै दृष्टि करि बाँकी।।
मंजुल मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति तिनहि कह्यो सिय सैननि।।

कुलवधू की यह भूमिका समस्त भारतीय साहित्य में अनूठी है।

और अन्य कवियों की तरह गोस्वामीजी ने भी कुलटाओं और छलनामयी कामिनियों की निन्दा और ताड़ना की है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ जिनको लेकर बराबर विवाद चलता रहता है ऐसी ही स्त्रियों के लिए लिखी गई हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी।

माता की महिमा का तो कहना ही क्या? राम वन जा रहे हैं। कौशल्या का हृदय विदीर्ण हो रहा है। यदि केवल दशरथ की आज्ञा होती तो वह शायद राम को रोक भी लेती; क्योंकि घर में पिता से बड़ा अधिकार माता का है। माता गृहस्वामिनी है। किन्तु यह जानकर कि माता कैकेयी की भी यह आज्ञा है, वह राम को रोक नहीं पाती और गौरवशालिनी माता की तरह आशीर्वाद देती हुई कहती है—

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना।।

सुमित्रा भी वीरप्रसू माता की भाँति लक्ष्मण को राम-जैसे अग्रज की सेवा के लिए वन जाने का आदेश देती है।

रीतिकालीन साहित्य में नारी क्रीड़ा का निर्जीव उपादान भर रह गई। उसमें हाव-भाव तो है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै भौंहनि हँसे देन कहै नटि जाइ ।।

अथवा

नासा मोरि नचाइ दृग करी काका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए गड़ी कटीली भौंह।।

किन्तु उसमें आत्मसम्मान की भावना नहीं है। उसकी आत्मा मरी हुई है। सेनापति कभी उसे काम की फुलवारी बना देते हैं, कभी शतरंज के गोटे। तत्कालीन कवियों ने एक ओर नारी की संयोगावस्था का स्थूलातिस्थूल चित्रण किया और दूसरी ओर उनके विरह को कल्पनातीत बना दिया। जब वह साँस लेती है तो छः-सात हाथ पीछे चली आती है और जब साँस छोड़ती है तो उतना ही आगे चली जाती है—

इत आवति चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ।।

और इस तरह नारी के ये दोनों ही रूप-चित्रण गलत हो गए। वैसे कहीं-कहीं नारी के रूमानी रूप का बड़ा चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलता है। रसलीन की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकबार।।

आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नीलदेवी' नाटक में भारतीय नारी के तेज को एक बार फिर उपस्थित किया। नीलदेवी में वीरता, कौशल एवं नीतिज्ञान तथा धीरता तीनों ही हैं। पति के निधन पर वह रोती नहीं, वरन् आँसुओं को पोछकर अपने बेटे को युद्ध एवं नीति की शिक्षा देती है और स्वयं नर्त्तकी-वेश में अब्दुश्शरीफ के शिविर में प्रवेश कर अपने पति की हत्या का बदला लेती है।

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आया। द्विवेदी-युग एक ऐसा आचार-पूत युग था जिसने रतिशास्त्र को अग्निसात् किया था और शृंगार को वर्जित-प्रदेश (Forbidden land) मान लिया था। स्वभावतः इस काल में नारी आदर्शधाम के रूप में चित्रित हुई और उसके शृंगार का परिमार्जित वर्णन हुआ। इस युग में एक और घटना घटी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक लेख लिखा—काव्येर उपेक्षिता (काव्य की उपेक्षिता)। इसमें उन्होंने आदि-कवि के महाकाव्य के एक अभाव की ओर संकेत किया और कहा कि क्रौंच के दुःख से व्यथित कवि की दृष्टि वेदना में भींगी त्याग से पूत निःशब्द उर्मिला पर नहीं पड़ी। द्विवेदीजी ने इसके बाद स्वयं एक लेख लिखा 'उर्मिला सम्बन्धी कवियों की उदासीनता'। फिर तो उपेक्षितों की अपेक्षा का एक सिलसिा चल पड़ा (और आज तक चल रहा है)। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त। उन्होंने 'साकेत' लिखकर चिर-उपेक्षित उर्मिला की अभ्यर्थना की, चिरलांछित कैकेयी को सम्मान दिया और 'यशोधरा' के द्वारा चिर-विस्मृत बुद्ध-पत्नी के तेज को प्रकाश में लाया। 'साकेत' में दम्पति-विज्ञान की मधुर व्याख्या की गई है। पुरुष को नारी के साहचर्य में सब कुछ स्वर्ग-सा लगता है और नारी को पुरुष के सम्पर्क में विश्वासपूर्ण आश्रय मिलता है—

'भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल आवर्त्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?
जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर,
चारु-चिन्तामणि-कला से होड़कर,
कल्पवल्ली-सी तुम्हीं चलती हुई
बाँटती हो दिव्य फल फलती हुई !'
'खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम;

आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें
और निज-भव-भार यों हलका करें।'

उर्मिला भारतीय नारी की सनातन प्रकृति है, जो केवल त्याग करना जानती है। कौशल्या ममतामयी माँ है। सुमित्रा में क्षत्राणी की तेजस्विता है। कैकेयी नारी की महत्वाकांक्षा और उसकी व्यर्थता का प्रतीक है। सीता अपेक्षाकृत आधुनिक है। उसके सुहाग में श्रद्धापूर्ण अधिकार सम्मिलित है राम से अपने साथ वन ले चलने का आग्रह करती हुई कहती है—

जो गौरव लेकर स्वामी!
होते हो काननगामी,
उसमें अर्द्ध भाग मेरा,
करो न आज त्याग मेरा।
मातृ-सिद्धि पितृ-सत्य सभी,
मुझ अर्द्धांगी बिना अभी—
है अर्द्धांग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही।

'साकेत' के नारी-चित्रण में एक और नई बात आई है, सम्भवतः ग्राम्य गीतों की परम्परा से और वह है 'भाभी-देवर-विनोद' जो संसार में एकमात्र भारतीय परिवार की अपनी वस्तु है।

'यशोधरा' गाँधीयुग की अधिकार-जाग्रत ललनाओं की प्रतिनिधि है। वह अपनी वेदना और अपने मान-अपमान को वैयक्तिक नहीं मानकर सामूहिक मानती है। जब गौतम उसे 'मुक्तिमार्ग की बाधा' समझते हुए सोती छोड़कर चले गए तो उसे लगा कि गौतम ने उसकी उपेक्षा करके सम्पूर्ण नारी-जाति को कलंकित एवं अपमानित किया है। इस जातीय अपमान का उत्तरदायित्व वह स्वीकार करती है—

बधूवंश की लाज दैव ने आज मुझीपर डाली।

उसे लगता है कि गौतम ने अबला समझकर उसे जगाया नहीं। पर इस प्रकार उन्होंने उन क्षत्राणियों के सकल समाज का उपहास किया है जो स्वयं

अपने हाथों से पति के माथे पर टीका लगा तथा कमर में कटार बाँधकर जातीय सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध में भेज देती हैं—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र धर्म के नाते।

यदि वस्तुतः नारी मुक्ति की बाधा है तो फिर उसके जीवन की सार्थकता क्या है? पर मुक्तिमार्गियों को जन्म देनेवाली नारी ऐसी नहीं हो सकती। वह नारी का जय-घोष करती है—

बधू सदा मैं अपने वर की,
पर क्या पूर्त्ति वासना भर की?
सावधान! हो निज कुलधर की
जननी मुझको जानो।

और, अन्त में गौतम को स्वयं यशोधरा के द्वार पर आकर अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ती है। वे नारी के दोनों रूपों—पत्नी और मातृ रूपों—का महत्त्व स्वीकार करते हैं—

दीन न हो गोपे, हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया-मूर्त्ति वह मन से शरीर से।

छायावाद का काव्य मलतः प्रेम-सौंदर्य-काव्य रहा। छायावादी कवियों की चिन्ता के केन्द्र में नारी बैठी रही है। पंत ने उसकी वयःसंधि की धूप-छाँह को, प्रसाद ने उसके यौवन-विलास को, निराला ने उसकी रति-क्रीड़ा और शक्ति को तथा महादेवी ने उसकी अतृप्त वेदना को वाणी दी है। पंत ने नारी को देवी, माँ, सहचरी और प्राण कहा है। पर मुख्यतः उनकी नारी सहचरी और प्राण है। सहचरी के रूप में कवि ने नारी के सौंदर्य और प्रेम के व्यावहारिक पक्ष की अभिव्यक्ति की है। पंत की यह सहचरी वयःसंधि-कालीन है। उसकी 'भावी पत्नी' के शैशव में यौवन प्रवेश करने का उपक्रम कर रहा है—

तुम्हारे शैशव में सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;

उसकी भवों में भंगिमा है और नयनों में पंचशर-वाण; किन्तु उसकी वाणी में लाज का अवगुण्ठन है और उसके प्रणय में मान की मर्यादा—

देह में पुलक, उरों में भार
भ्रुवों में भँग, दृगों में वाण
अधर में अमृत, हृदय में प्यार
गिरा में लाज, प्रणय में मान।

पंत की नारी का यह रूप मादक है, कहीं-कहीं घोर श्रृंगारिक भी; पर प्रायः अशिष्ट नहीं; क्योंकि वे उसकी चेष्टाओं को आवृत्त कर मादकता को एक मान दे देते हैं।

'प्राण' के रूप में कवि ने नारी-सौंदर्य के कल्पना-प्रधान आदर्श रूप को अपनाया है। इस रूप में वह अस्थि मांस की नारी मात्र नहीं है; वह एक सौंदर्य भावना है, जो मनुष्य मात्र के आनन्द का आधार है—'सुरनर-मुनि ईप्सित' है और जो सर्वयुगीन-सार्वभौमिक है—'प्रतियुग में आती हो रंगिणि रच-रच रूप नवीन'। इस रूप में वह देवी भी बन जाती है। वैसे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पंत ने युग-शोषित नारी का असंस्कृत रूप भी देखा, जिसमें वह योनि-मात्र रह गई है—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित
पूतयोनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;

—ग्राम्या

पर साधारणतः नारी के प्रति पंत का दृष्टिकोण रोमांटिक ही है 'वीणा' से 'स्वर्णधूलि' तक।

प्रसादजी ने अपने नाटकों में विविध प्रकार की नारी-पात्रों का चित्रण किया है और उनके लगभग सभी नाटक नारी-प्रधान हैं। उनके नाटकों की नारियाँ पुरुषों से अधिक जाग्रत हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में तो प्रसादजी ने स्वीकार किया है कि जीवन का रहस्य नारी ही समझती है, पुरुष तो द्वंद्व

एवं अहंकार के कोलाहल में भूल जाता है। इसलिए पुरुष को नारी की पाठशाला में ही जीवन की सीख ग्रहण करनी पड़ेगी। और उनके पुरुष प्राय: यह सीख ग्रहण करते हैं।

'कामायनी' प्रसादजी की नारी-भावना का स्पष्ट द्योतन करती है। प्रसाद जी की समस्त काव्य एवं नाट्यकृतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नारी को प्रेम, करुणा, त्याग एवं वेदना की समष्टि के रूप में देखते रहे हैं। प्रेम और बलिदान कर वेदना की विदाई लेनेवाली नारियों के कारण उनके नाटकों में दुखान्तता की एक अन्तर्धारा बहती रहती है। 'कामायनी' में व्याख्या इस प्रकार हुई है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष-स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।
देवों की विजय दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह सदा विरुद्ध रहा।
आँसू से भींगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा
तुम को अपनी स्मिति-रेखा से
यह संधि पत्र लिखना होगा।

अत्याधुनिक साहित्य में नारी का आदर्श नहीं बल्कि उसका व्यावहारिक रूप उपस्थित करने की चेष्टा की जाने लगी है।

——:o:——

हिन्दी-साहित्य में हास्यरस

हँसी जीवन का एक महान् वरदान है, दुःखों का सबसे बड़ा इलाज। हँसी-विनोद स्वस्थ शरीर का ही नहीं, स्वस्थ चरित्र का भी लक्षण है। जापानी कवि नागूची ने कहा था--'जब जीवन के किनारे की हरियाली सूख गई हो, चिड़ियों की चहक मूक हो गई हो, सूर्य को ग्रहण लग गया हो, मेरे मित्र और साथी मुझे काँटों में अकेला छोड़कर कतरा गए हों और आकाश का सारा क्रोध मेरे भाग्य पर बरसने वाला हो, तब हे भगवान्, तुम मुझ पर इतनी कृपा करना कि मेरे होठों पर हँसी की एक उजली लकीर खिंच जाय।' क्रांतिकारी फ्रेंच लेखक वाल्तेयर ने फ्रांस की राजधानी में साहित्यकारों की सभा में कहा था कि जो हँसता नहीं, वह आदमी नहीं और जो आदमी नहीं, वह लेखक नहीं हो सकता। इसलिए, भाइयो, अपनी छाती से उद्दाम हँसी फूटने दो कि मनहूस चेहरे भी चमक जायें। संस्कृत के कवि की वह प्रार्थना प्रसिद्ध है जिसमें उसने कहा था कि हे भगवान् और चाहे जो हो, मेरे भाग्य में यह न लिखना कि मुझे किसी अरसिक के सामने कविता पढ़नी पड़े।

वैसे कुछ पाश्चात्य आलोचकों की यह शिकायत है कि भारतीय स्वभाव से अकारण गम्भीर और हास्यविमुख (Saturnine race) होते हैं। यह बात सर्वथा असत्य है। भारतीय आख्यायिकाएँ, नाटक, गीत, महाकाव्य--बृहत्कथा, पंचतंत्र, जातक, अविमारक, शाकुंतल आदि इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय जीवन एवं साहित्य में करुणा और हास्य धूप और छाँह की तरह खेलते रहे हैं। बल्कि इस विश्वास के समुचित कारण हैं कि पाश्चात्य साहित्य के हास्य-पात्र --क्लाउन (Clown) और बफून (Buffoon) भारतीय नाटकों के विदूषकों की संतान हैं।

यह ठीक है कि हिन्दी संस्कृत की तरह सौभाग्यशालिनी नहीं रही। उसका जन्म एक कुसायत में हुआ, जब जन्म-मरण के संघर्ष चल रहे थे।

तव कवि को शास्त्र के साथ शस्त्र की शिक्षा भी लेनी पड़ती थी और कलम के साथ तलवार भी पकड़नी पड़ती थी। स्वभावतः हिन्दी साहित्य के आरंभ-काल---वीरगाथाकाल---में जो रचनाएँ प्रस्तुत हुईं उनमें हास्य के लिए प्रायः अवकाश नहीं है। फिर भी इन्हें सर्वथा हास्यशून्य नहीं कहा जा सकता, वल्कि इनके कुछ हास्यस्थल तो बड़े मनोहारी हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में चन्द वरदाई और जयचंद की वार्ता में प्रत्युत्पन्नमतित्व पर आश्रित हास्य-व्यंग का अच्छा उदाहरण है। चन्दवरदाई को 'अपने से अधिक पृथ्वीराज का पराक्रम वखानते हुए देखकर जयचन्द ने उससे श्लेष-वक्रोक्ति में पूछा कि मुँह का दरिद्री, तुच्छ जीव, जंगलराव (भील : पृथ्वीराज) की सीमा में रहनेवाला वर (वैल : वरदायी) क्यों दुवला है :

महद दरिद्र अरु तुच्छ तन जंगल राव सुहद्द।
बन उजार पसु तन चरन क्यों दूब्बरौ वरद्द।।

उद्भट कवि ने उत्तर दिया कि चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़ कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, अपने से अधिक वलवानों के साथ उन्होंने युद्ध किया, शत्रुओं में किसी ने पत्ते पकड़े, किसी ने जड़ें और किसी ने तिनके, अनेकों भयभीत होकर भाग खड़े हुए; इस प्रकार शत्रुओं ने सारा रण चुन लिया और वैल दुवला हो गया:---

'चढ़ि तुरंग चहुआन आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मण्डयौ जास जानयौ सवर वर।।
केइक गहि तकि पात केइ गहि गर मूर तर।
केइ दन्त तुच्छ भिन्न, गए दिसि दिसनि भाजि डर।।
भुअ लोकत दिन अचिरज भयौ, मान सबर वर मरदिया।
प्रथिराज षलन पद्धौज पर, सु पौ दुव्वरौ वरद्दिया।।'[1]

देखते ही देखते हिन्दी के तीनों केन्द्र दिल्ली, कन्नौज और महोबा ध्वस्त हो गए। देश पराधीन हो गया। पराभव की निविड़ व्यर्थता छा गई। तभी संतों की वाणी गूँजी। सांसारिक ऐश्वर्य की व्यर्थता दिखाकर भौतिक क्षेत्र में

---

१. आ. इ. अं.

पराजित जनता को हीन-परिज्ञान से मुक्त करनेवाले ये संत थे। वैसे जगत् की निस्सारता दिखलाकर विराने देश का रहस्य बतलानेवाले इन संतों की वाणी में भी हास्य के लिए अवकाश न था। अलौकिक गिरा में लौकिक हास्य रस ? पर फक्कड़ मस्त मौला और स्पष्टवादी संतों ने जब ढोंगी पंडितों-मुल्लाओं की चारित्रिक असंगतियों का खुलासा किया तब अनायास ही चरित्रगत विद्रूपता से उत्पन्न हास्य जो शास्त्रीय दृष्टि से हसित के एक उप-वर्ग उपहसित और कहीं-कहीं विहसित को उदाहृत करता है, आ गया।

संतों के बाद भक्त आए जिनकी दृष्टि मुख की अपेक्षा प्रभु के चरणों में अधिक लगी थी।

गो-गोचर जहँ लगि मन जाई।
तहँ लगि माया जानहु भाई।।

पर लीलाओं के वर्णन में स्मित हास्य (**Sustained Smile**) अनेकों बार अनायास ही भक्त रूप में आया। यहाँ प्रसंगवश इतना जान लें कि आधुनिक विवेचन के अनुसार हास्य के तीन प्रकार होते हैं—हास्य (**Humour**) विनोद (**Wit**) और व्यंग (**Satire**)। हास्य में हार्दिकता, विनोद में प्रत्युत्पन्नमतित्व (हाजिर जवाबीपन) और व्यंग में आक्रमण के भाव होते हैं। हिन्दी में शुद्ध हास्य का एक अत्यन्त ही कोमल उदाहरण सूरदास ने कृष्ण-बाल-लीला में उपस्थित किया और खूबी यह है कि उसका आधार मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार विनोद एवं व्यंग से पूरित उपालम्भ-काव्य के रूप में इनके भ्रमरगीत की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। पर तुलसी की प्रतिभा यहाँ अप्रतिहत है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत दुष्टवंदना, पार्वती-परीक्षा, शिव-विवाह, नारदमोह, कपटी मुनि, धनुषयज्ञ, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, केवट-प्रसंग, हनुमान-प्रसंग, कैकेयी-मंथरा-संवाद, अंगद-रावण-संवाद, कलि-धर्म-वर्णन आदि में हास्य का जो जीवन-व्यापी रूप देखा गया वह पुनरावृत्त नहीं हुआ। १

---

१. प्रो० जगदीश पाण्डेय ने रामचरित्र-मानस के हास्य पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी है—'मानस में हास्य'।

रीतिकाल प्रायः हास्यशून्य रहा। पर रीतिकाल के बाद ही भारतेन्दु से हिन्दी-गद्य-पद्य में हास्य-व्यंग-विनोद की धारा प्रबल वेग से बही। अब तक हास्य एक प्रासंगिक रस के रूप में चित्रित हो रहा था। अब वह एक आधिकारिक रस के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम हास्यावतार हैं। वे साहित्य में ही नहीं अपितु जीवन में भी फुल्स डे आदि मनाकर हास्य को चरितार्थ किया करते थे। उनकी तुलना इटली के हास्यावतार ग्रीवाल्डी से की जा सकती है। भारतेन्दु ने पराजित भारत को जागरण का प्रथम गीत दिया था। अंग्रेजों की शोषण नीति एवं भारतीय के आलस्य एवं भीरुता पर उन्होंने निर्भीकता से व्यंग किया। फलतः भारतेन्दु का हास्य कम संवेदनात्मक और अधिक व्यंग्यात्मक है। 'भारत-दुर्दशा' नाटक में भारतीयों की डरपोक मनःस्थिति पर तथा 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा' नामक प्रहसन में देशी राजाओं के चारित्रिक पतन पर खूब कसकर व्यंग किया गया है। 'अंधेर नगरी' का चूरण-वाला लटका बहुत प्रसिद्ध है—

चूरन खाते एडिटर जात
जिनके पेट पचे ना बात।
....
चूरन अमले सब जो खावें
दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन सभी महाजन खाते।
जिससे जमा हजम कर जाते।।
....
चूरन पुलिसवाले खाते
सब कानून हजम कर जाते।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का हास्य आयासजनित और कहीं-कहीं किंचित् अशिष्ट भी है। भारतेन्दु की मुकरियाँ भी अपने चोखेपन के लिए प्रसिद्ध है—

१. भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तनमन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहिं अँगरेज।
२. सब गुरु जन को बुरो बतावे, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्त्व न झूठी तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेजी।
३. तीन बुलाए तेरह आवैं, निज निज बिपदा रोइ सुनावैं।
आँखौं फूटे भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन? नहिं ग्रेजुएट।

भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम परिहास लेखक (Parodist) भी हैं। उन्होंने 'इन्दर सभा' की पैरोडी 'बन्दरसभा' के नाम से की है।

भारतेन्दु-युग के अन्य हास्य-लेखकों में पं. प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त प्रसिद्ध हैं। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने अपनेपत्र 'ब्राह्मण' का चंदा उगाहने के लिए कुछ अच्छे परिहास लिखे थे। बालकृष्ण भट्ट ने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' लिखे। पं० बदरीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिकन', 'चुंगी की उम्मीदवारी' एवं 'विवाह-विज्ञापन' जैसी हास्यरस की अचूक पर कहीं-कहीं अतिशयतापूर्ण (Exaggerated) रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस प्रसंग में पं० ईश्वरी प्रसाद को भी नहीं भुला जा सकता जिन्होंने 'चनाचबेना' लिखा था।

भारतेन्दु-युग से प्रवाहित यह धारा उत्तरोत्तर प्रखरतर और पीन होती गई। भारतेन्दु के बाद प्रहसनों का ढेर लगानेवाले हास्यरस के विख्यात लेखक श्री जी. पी. (गंगा प्रसाद) श्रीवास्तव हुए। अपने समय में ये इतने लोकप्रिय थे कि कोई भी नाटकीय प्रदर्शन तब तक पूरा नहीं समझा जाता था जब तक श्री जी. पी. श्रीवास्तव का कोई प्रहसन बीच में न खेला जाय।

श्री श्रीवास्तव ने १९३२ में पटना में अपना परिचय देते हुए कहा था—'ईश्वर को तो सभी जानते हैं, मगर उनसे भी मशहूर शैतान है और शैतान से भी मशहूर कौन है? श्री जी. पी. श्रीवास्तव।'

श्री श्रीवास्तव का महत्त्व हिन्दी में द्विविध है। आप हास्य की परम्परा के अग्रदूतों में ही नहीं, हिन्दी में हास्य के प्रथम व्याख्याता भी थे। हास्यरस पर दिए गए इनके भाषणों का संग्रह 'हास्यरस' के नाम से पुस्तकाकार

प्रकाशित हुआ है। इन भाषणों में इन्होंने हास्यरस की मौलिक मीमांसा तो की ही है, उसकी व्यावहारिक आलोचना भी उपस्थित की है। आपने कहा है कि 'हास्य को, गंभीरतापूर्ण पंडिताई बघारनेवाले, चाहे जितना ही भ्रष्ट, अश्लील या ओछा बतावें, मगर सच पूछिए तो बुराई-रूपी पापों के लिए इससे बढ़ कर कोई दूसरा गंगाजल नहीं है। यह वह हथियार है, जो बड़े-बड़े मिजाजियों के मिजाज चुटकियों में ठिकाने कर देता है। यह वह कोड़ा है जो मनुष्यों को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नहीं, धर्म और समाज का सुधारनेवाला है, तो यही है

श्री जी. पी. श्रीवास्तव ने हास्य के पाश्चात्य एवं भारतीय भेदों-अनुभेदों का अध्ययन किया था। उन्होंने अरिस्टाटिल के पतन (Degradation), कैंट और हैजलिट-द्वारा प्रतिपादित असमान चित्र (Incongruity) तथा बर्गसाँ द्वारा विवेचित परिस्थिति की परवशता (Automatism) वाल सिद्धान्तों अर्थात् इन तीन हास्य-रहस्यों से संतुष्ट न होकर एक चौथा हास्यरहस्य खोज निकाला था--'आशा और अवसर की प्रतिकूलता'। इसके लिए उन्होंने सूत्र रखा था--'जिसे समझे थे खमीरा, वह भसाकू निकला इसी प्रकार श्री जी. पी. श्रीवास्तव ने हास्य के भारतीय भेदों--स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित--के सम्बन्ध में कहा कि ये भेद मुँह की बनावट पर निर्भर होने के कारण साहित्य के नहीं, महफिल के काम की चीजें हैं। (वैसे इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है)। श्री श्रीवास्तव ने स्वभाव के आधार पर हास्य के चार दर्जे माने--१ कोमल, २ उदासीन, ३ कठोर और ४ निर्दयी। श्री श्रीवास्तव ने हास्य के भेदों--हास्य, विनोद और व्यंग पर ही केवल नहीं, बल्कि हास्योद्रेक के लिए घटना, चरित्र और भाषा के प्रयोग पर भी विचार किया। इस प्रकार श्री श्रीवास्तव ने हिन्दी में हास्यरस के सभी अंगों की इस तरह व्याख्या करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे।

पर व्याख्यात्मक कृतित्व से, जो किञ्चित् मौलिक होते हुए भी बहुलांश में संकलित है, श्री श्रीवास्तव का रचनात्मक कृतित्व अधिक महत्वपूर्ण है।

इनके साहित्य का एक अंश अनुवादों का है और एक मौलिक ग्रंथों का। जिसके नाटकों का आपने अनुसाद किया और जिसे गुरुतल्य मानते रहे उस नाटककार और अभिनेता (जीन बैपटिस्ट पोकेलिन उर्फ मौलियर) का उल्लेख करते हुए आपने कहा कि 'अपने परम पूजनीय गुरु मौलियर के सब नाटकों को अपनाकर हिन्दुस्तानी बना डालूँ और यों मौलियर को हिन्दुस्तान में जीवित करके उसके नाम की धूम मचा दूँ।' 'मार-मार कर हकीम', 'आँखों में धूल', 'नाक में दम', 'साहब बहादुर' और 'लाल बुझक्कड़' ऐसे ही अनुवाद हैं।

इनके मौलिक नाटक भी एक दर्जन से ऊपर हैं--'साहित्य का सपूत', 'मरदानी औरत', 'गड़बड़ झाला', 'जैसी करनी तैसी भरनी', 'भूलचूक', 'दुमदार आदमी', 'नोंकझोंक', 'उलटफेर', 'बे सूँड़ का हाथी' इत्यादि। आपके 'लतखोरी लाल' और 'गंगा-जमुनी' उपन्यास तथा 'लम्बी दाढ़ी' कहानी-संग्रह भी हास्य के क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हुए। आपने सिनेमा के लिए बँटाधार' और 'चोर के घर छिछोर' लिखे थे और रेडियो के लिए 'गया जाँच मक्का' तथा 'पैदाइशी मैजिस्ट्रेट' का प्रणयन किया था।

श्री जी. पी. श्रीवास्तव ने फ्रेंच कामेडियन मौलियर का अनुसरण तो किया पर इनके और मौलियर के प्रहसन में अन्तर है। पश्चिम में दुःखान्त और सुखान्त नाटक अलग-अलग बने रहे। किन्तु भारतवर्ष में सुखान्त नाटकों में ही जीवन की दुखान्तता का अन्तर्भाव होता रहा और इस कारण ये नाटक जीवन की गंभीर समस्याओं को लिए रहे।

फलस्वरूप साधारण संसार के व्यक्तियों में मनोरंजनार्थ हल्के प्रहसनों की प्रतिष्ठा हुई। श्री जी. पी. श्रीवास्तव के प्रहसनों को इसी परम्परा के भीतर से समझा जा सकता है। यही कारण है कि श्री श्रीवास्तव के प्रहसनों में विषय और विचार की विद्रूपता से हास्य का आविर्भाव उतना नहीं होता जितना भाषा की विद्रूपता से। यह मौलियर और श्रीवास्तव का मौलिक अन्तर है।

धोती प्रसाद, निपोड़संख, हजामत बेग जैसे नाम हास्य के निमित्त होते हैं। 'साहित्य के सपूत' में साहित्यिक भाषा की अस्वाभाविकता को हास्य का आधार बनाया गया है। वैसे श्री श्रीवास्तव को एक किस्सागो की भाषा मिली थी। वे बातचीत की भाषा में जब साधारण शब्दों (Slang) का प्रयोग करते हैं तो उनका हास्य एक अनूठा चमत्कार उत्पन्न करता है। उर्दू की रवानी और मुहावरेदानी तथा अनुप्रास की झमक लेकर हिंदी में जो शैली चली थी श्री श्रीवास्तव भी उसके संवाहक थे।

हिन्दी के स्वनामधन्य नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद ने भी अपने नाटकों में हास्य की पुरानी परम्परा रखी है। संस्कृत नाटकों की तरह प्रसादजी ने भी अपने नाटकों में विदूषक रखे हैं। 'विशाख' का महापिंगल, 'अजातशत्रु' का बसन्तक आदि ऐसे ही विदूषक हैं। पर वक्रोक्ति (Heightened tone), विरोधाभासों (Paradoxes), वाक्यावृत्ति (Mannerism) आदि के द्वारा प्रसादजी ने अपने नाटकों में जो हास्य प्रस्तुत किया है उसे विनोद (Wit) कहना ही अधिक संगत होगा। इनके नाटकों में 'राज्यश्री' का हास्य सर्वश्रेष्ठ है।१

हास्य-सम्बन्धी लख तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक द्विवेदी-युग के श्री पद्मसिंह शर्मा तथा हास्यावतार पं. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की चर्चा न हो। जब बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० की प्रशंसा में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ये पंक्तियाँ रचीं—

मातृभाषा के पुजारी विमल बी० ए० पास।
सौम्यशील-निधान बाबू श्यामसुन्दर दास॥

तब पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने अपने परिचय में उपर्युक्त पंक्तियों के तर्ज पर लिखा—

---

१. विस्तार के लिए देखिए 'प्रसाद और उनके नाटक' (प्रो. केसरी कुमार)।

मातृभाषा का विगाड़क समल एफ० ए० फिस।
जगन्नाथ प्रसाद वेदीं वीस कम चौवीस।।

पद्मसिंह शर्मा की प्रसिद्ध रचना है 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ'।

इधर के लेखकों में सर्वश्री शिवपूजन सहाय ('दो घड़ी'), बाबू गुलाब राय ('ठलुआ क्लब' तथा 'मेरी असफलताएँ'), अन्नपूर्णानन्द वर्मा ('मनमयूर', 'मगन रहु चोला', 'मेरी हजामत', 'महाकवि चच्चा' तथा 'विलवासी मिश्र'), सरयू पंडा गौड़ ('ससुराल की होली', 'कहकहा', 'हँसो-हँसाओ' तथा 'चार चंडूल'), आचार्य चतुरसेन शास्त्री ('पीर नाबालिग' तथा 'बादचिन'), कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' ('चूमाचाटी',१ 'कविसाँड़', 'पानी पांड', 'मौसेरे भाई' 'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन' 'छेड़छाड़' तथा 'वचारे मुंशीजी'), हरिशंकर शर्मा ('चिड़ियाघर', 'घासपात' तथा 'शिवसंकल्प'), जयनाथ 'नलिन' ('नबाबी सनक', 'टीलों की चमक' तथा 'शतरंज के मोहरे'), गोपाल प्रसाद व्यास ('नया रोजगार' 'अजी सुनो' तथा 'मैंने कहा'), प्रभाकर माचवे ('खरगोश के सींग' तथा 'द्वाभा'), बलदेव प्रसाद मिश्र ('उलूक तंत्र'), गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' ('व्यंग महाकाव्य'), नामवर सिंह ('वकलम खुद'), रांगेय राघव ('हुजूर' तथा 'बोगस'), उग्र (कंठी में कोयला'), केशवचन्द्र शर्मा ('काठ का उल्लू और कबूतर'), अमृतलाल नागर ('सेठ बाँके लाल',), लक्ष्मीकांत झा, विद्यानिवास मिश्र ('छितवन की छाँह') २ आदि के नाम अग्रगण्य हैं। इधर प्रो० रामेश्वर सिंह 'काश्यप' ने 'लोहा सिंह' नामका एक अद्भुत रूपक लिखा है। यदि बिहार के नये लेखकों में 'काश्यप' अग्रगण्य हैं तो पुराने महारथियों में शिवपूजनजी के अतिरिक्त प्रि० मनोरंजन हैं। प्रि० मनोरंजन की हास्यपरक रचनाओं और परिहासों से समय-समय पर पत्र-पत्रिकाएँ भरी रहती हैं। आपने स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की सुप्रसिद्ध कविता 'झांसीवाली रानी' की जो पैरोडी लिखी है उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. इधर की रचनाएँ—स्विवतदानी, हरगंगा आदि।
२. कोष्ठ में पुस्तकों के नाम हैं।

वीरासन हिल उठे एक कुँजड़िन ने भकुटी तानी थी।
खूसट बूढ़िया में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई रौनक की कीमत सबने पहिचानी थी।
अपने जौहर दिखलाने की उसने मन में ठानी थी।
गूँज उठी सब्जी मंडी में वह ललकार पुरानी थी।
साग खरीदारों के मुँह से हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो अल्लारखी की नानी थी।

बिहार में एक प्रतिभासम्पन्न नवयुवक थे स्व० जनार्दन सहाय। उन्होंने कुछ अत्यन्त ही सफल एवं सुरुचिपूर्ण परिहास लिखे थे। दिनकर की 'परिचय' शीर्षक कविता पर लिखे परिहास की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं——

('सलिलकण हूँ कि पारावार हूँ मैं——दिनकर ('परिचय'))

विकल बीमार था निशिभर इसीसे,
उसी को शांति देता प्रात हूँ मैं।
लगी हैं पेड़ पर कलियाँ चटकने,
इसी से चल रहा हू, बात हूँ मैं।
× × ×
छिपाकर रख लिया चुपके हृदय में,
विकल हूँ वेदना अज्ञात हूँ मैं।
नहीं तो व्यक्त की पीड़ा छिपी कब?
बँधा हूँ, कर न सकता बात हूँ मैं।
× × ×
कहा सब ने यही पहचान कर मझको,
धरा का प्राण हूँ, बरसात हूँ मैं।

बनारसीदास का परिहास भी मुझे अच्छा लगा है।

तुलसी इहि संसार में सबसे मिलिये धाय।
ना जाने केहि बेस में नारायन मिलि जाय।

इन पंक्तियों पर लिखी बनारसीदास की पैरोडी है—

तुलसी इहि संसार में कभी न मिलिये धाय।
ना जाने केहि वेस में सी० आई० डी० मिलि जाय।

हास्यलेखकों में पाँच बनारसी हैं—बेढब बनारसी, बेधड़क बनारसी, भैयाजी बनारसी ('रामझरोखा'), झटपटराय बनारसी ('आइसक्रीम' और 'गरम चाय'), तथा 'कौतुक' बनारसी ('हरे लंहगे' 'करमकल्ला', 'कपोल-कल्पना', 'कलम-कुल्हाड़ा' तथा 'कुछ कच्चा कुछ पक्का')। इनमें प्रथम दो अधिक विख्यात हैं। बेढब बनारसी की रचनाएँ हैं—'गुमनाम पत्र', 'अभि-नेता', 'गांधीजी का भूत' तथा 'लफ्टंट पिगसन की डायरी'। आप गद्य और पद्य दोनों में गति रखते हैं। आपको इधर की कविताएँ हैं—'गंजी खोपड़ी', 'कवि', 'चाँदनी रात', 'आधुनिक कृष्ण से' इत्यादि। बेधड़कजी की 'बेधड़क दोहावली' की इधर धूम रही है। एक बानगी लीजिए—

भारत की सरकार का, खूब गर्म है खून।
मुँह से निकली बात जो वही बनी कानून।।

आंचलिक बोलियों में उत्तर प्रदेश में रमई काका को विशेष ख्याति है—

लरिकउ बी० ए० पास किहिन।
पुतहू का वैर ककहरा ते।

होली का साहित्यिक अभियान

कला का मुख्य उद्देश्य आनन्द है और उसका मूलाधार सौन्दर्य, चाहे आप आनन्द और सौन्दर्य की जो व्याख्या करें।

वसन्त सौंदर्य की सीमा है। इसीलिए तो कालिदास ने कहा था—'सर्वं प्रिये! चारुतरं वसन्ते!' स्वभावतः वसन्त से कला और साहित्य को बहुत प्रेरणा मिली। वसन्त और कला के सम्बन्ध का प्रमाण देते हुए ज्योतिषशास्त्र

न बतलाया है कि जिस व्यक्ति का जन्म वसन्त-पंचमी के दिन होता है, वह ललित कलाओं का प्रेमी होता है (निरालाजी का जन्म इसी दिन हुआ है)।

किन्तु, वासना को उत्तेजना देनेवाले कोरे सौंदर्य को भारतीय आदर्शवाद ने कभी महत्त्व नहीं दिया है। उसे दुर्वासा के शाप से शापित किया है। फिर वसन्तोत्सव, वसंत-राग, फाग आदि का साहित्य में इतना चारु वर्णन क्यों? शायद इसका कारण यह है कि इस वसन्तोत्सव के पीछे एक महान् आदर्श भी है। इस वसन्त की वासन्तिकता के बीच भगवान् शंकर को कामदेव के मोहन रूप ने मोहने की चेष्टा की थी और तब महादेव के तीसरे नेत्र ने उसे भस्म कर दिया था। प्रतिवर्ष होलिका-दहन अन्य बातों के अतिरिक्त इस घटना की स्मृति भी दिला जाता है। यही स्वस्थ शृंगार भारतीय साहित्य ने वसन्त में ढूँढ़ा है। 'राधामाधव' नाटक में रति और कामदेव के शृंगार और पूजन का जो वर्णन है, उसके मूल में भी इसी स्वस्थ शृंगार का विधान है। अतः हमारे इस सांस्कृतिक पर्व में रति और विरति का अनूठा सामञ्जस्य है। इसीलिए जहाँ इसे एक ओर 'मदन महोत्सव' की संज्ञा दी गई है, वहाँ दूसरी ओर 'शतपथ ब्राह्मण' ने वसंत को ही ब्रह्म माना है।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ एक ऐसे संघर्षमय काल में हुआ, जब जीवन के लाले पड़े थे। खून का फाग खेला जा रहा था और जौहर का वसन्त। चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के युद्ध की वसन्त से उपमा देते हुए कहा है—

रतिराज रु जोवन राजत रोर।
चँप्पो ससिरं उर शैशव कोर।
उनि मधि मद्धि मधू धुनि होय।
तिनं उपमा वरनी कवि जोय।

फागन में पुरान पत्ते झड़ने लगते हैं। नवीन कोपलें निकलती हैं। वसन्त के इस अनुराग-विराग-समन्वित रूप की स्पष्ट झाँकी कबीर में मिलेगी। एक ओर विराग की यह अन्योक्ति है—

फाग न आवत देख करि बन रूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाहिं।।

दूसरी ओर, मधुर भाव की पुजारिन कवि की आत्मा परम प्रियतम से चुनरी पहनकर फाग खेलना चाहती है—

"मैं तो वा दिन फाग मचैहों,
जा दिन प्रिय मेरे द्वारे ऐहों।
रंग वही, रंगरेजवा ओ ही,
सुरँग चुनरिया रँगैहों।"

दादू प्रेम के पराग से हरिजनों की टोली में होली खेल रहे हैं—

"पुहुप प्रेम बरषै सदा, हरिजन खेलैं फाग।
ऐसा कौतुका देखिए, 'दादू' मोरे भाग।"

इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियों के लिए होली 'मृत्यु' और 'महामिलन' का प्रतीक बनकर आती है।

जायसी ने बारहमासे में होली का विस्तृत विवरण दिया है। मीराबाई की रचनाओं में भी होली के कई पद हैं। इन पदों में दग्ध हृदय का तीव्र विरह-निवेदन है।

(क) होली पिया बिन मोहि न भावै घर आँगन न सुहावे,
दीपक जोय कहा करूँ होली, प्रिय परदेश रहावे।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सुसक-सुसक जिय जावे,
नींद नहिं आवे।

(ख) किण सँग खेलूँ होली, पिया तजु गये हैं अकेली।

हिन्दी को सगुण भक्तिधारा के भक्त-कवियों ने तो भक्ति की उमंग में रंग उड़ाया ही है, बंगला के वैष्णव कवियों ने भी होली के अनेकानेक पद लिखे हैं। फागुन का मस्त महीना है। वन-उपवन फूलों से लदे हैं। किन्तु प्रियतम के बिना सब कुछ सूना है। वेणी खुली है, दिल टूटा है और प्रम अस्त-व्यस्त है। फूलों में फल लगेंगे। और प्रेम की डाली में ?

"फागुने गुनई ते गुनगण तोर।
फूटि कुसुमित भेल कानन मोर।
\+ \+
फुयल कवरी सँवरि नहिं बाँधँ;
फणि-पति-दमन बोलि धनि काँदँ।
टूटल हृदय-विदारण नेह।
फुतका रतहि धनि ते जव देह।
फेरि न हेरवि सहचरि वृन्द।
फलव कि ना वूझल दास गोविन्द।।

चंडीदास की मानिनी राधा ठीक होली के मौके पर ही रूठ गई है। सहेलियाँ मनाती हुई कहती हैं—

"ए धनि मानिनि, मान निवार!
अबिरे अरुण, श्याम-अंग-मुकुर पर,
निज प्रतिबिंब निहार।।
तुहुँ इक रमणी, शिरोमणि रसवती,
कोने एछे जग माँह।
तुहारि समुखे, श्याम सँग बिलसब
कैंछन रस-निरबाह।

रसखान और घनानन्द न भी होली के अनेक छंद लिखे हैं। रसखान तो रस-खान हैं। घनानन्द की भाँति वे प्रेम-पात्र से विरक्त होने के कारण कृष्ण को ओर अनुरक्त न हुए थे, वरन् मुरली-माधव की छवि पर मुग्ध होकर अपने पार्थिव प्रेम का संग छोड़ा था। अतः उनके जीवन में वियोग की घड़ी कभी आई ही नहीं—वहाँ तो सदा बहार रही। अतः

"फागुन लाग्यो सखी जबतें तवतें ब्रजमंडल धूम मच्यो है।
नारि नवेली बचैं नहि एक, बिसेख यहै सब प्रेम रच्यो है।
साँझ सकारे वही 'रसखानि' सुरंग गुलाल लै खेल रच्यो है।
को संजनो निलजो न भई, अरु कौन भटू जिहिं मान बच्यो है।

किन्तु, रसखान के सौ वर्ष बाद आनेवाले घनानन्द को आनन्द घनश्याम के बिना फागुन फीका लगता है। रँगरेलियों के बीच 'सुजान' की विरह की लपटें कभी-कभी आ जाती हैं और तब सारा प्रबन्ध बिगड़ जाता है—

'सोंधे की बास उसासहि रोकत, चन्दन दाहक गाहक जीकौ।
नैननि बैरी सो है री गुलाल अबीर उड़ावत धीरज ही कौ।
राग बिराग धमार त्यों धार-सी लौटि पर्‌यो ढँग यों सब ही कौ।
रँग रचावन जान बिना 'घनआनन्द' लागत फागुन फीकौ।'

अब तक होली भक्तों की भावमयी भूमि से उतरकर रीतिकालीन कवियों की रंगीन दुनिया में आई थी। तत्कालीन विलास-प्रिय राजाओं की दिलजोई के सामान मुहैया करने में इन कवियों ने आकाश-पाताल एक कर दिया। और, फागुन में जब प्रकृति ने भी छूट दे दी, तब तो इन कवियों ने छटकर होली खेली।

बिहारी की नायिका की आँख में अबीर पड़ गया है। दर्द भी हो रहा है; किन्तु वह दर्द कुछ ऐसा मीठा है कि अबीर के कणों के निकालने की चेष्टा भी नहीं होती।

"दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग खियालु।
डाढ़त हूँ अति पीर सु न काढ़त बनत गुलालु॥"

इस रँगरेली के प्रवाह में लोक-लाज भी बह निकली—

"छुटत मुठनि सँगही छुटी लोक-लाज कुल-चाल।
लजे दुहुन इक बेरही चलि चित नैन गुलाल॥"

यों तो रीतिकाल के सभी कवियों ने होली खेली। किन्तु सबसे अधिक होली खेली पद्माकर ने। होली की छेड़छाड़ ने जो 'प्रलय' का रूप पकड़ लिया है, उसे इन पंक्तियों में देखिए, जहाँ तन-मन सब बेसम्हार हो रहे हैं:—

ये नँद गाँव ते आये इहाँ उत आई।
सुना वह कौनहू ग्वाल की।
त्यों 'पद्माकर' होत जुराजरी
दोलन फाग करी यह ख्याल की।

डीठि चली उनकी इनपै
इनकी उगन चली मुठि उताल की।
डीठि-सी डीठि लगी उनको इनके
लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।

'हेलाभाव' की यह ढिठाई कि—

छीन पितम्बर कंमर तें सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाई कही मुसकाई लला फिरि आइओ खेलन होरी।

नवयुग के साथ हमारी दुनिया बदल गई। हमने युगों के बाद अपनी बिगड़ी सूरत देखी। हृदय में विद्रोह उठा; किन्तु असफलता की चट्टान से टकराकर लौट आया और आँखों में तप्त आँसू बनकर छा गया। यह करुण विद्रोह श्री सुभद्राकुमारी चौहान की 'जालियाँवाला बाग का वसन्त' शीर्षक कविता में देखिए—

परिमलहीन पराग दागसा बना पड़ा है।
हा! वह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।।
आओ! प्रिय ऋतुराज किन्तु धीरे से आना।
यह है शोकस्थान यहाँ मत शोर मचाना।
....
कोमल बच्चे मरे यहाँ गोली खा-खाकर।
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।
तड़प-तड़प कब वृद्ध मरे हैं गोली खाकर।
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर।
यह सब करना किन्तु बहुत धीरे से आना।
यह है शोकस्थान, यहाँ मत शोर मचाना।।

मातम के इस काल में कोई कैसे शोर मचाकर धमार गावे ? इस विद्रोही पर्व के अवसर पर हमारे युवक कवियों का हृदय प्रतिकार करना चाहता है! डा० रामविलास शर्मा अगले फागुन में क्रांति की फसल काटना चाहते हैं—

"काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रांति की।"

किन्तु, इतना होने पर भी फागुन हममें ऐसी स्निग्धता और मस्ती भरता है कि हम वर्त्तमान की कठोरता को भूलकर कुछ क्षण अपने मन की कह-सुन लेना चाहते हैं। इसीलिए तो 'केसरी' की मजदूरिन कहती है—

पिया! सुधि कैसे रहा विसार
हाय! यह फागुन वीत चला
आज प्यार का पर्व वियोगिनि
कोयल यह संदेशा लाई
मेरी ही दुनिया सूनी क्यों
हूक-भरी बालम सुधि आई
....
तीज-पर्व कर मैंने जीवन में
एक मनौती मानी—
ऋतु वसन्त पिया आ पहनायें
अपने हाथ चुनरिया धानी
....
आज नहीं मजदूर, आज
राजा मेरे, मैं तेरी रानी
वर्ष पर्व है पिया, आज
कुछ कह सुन ले अपनी मनमानी।

हमारे छायावादी कवि वसन्त के सौरभ और फागुन के नशीले सौन्दर्य में अनन्त का आलम्बन ले अपनी वैयक्तिक भावनाओं का प्रकाशन करते रहे—

सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौंदर्य शिखाओं में अनन्त!
....
रचते सजीव जो प्रणय-मूर्त्ति
उसकी छाया, आया वसन्त! पंत

छायावादी कवियों में सर्वोत्कृष्ट होली लिखी 'निराला' ने—'आँखों के डोरे लाल, आज खेली होली।'

किन्त, अधिकांश कवियों में यह प्रणय और प्रतिकार की ही प्रेरणा भरता रहा है।

हाँ, होली हमारी एकता का प्रतीक है। उस दिन छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र सभी अबीर के रंग में रँगकर एक-रंग हो जाते हैं। मुसलमान-कवि सभी इस होली में शरीक होने के लिए इच्छुक हैं। किन्तु, कष्ट और सरमायादारों के अत्याचार उनकी मस्ती को पस्ती में बदलने का कुचक्र कर रहा है। बाकर साहब फरमाते हैं—

कष्ट उठाए औ, दुख झेले
मैंने कितने पापड़ बेले
मेरे रक्त से होली खेले
सरमाया चालाक।
नंगा रहकर सर्दी काटी
भूका रहकर खाक भी चाटी
नीचे माटी ऊपर माटी,
मेरी होली खाक।

हिन्दू-मुस्लिम भेद भी उनकी नजर में फागुन के रंग में भंग डाल रहा है—

होली आई कैसे खेलूँ?
हिन्दू कुछ बेरंग हैं मुझसे
आमादाये-जंग हैं मुझसे
मेरा दिल भी तंग है मुझसे
होली आई कैसे खेलूँ?

फिर भी उन्हें विश्वास है कि एक-न-एक दिन हम सब आपस में अवश्य मिल जायँगे और सारे कुनबे के लोग एक स्वर में होली गायँगे। इसलिए उनका आग्रह है कि—

विछड़े हैं जो मिल जाएँ
मन की कलियाँ फिर खिल जाएँ
वैरी देखें औ' हिल जाएँ
तेरे घर का मेल !
ऐसी होली खेल !

उन्हें आशा और विश्वास दिये गाँधीजी ने। गाँधीजी की होली गाँव-गाँव को फेरी लगाती रही—'होली खेलें गाँधी वीर नेता संग लिए।' इस होली ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के लाल धागे में बाँध दिया। राष्ट्र आज स्वतंत्र है। एकता हमारी पूँजी है। होली हमारा राष्ट्रीय त्योहार है।

हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव

जब दो राष्ट्र किसी कारणवश एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो दोनों में विचार, सभ्यता और संस्कृति का विनिमय होता है। इसके अतिरिक्त दोनों के साहित्य में भी आदान-प्रदान होता है। ऐसा देखा जाता है कि उस समय जिस देश का साहित्य समृद्ध और सम्पन्न रहता है, उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ता है।

चिरकाल से भारतवर्ष की पुनीत भूमि पर भिन्न-भिन्न जातियाँ आती रही हैं और उनकी सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् कर लिया है, जिसकी स्पष्ट छाप हमारे साहित्य पर भी अंकित है। यों तो जहाँगीर के ही शासन-काल से अंग्रेज व्यापारियों का यहाँ आगमन प्रारम्भ हो गया था; पर सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी शासन की नींव सुदृढ़ हुई और उसी समय से हम अंग्रजी-साहित्य के संपर्क में आये। अंग्रज जिस सभ्यता और संस्कृति को लेकर आये थे, उसमें गति एवं शक्ति थी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता शताब्दियों से शक्तिहीन और शिथिल हो चुकी थी, अतः उनका हमारी

संस्कृति और सभ्यता को प्रभावित करना नितान्त स्वाभाविक था। फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक अंग पर अंग्रेजी-साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यूरोप के अन्य साहित्य में भी जो कला की नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, उसका भी प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी के ही माध्यम से पड़ा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि कि अंग्रेजी यहाँ की राजकीय भाषा होने के कारण अत्यधिक प्रचलित थी। पर इससे यह न समझना चाहिये कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य अंग्रेजी-साहित्य का अनुकरणमात्र है। प्रत्येक जीवित साहित्य में आदान-प्रदान होना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। हिन्दी पर ही अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषा के साहित्य का भी प्रभाव है। पर, इसके बावजूद आधुनिक हिन्दी-साहित्य का स्वाभाविक, स्वस्थ और स्वतन्त्र विकास हुआ है। उसमें उतनी ही मौलिकता है, जितनी किसी भी उत्कृष्ट साहित्य में संभव है। उसमें अपने सूरज का प्रकाश है, अपने फूल का सौरभ है।

भारतेन्दु-युग से ही अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था। भारतेन्दु की कविताओं में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, पश्चिमी प्रभाव के ही कारण; क्योंकि यूरोपीय देशों में राष्ट्रीयता की एक लहर दौड़ गयी थी और साहित्यिकों ने भी जनता को प्रेरित करने में हिस्सा लिया था। पर, भारतेन्दु संधिकालीन कवि होने के कारण प्राचीनता को ही अपनाये हुए थे, अतः अंग्रेजी की अन्य प्रवृत्तियों और अभिव्यंजना-शैली से वे प्रभावित नहीं हो सके।

छायावादी युग के सभी कवियों ने न्यूनाधिक रूप से अंग्रजी-साहित्य का अध्ययन किया था; अतः उनमें नयी चेतना हिलोरें मार रही थीं। पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी की कविताओं पर अंग्रेजी साहित्य का प्रचर प्रभाव पड़ा। छायावादी कवियों की प्रवृत्ति—प्रेम, राष्ट्रीयता, काल्पनिकता, नैराश्य आदि भावनाएँ हू-बहू रोमांटिक कवियों की उक्त भावनाओं से मिलती हैं। पंत पर वड्र्सवर्थ के प्रकृति-प्रेम का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि

कोई-कोई आलोचक उन्हें हिन्दी का वड्र्सवर्थ ही कहने लगे। शेली के आत्मिक प्रेम (Platonic love) और कीट्स की सौंदर्य-भावना का भी प्रभाव समस्त छायावादी कविता पर है।

इस युग की अभिव्यंजना-शैली पर रोमांटिक युग का सबसे अधिक प्रभाव है। प्राचीन अलंकार रूढ़िग्रस्त थे; अतः इस युग में नवीन अलंकारों का प्रयोग होने लगा, जिसमें मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यंजना प्रमुख है। मानवीकरण अंग्रेजी के पर्सनिफिकेशन (Personification) का पर्याय है। संस्कृत-कविता में इसका अभाव नहीं है; पर उस समय इसकी उतनी महत्ता नहीं थी, जितनी आज। ध्वन्यर्थ व्यंजना ओनोमोटोपैआ (onomatopoeia) का पर्याय है। कीट्स ने इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है, जिसका प्रभाव समस्त छायावादी कविता पर है। निराला की एक पंक्ति देखिए—

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर राग अमर अंबर में भर निज रोर।

इसी तरह विशेषण-विपर्यय का भी प्रयोग पश्चिमी प्रभाव के ही कारण हुआ जो ट्रांसफर्ड एपीथेट (Transferred epithet) का पर्याय है।

इसी समय यूरोप में कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद आदि वादों का जन्म हुआ, जिसका किसी-न-किसी तरह हिन्दी-कविता पर भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि उपर्युक्त वादों के सभी प्रवर्त्तक अंग्रेजी साहित्यिक नहीं थे; फिर भी अंग्रेजी के द्वारा ही हम उनसे परिचित हुए। यहाँ तक कि प्रगतिवाद, जिसका सबसे अधिक विकास रूस में हुआ, से भी परिचित कराने का श्रेय अंग्रेजी-साहित्य को ही है। अंग्रेजी-साहित्य में अनवाद इतना पूर्ण हुआ है कि हम उसके माध्यम से विश्व-साहित्य से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के साहित्यिक अंग्रेजी-साहित्य के चिरऋणी रहेंगे, जिसने उन्हें विश्व-भर के साहित्यिक आन्दोलन से परिचित कराया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज साहित्यिक नवीन 'वादों' से प्रभावित होकर मौलिक रचना करने में भी सबसे आगे रहे हैं, जिसका प्रभाव भी हिन्दी-साहित्य पर अमिट है।

यह प्रभाव सिर्फ काव्य पर ही नहीं, वरन् साहित्य के अन्य अंगों पर भी पड़ा है। भारतेन्दुजी ने अंग्रेजी नाट्य साहित्य से प्रभावित होकर सर्वप्रथम मंगलाचरण, सूत्रधार और नट-नटी आदि की योजना का अपने कुछ नाटकों में बहिष्कार किया। प्रसादजी ने तो उसकी सूक्ष्म प्रवृत्तियों को भी अपने नाटकों में स्थान दिया। उन्होंने अंग्रेजी-नाटकों के ही आधार पर अंकों और दृश्यों की योजना की। नार्वेजियन नाटककार इब्सन के समस्या-प्रधान नाटकों से प्रभावित होकर शॉ ने अनेक नाटक लिखे, जिनका प्रभाव सारे नाटक-साहित्य पर पड़ा। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी में अनेक समस्या-प्रधान नाटकों की रचना की। हमारे यहाँ जो दृश्यों और पात्रों की वेशभूषा के विशद वर्णन की प्रथा चल पड़ी है, वह भी पाश्चात्य प्रभाव ही है। एकांकी नाटक की तो हमारे यहाँ कोई भी प्राचीन परम्परा नहीं है, अतः इसकी प्रेरणा स्पष्टतः अंग्रेजी-साहित्य से ही मिली है।

उपन्यास-साहित्य में तो यह प्रभाव और भी स्पष्ट है। प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यासों में जिस नवीन उपन्यासकला को पाते हैं, वह अंग्रेजी-उपन्यासकला का ही प्रभाव है। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने उपन्यास-साहित्य की रूप-रेखा ही बदल दी। मानव-समाज के बाहरी जीवन को छोड़कर उपन्यासकार अर्द्धचेतन मन की गुत्थियों को सुलझाने लगे, जिससे प्रभावित होकर हमारे यहाँ उपन्यासों की रचना होने लगी। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास जैनन्द्रकुमार का है। अज्ञेय के उपन्यास में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इतनी अधिक प्रधानता मिली कि हिन्दी-साहित्य में वह एक नवीन प्रयोग समझा जाने लगा, जिस पर जेम्स ज्वायस के 'यूलीसि' का प्रभाव है। इलाचन्द्र जोशी ने भी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक रहस्यमय ग्रंथियों को सुलझाने का प्रयास किया है। यशपाल आदि लेखक प्रगतिवादी रूसी उपन्यास-कारों से प्रभावित हुए हैं; पर यह प्रभाव अंग्रेजी अनुवाद के ही माध्यम से पड़ा है।

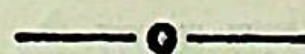
हिन्दी के कहानी-साहित्य पर भी अंग्रेजी-साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव

है और हमारे कहानी-लेखकों को अंग्रेजी कहानियों से बहुत प्रेरणा मिली है, इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

अंग्रेजी की दो निबन्ध-शैलियों का हिन्दी-निबन्ध पर अधिक प्रभाव पड़ा—(१) विचारात्मक निबन्ध और (२) वैयक्तिक। प्रथम प्रकार के निबन्ध-लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दास प्रधान हैं, जिन पर अंग्रेजी निबन्धकार बेकन का प्रभाव है। दूसरे प्रकार के निबन्ध-लेखकों में वियोगी हरि और 'एक भारतीय आत्मा' प्रमुख हैं, जिन पर लैम्ब का प्रभाव है।

समालोचना-क्षेत्र में भी अंग्रेजी-समालोचना से हम बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। संस्कृत-साहित्य में आधुनिक समालोचना-पद्धति का अभाव था, अतः अंग्रेजी-समालोचना ने ही हमारा पथ प्रशस्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर आइ० ए० रिचार्ड्स का कुछ प्रभाव है। अज्ञेय की तो सम्पूर्ण समालोचना पद्धति ही टी० एस० एलियट से प्रभावित है। यही नहीं, आलोचना की जो विभिन्न पद्धतियों का हिन्दी में विकास हुआ है, वह अंग्रेजी-समालोचना का ही प्रभाव है।

इस तरह समस्त आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव है और अंग्रेजों के भारत से जाने के बाद भी यह प्रभाव अक्षुण्ण है।



देवनागरी लिपि का सुधार

भाषा और लिपि का राष्ट्रीय जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज के युग में ये राष्ट्र और समाज-जीवन को संघटित और संग्रथित करनेवाली शक्तियाँ मानी जाती हैं; इसलिए हम जब स्वाधीनता-संग्राम में लगे हुए थे, तभी भाषा और लिपि की समस्या सामने आयी और विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने इस पर विचार करना शुरू किया; क्योंकि भारत-जैसे बहुभाषा और अनेक लिपियोंवाले देश के लिए राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का सर्वसम्मत रूप

निर्धारित करना आसान नहीं था; पर यह इस समस्या का केवल राजनीतिक पहलू है और इसका एक प्रकार से निबटारा भी हो गया है।

पर, आज हमें लिपि-सुधार के सवाल पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना है। इसकी आवश्यकता इसलिए दीखती है कि हमारी राष्ट्रलिपि नागरी में स्थान-स्थान पर किंचित् सुधार कर देने से उसके अनेक अक्षर अन्य प्रान्तीय वर्णमालाओं के अक्षरों के समीप चले जाते हैं। इस प्रकार अन्य लिपिवालों को राष्ट्र-लिपि सीखने में सहूलियत होगी। फिर प्रेस और मुद्रण-लिपि की कठिनाइयों को दूर करने का सवाल है। लिपि की कठिनाई के कारण हिन्दी टाइपराइटर का प्रयोग कठिन है। अँगरेजी की तुलना में इसकी गति बड़ी धीमी रहती है। जहाँ तक प्रेस की सुविधा का प्रश्न है, 'हम जानते हैं कि उर्दू के मुकाबले में हिन्दी का प्रेस काफी आगे बढ़ा हुआ है। पर, रोमन की तलना में वह उतना ही पीछे है, यह भी किसी प्रस-सम्बन्धी बातों के जानकार से छिपा नहीं। हिन्दी कम्पोजिग में केसों और टाइप के खानों की तादाद इतनी बड़ी होती है कि कम्पोजिग सीखने में काफी समय लग जाता है। इतना ही नहीं, इसको लेकर ही हिन्दी में छापे की इतनी गलतियाँ रह जाती हैं, जब कि अँगरेजी की पुस्तकों में गलतियाँ निकाल लेना मुश्किल है। फिर गति का भी सवाल है। हिन्दी की कम्पोजिंग में रोमन की तुलना में बहुत समय लग जाता है। इसका प्रभाव हिन्दी-पुस्तकों के मूल्य पर पड़ता है, भाषा-प्रचार और साक्षरता पर पड़ता है।'

नागरी के वर्त्तमान रूप के कारण ही हिन्दी को दो आधुनिक यंत्रों, टेलिप्रिन्टर और लाइनो टाइप मशीन, का लाभ नहीं हो पाता। नतीजा है कि हिन्दी-समाचार-पत्रों का स्तर अँगरेजी पत्रों की तुलना में हमेशा गिरा रहता है। हम जानते हैं कि आज की दुनिया में समाचार-पत्रों का कितना महत्त्व है। शिक्षा-प्रचार और जनजागरण के साधन के रूप में भी इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। अतः यदि नागरी-लिपि को इन यंत्रों के अनुकूल बना लिया जाय, तो हिन्दी-भाषा और हिन्दी-भाषाभाषी जनता को बड़ा लाभ होगा। नागरी के वर्त्तमान रूप में ही उसे उपर्युक्त दोनों मशीनों पर चलाने

को जितनी भी कोशिशें अब तक हुई हैं, वे बेकार साबित हुई हैं। उन पर खर्च इतना बैठता है कि आर्थिक दृष्टि से वह योजना अनुपयोगी हो जाती है।

इन सभी आवश्यकताओं को देखते हुए नागरी-लिपि का यथोचित सुधार बहुत जरूरी हो गया है। पर, आज ऐसे लोगों की संख्या बड़ी विशाल है, जो लिपि के प्रति भी धार्मिक अन्धश्रद्धा दिखलाते हैं और उसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन का घोर विरोध करते हैं। उसके लिए यह संस्कृति की रक्षा का सवाल बन जाता है।

अपनी इस अन्धश्रद्धा के समर्थन में वे विज्ञान की सहायता लेना चाहते हैं; पर केवल उतनी ही दूर तक, जहाँ तक कि उनके पक्ष का समर्थन होता है। वे ध्वनिशास्त्र का हवाला देकर कहते हैं कि नागरी वर्णमाला में उच्चारण-स्थान के आधार पर जो वर्गीकरण है, वह इसकी मौलिक विशेषता है, जो अन्य किसी लिपि को प्राप्त नहीं; दूसरे, हिन्दी में हम जो लिखते हैं, वही पढ़ते हैं, इसमें ऐसा नहीं होता कि हम लिखें कुछ और पढ़ें कुछ। इसका एकमात्र कारण यह है कि हिन्दी के अक्षर उच्चरित ध्वनियों के सही-सही प्रतीक हैं।

नागरी के वर्त्तमान रूप के समर्थन में दिये गये ये तर्क एक सीमा तक ही टिक पाते हैं। जहाँ तक अक्षरों के वर्गीकरण का प्रश्न है, हम जानते हैं कि सुधार की किसी भी प्रस्तावित योजना में उसे बदलने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सुधार की जो कुछ आवश्यकता है, वह अक्षरों के रूप तक ही सीमित है।

अब जरा हम दूसरे तर्क पर भी विचार करें। कहते हैं कि जो कुछ हिन्दी में हम लिखते हैं, वही पढ़ते हैं; उर्दू और रोमन लिपि की भाँति नागरी में शब्द का उच्चारण अक्षरों के उच्चारण से स्वतन्त्र नहीं है। यह दावा तो ठीक है; पर क्या नागरी अक्षर के रूप में और उसके उच्चारण में किसी प्रकार का लगाव है? उदाहरण के लिए, क को किसी दूसरे रूप में भी लिखकर हम क का ही उच्चारण कर सकते हैं। ध्वनिशास्त्र या भाषा-शास्त्र से भी अक्षर के रूप और उच्चारण का अभिन्न होना नहीं सिद्ध

होता है। अक्षर तो केवल किन्हीं ध्वनियों के प्रतीक मात्र हैं, प्रतीक में सुधार कर देन से ध्वनि में परिवर्त्तन नहीं पड़ सकपा। हाँ, अगर पूरी की पूरी वणमाला वदल दी जाय, तो कुछ दिनों तक काफी गड़वड़ी रहेगी। लेकिन वह सवाल ही अलग है। हमारे सामने केवल उतनी दूर तक ही सुधार करने का प्रश्न है, जहाँ तक हमारी आवश्यकताएँ भी पूरी हो जायँ और नागरी वर्णमाला का मौलिक रूप भी विकृत नहीं हो। जब कि अक्षर के उच्चारण और रूप में अभिन्न सम्बन्ध नहीं है, तो थोड़े आवश्यक सुधारों पर आपत्ति करना अनुचित और अन्धविश्वासपूर्ण है।

एक बात और। जिस प्रकार अक्षर के उच्चारण और लिखने के तरीके में कोई वुनियादी लगाव नहीं, उसी प्रकार एक ही वर्ग के विभिन्न अक्षरों के रूप में भी कोई लगाव नहीं है। क के रूप का ख, ग, या घ ङ के रूप से कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? इसलिए किन्हीं अक्षरों के रूप में सुधार करने जाकर हम कौन-सा लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करते हैं?

फिर हमारी लिपि के कुछ अक्षर ऐसे हैं, जिन्हें हम आधा नहीं लिख सकते हैं। जैसे ट, ठ, ड, ढ, द और व आदि। इनको संयुक्ताक्षरों में लिखने के लिये नीचे हलन्त लगाना पड़ता है और कहीं-कहीं उच्चारण के विपरीत आगे-पीछे लिखना पड़ता है। उदाहरण के लिए द्वादश शब्द को लें। यहाँ द आधा और व पूरा होना चाहिये; परन्तु लिखते हैं ड को पूरा और व को आधा। क्या यही नागरी-लिपि की वैज्ञानिकता है? व का उच्चारण भी ऐसा है कि नागरी-उच्चारण की भी सारी वैज्ञानिकता हवा हो जाती है। लोगों का दावा है कि हिन्दी में हम जो लिखते हैं, वही पढ़ते हैं, तो फिर विश्वास शब्द में प्रथम व का उच्चारण दूसरे के उच्चारण से क्यों भिन्न है? पहले व का उच्चारण अँगरेजी अक्षर व्ही (v) जैसा है और दूसरे का डब्ल्यू (w) जैसा।

इन सभी त्रुटियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ सुधार बड़े आवश्यक प्रतीत होते हैं। जैसे, अ, झ, ण के दो रूपों में से एक ही को रखा जाय। अ से अ अधिक सुगम है, झ की जगह झ रखना चाहिये;

क्योंकि मराठी में झ रूप ही मान्य है। दूसरे, इस प्रकार झ को हम आधा भी लिख सकेंगे। ण के स्थान पर ण लिखना अधिक लाभप्रद है; क्योंकि ण में र रहने से बच्चों को कितनी बार भ्रम हो जाता है। उसी तरह ख के रूप में भी दोष है। इसकी जगह पर बँगला या गुजराती के ख रूप को रखना अच्छा होगा।

अक्षर र को लेकर भी बड़ी गड़बड़ी होती है। कहने को इसका एक ही र रूप है। पर व्यवहार में इसके नाना रूप हो जाते हैं, यथा सरल, धर्म, अंग्रेज और राष्ट्र में। वैज्ञानिकता का तकाजा है कि इस इस अंधेरखाते को अवश्य दूर किया जाय। र का ऐसा कोई रूप, जो सर्वत्र समानतः व्यवहार में आवे, रखने से मुद्रणलिपि और प्रेस के लिए भी सहूलियत होगी। उसी प्रकार र में उकार की मात्रा लगाने का तरीका भी अन्य अक्षरों से भिन्न है। इस कारण प्रेस में रू और रु के लिए अतिरिक्त टाइप रखने पड़ते हैं। मात्रा लगाने की समस्या केवल र तक ही सीमित नहीं है। यह समस्या किसी-न-किसी रूप से सभी में लगी है। वास्तव में आधुनिक प्रेस और मुद्रणलेख में मात्राओं को लेकर ही ज्यादा दिक्कत है। उस दिक्कत को दूर करने के लिए तरह-तरह के सुझाव आये हैं। जैसे राहुलजी इ, उ, ए आदि अक्षरों के स्थान पर अि, अु, अे, की सिफारिश करते हैं। इस प्रस्ताव को मान लेने से प्रेस और मुद्रणलेखन में आसानी होगी; पर हस्तलेखन में ज्यादा समय लगेगा। एक प्रस्ताव मात्राओं को अक्षर के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे नहीं लगाकर सामान्य रूप से सामने, बगल में लगाने का है। यह प्रस्ताव भी अनुमोदनीय नहीं है; क्योंकि लिखने में असुविधा तो होगी ही, अक्षर का रूप भी असुन्दर हो जायगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि हम सिद्धान्त-रूप से मान लें कि इन सब दिशाओं में सुधार की आवश्यकता है। उसके बाद इस विषय के जानकारों और कलाकारों की कोई समिति यह विचार कर सर्वमान्य सुधारों की योजना उपस्थित करे, जिसमें हमारी आवश्यकताएँ भी पूरी हो जायँ और अक्षरों का रूप भी असुन्दर न हो।

अन्त में, एक सवाल अक्षरों की संख्या कम करने का भी है। बहुतेरे अक्षर, जो आज बेकार हो चले हैं, उनको रखने का कोई अर्थ नहीं दीखता जैसे, ष और ऋ। ऋ का उच्चारण शायद ही हजार में एक व्यक्ति कर पाता हो। वही दशा ष की है। ऋ का काम रि से चल जायगा और श से ष का काम।

हम मानते हैं कि ऋ और ष के उच्चारण रि और श से भिन्न हैं; पर जब उनका उच्चारण करनेवाला ही नहीं, तो वैसे अक्षरों से लाभ क्या? क्ष, त्र, ज्ञ को भी हटाकर उनका काम उन अक्षरों से लिया जा सकता है, जिनके कि ये संयुक्त रूप हैं।

इन अक्षरों के हट जाने से हमारी वर्णमाला से ष, ऋ, क्ष, त्र, ज्ञ—ये पांच अक्षर कम हो जायँगे।

कुछ संयुक्ताक्षरों के रूप भी सरल कर देने से प्रेस में टाइप की और मुद्रलखन में बटन की कमी हो जायगी। आजकल प्रेस में लगभग १०० संयुक्ताक्षर रखने पड़ते हैं। पर, इनमें सुधार कर लेने से केवल २० संयुक्ताक्षरों से काम चल जायगा।

इन सुधारों की सिफारिश केवल सुधार के लिए सुधार करने के उद्देश्य से नहीं की जाती है। इनसे हमें कितनी सहूलियत होगी, यह उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात हो जाना चाहिये। वस्तुतः भाषा और लिपि, प्रेस और टाइपराइटर आदि हमें इसीलिए अभिप्रेत हैं कि उनसे हमारा काम चलता है। जिस दिन इनकी उपयोगिता नहीं रहेगी, उस दिन मनुष्य स्वयं इन्हें उठाकर ताक पर रख देगा। इसलिये इनके प्रति अनावश्यक मोह न रखकर उपस्थित समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

——०——

कला और जीवन

कला और जीवन का सम्बन्ध भौतिक रूप में ही ग्राह्य और बोधगम्य हो सकता है; क्योंकि कला और जीवन की आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्या का अन्त उलझन, रहस्य और अन्धविश्वासों में हो जाता है।

अपने वांछित रूप में कला और जीवन आज अन्योन्याश्रित हैं। मौलिक रूप में हमें मानना पड़ेगा कि कला मनुष्य की सृष्टि है और मनुष्य का जीवन उसका अपना होते हुए भी वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों से भी मर्यादित रहता है। इसलिए कला-विहीन जीवन की बात किसी हद तक सत्य हो सकती है; पर जीवन-विहीन कला या तो लाश होगी या हवाई कल्पना। पर इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि जीवन में कला का प्रयोजन रंच-मात्र भी गौण है; क्योंकि कला का परिधान धारण किये बिना जीवन इतना नंगा और बदरंगा होगा कि जीवन में क्या कुछ जीने लायक बचेगा? यहीं पर कला के उद्गम, स्वरूप और प्रयोजन के सवाल पैदा होते हैं।

हम कला को कल्पना की अभिव्यक्ति मानें अथवा कर्म-कौशल; अपनी एकाग्र चेतना की सहायता से जीवन की अनुभूतियों को दूसरों पर व्यक्त करने का प्रयास मानें अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में कहें कि जो सत्य है, जो शिव है, जो सुन्दर है, वही कला है; पर हर दशा में कला के उत्स का, उसके प्रेरणास्रोत का प्रश्न बना रहता है। और, इस प्रश्न का उत्तर व्यक्ति-विशेष के जीवन-दर्शन पर निर्भर करता है; क्योंकि उस दर्शन के आधार पर ही उस व्यक्ति का दृष्टिकोण बनता है।

इस प्रकार कला के प्रति तीन प्रकार के दृष्टिकोण मुख्यतया प्रचलित हैं—(१) आदर्शवादी, (२) सौंदर्यवादी और (३) जड़वादी। प्रथम कोटि के कलाकारों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नामोल्लेख किया जा सकता है। इस कोटि के लोग सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की सुमरनी पर अपने भावोच्छ्वास के मनके गिनते हैं। किन्तु सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अर्थ पूछिए और उत्तर का

विश्लेषण कीजिए, तो सिर्फ उलझे विचारों का धागा ही मिलेगा। वस्तुतः ये लोग कला को कलाकारों की सर्वथा वैयक्तिक अनुभूति की परिधि में घेरकर रखना चाहते हैं और इसलिए उनकी कलालोचन की कसौटी निजी भावना होती है। इस विचारधारा की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद में होती है और अन्त में वह विषाक्त वैयक्तिकता के दलदल में गुम हो जाती है। पर, सब दशा में इसके पीछे जीवन की अनुभूति अवश्य रहती है। किन्तु वह जीवन बिल्कुल व्यक्तिगत रहता है और अनुभूतियाँ वायवीय।

दूसरा दृष्टिकोण कला की स्वतन्त्र सत्ता को अपनी आधार-शिला मानता है। इस मत के माननेवाले कलाकृति को स्रष्टा के व्यक्तित्व से विलग कर के रूप-विन्यास और शिल्प की भाषा में कला के सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। इनकी टेक है, 'कला, कला के लिए।' ये कलाकृति को समझने के लिए अथवा कलासर्जन के लिए जीवन के—व्यक्तिगत अथवा सामाजिक—संस्पर्श को अनावश्यक मानते हैं। इसलिए इस विचारधारा की भी परिणति पहले की भाँति ही व्यक्तिगत अभिरुचि, चिन्तन और रूपयोजना में होती है।

तीसरा दृष्टिकोण, जो जड़वादी है, इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अपना आधार मानता है। यह प्रथम दोनों दृष्टिकोणों का निराकरण करता है; क्योंकि इस दृष्टि से जो आदर्श कला होगी, उसमें वर्गसंघर्ष का फ़ार्मूला मिलना ही चाहिए। उसमें भावों का उत्कर्ष और रूपविन्यास की कुशलता—दोनों गौण हैं। इस प्रकार की कला का उदाहरण कम्यूनिस्टों के मार्गभ्रष्ट, तथाकथित प्रगतिवादी साहित्य में, (जिसमें आगरा के 'पहलवान' आलोचक की आलोचनाएँ भी शामिल हैं) मिल जायगा।

उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों में जो फर्क है, वह केवल मतवाद का अतिरेक है, अन्यथा अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ तीनों की सीमाएँ आपस में उलझी हुई हैं। इसका अर्थ है कि कला के लिए भौतिक जीवन की अनुभूतियाँ और भावनाएँ जितना सत्य हैं, उतना ही उसकी रूपयोजना भी। जहाँ दोनों सत्यों का समन्वय होता है, कला सद्यः निखर उठती है।

कला और जीवन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर कला के प्राचीनतम अवशेषों से भी प्रकाश मिलता है। आज से हजारों लाखों वर्ष पहले प्राचीन पाषाण तथा नवीन पाषाण युगों में क्योंकर आदिमानवों ने अन्धरी गुफाओं में एक-एक मील भीतर जाकर नाना प्रकार के चित्र अंकित किये? क्योंकर जंगली जानवरों और प्राकृतिक दृश्यों को उत्कीर्ण कर उनमें कच्ची धातुओं और चर्वी के रंग भरे? चित्रकारी के प्राचीनतम नमूने प्राचीन पाषाणकाल के मानवों के बनाये हुए हैं। उन नमूनों में भी जो पूर्व पाषाणकाल के हैं, उनमें अधिकतर प्राकृतिक विषयों का समावेश है। उन दिनों मनुष्य के भौतिक जीवन का आधार आखेट था और वह स्वयं भी प्रकृति का अंग-जैसा ही था। इसलिए उन दिनों के चित्रों में यथार्थ से सादृश्य-निर्वाह की अपूर्व चेष्टा मिलती है।

धीरे-धीरे मनुष्य आखेटक और अकेला जीवन छोड़कर सामाजिक प्राणी बनने लगा। अहेर को छोड़कर उसने पशुपालन और खेती का सहारा लिया। अर्थात्, वह प्रकृति का अङ्गमात्र न रहकर प्रकृति के चंगुल से मुक्त होने और उस पर ही अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करने लगा। उसकी इस जीवन-शैली का तत्काल प्रभाव उसकी कला पर पड़ा। पहले के स्वाभाविक तथातथ्य-अंकन के स्थान पर नयी सामाजिक अनुभूतियों की उद्भावना होने लगी। पुरानी पद्धति का सर्वथा बहिष्कार तो नहीं हुआ; पर, चूँकि जीवन से उसका सम्बन्ध नहीं रहा, इसलिए उस पद्धति पर बनाय गये चित्रों का उपयोग केवल परम्परा-निर्वाह अथवा सजावट के लिए किया जाने लगा। यह कड़वा सत्य आज की कलाओं में भी देखा जा सकता है। जो कला जितना ही जीवन से दूर है, उसमें उतनी ही सजावट है।

कला और समाज के अभिन्न सम्बन्ध का प्रभाव कलाओं के संघटन और समाज की विचारधारा के विकास पर भी पड़ता है। मनुष्य के जीवन और सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ ही उसके जीवन की चेष्टाओं में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई है। फलतः कला के अनेक भेद-उपभेद बन गये हैं। कहाँ तो पहले केवल रेखाकृतियों का अंकन होता था.

और साहित्य के नाम पर मंत्रों और लोकगीतों का मौखिक पाठ होता था और कहाँ आज चित्रकला है, मूर्तिकला है, वास्तुकला है, संगीत और काव्य-कला हैं, कहानियाँ और उपन्यास हैं।

प्राचीनकाल में जो जाति का पुरोहित था, वह एक साथ ही कवि, जादूगर और चित्रकार भी था। पर, आज एक कला का विशेज्ञ दूसरी कला में बिल्कुल कोरा भी रह सकता है। विशिष्टीकरण की यह प्रवृत्ति सीधे हमारे भौतिक जीवन की देन है।

इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि कला और जीवन को अलग-अलग कूचे में बन्द नहीं किया जा सकता। पर, एक प्रश्न और भी रह जाता है। जीवन में कला से कौन-सा उद्देश्य सधता है कि वह हमारे लिए स्पृहणीय है। इस प्रश्न का सही उत्तर यथा-स्थितित्व (Status-quo) के गढ़ पर करारी चोट करता है, इसलिए प्रतिक्रियावादी विचारक इस प्रश्न को झुठलाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए वे कलाओं को ललित कला और उपयोगी कला की दो श्रेणियों में बाँटते हैं। इसका अर्थ है कि जो ललित कलाएँ हैं—जैसे संगीत, काव्य आदि—उनका सामाजिक और भौतिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश्य निरा आध्यात्मिक है। उसी प्रकार उपयोगी कलाएँ, जैसे मूर्तिकला, वास्तु-कला, बर्तन बनाने की कला आदि सिर्फ रोजगार के लिए हैं, उनसे कोई 'महत्तर' उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। उनका महत्त्व केवल उनकी उपयोगिता को लेकर है।

वस्तुतः सभी उच्च कलाओं का प्रभाव मनुष्य के आध्यात्मिक-नैतिक जीवन पर पड़ता है; वे मनुष्य को अधिकाधिक स्वतन्त्रता की ओर प्रेरित करती हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण ताजमहल है। अतः कलाओं को उनकी भौतिक उपयोगिता की तुला पर न तोल कर, यह देखना चाहिए कि वे मनुष्य के सामाजिक अहम् को किस हद तक संघटित करती हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकर करने पर कला की रूप-योजना की समस्याएँ गौण पड़ जाती हैं, कला के रूप को विषय-वस्तु के आग्रह पर चलना पड़ता है। यही कला के चिरन्तन आकर्षण और अमरता का स्रोत है।

संगीत

संगीत मानव-जाति की उन कलाओं में है, जिन्होंने उसके भावों का आदिकाल से ही संघटित करके सहयोग और सामञ्जस्यपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर किया है। संगीत का जन्म संभवतः काव्य के साथ ही हुआ और दोनों का प्रभाव भी आज हमारे नैतिक (सांस्कृतिक) जीवन पर व्यापक रूप से परिलक्षित है। संगीत की परिभाषा करते हुए किसीने कहा है कि यह ध्वनियों का सामंजस्यपूर्ण क्रम है, जो श्रुतिप्रिय और रुचिकर होता है। स्पष्टतः यह परिभिाषा किसी भी परिभाषा की भाँति ही अपूर्ण है; क्योंकि संगीत केवल इतना ही नहीं है। अगर इतना ही होता, तो संगीत केवल कानों को तृप्त करके रह जाता और कान तो इन्द्रियों में एक है। संगीत वास्तव में हमारी सम्पूर्ण प्रज्ञा कोप्रभावित करता है; इसलिए इसका सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा से भी है। यह बात अन्य कलाओं के साथ भी लागू है।

कविता और कहानी वाह्य जीवन के अनुभवों को अपने रंग में रंगकर विशेष भावात्मक स्थिति पैदा करती है। इस प्रकार वाह्य जगत् काव्यजगत् में जाकर काफी परिवर्त्तित हो जाता है। पर संगीत के स्वर बाह्य जगत् की ओर इंगित नहीं करते। उनका प्रभाव सीधे हमारी ऐन्द्रियता पर पड़ता है। बल्कि यों कहें कि स्वर स्वयं हमारी ऐन्द्रिय अनुभव की वस्तु हैं। इसलिए संगीत का प्रभाव तत्काल पड़ता है; क्योंकि उसकी अनुगूँज हमारी इन्द्रियों में अधिक काल तक बनी रहती है।

संगीत का ढाँचा अपने में पूर्ण रहता है; क्योंकि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए वाह्य जगत् पर युक्तिपूर्ण ढंग से आश्रित नहीं रहता पड़ता है। परन्तु प्रभावोत्पादक होने के लिए अन्य कलाओं की भाँति संगीत-कला को आत्मनिष्ठ नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ रहना चाहिए। वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य है युक्तिपूर्ण होना, इसलिए संगीत का ढाँचा अधिकांश में रूढ़ होने पर भी किसी हद तक युक्तिपूर्ण भी है।

वस्तुनिष्ठ, युक्तिसंगत बाह्य जगत् को काल और दिशा से परिसीमित रहना पड़ता है। संगीत भी जिस हद तक वस्तुनिष्ठ है, काल और दिशा की सीमा के भीतर है। वह सामाजिक अहम् में विश्वजनीन भावों का उद्रेक करता है। अतः उच्च कोटि का संगीत सार्वजनीन होता है, उसका ढाँचा भले एकदेशीय हो।

संगीत का जो सर्वप्रधान तत्त्व उसे वस्तुनिष्ठ होते हुए भी आत्मनिष्ठ बनाता है, वह है लयमयता। यह लयमयता स्वरों के सुरीलेपन या सामंजस्य से भी अधिक मौलिक तत्त्व है। इसका सबूत है अणुओं की शाश्वत गतिशीलता, जो भावातिरेक की स्थिति में आदिमानव को जोर-जोर से, विशेष रूप में, अंग-संचालन करने और आवाज निकालने को प्रेरित करती थी। इस प्रक्रिया में प्राप्त तत्त्व की रहस्यमय स्फूर्ति बाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है और बाह्य जगत् उतने समय तक के लिए मानों तिरोहित हो गया रहता है। इसलिए संगीत के श्रोता की न केवल अंतःवृत्तियाँ एकाग्र हो गयी रहती हैं; बल्कि वह स्वयं शारीरिक अर्थ में भी आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि संगीत का व्याकरण अपने बन्धनों के बाद भी लयमयता के आगे सिर झुकाता है। वस्तुतः लय के कारण ही ध्वनियों की दुनिया मानव की ऐन्द्रिय अनुभूतियों से आबाद होती है। लय के बाद ही स्वरों के माधुर्य और सामंजस्य की बात उठती है। हालाँकि इन सबको अलग-अलग करके विश्लेषण करना असंभव है। हाँ, इतना तो निर्विवाद है कि स्वर-माधुरी और सामंजस्य विशिष्ट मानव-गुण हैं और इनका जितना ही सहयोग व्यक्ति को मिलेगा, संगीत उतना ही प्रभावोत्पादक और मानवीय संवेदनाओं से संभूत होगा।

सामाजिक शास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य-कला और नृत्यकला के समान ही संगीत-कला का भी उस समय प्रादुर्भाव हुआ, जबकि मानव को प्रकृति से अलग करनेवाली उसके अपने व्यक्तित्व की चेतना जाग्रत हुई। यही कारण है कि आदिमानव के जीवन-संघर्ष में काव्य, संगीत और नृत्य का उपयोग व्यापक रूप से होता था, यह दूसरी बात है कि उसे अंधविश्वासपूर्ण रूढ़ियों का स्वरूप दे दिया जाता था। ऐसा भी अनुमान किया

जा सकता है कि उपर्युक्त तीनों कलाएँ, यहाँ तक कि चित्रकला भी आदि-मानव के किसी जातीय अनुष्ठान के साथ ही निकलीं और जैसे-जैसे बाह्य जीवन में विशिष्टीकरण प्रवेश करता गया, इन कलाओं का स्वरूप भी एक दूसरे से अलग और क्रमशः अपने में संश्लिष्ट होता गया। आज नतीजा है कि संस्कृति-भेद के साथ इन कलाओं के भी विभिन्न रूप हैं। हर राष्ट्र को अपने काव्य का इतिहास, नृत्य का इतिहास है, संगीत का इतिहास है।

भारत में प्राचीन काल में संगीत का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में विशेष महत्त्व दिया जाता था। आर्यों के पिता संगीत को ब्रह्मज्ञान के समकक्ष मानते थे। श्री त्यागराज तो यहाँ तक कह जाते हैं कि त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) को जो भी महत्त्व प्राप्त है, वह उन्हें नाद (स्वर) की उपासना के फलस्वरूप। ब्रह्म को भी नाद-तनु कहा गया है। इन सब कथनों से हम समझते हैं कि आदिकाल में संगीत को लोग किस प्रकार भय-मिश्रित श्रद्धा प्रदान करते थे। आज विज्ञान के प्रभाव में वह अन्ध-विश्वास-जन्य महिमा भले नष्ट हो गयी है; पर विशिष्ट कला के रूप में उसका सम्मान सहृदयों और गुणज्ञों के बीच पहले की अपेक्षा बढ़ ही गया है। इसका एक दूसरा पहलू भी है। प्रारम्भ में सबके लिए एक ही प्रकार का संगीत रहता था। संगीत का कुछ ही लोग, विशेषकर पुरोहित, गान करते थे, श्रोताओं की एक ही श्रेणी थी। आज रुचि-विकास के अनुसार श्रोताओं की कई श्रेणियाँ हैं। ये श्रेणियाँ उन दिनों बननी शुरू हुईं, जबकि संगीत के स्वरूप में अधिकाधिक संश्लिष्टता और रूढ़ियों का समावेश होने लगा। बात यहाँ तक बढ़ी कि गायकों के अलावा श्रोताओं को भी संगीत के स्वरूप-सम्बन्धी बारीकियों का ज्ञान आवश्यक हो चला। इस प्रकार समाज का बहुमत, जो शोषित है, धीरे-धीरे संगीत से दूर होता गया। बल्कि यह कहना चाहिए कि शास्त्रीयता से आक्रान्त संगीत ही समाज के बहुत बड़े तबके से अलग हो गया; क्योंकि जब शास्त्रीय संगीत (और कविता) अबूझ होने लगी, साधारण लोगों ने अपने लिए लोक-गाथाओं और लोकगीतों की सृष्टि की,

जिसमें उनके जीवन का प्रकृत तत्व अपनी उद्दाम सरलता से अभिव्यक्त होने लगा।

प्राचीन काल में भी, जबकि संगीत सर्वसुलभ था, उसके दो भेद थे-- एक धार्मिक संगीत, दूसरा लौकिक। सामाजिक आर्यों के वेदों में अधिकतर धार्मिक गीत हैं। उनके लौकिक गीत उपलब्ध नहीं। संभवतः ऐसा इसलिए हुआ कि धार्मिक गीतों को संरक्षित रखने की ब्राह्मण पुरोहितों ने वर्ग-स्वार्थ-वश विशेष चेष्टा की और लौकिक संगीत उचित संरक्षण के अभाव में काल के अजस्र स्रोत में वह गया।

अस्तु, आर्यगण भारत में जैसे-जैसे फैलने लगे, उनको आर्यपूर्व, आर्येतर जीवन और संस्कृति का सम्पर्क प्राप्त हुआ। आदान-प्रदान और समन्वय की प्रक्रियाओं के बाद आर्यों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों की भाँति संगीत में भी बहुत-कुछ ग्रहण किया। यह प्रक्रिया दक्षिण भारत में विशेष रूप से परिलक्षित हुई, जिसकी झलक सारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' में मिलती है। आर्यों के पूर्व इस देश में द्राविड़-पूर्व और द्राविड़-सभ्यता का प्रकाश फैला हुआ था। उस सभ्यता की निर्मात्री जातियों में संगीत की अपनी पुरानी परम्परा थी, जो आज भी दक्षिण भारत के लोगों में किसी अंश तक विद्यमान है। प्राचीन काल में तामिलों के कुछ संगीत-ग्रन्थ प्रमुख थे, यथा (१) "आगस्त्य", जिसके कुछ ही सूत्र उद्धरण के रूप में अन्य ग्रंथों में पाये जाते हैं, (२) "इन्द्र काकलीयत" (यमलन्द्रकृत), (३) गुणानुल, (४) कुथानुल और (५) भारत आदि। इन ग्रन्थों के अधिकांश भाग नष्ट हो गये हैं। जो अंश उपलब्ध हैं, वे भाष्यकारों द्वारा दिये गये उद्धरणों के रूप में।

सारंगदेव दक्षिण भारत में ईसवी सन् की १४वीं सदी में पहुँचे थे। उनके पहुँचने के पहले दक्षिणी संगीत के जो प्रकार नष्ट हो गये थे, उन्हें सारंगदेव ने मार्गी शैली का संगीत लिखा है। उनके द्वारा वर्णित कुछ रागों के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार आर्य-द्रविड़ शैली का निर्माण हुआ। मार्गी शैली के सम्बन्ध में लिखा है कि इस शैली का निर्माण भरत मुनि ने किया और उन्होंने गन्धर्वों और अप्सराओं को सिखलाया। इस

शैली में वाद्य-यंत्रों के अलावा नृत्य का भी उपयोग किया जाता था। इस शैली के गायकों को शास्त्रीय विशुद्धता का पूर्ण निर्वाह करना पड़ता था। स्वर-जगत् को असीम संभावनाओं की खोज करने का कोई अवसर नहीं था; इसलिए इस शैली का संगीत अन्त में कुछ रूढ़ियों के रूप में बचा और फिर नष्ट हो गया। जन-जीवन के अमृत-सम्पर्क से दूर रहनेवाली कला का यही अन्त होता है।

इसके विपरीत जन-जीवन में प्रचलित संगीत की 'देशी-शैली' थी, जिसके विकास में गायकों की स्वाधीनता ने बड़ी सहायता पहुँचायी। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि मार्गी शैली लुप्तप्राय हो चली। दक्षिण भारत के संगीत पर लिखित पुस्तक "चतुरदंडी प्रकाशिका" में यहाँ तक लिखा है कि आज हमारा जो भी संगीत है, वह 'देशी शैली' का है और इस पर 'मार्गी शैली' का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है।

मार्गी और देशी शैली की यह प्रतिद्वंद्विता लाक्षणिक अर्थ में आज भी हम देख रहे हैं। अगर हम आज के शास्त्रीय संगीत को मार्गी शैली का मान लें, तो फिल्मों के हल्के-फुल्के गाने देशी कहे जायँगे।

भारतीय संगीत के आचार्यों का मत है कि प्रत्येक स्वर विभिन्न वस्तुओं के अणुओं पर विशेष रूप से आघात करता है। इसके फलस्वरूप नाना प्रकार की प्रतिक्रियाओं और संवेदनाओं की सृष्टि होती है। प्रभाव और स्वरूप के आधार पर भरतमुनि ने स्वरों को छः रागों में विभक्त किया है। फिर प्रत्येक राग के साथ पत्नी-रूप में राग-रानियाँ हैं, फिर उनकी सन्तानें।

स्वरों के वर्गीकरण का प्रयास बहुत जमाने से चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो भरतमुनि का नाम आता है। उनके "नाट्यशास्त्र" में एक साथ ही नृत्य, अभिनय और संगीत की चर्चा है। उनके बाद ९ वीं सदी के नारद का नाम आता है, जिनकी पुस्तक है "संगीत मार्त्तंड"। सारंग देवकृत "संगीत रत्नाकर" तो इस विषय का अनिवार्य ग्रन्थ ही है। इन ग्रन्थों के आधार पर ही आजकल हमारे शास्त्रीय संगीत का निर्देशन होता है।

आधुनिक काल में भी अनेक संगीताचार्यों ने इस दिशा में अनुसंधान किये हैं और इस कला को आगे बढ़ाया है। उनमें स्व० पंडित विष्णुदिगम्बर पलुस्कर और पंडित भातखंडेजी के नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन महान् कलाकारों की परम्परा में कई अन्य उल्लेखनीय संगीतज्ञ हैं। पर सबके बावजूद शास्त्रीय संगीत का भविष्य विशेष उज्ज्वल नहीं दीखता। उनके स्थान पर सिनेमा और रेडियो के हल्के गाने लोकप्रिय हो चले हैं। इस प्रवृत्ति की हम कितनी भी भर्त्सना करें, इसकी बाढ़ को रोकना सम्भव नहीं। इस प्रकार के संगीत पर कुछ तो अपने संगीतशास्त्र का प्रभाव है और कुछ यूरोपीय संगीत की आर्केष्ट्रा का। इसके समुचित विकास पर ही हमारे संगीत का भविष्य निर्भर करता है। यह कड़वा सत्य है और हमें स्वीकार करना है; क्योंकि हम देख रहे हैं कि किस प्रकार हमारे सामने से शास्त्रीय संगीत लुप्त होता जा रहा है। रूढ़ियों की दीवार पर कितनी भी मीनाकारी और गुलकारी क्यों न की जाय, जन-जीवन के उद्दाम प्रवाह में उसका कटकर गिर जाना स्वाभाविक है, ऐतिहासिक सत्य है।

कल्पना

कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; लिहाजा इसका सम्बन्ध दिमाग से है और यह सिर्फ मनुष्यों तक ही सीमित है। कल्पना का वर्णन हम दो दृष्टिकोण से करेंगे। एक कल्पना का मनोवैज्ञानिक पक्ष होगा और दूसरा साहित्यिक। पहले पक्ष के अन्तर्गत हम कल्पना की परिभाषा और उसकी क्रियाओं का वर्णन करेंगे और दूसरे के अन्तर्गत साहित्य पर इसके प्रभाव और इसकी अहमियत का। जाहिर है, मनोवैज्ञानिक पक्ष कल्पना की बुनियादी बनावट से सम्बन्ध रखता है और साहित्यिक पक्ष उसके गुण और परिमाण सम्बन्धी खासियतों से।

हमने ऊपर कहा है कि कल्पना एक उच्च मानसिक क्रिया है; किन्तु 'याद' (memory) और कल्पना में अन्तर है, यद्यपि दोनों ही उच्च मानसिक क्रियाएँ हैं। 'याद' चाहे वह दृष्टि-सम्बन्धी हो अथवा नहीं, हमेशा वास्तविक बीती हुई घटनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, वह प्रतिरूप (representation) ठीक नहीं भी हो सकती है। ऐसा भी संभव है कि हम उन घटनाओं के कुछ अंश भूल गये हों और कुछ बदले में जोड़ दिये हों, जो असलियत में हमारे कल्पित चित्र ही हैं। किन्तु 'याद' का सम्बन्ध हमेशा बीती घटनाओं से है और अतीत में हमारा गहरा आकर्षण 'याद' पर यकीन करने को मजबूर करता है।

दूसरी ओर, कल्पना स्वतन्त्र है। बीते अनुभवों की कल्पना करने की जरूरत आपको नहीं है। आप अपने मस्तिष्क से चीजों को इकट्ठा करके रख सकते हैं। इस भिन्नता की जड़ अक्रियात्मक (passive) कल्पना में निहित है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। मिसाल के लिये जब आप किसी लेखक की नायिका का वर्णन पढ़ते हैं, आप उसकी आँखें, उसके बाल तथा उसके हाथ आदि के बारे में पढ़ते हैं। और, तब आप उसकी सुन्दरता को अपनी कल्पना में खींच लाते हैं और प्रत्येक पृथक् कल्पना-चित्र (जैसे नाक, आँख आदि) आपकी मर्जी पर भविष्य की घटनाओं से संयुक्त होने के लिए निर्भर है। अगर आपने नायिका को देखा होता, तो आप उसे सिर्फ एक और पूर्ण कल्पना-चित्र के रूप में याद करते। जब आप निष्क्रिय कल्पना से सक्रिय कल्पना की ओर जाते हैं—जब आप वस्तुओं के एक बड़े ढेर से किसी कलात्मक मकसद की पूर्त्ति के लिये एक चीज की रचना करते हैं, तब जिस चीज की सृष्टि होती है, वह सर्वथा नई है, अनुभवों की नकल हरगिज नहीं।

कल्पना दो तरह की होती है—एक तो क्रियात्मक (active) और दूसरा अक्रियात्मक (passive)।

(१) अक्रियात्मक कल्पना के मिसाल के तौर पर किसी उपन्यास के पाठक को लीजिए। एक मनोरंजक कहानी के वाक्य-कल्पित और चित्रित दृश्यों के अनुवाद-स्वरूप हैं। लेखक ने अपने प्लाट को यथासम्भव विस्तृत

किया है, उसे शब्दों के रूप में चित्रित किया है। कल्पनाशील पाठक उन शब्दों में मशगूल होकर लेखक के चित्रों का पुनः चित्रण ही करता है।

दूसरा मिसाल, उपन्यासों को लीजिए। अगर वे उपन्यास अच्छे हैं, तो पाठक की कल्पना को आधार मिलता है और मिलती है गति और प्रेरणा। और, इसके प्रतिकूल वे बुरे हैं, तो पाठक की कल्पना घुटकर रह जाती है। कभी-कभी चित्र कलाकार की कल्पना-शक्ति के अभाव का प्रदर्शन करते हैं। ऐसी हालत में पाठक की कल्पना दब (Suppressed) जाती हैं; क्योंकि जब कभी वह एक दृश्य की कल्पना करने लगता है, चित्र की यादगार उसके रूपकों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और अपनी बृहत् शक्ति के द्वारा उन्हें चेतना (Consciousness) के बाहर फेंक देती है। 'लिटन' की "लास्ट डेज आफ पाम्पियाइ" को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। वह लेखक की कल्पना का द्योतक है और पाठकों की तरफ से इसी कल्पना को उम्मीदवार है।

कभी-कभी कलाकार पाठकों की कल्पना के ऊपर बहुत-कुछ छोड़कर तटस्थ हो जाता है। और, कभी-कभी कोई एक घटना बहुत बार इतने विस्तार से चित्रित की जाती है कि पाठक को ऐसा आभास होता है कि कलाकार जैसे कह रहा है—"तुम्हारे अन्दर कल्पना-शक्ति है ही नहीं। मुझे अपने पास आने दो सहायता के लिये।" इसका नतीजा यह होता है कि जो बात हास्य की प्रेरणा जगाती, वह क्रोध और ईर्ष्या का कारण बन जाती है।

(२) क्रियात्मक या रचनात्मक कल्पना (Active or creative)। इस तरह की कल्पना एक क्रियात्मक ध्यानावस्था (Attention) के बाद आती है। जब कोई शिल्पकार राम या कृष्ण की मूर्त्ति बनाना चाहता है, तो वह उनसे संबंधित पौराणिक कथाओं की मीमांसा करता है और खास-खास लक्षणों को चुनकर रख लेता है। बाद में, इन्हीं चुने हुए ट्रेट्स (traits) को एक आदर्श मूर्त्ति के रूप में उपस्थित करता है, तब क्रियात्मक रूप से निर्मित किया गया चित्र एक मूर्त्ति के रूप में प्रकट किया जाता है। इसी तरह जब कोई ऐक्टर 'हैमलेट' का पार्ट करना चाहता है, तो वह खेल के

हर शब्द और क्रिया की छान-बीन करता है, जो इस खेल में खास तौर से रखे जानेवाले हैं और सक्रिय रूप से अपने को उस चरित्र में लीन कर देता है। इस तरह अपनी छान-बीन समाप्त करने के बाद 'हैमलेट. का जो स्वाभाविक वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया जाता है, वह सम्पूर्ण हैमलट-कल्पना, जो क्रियात्मक ध्यानावस्था की हालत में शक्ल अख्तियार कर रही थी, का प्रदर्शन मात्र है। जब एक 'रोमैन्टिक' लेखक किसी कथानक की सृष्टि करता है, वह अपने प्लाट की हर तफसील पर प्रयास करता है; जैसे—वह गणित की कोई समस्या है और वह उसे हल कर रहा हो। उस कहानी की गति इतनी सुगम होती है, कि जब आप एक घटना से दूसरी घटना पर पहुँचते हैं, तो सारी घटनाएँ एक खास केन्द्रबिन्दु पर झुकती हुई-सी प्रतीत होती हैं, जो कहानी की सबसे प्रमुख घटना है। यह कहानी हमारे उन कल्पना-चित्रों का मौखिक अनुवाद है, जो पूर्वगामी प्रयास के फलस्वरूप बनते हैं। संक्षेप में, जब कभी किसी वस्तु की रचना होती है—चाहे वह चित्रकला हो अथवा मूर्त्ति-कला, संगीत हो या साहित्य अथवा विज्ञान, वह रचना एक लम्बी अवधि की सक्रिय ध्यानावस्था के कल्पना-चित्रों की उपज है।

वाल्टर पेटर, अपने जमाने के अंग्रेजी गद्य साहित्य के सबसे बड़े साहित्यिक, ने कहा है कि अच्छी चीज लिखने के लिये उपमाओं (जो शब्दों के द्वारा प्रकट होती हैं) की अन्तःप्रवृत्ति की भावना होनी चाहिये यानी शब्दों की आत्मा को तब तक ध्यान में रखना चाहिये (जैसे—निस्तेज, सम्बद्ध, लेख, उत्तेजना आदि) जब तक कि उन शब्दों का इस्तेमाल हमेशा अचेतन (Unconscious) में एक कल्पना-चित्र की सृष्टि करे, जो इसके मूल अर्थ का चित्रण करता हो। जब हम किसी नक्शे की नकल करना चाहते हैं, तो एक पतला कागज उसके ऊपर डालकर रूप-रेखा खींच लेते हैं। उसी तरह शब्द पतले कागजों की तरह होनी चाहिये, जो लेखक के कल्पना-चित्रों की नकल करने की क्षमता रखते हों और उन चित्रों के उतने ही निकट हों कि जब कभी पाठक उस पहले कागज को लेखक के कल्पना-चित्रों पर से उठा ले, तो वे उतने ही सत्य और स्वाभाविक प्रमाणित हों।

साहित्यिक पक्ष——साहित्य और कल्पना में गहरा रिश्ता है। वही रिश्ता, जो फूल और सुगन्ध, दीपक और परवाने, दिन और रात तथा बादल और बूँदों में है। कल्पना के बग़ैर साहित्य की रचना की बात ही हम नहीं सोच सकते। चाहे आप कविता कर रहे हों या कहानी लिख रहे हों——आपको कल्पना करनी ही पड़ती है। कविता और कहानी की बात तो छोड़िए, जब आप किसी दृश्य या घटना का वर्णन करते हैं, जिसे आपने स्वयं देखा और महसूस किया है या जब आप ऐसे लेख लिखते हैं जो वर्णनशील (descriptive) कहे जाते हैं, आपको कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। अन्तर इतना ही है कि कविता, कहानी या गद्य-गीत आदि में कल्पना ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लेती है तथा लेख आदि में कम। इसलिए अन्तर डिग्री का है। किसी भी साहित्य की रचना के लिए चाहे वह गद्य हो या पद्य, कल्पना की हस्ती अवश्यंभावी है। कल्पना एक आधारभूमि है, जिसकी सतह पर साहित्य का निर्माण होता है।

चित्र-कला में कल्पना रंगों और कूचियों के सहारे व्यक्त होती है और जिस दृश्य या वस्तु की रचना होती है, वह चित्रकारी की कल्पना है। रंग और कूची तो एक माध्यम-मात्र है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि वह माध्यम बहुत ही परिमार्जित और कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हो, जो चित्रकार की कल्पना को ठीक-ठीक और उतनी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सके। इसी तरह मूर्त्ति-कला में कल्पना की हस्ती मूर्त्तियों तथा दूसरी-दूसरी वस्तुओं में निहित है, जो शिल्पकार बनाता है। यहाँ पर छेनी और पत्थर उसकी कल्पना का माध्यम है। साहित्य में कल्पना कविता, कहानी, लेख, नाटक आदि की शक्ल अख्तियार करती है और उसका माध्यम है शब्द। कल्पना शब्दों के माध्यम से ही जाहिर होती है। इसलिए शब्दों के इस्तेमाल में प्रवीणता आवश्यक है।

कल्पना परोक्ष रूप से भी साहित्य पर असर डालती है। यह हमको सामाजिक और सांस्कृतिक पद्धति के मुताबिक चलने को मजबूर करती है। हम नंगे स्त्री-पुरुष की कल्पना स्वाभाविक रूप से नहीं कर सकते हैं और

अपनी कहानी में ऐसे चरित्रोंका चित्रण नहीं कर सकते, जो हमेशा नंगे रहें। इस कल्पना पर हमारी संस्कृति का प्रभाव है। यहाँ पर एक सवाल उठता है, कल्पना किन-किन तत्त्वों से प्रभावित होती है? हमारी कल्पना दो तत्त्वों से निर्धारित होती है। एक है--बाह्य वातावरण और दूसरा--मानसिक या मनोवैज्ञानिक। बाह्य वातावरण के अन्तर्गत आते हैं--भूगोल, यानी जलवायु, तापमान, वर्षा और स्थिति; संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, वहाँ की शासन-व्यवस्था, आर्थिक रूप-रेखा आदि। मिसाल के लिए, आप ग्रीनलैंड में रहने-वाले लोगों की जिन्दगी की कल्पना स्वाभाविक हालत में कर ही नहीं सकते। आप वहाँ की ठण्ड और सर्दी की कल्पना तभी करने की कोशिश करते होंगे, जब आप वहाँ के बारे में पढ़ते हैं। बात-बात में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। इस तरह बाह्य वातावरण से कल्पना निर्धारित होती है।

मानसिक वातावरण है इंसान की अपनी मानसिक प्रतिक्रियाएँ, जो एक खास घटना, दृश्य या वातावरण के किसी भी तत्त्व को देखकर होती हैं। इसमें इंसान की मनोवृत्ति, भाव (emotion), दिमागी ताकतें और उसका अपना दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं। तो, साहित्य पर प्रभाव डालनेवाली कल्पना इन सारी बातों को लेकर चलती है। कल्पना के पीछे इस तरह बाह्य और अन्तःवातावरण की लम्बी कहानी है। इसीलिए हर इंसान की कल्पना भिन्न होती है; क्योंकि हर व्यक्ति का मानसिक वातावरण अलग होता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मानसिक वातावरण एक अलग चीज है और बाह्य वातावरण अलग। ये दोनों वातावरण एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। बहरहाल कल्पना दोनों वातावरण की सम्मिलित उपज है।

एक बात और। कल्पना हमारे विचारों को शृंखलाबद्ध और सिलसिलेवार बना देती है और इसके साथ-साथ हमें किसी चीज पर केन्द्रीभूत होने की कला भी बताती है।

——:०:——

स्वप्न—अवचेतन का सत्य

विलियम जेम्स ने एक बार कहा था कि कुछ मनुष्य २४ घंटे में केवल १५ मिनट चिंतन करते हैं और शेष तो इस शक्ति का प्रयोग ही नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि जेम्स साहब का कथन बहुत हद तक सत्य है। मनुष्य का ध्यान उसकी बनी हुई आदतों और पारस्परिक क्रियाओं तक ही अधिकांशत: रह जाता है। चिंतन करना हमारी सब क्रियाओं में सबसे कठिन दिखाई देता है। सुस्ती शायद मनुष्य के रग-रग में छायी हुई है। अपनी शक्ति के उपयोग में हम शायद आवश्यकता से अधिक कंजूस हो जाते हैं। तर्क-शास्त्र कहता है कि मनुष्य विवेकशील पशु (rational animal) है; परन्तु यह कहना बेहतर होगा कि मनुष्य तर्काभास करनेवाला (rationalising) पशु है।

हमलोग हर एक घटना को अपने ही विचारों के साँचे में ढाल लेते हैं। हमारे सामने हर समय अभियोगिता करने की समस्या है। केवल परम्परा पर चलने से वर्त्तमान जीवन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती है। जीव-विद्या-विज्ञान (biology) हमको चेतावनी दे रहा है कि हर समय जो परिवर्त्तन हो रहा है उसके साथ-साथ हमको भी परिवर्त्तन लाना है। इसके लिए हमको जीव-आधार-प्रवृत्तियों और अन्य मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य के व्यवहार में बहुत प्रकार की प्रेरणाएँ काम करती हैं। इनमें से कुछ सीखी हुई (learnt) और कुछ जन्मजात (unlearnt) होती हैं। इनमें कुछ शारीरिक हो सकती हैं, जैसे—भूख-प्यास, आदि, कुछ सामाजिक हो सकती हैं, जैसे—जाति का विकास, अन्य लोगों से राग-द्वेष, सहानुभूति और कुछ प्रेरणाएँ वैयक्तिक भी हो सकती हैं। यह विभाजन पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता है; परन्तु हमारे वर्त्तमान प्रश्न के लिए कामचलाऊ माना जा सकता है। प्रश्न उठता है कि स्वप्न-अवस्था में कौन-से सिद्धान्त काम करते हैं ?

साधारणत: जब हमको संवेग होता है, तो हमारा मानसिक संतुलन कुछ समय के लिए बिगड़ जाता है और फिर दोबारा पहली अवस्था में आ जाता है। परन्तु वह अवस्था बिना एक प्रभाव डाल नहीं जाती है। भूकम्प, एक शिशु के प्रति उसकी स्वर्गीय माता का प्यार, एक अध्यापक का कक्षा में एक विद्यार्थी को अपमानित करना, यह सब अपना स्थायी प्रभाव डालते हैं। कहा जाता है कि महाभारत का कारण यही था कि द्रौपदी ने दुर्योधन को एक बार घर पर बुलाया था और उसकी अज्ञानता की खिल्ली उड़ायी थी। इसी तरह कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन सबसे प्रमाणित होता है कि वर्त्तमान की जाग्रत अवस्था ही पूर्ण मन नहीं है; बल्कि एक और महान क्षेत्र भी है, जिसको "अचेतन" कहा जा सकता है। समुद्र के स्थल पर बहते हुए एक बरफ के टुकड़े की तरह मन का $\frac{1}{10}$ भाग चेतन है और $\frac{1}{10}$ अचेतन रह जाता है। यह भाग गतिशून्य नहीं है; बल्कि हर समय सक्रिय रहता है। यह अचेतन-क्षेत्र अधिकतर हमारी नैतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं से सम्बन्धित रहता है। चोरी, अन्याय, दुख, चिड़चिड़ापन, घमंड, रति, वासना आदि सब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से "रोग" हैं। ये सब क्रियाएँ कुछ व्यक्तियों के नियन्त्रण के बाहर होती हैं। यहाँ हम टेबलेट और अन्य रसायनों से चिकित्सा नहीं कर सकते हैं; क्योंकि इनका आधार मनोवैज्ञानिक है। ऐसे मनुष्यों को हम असाधारण भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि साधारण और असाधारण मनुष्य में प्राकारिक अन्तर नहीं है; बल्कि अंश का अन्तर है। दोनों का मूल सिद्धान्त एक हैं। वृक्ष एक है, अन्तर केवल शाखाओं में है—क्योंकि दोनों व्यवहार-जीवन में एकत्रित पाये जाते हैं। इसी कारण हमारी रुचि साधारण व्यवहार और नैतिक शास्त्र में होती है।

मानसिक अवस्था का अध्ययन करने में वातावरण का बहुत मुख्य स्थान है। हमारा गत अनुभव एक ऐसी नींव है, जिस पर पूर्ण जीवन निर्भर करता है। फ्रायड का कहना है कि पहले ५ वर्षों में हमारे पूर्ण जीवन का नक्शा तैयार हो जाता है। वह कहता है कि मानसिक रोग सब अर्जित होते हैं। रोग की प्रवृत्ति वंशानुक्रमिक हो सकती है, जैसे—ओजस्वी स्वभाव। इन

सबके अच्छे या बुरे विकास पर हमारा वातावरण बहुत प्रभाव डालता है। जितना अधिक संघर्ष होगा, उतनी ही हमारी चेतना जाग्रत होगी। हमारी अवस्था का ज्ञान हमारी चेतना के विकास का कारण है। एक ही घर में एक बालक कवि, दूसरा डाक्टर, तीसरा कलाकार और चौथा पागल हो जाता है। एक पागल अक्सर एक सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाला (potential genius) भी हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि यह सब कैसे होता है और क्यों होता है। मनोविज्ञान हमको बताता है कि इन सबमें हमारे "अचेतन" मन का बहुत हाथ है। हर स्थान और समय में मनुष्य के लिए एक ऐसा "कोड" (code) होता है, जिसके नियमों का पालन करना उसके लिए आवश्यक है। परन्तु आजकल का जीवन बहुत जटिल हो गया है। मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं का समाज के मनगढ़न्त विचारों के साथ संघर्ष होता है, जिसका परिणाम दुःख, निराशा इत्यादि होते हैं। चेतन अवस्था में बहुत-सी इच्छाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जिनके कारण अचेतन मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। देखने में आया है कि बहुत लोग लिखने या बोलने में गलतियाँ (slips of tongue) करते हैं। कई लोग बार-बार हाथ या किसी और अंग को धोते हैं। कुछ सर्वदा अपने में व्यस्त रहते हैं और कुछ समझते हैं कि हम राजा हैं। वातावरण के संघर्ष के कारण इच्छाओं का निग्रह (repression) और प्रतिरोध (resistance) होता रहता है। ऐसे सब रोगों में हमारा "नैतिक कोड" (moral code) ढीला पड़ जाता है। स्वप्न-अवस्था में भी संसार की समीक्षा बहुत कम हो जाती है। वहाँ आदमी अपनी कल्पना के अनुसार स्वयं को देखकर झूठी सांत्वना दे सकता है। वहाँ एक पुरुष के लिए माँ, पत्नी, बहन, बेटी इत्यादि सब एक हो जाती हैं। विश्लेषण द्वारा रोगी लोगों ने इन चीजों को बताते हुए यह प्रमाणित किया है कि हमारे अचेतन ने जन्म से अब तक सब अनुभवों को सँभालकर रखा है। मनोविश्लेषण (psycho-analysis) में वैज्ञानिक एक वैरागी की तरह रोगी के दुःख-

सुख में स्वयं नहीं डूब जाता है; बल्कि निग्रह किये हुए विचारों को "आपरेशन" की तरह बाहर निकालता है।

मनोविज्ञान का कहना है कि स्वप्न-अवस्था एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें तृप्त इच्छाओं को पूर्ण होने का अवसर मिलता है। **"Dreams are wish-fulfilments of desires!"** जिस प्रकार हमारी भाषा शब्दों द्वारा हमारे विचारों को प्रकट करती है, उसी तरह स्वप्न विचारों को अचेतन द्वारा प्रकट करता है—स्वप्न एक प्रकार की प्राकृतिक और व्यक्तिगत मानसिक भाषा है। **Dream is natural and individual psychical language.**

फ्रायड के कथनानुसार स्वप्न में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं—एक तो अन्तर्गत (**latent**) और दूसरा प्रत्यक्ष (**manifest**)। जिन पदार्थों को हम स्वप्न में देखते हैं, वे सब जाग्रत अवस्था से ही प्राप्त होते हैं। इनका वास्तविक अर्थ कुछ वैज्ञानिक विधियों द्वारा प्राप्त होता है। इनका कहना है कि हमारे विचार कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने स्वप्न में आते हैं। प्रश्न उठता है कि यह परिवर्त्तन क्यों होता है और किन सिद्धान्तों के अनुसार होता है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि हमारे स्वप्न हमारी निद्रा के अभिभावक हैं। असन्तुष्ट वासनाएँ, जोकि अचेतन में धकेल दी गयी थीं, अगर उसी आकार में प्रकट हो जायँ, तो स्वप्न देखनेवाला शीघ्र ही उठ जाता है। जैसे, कुछ व्याकुलता के स्वप्नों (**anxitey-dreams**) में देखा गया है कि अगर राजा की मृत्यु हो, तो मनुष्य सोया रहता है। परन्तु अपने पिता की मृत्यु में जल्दी घबरा कर उठ जाता है। वस्तुओं के आकार के बदलने से हमारा शारीरिक तनाव अधिक सुविधा से हट जाता है। इसीलिए कुछ प्रतीकों (**symbols**) से काम लिया गया है। यह मनगढ़ंत नहीं है; बल्कि एक देश की संस्कृति जनता के अन्धविश्वास, कविता, आपस के मजाक और मानसिक रोगियों के इतिहास (**case-histories**) का विश्लेषण करके बनाये गये हैं। हम देखते हैं कि एक देश का डा उसके राजनैतिक, सांस्कृतिक और दूसरे मुख्य गुणों का संकेत करता है।

सफेद रंग पवित्रता का और लाल रंग लालसा का संकेत करता है। वैसे ही हर एक वस्तु का बहुत प्रकार से संकेत किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अभी तक इस कार्य में सफल नहीं हो सके हैं कि हर हालत में कौन-सा सांकेतिक अर्थ एक वस्तु के लिए सत्य हो सकता है; परन्तु स्वप्न देखनेवाले के भूत, वर्तमान और भविष्य का अनुभव लेकर हम कुछ अंदाज अवश्य ही लगा सकते हैं। फ्रायड के अनुसार स्वप्न की वस्तुएँ अधिकतर रति-अंगों का संकेत करती है। स्वप्न में असली अर्थ प्रायः अमुख्य भाग में पाया जाता है। एक वस्तु कई पदार्थों का संकेत कर सकती है। कई स्थानों पर स्पष्ट वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं। यह सब एक जटिल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

फिशर साहब अपने 'साधारण मनोविज्ञान' (पृष्ठ४१२) में एक स्वप्न का अर्थ इस प्रकार निकालते हैं। एक २० वर्ष की नवयुवती को एक ५० वर्ष के पुरुष से प्रेम हो गया। यह पुरुष उसके पिता की आयु का था। उस लड़की ने इस इच्छा का निग्रह किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसको हिस्टीरिया हो गया। उन्हीं दिनों एक नवयुवक ने उस लड़की में काफी रुचि दिखाई और उसके साथ विवाह भी करना चाहा; परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। एक दिन उसको यह स्वप्न आया—वह अपनी बहन के घर गयी, जहाँ दो आदमी बैठे थे। एक के हाथ में एक बालक था और दूसरा आदमी कुछ अस्पष्ट था। बहन ने कहा कि बालकवाला आदमी उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके साथ बाहर सैर करने को जाना चाहता है। वह लड़की ऊपर गयी और कुछ समय तक यह निश्चय न कर पायी कि किस रंग के कपड़े पहने। आखिर में उसने नीले और पीले रंग के कपड़े पहन लिए; परन्तु नीचे आने पर बहन ने कहा कि बालकवाला मनुष्य किसी के अन्तिम संस्कार में चला गया है। उसको दुःख हुआ कि वह भी उसके साथ जाती। दूसरा मनुष्य उसके विचारों से ओझल हो चुका था। अब नींद खुल जाती है।

यह स्वप्न उस युवती की मानसिक अवस्था का पूर्णतः संकेत करता है। वह बूढ़े से प्रेम करती है और इसीलिए बालकवाला मनुष्य उसके भविष्य के विवाहित जीवन का संकेत करता है। जो मनुष्य अस्पष्ट नजर आता है वह

नवयुवक है, जिससे उसको कोई सहानुभूति नहीं है। पीले रंग के कपड़े विवाह का संकेत करते हैं; परन्तु इसके साथ नीला रंग उसके प्रेमी के बुढ़ापे की ओर संकेत करता है। नीचे आकर जब वह बालकवाले मनुष्य को किसी के अन्तिम संस्कार में जाते हुए देखती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह नवयुवक के साथ भविष्य में सब सम्बन्ध तोड़ देना चाहती है। इस स्वप्न के पश्चात् यह देखा गया कि वह युवती उस बूढ़े आदमी के साथ बहुत दिनों तक रही।

इसी प्रकार स्वप्नों का अर्थ निकाला जाता है। इस विधि को पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता है; परन्तु खोज हो रही है। साधारण जीवन में वस्तुएँ एक सुव्यवस्थित रूप में हमारे सामने आती हैं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम स्वप्न की घटनाओं को भी इसी साँचे में ढालकर समझें। फ्रायड का सिद्धान्त कुछ बातों पर विश्वासजनक नहीं है। स्वप्न में अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के अतिरिक्त उत्सुकता, भय, समाज के प्रति विरोध इत्यादि पाया जाता है। बच्चों के स्वप्न में तो वस्तुओं के आकार बदलने की आवश्यकता ही नहीं। बड़ों में भी हर एक स्वप्न में इच्छा-पूर्त्ति नहीं होती है। यह सब बहुत कृत्रिम प्रतीत होता है। किसी प्रकार खींचकर हर घटना को लाया गया है। इसलिए यह सिद्धान्त के दृष्टिकोण से असंतोषजनक है। वास्तविक दृष्टिकोण से भी यह संदेह से खाली नहीं है। युद्ध के समय में हजारों फौजी केवल लड़ाई ही स्वप्न में देखते हैं। फ्रायड कहता है कि यहाँ भी इच्छा का अभाव नहीं है। यहाँ मनुष्य के गत अनुभव को दुहराया जाता है।

तार्किक दृष्टिकोण से भी देखा जाय, तो कुछ गड़बड़ी नजर आती है। एक वस्तु के गुण आवश्यक, आकस्मिक और सहचारी भी हो सकते हैं। हम दो विरुद्ध लक्षणों को फ्रायड की तरह एक जगह नहीं रख सकते हैं। फ्रायड भ्रम को भी एक सत्य अनुभव मान लेता है। इसके अनुसार स्वप्न में हमारी इच्छाओं को वास्तविक संतोष मिलता है। **"We say that dream-wish is converted into hallucination and as such com-**

mands belief in the reality of fulfilment." यह तो माना जा सकता है कि स्वप्न में कुछ तनाव या उत्तेजना शान्त हो जाती है; परन्तु फ्रायड की तरह एक कदम आगे बढ़कर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि स्वप्न में इच्छा प्रकट ही नहीं होती; बल्कि एक भावात्मक संतोष भी प्राप्त होता है। एक मनुष्य, जो कि पड़ोसी से प्रेम करता है, वह उसकी मोटर को स्वप्न में पाकर संतुष्ट नहीं हो सकता। इसी कारण स्वप्न में इच्छाओं की तृप्ति नहीं हो सकती।

जहाँ तक फ्रायड ने हमको एक नवीन विधि दी है और वे हमारे ज्ञान में वृद्धि ले आये हैं, उनकी सराहना की जा सकती है; परन्तु हम रोलैंड डालवायज (**Roland Dalviaz**) के साथ यह कहेंगे कि वह सिद्धान्त और विधि को स्पष्ट नहीं रख सके हैं और न ही अपने सिद्धान्त को निष्पक्ष होकर प्रमाणित कर सके हैं। स्वप्न के विश्लेषण में अगर उनकी विधि को छोड़कर कोई और विधि पर चला जाय, तो हमारा परिणाम कुछ और निकलेगा। वे स्वप्न के अंशों पर ध्यान देते हुए स्वप्न की एकता को भूल गये हैं। अचेतन केवल कुछ निशानियों द्वारा प्रकट ही नहीं होता है; बल्कि कुछ नवीनता का भय लाता है। अगर सब स्वप्न याद रहें, तो शायद हमलोग उनमें से अधिक को एक सुव्यवस्थित आकार में ला सकते हैं। स्वप्न में एक नहीं, बल्कि अनेक कारण और शक्तियाँ काम करती हैं। इसमें चेतन-अचेतन दोनों का स्थान पाया जाता है। कभी तो इच्छा की पूर्त्ति, कभी किसी जीव-सम्बन्धित माँग (**biological need**) की तृप्ति, कभी जाग्रत अवस्था का सीधा-सादा नक्शा और कभी भविष्य की झलक—ये सब कई शक्तियों के मिलने के स्थान हैं। शरीर की यह माँग है कि हम कुछ समय के लिए सोयें; परन्तु इस प्रवृत्ति के साथ कुछ विघ्नकारक वस्तुएँ (**disturbing factors**) भी हैं, जिनमें से इच्छा एक है। स्वप्न में इच्छा की पूर्त्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारी स्वप्न-अवस्था एक प्रकार का समझौता (**compromise**) है, जिसमें "चेतन" और "अचेतन" दोनों को आंशिक सफलता और असफलता प्राप्त होती है।

क्या ईश्वर है ?

विश्व में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसके सामने भगवान का प्रश्न न उठता हो। यह वह विचार है, जिस पर चिंतन किए विना दुनिया आगे बढ़ सकती है। साधारण जनता और दर्शन-शास्त्र में इस पर बहुत समय से वाद-विवाद होता आया है; परन्तु इस प्रश्न का अभी तक एक उत्तर नहीं दिया गया है। क्या हम भी नीत्शे (Nietzche) की तरह यह कहें कि "कल मुझे शैतान ने कहा था कि भगवान मर चुका है" या यह समझें कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में भगवान है।

एक धार्मिक मनुष्य के लिए तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। इस्लाम में भगवान को अन्तर्दृष्टि (intuition) के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। ईसाई धर्म में ईसामसीह को भगवान माना गया है। वह एक सत्ता के रूप में लिया गया है और प्रेम, न्याय उसके आवश्यक लक्षण हैं। ईसाई लोग इस गात को भी मानते हैं कि मनुष्य अपने-अपने कभी भगवान तक नहीं पहुँच सकता है। इसके लिए उसको भगवान की क्षमा (forgiveness) पर निर्भर होना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य आरम्भ से ही पापी (original sin वाला) है। हिन्दू-धर्म में भी शास्त्रों का सहारा लेकर भगवान को मान लिया गया है। यहाँ आत्मा को ही ईश्वर समझा गया है। इन सब में हम यह देखते हैं कि भगवान को पहले मान लिया गया है और फिर इसका अनुमोदन तर्क और अन्य प्रमाण इत्यादि से किया गया है। "भगवान है; क्योंकि उसको होना चाहिए"—यह उनकी युक्ति है। जेनोफेनिज (Xenophenes) ने भी कहा है कि "अगर एक गाय भगवान के बारे में सोचेगी तो, उसका भगवान एक बहुत बड़ी गाय होगी, जिसके बहुत बड़ी-बड़ी सींगें होंगी"। यह सब विचार उच्च कोटि के नहीं दिखाई देते हैं। हम कुछ युक्तियों को लेते हैं और फिर एक ऐसे विचार पर पहुँचेंगे, जिसमें वर्त्तमान वैज्ञानिक ज्ञान और साधारण जनता के विचारों को भी स्थान मिले।

यह कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु या घटना का कारण होता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो कि कार्य-कारण के सिद्धान्त से मिलायी न जा सके। कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं, जिनका कारण हम नहीं जानते; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका कारण ही नहीं है। विज्ञान के नियम इस बात के प्रमाण हैं कि हर वस्तु अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित है। अगर हम एक घास के टुकड़े को छूते हैं, तो उस समय भी पूर्ण विश्व के साथ संबंध में आते हैं। प्रकाश और ध्वनि की लहरें पूर्ण जगत् में चल रही हैं। हर एक वस्तु एक दूसरी वस्तु पर ध्यान डाल रही है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति वस्तुओं को एक ही केन्द्र पर रखे हुई है। पूर्ण जगत् एक कार्य है, जिसका कारण ईश्वर है। ईश्वर को सर्वप्रथम कारण (first cause) कहा जा सकता है। हम कार्य-कारण की परिपाटी (series) को अनिश्चित रूप से आगे नहीं बढ़ा सकते हैं। यह एक तार्किक माँग है कि हम किसी निश्चित स्थान पर ठहर जायँ।

यह भी कहा जा सकता है कि विश्व में एक अवस्था दिखाई देती है। सूर्य पूर्व से ही निकलता है। जंगल के पशुओं का रंग झाड़-पत्तों के रंग से मिलता-जुलता है। एक मृग के पाँव बहुत हलके होते हैं, ताकि वह शत्रु से स्वयं को बचा सके। मछलियों के फेफड़े इस तरह बनाए जाते हैं कि वे जल में रह सकें। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक अंग की बनावट ऐसी है कि उसको व्यावहारिक जीवन से सामंजस्य करने में सहायता मिलती है। पक्षियों का शरीर भी इसी कारण बहुत हलका होता है। जिस तरह एक घड़ी को देखकर उसके बनानेवाले तक पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार इस जगत् की मशीन को देखकर कहा जा सकता है कि ईश्वर इसका बनानेवाला है। ईश्वर को हम प्राकृतिक (natural) नहीं, बल्कि प्रयोजनात्मक (teleological) कारण मान सकते हैं।

यह युक्ति अधिक संतोषजनक नहीं दिखाई देती है। कार्य-कारण का सिद्धान्त भौतिक पदार्थों में लागू हो सकता है, न कि प्राकृतिक (जगत्) पदार्थ और अप्राकृतिक (ईश्वर) पदार्थ में। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि

हम कार्य-कारण की श्रेणी में एक वस्तु पर क्यों ठहर जायँ और ईश्वर को अनादि मान लें। जगत् में व्यवस्था और अव्यवस्था, बनाव और बर्बादी साथ-साथ चलते हैं। तूफान, आँधी, भूकम्प आदि में लाखों जीव नष्ट हो जाते हैं। जगत् में बहुत-से स्थान और वस्तुएँ ऐसी हैं, जो मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रचना या निर्माण के बजाय क्षय और विनाश इस जगत् के नियम हैं। दुनिया में सुखदायक वस्तुओं का अंश बहुत कम दिखाई देता है। हर क्षण जो लाखों प्राणी जन्म लेते हैं, उनमें से कुछ ही पूर्णतः जीवित रहते हैं। विश्वास के दृष्टिकोण से तो माना जा सकता है कि इस जगत् का कोई कारण है या यहाँ एक महान व्यवस्था तर्क पायी जाती है; परन्तु यहाँ तर्क का अनुमोदन असफल हो जाता है।

ईश्वर को अपने नैतिक जीवन के आधारपर भी सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ तर्क को नहीं लिया गया है। नैतिक जीवन में मनुष्य कर्म करता है——सत्यता और त्याग से काम लेता है; परन्तु फिर भी दुःख पाता है। जो मनुष्य पाप करते हैं, उनको सुख और आनन्द मिलता दिखाई देता है। अगर ऐसा सर्वदा होता रहे, तो जगत् नहीं चल सकता है। इसलिए हमारे सामने नैतिक जीवन में कुछ पूर्व मान्यताएँ हैं। पहला यह कि अपने कर्मों के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। उसके अन्दर इच्छा-शक्ति है और वह जो कुछ करता है, उसका परिणाम उसको न्यायानुसार मिलना चाहिए। यह भी मानना पड़ता है कि कोई ऐसी शक्ति है, जो कि हर एक वस्तु और जीव के हिसाब-किताब और लेन-देन को ध्यान में रखकर जगत् में न्याय, सत्यता, सुख-दुख इत्यादि सबका संतुलन करती है। यह एक नैतिक माँग है कि अधर्मी को दुःख मिलना चाहिए और सत्यता के साथ रहनेवाले को सुख मिलना चाहिए। ऐसा हम इस जीवन में नहीं पाते हैं इसलिए मृत्यु के पश्चात् एक और जीवन को भी मानना पड़ता है।

कहाँ तक ईश्वर को बनिये की तरह सब पदार्थों का हिसाब-किताब रखनेवाला माना जा सकता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

क्यों न हम न्याय-दर्शन के अनुसार केवल काल और दिक् पर चिंतन करें और इस तरह पूर्ण जगत् की सत्यता को समझने का प्रयत्न करें। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि सत्यता को सुख के साथ और अनैतिकता को दुःख के साथ क्यों इकट्ठा किया जाय। हमारी इच्छा ऐसी होती है परन्तु पूर्ण जगत् के साथ यह सिद्धान्त लागू होता है कि नहीं यह भी हमको देखना है। एक बड़ा दोष इस युक्ति के साथ यह भी है कि इसमें भगवान् के अतिरिक्त हमको आत्मा के अमरत्व को भी मान लेना पड़ता है।

कुछ तक-शास्त्रियों ने कहा है कि हमारे विचारों में से एक विचार ऐसा है जिसको मुख्य और विचित्र कहा जा सकता है, और यह भगवान का विचार है। इस विचित्रता को बहुत प्रकार से बताया गया है, कुछ के अनुसार यह विचार असत्य नहीं हो सकता, यह भ्रम नहीं हो सकता; इसकी तह में कोई वास्तविक वस्तु है। कुछ दूसरे चिंताशील व्यक्ति ऐसे हैं जिनका यह विश्वास है कि हर एक मनुष्य में एक प्रकार की अपूर्णता की चेतना पायी जाती है। ऐसी चेतना तभी जाग्रत हो सकती है जब कि कोई वस्तु पूर्ण हो। इस पूर्ण वस्तु को ईश्वर कहा गया है। यह सबसे अधिक भावात्मक विचार है और एक ऐसा मानदण्ड है जिसको देखकर हम अपनी अपूर्णता के बारे में निर्णय बनाते हैं।

वह युक्ति भी दोषरहित नहीं है। 'पूर्णता' (**perfection**) शब्द की गुणवाचकता स्पष्ट नहीं है। हर एक व्यक्ति इसको पृथक्-पृथक् तरीके से समझता है। इसके वास्तविक अर्थ के अभाव में इसको मानदण्ड बना लेना सन्देह से खाली नहीं है। यह भी देखते हैं कि अस्तित्व तो ऐसा लक्षण नहीं है जो कि विचार में रहे। इसको अपने अनुभव में प्रमाणित कर सकते हैं। पूर्णता के विचार से हम ईश्वर के अस्तित्व के विचार पर पहुच सकते हैं न कि ईश्वर पर। यह सोचना आसान है कि हमारी जेब में दस रुपये हैं परन्तु वास्तविक रूप से ये १० रुपये नहीं भी हो सकते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न के साथ और भी प्रश्न उठाये जा सकते हैं; जैसे, उसका सम्बन्ध इस जगत् के साथ क्या है। क्या वह इसके बाहर है या

अन्तर्गत है? अगर सर्वशक्तिमान है तो यह दुःख का चक्रवर्ती नाटक कैसा? परन्तु ये सब प्रश्न इस समय हमारे क्षेत्र के बाहर हैं।

ऊपर दी हुई युक्तियों पर चिंतन करने से यह दिखाई देता है कि वे सब दोष से परिपूर्ण हैं। चिंताशील व्यक्तियों ने अधिकतर ईश्वर के विचार के विकास पर ध्यान दिया है परन्तु यहाँ पर भी ईश्वर को मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण से देखा गया है। यहाँ हम विज्ञान और अन्य प्राकृतिक घटनाओं से शिक्षा ले सकते हैं। प्रकृति के लिए कोई वस्तु अच्छी-बुरी नहीं दिखाई देती है। जिस मल-मूत्र को मनुष्य घृणा से देखता है उसका डाक्टर लोग बड़े ध्यान से विश्लेषण करते हैं। हमको भी जगत् में हर वस्तु को एक ही प्रकार से देखना चाहिए। मन का स्थान अन्य दूसरे पदार्थों से अधिक ऊँचा नहीं। यह भी एक पत्थर और नदी की तरह एक भौतिक पदार्थ है। चेतना का विकास संघर्ष के कारण होता है। पग-पग पर हमको परिवर्तन से टक्कर लेना होता है। एक बालक का जगत् उसके खिलौने, माता-पिता, नर्स आदि होते हैं। कोई समय था जब कि हमारे शास्त्र "अहं ब्रह्म" का प्रचार करते थे परन्तु एक भूखे के लिए एक काल्पनिक आत्मा से अधिक वास्तविक वस्तु "अन्न" है। वह तो "अन्नं ब्रह्म" का मन्त्र पढ़ता है। समय बदल गया है। प्राचीन समय में मनुष्य हवा में पक्षियों की तरह उड़ा नहीं करते थे। हमारी आर्थिक माँगें बहुत सरल थीं। जीवन में शान्ति थी परन्तु आजकल संघर्ष है। अगर कोई सर्वशक्तिमान वस्तु है तो पहले तो यह जीव नहीं हो सकती क्योंकि एक जीवमें सर्वदा अपूर्णता पायी जाती है। अगर ऐसी शक्ति है भी तो शायद देश के बँटवारे और बंगाल के अकाल और अन्य दुखदायक घटनाओं के समय ऐसी शक्ति गहरी निद्रा की गोद में सो रही थी। हम सोचते हैं कि प्रकृति ही ईश्वर है। टेबुल, कुर्सी, समाज, परिवार—हर वस्तु भगवान् है।

यह एक अद्भुत शक्ति नहीं है बल्कि साक्षात् हमारे सामने है। अगर हम एक स्वच्छ विधि से अन्य पदार्थों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं तो स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की प्राप्ति यहीं मिल सकती है। गाँधीजी ने

कहा है कि सत्य ही भगवान् है। विवेकानन्दजी कहते हैं कि हम फुटवाल खेलकर, निर्धनों की सेवा करके, एक मनुष्य का सत्यतापूर्वक चिलम भर कर भगवान को समझ सकते हैं। मन्दिर-मस्जिद में केवल जाने से भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

यह हम मानते हैं कि प्रकृति की शक्तियाँ बहुत विशाल हैं। परन्तु निष्क्रिय होकर बैठ जाना मानवता नहीं है। हमारी भावनाएँ और संवेग हमको एक सातवें आसमान पर बैठे हुए ईश्वर पर ले जा सकते हैं, परन्तु ये मनगढ़ंत कल्पनाएँ हैं। ऐसे विचारों का एक वड़ा लाभ यह है कि यह हमारे लिए एक नैतिक लंगर (anchor of morality) की स्थापना कर देते हैं। वह कहना अधिक साहसिक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि प्रकृति ही ईश्वर है। बुद्धिमान लोग समुद्र और पहाड़ों में ईश्वर को देखते हैं। इस दृष्टिकोण के अनसार नास्तिक वह नहीं है जो मन्दिर-मस्जिद में नहीं जाता है वल्कि ऐसा मनष्य है जिसको अपने पर विश्वास नहीं है और जिसके हृदय में रोगी को देख कर सेवा-भाव जाग्रत नहीं होता है।

प्रचार

प्रचार एक आम जानकारी की चीज बन गई है और उसी तरह इसका इस्तेमाल (प्रयोग)। हम अपने दैनिक जीवन में, राजनीति, व्यापार, नैतिक मूल्यों तथा इनकलाबों को बुनियाद और परवरिश के लिये प्रचार का उपयोग करते हैं। आधुनिक युग की यह खासियत है कि वह रोज-रोज प्रचार के नये और प्रभावोत्पादक टेकनिकों (तरीकों) के आविष्कार में प्रयत्नशील है।

प्रचार विचारपूर्वक योजित प्रतीकों का एक सिलसिलेवार इस्तेमाल है। यह इस्तेमाल खासकर अनुमोदन और सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक टेकनीक के जरिये सम्भव है। इसके मकसद (उद्देश्य) इस तरह दो हैं—मत, आदर्श और मूल्य में तब्दीलियाँ (परिवर्त्तन) लाना और उन्हें वश में रखना और फिर पूर्व निर्णय किये गये सिद्धान्तों के सहारे प्रत्यक्ष क्रियाओं में परिवर्त्तन लाना। प्रचार प्रत्यक्ष हो सकता है। तब इसका मकसद भी प्रत्यक्ष होंगे या अपने

लक्ष्य को घुमाकर रख सकता है। प्रचार एक सामाजिक, सांस्कृतिक बनावट में ही सम्भव है, क्योंकि इसके बिना न तो इसको मनोवैज्ञानिक और न सांस्कृतिक शक्लों को ही पहचाना जा सकता है। इसका इस्तेमाल एक खास समूह के द्वारा दूसरे समूह के खिलाफ किया जा सकता है वा विशाल राज-नैतिक और जनता के सम्बन्ध में भी हम इसका उपयोग करते हैं। फिर एक घरेलू राजनैतिक-आर्थिक योजना के फैलाव के लिए शासक-वर्ग के द्वारा भी इसका इस्तेमाल होता है।

प्रचार से सम्बन्धित कुछ ऐसे अज्ञात इस्तेमाल हैं जिनमें दृष्टिकोण और मूल्य आते हैं। उदाहरण के लिए इतिहास, भूगोल और साहित्य के जरिये राष्ट्रीय मूल्यों की बुनियादी शिक्षा आदि हैं, सच पूछिए तो, इसे हम प्रचार नहीं कह सकते। जब इसका प्रवेश एक निश्चित कायदे के आधार पर होता है, तभी प्रचार की हस्ती जाहिर होती है। अतीत के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वस्तुत:, विचारपूर्वक निश्चित किये गए आदर्शों, विचारों और मूल्यों में तथा अप्रतिपादित पौराणिक शिक्षाओं में बहुत कम अन्तर दिखाई पड़ता है। इसलिए प्रचार शब्द का इस्तेमाल पहले अर्थ में करना श्रेयस्कर होगा।

प्रचार की सबसे मुख्य मनोवैज्ञानिक विशेषता है इसकी स्वीकारात्मकता। प्रचारक लोगों का मत हासिल करने के लिए कई तईह के 'टेकनिक' का इस्तेमाल करते हैं। प्रचार के विश्लेषण के लिए इन बुनियादी बातों का होना नितान्त आवश्यक है—(१) मकसद (लक्ष्य), मकसद का सम्बन्ध हमेशा आम जनता के साथ रहता है जिसमें हम अपने सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रचार करना चाहते हैं। (२) प्रतीक, (३) मनोवैज्ञानिक 'टेकनिकों' का इस्तेमाल और (४) प्रचार की ग्राह्यता तथा विचारों, दृष्टिकोण, मूल्यों और खास कर क्रियाओं को मोड़ने में इसका असर।

छिपे हुए प्रचार के मकसद कभी-कभी ही मालूम किये जा सकते हैं किन्तु प्रत्यक्ष प्रचार के मकसद पहले से ही प्रतिपादित किए रहते हैं इसलिए यहाँ प्रतीकों को मापने और उनके लक्ष्य ढढ़ने में ज्यादा वक्त नहीं लगाना पड़ता। 'इन्टरव्यू', प्रश्न-सूचियों और वोट के द्वारा हम विचारों और दृष्टिकोण

की तब्दीलियों को माप सकते हैं। और आखिर में, प्रत्यक्ष क्रियाओं में जो परिवर्त्तन होते हैं उन्हें मालूम कर सकते हैं तथा उन्हें उम्मीदवारों के चुनाव, राजनैतिक इंकलाब, आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन और व्यक्तिगत आदतों में सुधार, आदि के रूप में भी माप सकते हैं।

जैसा हमने पहले कहा है, प्रचार सबसे पहले नये आदर्शों और मूल्यों को अपने मुताबिक मोड़ता और बनाता है और इसके लिए व्यक्तियों का पूर्वनिर्मित ज्ञान और उनकी प्रेरक शक्तियों को ध्यान में रखना जरूरी हो जाता है। सबसे पहला कदम होगा किसी चीज की इच्छा को जगाना। सबसे मुख्य और बुनियादी आकर्षण के केन्द्र ये हैं--आर्थिक हिफाजत, समूह और व्यक्तिगत विचारों की रक्षा, प्रेम का संतोष और पारिवारिक तथा दूसरे व्यक्तियों की मंगलकामना। कभी-कभी नये अनुभवों की चाह भी पैदा की जाती है। किन्तु सभी प्रचार के लिए ये बातें लागू नहीं भी हो सकती हैं। हाँ, इतना हम जरूर कह सकते हैं कि मत प्राप्त करने के लिए सबसे प्रभावोत्पादक केन्द्रविन्दु वही है जो एक या ज्यादा से ज्यादा ऐसे जरूरी प्रेरकों को छूता है। इंसान की बुनियादी इच्छाएँ भावों की सतह पर ही आधारित होती है इसलिए अनुभवी प्रचारक ज्यादातर प्रेम, क्रोध, डर, उम्मीद वा इसी किस्म की भावनाओं का व्यवहार करते हैं।

मनुष्य की इच्छाएँ जब सफल नहीं हो पातीं तो वे और भी तीव्र हो जाती हैं। प्रचारक इसी स्थिति से फायदा उठाता है। जब जनता के खाने और रहने, बचाव और सम्मान की इच्छाओं को कुचल दिया जाता है, तब प्रचार के उन्हीं टूटे तारों को सहेज कर एक यन्त्र का निर्माण करता है और अगर उसकी ये इच्छाएँ कुचल नहीं दी गई हैं तब ऐसी हालत में वह, साधनों के जरिये यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वे इच्छाएँ असलियत में दफना दी गई हैं। इस तरह, किसी इच्छा की हस्ती से परिचित कराने के बाद, प्रचारक आगे बढ़ता है और इच्छाओं को पूरी करने के लिए प्रोग्राम देता है।

इस तरह प्रचारक की हस्ती प्रतिद्वन्द्विता और द्वन्द्व में ही कायम है और जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इसका खास उद्देश्य इच्छाओं और क्रियाओं में

परिवर्त्तन लाना है। इसका प्रतीक साधारणतः लक्ष्य और स्थिति के मुताबिक प्रचार के साधनों का प्रयोग होता है किन्तु कुछ निश्चित साधारण नियम हैं जो हर क़िस्म के प्रचार में लागू किये जा सकते हैं। पहली बात तो यह नजर में रखनी है कि यह उसी खास समूह के बुनियादी उद्देश्यों और इच्छाओं से सम्बन्ध रखता है जिस पर हम इसे लागू करना चाहते हैं। लक्ष्य है स्वीकृति की प्राप्ति, विचारों की नहीं। दूसरी बात है प्रतीकों के द्वारा भावनाओं का उभाड़। ये प्रतीक प्रतिज्ञा और संतोष पर निर्भर हों। तीसरी बात है, जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना है, उन्हें स्पष्ट रूप से आम लोगों के सामने रखना। इसके साथ-साथ उनके समाधान का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। कुछ सरल और बुनियादी बातों को सिलसिलेवार और आग्रहपूर्ण पुनरावृत्ति भी जरूरी है। एक बार जब आधारभूत इच्छाएँ घर कर लेती हैं, तब सीधी और खुली बातों का इस्तेमाल किया जाता है और जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है वे हैं अतिशयोक्ति, अभियोग, सफेद झूठ आदि।

प्रचार का असर आम जानकारी की चीज है। प्रचार लोगों पर ज्यादा-से-ज्यादा असर डाल सके, इसके लिए प्रचारक को भावों को प्रभावित करना होगा। इसके साथ-साथ उसे स्पष्टवादी बनना जरूरी है। सबसे ज्यादा महत्त्व की चीज है कि प्रचार व्यक्तियों के पूर्व-निर्मित सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों को स्पर्श करता हो और इसकी दिशा सिर्फ एक ओर प्रवृत्ति हो। बहुत से प्रचारक एक दृष्टिकोण के रखने के बाद फिर एक विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। इस तरह जनता के ऊदर बुद्धि के सहारे निर्णय का भार सौंप देते हैं। किन्तु इस तरह का प्रचार ज्यादा प्रभावोत्पादक नहीं होता। इसमें बेशक कुछ अपवाद हो सकते हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है खास कर प्रचार के लेखकों के लिए, जो कहते हैं कि जनतंत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रचार पर किसी किस्म का प्रतिरोध नहीं लगाया जायगा और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों की खींच-तान से एक स्थायी और उपयुक्त दृष्टिकोण की रचना होगी। किन्तु यद्यपि यह दृष्टिकोण विज्ञापन के क्षेत्र में, सामाजिक क्रान्तियों और संस्थाओं तथा

गूढ़ राजनीतिक-आर्थिक मामला में मदद पहुँचा सकता है, इसमें कई भ्रान्तियाँ हैं।

प्रचार के एक विस्तृत विश्लेषण के बाद हम एक खास विन्दु पर पहुँचते हैं—वह है जनतंत्रीय व्यवस्था में प्रचार का असर। इसे समझने के लिए खास कर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रचारों की जानकारी के लिए मत की रचना कैसे होती है, इसकी क्रिया क्या है, इसे समझना जरूरी है। इसकी चार आधारभूत स्थितियाँ हैं—किसी विषय का जन्म, प्रारम्भिक वादविवाद, संस्कृति की बनावट में उस विषय की परिभाषा की अनवरत कोशिश; समस्या के ऊपर फिर वाद-विवाद, मतों की भिन्नता और अन्त में वोट आदि के जरिये एक खास मत का अभ्युदय। व्यवस्थित एक-मत के आधार पर नेताओं और कानून का चुनाव होता है और जनता के रुख को प्रत्यक्ष शक्लों को आगे बढ़ाया जाता है। उसके लिए सिर्फ समाचार छाँटकर रखे नहीं जाते, उन्हें मत के अनुकूल बनाने की कोशिश भी की जाती और मत-रचना की दूसरी और तीसरी सतह पर ही खासकर, प्रचारक अपना काम शुरू करता है। इन्हीं स्थलों पर, समस्या (issue) के बल का बौद्धिक नाप-तौल भी आरम्भ हो जाता है। आज की जो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं, उनका आधार अन्तर्राष्ट्रीय है और हमलोगों को रिपोर्टों पर निर्भर करना पड़ता है जो कुछ ऐसे स्रोतों से आते हैं जिन्हें हम नहीं जानते। ऐसी हालत में, किसी समस्या को रखने और उसका पूरा बयान देने के लिए कुशलता और ईमानदारी बहुत आवश्यक है। फिर भी इन मामलों में आम जनता को प्रेस, रेडियो आदि की मेहरवानी पर ही निर्भर करना पड़ता है। यह मान लेने पर कि वह समस्या हमारी भावात्मक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इसे ग्रहण करने के लिए हर नुक्ते पर जो बहस की जाती है वह इंसान की बौद्धिक खूबियों को प्रभावित करने के उद्देश्य से की जाती है। इस तरह विवेक (rationality) फैलने लगता है, बहुत ही गड़बड़ी और परेशानी नजर आती है और इसका नतीजा यह होता है कि यह इन्सान की भावात्मक और विवेक-हीन प्रेरणाओं को तीव्रतर बना देता है। ये प्रेरणाएँ

अन्तर-विरोधी अपीलों की गुत्थियों को काट कर एक स्थायी मत की बुनियाद कायम करने में सफल होती हैं ये प्रतिस्पर्द्धात्मक इच्छाएँ और उन्हें हासिल करने के साधन इतना तनाव पैदा करते हैं कि आखिर में इंसान 'क्यों' और 'क्या' यानी विवेक का सवाल भूल कर अपनी समस्याओं की एक सीधे-सादे हल पर, जो उसे मिलता है, यकीन करने लगता है। जैसा श्री लासवेल ने कहा है, आज की जनतंत्रीय व्यवस्था ये मान रखती है--बातचीत के जरिये हुकूमत में विश्वास, मुक्त वादविवाद में आस्था, लोगों के मत में विश्वास तथा उन मुहावरों में विश्वास जो आम मकसदों पर बातचीत करते हों। विस्तृत आधुनिक जनतंत्रीय व्यवस्थाओं में प्रचार के इस्तेमाल ने उन प्रतीकों और इस्तेमालों को गलत करार दिया है जो ऐतिहासिक तौर पर जनतंत्रीय व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं।

इस किस्म की व्यवस्था की एक और खासियत यह है कि प्रजातन्त्र हुकूमत में भावनाओं के आधार को खत्म कर दिया गया है। फलस्वरूप प्रजातंत्रीय क्रान्तियों जैसे युद्ध आदि के समय सारी जमात खुले संसर्ग में आती हैं। साथ ही, प्रचार के खिलाफ बुलन्द किये गये नारे गड़बड़ी फैलाते हैं जो जनतंत्रीय व्यवस्था की बुनियाद के लिए बड़े ही भयानक हैं। इसकी मुस्तकिल हस्ती के लिए हमको नैतिक कोड, न्याय-कानून, सत्ता का हक और उनके इस्तेमाल के रूप में अपने अधिकार में रखना होगा, चाहे ये शक्तियाँ प्रतीकों के जरिये या प्रत्यक्ष ताकतों के लिए लागू की जायँ। कहने में यह जितना आसान मालूम पड़ता है, दरअसल उतना आसान नहीं है। किन्तु किसी भी प्रचार की जाँच-पड़ताल में हमेशा तीन सवाल पैदा होते हैं—प्रचारक 'कौन' है? वह 'क्यों' प्रचार करना चाहता है? क्या वह जनतंत्रीय व्यवस्था के कानूनों को मद्देनजर रखकर चल रहा है या सत्ताग्रहण करने के बाद वह इन कानूनों को खत्म करने की योजना बना चुका है?

ऊपर लिखे गये साधनों के अतिरिक्त कुछ और प्रमुख साधन हैं। दरअसल वे ही बुनियादी साधन हैं, इन्हें हम 'कंक्रीट' साधन भी कह सकते हैं। ये

हैं—प्रस, रेडियो, प्लट-फार्म तथा आँकड़े। प्रेस जिसके अन्तर्गत अखबार, पत्र, किताबें आदि को रखते हैं, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सुखी जीवन की कल्पना

संस्कृत के किसी पंडित ने कहा है—हमारी कामनाएँ कभी बूढ़ी नहीं होतीं, हमलोग ही जीर्ण हो जाते हैं। प्रकृति ने मानव के मन में ऐसी प्यास जगा रखी है कि वह कभी मिटती नहीं, संतोष नहीं मिलता, कामनाएँ चिर नवीन बनी रहती हैं। अनादिकाल से हम जीवन की परिस्थितियों से संघर्ष करने के इतने आदी हो गये हैं कि किसी भी दशा में हमें वर्त्तमान परिस्थिति से पूर्ण संतोष नहीं मिलता। यह असंतोष सतत जीवन-संघर्ष की भूमिका है और है मानव-सभ्यता की प्रगति का मूल रहस्य भी।

जब हम वर्त्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट होकर नयी व्यवस्था बनाने की चेष्टा करते हैं उस समय हमारे आगे भविष्य का एक नक्शा होता है, जिसमें हमारी सुखी जीवन की कल्पना वर्त्तमान व्यवस्था से बिलकुल अलहदा हुआ करती है और यदि उसकी निकट-भविष्य में पूरा होने की सम्भावना न रही, तो सारी योजनाएँ, सारे मनसूबे बेकार हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उस सिलसिले की असफलताएँ अनेक गुत्थियाँ पैदा कर देती हैं। इसलिए जब आप अपने लिए सुखी जीवन की कल्पना करते हैं, आपका ध्यान उन तमाम साधनों का उपयोग करने की ओर रहता है, जो आपको उपलब्ध हैं। हाँ, उनके उपयोग के तरीके में परिवर्त्तन करने और अनुपलब्ध साधनों को प्राप्त करने का इरादा भी आपके मन में अवश्य रहता है।

सुखी जीवन को हमारी जो भी कल्पना होती है, वह दरअसल हमारी अपूर्ण आकांक्षाओं का आधार लिए रहती है और आप ही क्या, कौन एसा व्यक्ति है जिसकी सभो आकांक्षाएँ पूर्ण हैं। ऐसी दशा में क्या यह बुद्धिमानी की बात है कि हम सब के सब अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए डेढ़ चावल की खिचड़ी पकावें? वैसा करके आप अपने जीवन की कल्पना को ठोस आधार दे सकेंगे?

सुखी जीवन की आपकी कल्पना वास्तव में व्यापक सुखी समाज का नक्शा है, जिसमें एक सामान्य स्तर के बाद आपकी तरह अन्य व्यक्तियों को भी अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन की मनोनुकूल योजना बनाने का हक रहेगा, पर्याप्त अवसर रहेगा, अन्यथा असमान अधिकार और असमान अवसर के कारण आपका जीवन कभी सुखमय नहीं हो सकेगा। आपका जीवन तभी सुखी रहेगा जबकि उसका व्यापक सामाजिक हितों से विरोध न हो। सुखी समाज वही है, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण और सहयोग का है, संघर्ष हो तो केवल विपरीत प्राकृतिक कारणों से।

इस बुनियादी शर्त्त को कबूल कर लेने के बाद जरा सोचिए, आपका जीवन किस प्रकार सुखमय हो सकेगा? इसके लिए आप अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को खतिया लीजिए और यह भी याद रखिये कि आपकी आकांक्षाएँ ऐसी ही हों जो कि आपकी न्यायपूर्ण आर्थिक आय के अन्दर पूरी की जा सकें।

फिर विचारिये, क्या आप गाँव का जीवन पसन्द करते हैं या शहर का? जहाँ तक आज के जीवन का सवाल है, क्या शहर, क्या गाँव सर्वत्र विरूपता फैली हुई है। पूरे जीवन में सदियों की गंदगी व्याप्त है। किसी जमाने में बहस चला करती थी कि गाँव का जीवन सुखमय है, या शहर का। आज इस सवाल का रूप ही बदला हुआ है। आज तो दोनों जगह जिन्दगी में हद दर्जे की सफाई चाहिए। पूरे कायाकल्प की आवश्यकता है।

आज हमारे गाँवों में क्या बचा है? चारों ओर गंदगी है। न शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है, न स्वास्थ्य-रक्षा के साधन सुलभ हैं। यातायात के साधनों की भी नितान्त कमी है। सड़कें किसी काम की नहीं। जो हैं भी, वे टूटी-फूटी धूल और गंदगी से भरी हुई। फिर सभ्यता और नयी हवा आवे तो कहाँ से? अखबार रोज पहुच नहीं पाते। रेडियो भी रखना आसान नहीं है।

किसी जमाने में ग्रामीणों की सरलता और निश्छलता कवित्वपूर्ण चर्चा का विषय हुआ करती थी। पर आज एक भी गाँव मुश्किल से मिलेगा, जहाँ

घर-घर में फूट न हो, चार-पाँच दल न बने हों और वे दल झूठ, फरेब से लेकर सर फोड़ौवल तक किसी भी हरकत से बाज आते हों। इतना ही नहीं, वहाँ जानमाल की सुरक्षा का प्रश्न भी अहम हो गया है। छोटी-बड़ी डकैतियों की जो खबरें आज अखबारों में छपा करती है, उनमें से अधिकांश गाँवों में होती हैं।

गाँवों के जीवन का स्तर आज बिलकुल नीचा है। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था घाटे पर चला करती हैं। खेतों की उपज घट गयी है और खेतों की पैदावार की कीमत हमेशा शहरी औद्योगिक पैदावार से कई गुना कम हुआ करती है। नतीजा है कि गाँव शहर को जितने मूल्य का सामान देता है, उससे कहीं अधिक मूल्य के सामान खरीदता है। इस प्रकार गाँव का जीवन शहर के निरन्तर शोषण से ऐसा त्रस्त हो रहा है कि प्रकृति का सौन्दर्य अनाकर्षक और निरर्थक हो गया है।

शहरों की भी अपनी समस्याएँ हैं। आधुनिक विज्ञान के बल पर वहाँ अनेक साधन उपलब्ध हो सकते हैं, पर वास्तव में उनकी सुलभता मुट्ठी भर लोगों के लिए ही है। अधिकांश लोग निम्न मध्यमवर्ग या निम्न-उच्च-मध्यम वर्ग के हैं। उनकी आय उन्हें अपनी कल्पना का सुखमय जीवन देने के लिए सर्वथा अपर्याप्त होती है।

शहरी जीवन का ढांचा ही ऐसा कुछ है कि वहाँ मानवता और ममता के लिए कम से कम गुंजाइश है। वहाँ व्यक्ति व्यक्ति न रहकर समूह की इकाई मात्र होता है। उसका व्यक्तित्व अनादर और अस्वीकृति के वातावरण में उपेक्षित होकर विनष्ट या विकृत हो जाता है।

शहरी जीवन का एक मौलिक अभिशाप है पारिवारिक जीवन का विघटन। परिवार छोटे पैमाने पर पूरे समाज का प्रतीक होता है। वहाँ के ममतार्द्र और सहयोगपूर्ण जीवन से व्यक्ति को सामाजिक हितों की रक्षा की प्रेरणा मिल सकती है। अतः यदि यह इकाई विघटित हो जाती है, तो इसका अर्थ है कि पूरा सामाजिक जीवन विषम होनेवाला है।

शहरी जीवन में गति ही गति है। ठहराव कहीं नहीं है, जहाँ पर रुक कर इंसान अपनी अनुभूतियों को संग्रथित कर सके। प्रकृति इतनी दूर रहती है कि कुदरती ताजगी भूल से भी पास नहीं फटकती।

इन सब कारणों से सुखी जीवन की आपकी कल्पना आज न गाँवों में मूर्त्त हो सकती है और न शहरों में ही। दोनों जगहों पर जीवन की आर्थिक बनियाद कमजोर है। अगर आर्थिक संतुलन को सही-सही दुरुस्त कर दिया जाय तो अपने देश में शहर और गाँव के जीवन-स्तर का भेद मिट जायगा। अर्थात् आधुनिक जीवन के साधन गाँवों में भी उपलब्ध होने लगेंगे और शहरों में व्यक्ति का सम्बन्ध ममतापूर्ण और मानवसुलभ हो जायगा।

इस बुनियादी शर्त्तों के पूरा हो जाने के बाद आप अवश्य चाहेंगे कि आपको भोजन, वस्त्र और मकान मन-माफिक मिले। मकान ऐसा हो, जिसमें धूप और हवा का प्रवेश हो, ऊँचाई पर हो, फर्श पर सिल न हो, कमरे बड़े-बड़े हों, और सफाई की समुचित व्यवस्था हो। भोजन रुचिकर और पौष्टिक मिले, कपड़े आपके स्वच्छ, मनलायक सिले, धुले रहें। पानी का उचित प्रबन्ध हो, क्योंकि इस गर्म मुल्क में पानी की कमी हर दर्जे की तकलीफ देती है। आप अपने अहाते में फूलों की क्यारियाँ भी पसन्द करेंगे।

सुखीजीवन की कल्पना में ईमानदारी की मिहनत के लिए अवश्य जगह होनी चाहिए, अन्यथा आपके इरादे गलत रास्ते पर चले जायँगे। सच्ची मिहनत आपको समाज का उपयोगी सदस्य बनावेगी और आपको अंततः आध्यात्मिक सन्तोष मिलेगा।

मिहनत के साथ-साथ आराम का समय और मनोरंजन के साधन भी आप चाहेंगे ही। मनोरंजन को व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल होना है, पर गप्पें लगाना सबसे बढ़ियाँ मनोरंजन है, सुलभ भी है। अगर आप संजीदे हैं, तो आपका मनोरंजन दूसरी तरह से होगा।

आप यह भी चाहेंगे कि आपका पारिवारिक जीवन आदर्श हो, हर सदस्य अपना उत्तरदायित्व समझे और उसका निर्वाह करे। आज परिवार का

अर्थ है कि एक व्यक्ति कमाये और १० व्यक्ति उसका उपभोग करें, ऐसी व्यवस्था में सुखी जीवन की कल्पना मृगमरीचिका ही होगी।

परिवार आपका औसत हो। उसमें दो एक बच्चे अवश्य हों, अन्यथा जीवन अन्त में एकरस हो जायगा। पर बच्चों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध अवश्य रहे।

पर ये मोटी बातें हैं और कल्पना की उड़ान बड़ी बारीक और ऊँची होती हैं। इसलिए जीवन-योजना की इस रूपरेखा में आप निश्चय ही समय-समय पर रुचि-परिवर्त्तन के अनुसार तरह-तरह के रंग भरते जायेंगे।

जीवन में हास्य-विनोद का स्थान

It would be better for us to be once more a small outlandish people and yet be renowned for this spirit than to bestride the earth and lose out lingering gloom, suspicion and hate.

—*F. B. Priestley.*

हसी अथवा विनोद जीवन का एक महान वरदान है। क्या आपने अनुभव किया है कि आप उदास हैं, कोई चीज आपको अच्छी नहीं लगती, सब कुछ सूना-सूना लगता है, आप बीमार-सा अनुभव करते हैं और इसी समय आपका विनोदी मित्र आता है और विनोद की एक ही दो फुलझड़ियों से आपकी सारी उदासी मिट जाती है, आप स्वस्थ हो उठते हैं, हर चीज सुहानी लगने लगती है, हर काम में एक नये उत्साह का अनुभव होने लगता है। इटली के हास्यरसावतार ग्रीवाल्डी का नाम कौन नहीं जानता। उसकी पुस्तकें उदास से उदास व्यक्ति को भी हँसा देती हैं। मानसिक चिंताओंवाले व्यक्ति के लिए तो उसकी रचनाएँ रामबाण औषधि हैं। सो एक बार ग्रीवाल्डी की ही तबियत कुछ खराब हो गई। परिवर्तन के लिए वह देहात चला गया। पर वहाँ भी उसकी तबियत अच्छी नहीं हुई। तब वह एक डाक्टर के पास पहुँचा। डाक्टर ने काफी परीक्षा के बाद कहा कि महाशय, आपको कोई रोग

नहीं। आपको केवल दुश्चिंता है। अकारण चिंता का बोझ मन पर रखने के कारण आप रोगी-सा अनुभव करते हैं। इसलिए मन से चिंता को बिलकुल दूर कर दीजिए और इसके लिए सरल उपाय यह है कि आप ग्रीवाल्डी की किताबें पढ़िए। पढ़ते ही लोटपोट हो जाइएगा। डाक्टर की बात सुनकर ग्रीवाल्डी इतना हँसा कि उसके पेट में वल पड़ गए। और, जब डाक्टर को मालूम हुआ कि यह रोगी ही ग्रीवाल्डी है तो वह भी हँसते-हँसते लोट गया।

वस्तुतः हँसी जिन्दगी की तकलीफ का सबसे बड़ा इलाज है, स्वस्थ रहने का सबसे बड़ा साधन। जब आप दिल खोलकर हँसते हैं, तो एक क्षण के लिए आप अपने सभी दर्दों को भूल जाते हैं और एक अपूर्व नैसर्गिक प्रवाह में तरंगित होने लगते हैं। इसका एक बड़ा अनुकूल असर आपके मानसिक और शारीरिक स्नायुओं पर पड़ता है। हँसी-विनोद में एक क्षण के लिए आपके मन और शरीर जैसे दुःखों और चिंताओं के भार को फेंककर हल्के हो जाते हैं और इस एग क्षण की विश्रान्ति में ही सुस्ता कर नई शक्ति और उत्साह पा लेते हैं। सही है कि हँसी से हम मुस्तकिल उलझनों वा समस्याओं को उड़ा नहीं सकते, मगर विनोद में जो एक क्षण की मुक्ति मिलती है, उससे उलझे मन को राहत जरूर मिलती है। और मानसिक मुक्ति शक्ति का स्रोत होती है। इसलिए संसार के मानसिक उपचार के शास्त्रियों ने एक मत से मानसिक उपचार में हँसी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।

हसी-विनोद न केवल स्वस्थ शरीर का लक्षण है वरन् स्वस्थ चरित्र का भी। व्यवहार में आप देखेंगे कि जो व्यक्ति हँसोड़ वा विनोदी होता है उसका चरित्र भी स्वच्छ और विश्वसनीय होता है तथा जिस व्यक्ति का चेहरा मुहर्रमी होता है, उसका चरित्र भी सन्देहजनक और कभी-कभी खतरनाक होता है। इसलिए कहा गया है कि आदमी की मुखाकृति उसके अन्तर की सूचिका है (face is an index to the mind)। वस्तुतः विनोदहीनता एक आन्तरिक व्याधि है। रोगी चित्त और स्वभाववाला व्यक्ति ही झुंझलाया हुआ, अहंकारी, क्रुद्ध अथवा व्यंग्यपूर्ण चेहरा बनाए रखता है।

चूंकि विनोद महच्चरित्र का लक्षण है, आप देखेंगे कि संसार की महान् आत्माएँ विनोदप्रिय हुआ करती हैं। भगवान् की अन्य शक्तियों के साथ उसका यह महान् वरदान भी इन्हीं सृष्टि के वरपुत्रों को मिलता है। आधुनिक युग के सबसे बड़े मसीहा महात्मा गाँधी कितने विनोदप्रिय थे यह किसी से छिपा नहीं है। एक बार आगा खाँ भवन से छूटकर गाँधीजी वर्धा में जमना लालजी बजाज के घर पर आये। उस समय जमनालालजी के भतीजे राधाकृष्ण जी जेल में ही थे। गाँधी जी को देखकर बजाज जी की बूढ़ी माँ ने कहा—'बापू! आप तो जेल से छुट गए। अब राधाकृष्ण को भी छुड़ा लाइए।' गाँधी ने हँसते हुए कहा—'मेरा काम जल भेजवाना है, जेल से छुड़ाना नहीं' और अब सारा घर कहकहे से गूंज उठा। गाँधी जी न केवल विनोदप्रिय थे वरन् सिद्धान्त-रूप में भी हँसी के महत्त्व को मानते थे। एक बार सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने गाँधीजी से पूछा कि आप बात-बात में, जटिल से जटिल समस्याओं पर भी, हँस क्यों पड़ते हैं। गाँधी जी फिर हँस पड़े और बोले कि 'हँसी मन की गाँठ बड़ी आसानी से खोल देती है—मेरे मन की नहीं, तुम्हारे मन की भी।' राजेन्द्र बाबू न केवल मसविदा तैयार करने में मुंशी हैं वरन् विनोद करने में भी। १९५१ की बात है। राष्ट्रपति दिल्ली विश्वविद्यालय में पधारे थे। उनके चारों ओर हस्ताक्षर लेनेवाले विद्यार्थियों की भीड़ थी। विद्यार्थियों को छूट थी कि वे चाहे जो लिखकर लायें, राजेन्द्र बाबू उस पर दस्तखत कर देंगे। एक विद्यार्थी को शरारत सूझी। उसने छकाने के लिए अपनी नोटबुक में लिख लिया कि 'मेरी सरकार बड़ी खुशी के साथ आपको स्वर्ग का गवर्नर मुकर्रर करती है।' वह बड़ी चुस्ती से राजेन्द्र बाबू के सामने आया और राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर भी कर दिया। मगर इस बार जब उसने अपनी नोटबुक देखी तो उस पर लिखा था—'मेरी सरकार बड़ी खुशी से आपको स्वर्ग का गवर्नर मुकर्रर करती है, मगर अभी वहाँ जगह खाली नहीं है इसलिए आपको नरक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।'

जवाहरलाल जी की जिन्दादिली के क्या कहने! एक बार का किस्सा है,

किसी मित्र ने उन्हें खाने पर बुलाया था। भोजन के बाद संगीत के कार्यक्रम में अब सितार बजानेवाला था। पर चूँकि काफी रात हो गई थी मित्र ने जवाहरलाल से कहा—बहुत थक गये हो, जाओ सो रहो। पर जवाहरलाल जी कब माननवाले थे। बोले—तुम फिक्र न करो। सितार सुने बहुत दिन हो गए। आज तो जरूर सुनूँगा। जवाहरलाल जी की यह रसिकता देखकर काशी के रायकृष्णदास जी, जो उस दावत में शामिल थ, उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब का यह शेर गुनगुनाने लगे—

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
बर्ना हम भी आदमी थे काम के।

जवाहरलाल जी की तंद्रा जैसे एकाएक फट गई, और बागबाग होकर छटते ही बोले—ठीक कहते हो—इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया.....।

गाँधीजी राउण्ड टबल कान्फरेन्स के लिए विलायत गए थे। साथ में सरोजिनी नायडू भी थीं। गाँधी जी को देखने के लिए सड़क पर भीड़ हो गई। उनकी शक्ल और पोशाक देखकर एक लड़के ने जोर से कहा—यह तो जोकर है। और, सरोजिनी नायडू ने तुरन्त जवाब दिया—बिल्कुल मिकी माउस की तरह।

वस्तुतः हँसी भगवान् की दी हुई महान् विभूति है। वह व्यक्ति बड़ा अभागा है जो बमोल पाई हुई इस वस्तु का उपयोग नहीं करता। फिर आदमी को क्या हक है कि वह प्रभु द्वारा दिये गये अपने सुन्दर मुखड़े को क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या इत्यादि से कुरूप बना ले। संसार-प्रसिद्ध जापानी कवि नागूची ने भगवान् से प्रार्थना करते हुए यह आशीर्वाद माँगा था कि 'जब जीवन के किनारे की हरियाली सूख गई हो, चिड़ियों की चहक मूक हो गई हो, सूर्य को ग्रहण लग गया हो, मेरे मित्र एवं साथी मुझे काँटों में अकेला छोड़कर कतरा गये हों, और आकाश का सारा क्रोध मेरे भाग्य पर बरसने-वाला हो, तब हे भगवान्, तुम मुझ पर इतनी कृपा करना कि मेरे ओठों पर हँसी की एक उजली लकीर खिंच जाय''।

क्रांतिकारी फ्रेंच लेखक वाल्तेयर ने फ्रांस की राजधानी में साहित्यकारों की सभा में भाषण करते हुए कहा था कि जो हँसता नहीं, वह आदमी ही नहीं और जो आदमी ही नहीं है वह लेखक नहीं हो सकता। इसलिए, भाइयो, अपनी छाती से ऐसी उद्दाम हँसी फूटने दो कि मनहूस चेहरे भी चहक जायँ।

इसलिए आप देखेंगे कि साहित्यकार प्रायः बड़े विनोदी हुआ करते हैं। हिन्दी के जिन्दादिल कवि भारतेन्दु अप्रेल फूल्स ड मनान के लिए क्या-क्या करते थे, यह किसी से छिपा नहीं है। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तो हास्यावतार ही थे। और शिवपूजन जी एवं प्रेमचन्द जी की हँसी का क्या पूछना। १९३६ की बात है। प्रेमचन्द जी काशी से प्रयाग आये थे, प्रयाग विश्वविद्यालय की साहित्य परिषद् का सभापतित्व करने। छात्रों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के सिलसिले में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था कि 'मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा है कि भगवान् मुझे मनहूसों से सदैव बचाये रख। मनहूसियत से मेरा दम घुटता है।' संस्कृत के एक कवि की वह उक्ति लोक-प्रसिद्ध है जिसमें उसने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे भगवान् और चाहे जो हो, मगर मेरे भाग्य में यह न लिखना कि मुझे किसी अरसिक के सामने कविता पढ़ना पड़े।

हँसी अथवा विनोद सामाजिक जीवन को बनाये रखने का एक सबल आधार है। इससे परस्पर का मनोमालिन्य मिट जाता है। घनिष्ठता और प्रेम बढ़ता है। घृणा, द्वेष, कटुता और अहंकार से सामाजिक जीवन कमजोर हो जाता है। हँसी की यह सार्वजनिक उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों में मनाये जानेवाले विनोद-पर्वों में देखी जा सकती है। पाश्चात्य देशों में 'फूल्स डे' अप्रेल की पहली तिथि को मनाया जाता है। हिन्दुस्तान में होली का त्योहार एक ऐसा ही पर्व है जिसके विनोद में साल भर की कटुता जैसे घुलकर प्रेम के अबीर में लाल हो जाती है। हँसकर अभिवादन करना तो संसार के सभी देशों में सर्वमान्य शिष्टाचार है।

व्यक्तिगत जीवन में भी हँसी-विनोद से लाभ होता है। विनोद सफलता की कुंजी है। आप देखेंगे कि एक हँसमुख व्यक्ति भौतिक जगत में जितना सफल होता है उतना गम्भीर वा रूआँसा चेहरावाला व्यक्ति नहीं। इन्टरव्यू में हसमुख व्यक्ति ज्यादा प्रभाव डालता है। रोजगार में वह ग्राहकों को खुश कर ज्यादा बिक्री कर लेता है। भाषण में श्रोताओं को मुग्ध कर अपनी ओर खींच लेता है। एक बार ख्यातनामा साहित्यकार किप्लिंग एक दुकान पर किताब खरीदने गए। एक पुस्तक को उठाकर उन्होंने दुकानदार से पूछा कि यह कैसी है। दुकानदार ने कहा--मैंने पढ़ी नहीं। किप्लिंग झुंझलाकर बोले कि खरीदते समय पुस्तक को पढ़कर देख क्यों नहीं लेते कि यह चलेगी वा नहीं। दुकानदार ने बड़े इत्मीनान से किंचित् मुस्कुराहट के साथ कहा--श्रीमान्, मान लीजिए, कि आप दवाई बेचते हैं, तब क्या आप प्रत्येक दवाई बेचने के पहले, खाकर देख लेंगे। इस उत्तर से किप्लिंग निरुत्तर हो गये।

एक बार मार्कट्वेन एक सभा में भाषण कर रहे थे। वे एक घंटे तक बोलते रहे और इस विनोदी साहित्यिक के भाषण से सारी सभा झूम रही थी। बड़ा सफल भाषण हुआ। ट्वेन के बाद उनके मित्र को उसी सभा में भाषण देना था। वह ट्वेन से भी अधिक विनोदी था। उसने अपना भाषण शुरू किया—'सज्जनो, सभा में आने के पहले मेरे और ट्वेन के बीच यह बात तय हो गई थी कि यहाँ ट्वेन मेरा भाषण आपलोगों को सुना देंगे और उनका भाषण मैं पढ़ दूँगा। ट्वेन ने मेरा भाषण सुना दिया। अब मुझे उनका भाषण पढ़ना है। पर, दुःख है कि मुझसे उनके भाषण की पांडुलिपि कहीं खो गई है, अतः कुछ कहने से लाचार होकर मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।' फिर तो तालियों से आसमान फटने लगा और मार्कट्वेन के लम्बे भाषण से कहीं अधिक आनन्द उसके मित्र का यह छोटा-सा विनोद दे गया। १

---

१. प्रस्तुत निबंध में वर्णित अनेक घटनाओं के लिए लेखक 'नवनीत' का कृतज्ञ है।

मनबहलाव [हाबी]

मनवहलाव या 'हावी' एक ऐसा कार्य है जिसका नियमित कर्त्तव्य या व्यापार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। यह साधारणतः छुट्टी के समय किया जाता है। इसमें किसी प्रकार की विवशता नहीं रहती, बल्कि इसे अपनी रुचि, सुविधा और पसंद से ही किया जाता है। इसे इसलिए किया जाता है कि इसस आनन्द और तृप्ति मिलती है, न कि आजीविका के साधन या आर्थिक लाभ के लिए !

'भिन्न रुचिर्हि लोकः—' भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न रुचि होती है। अतः एक ही मनबहलाव सभी के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। हर आदमी अपने लिए ऐसा मनबहलाव चुनता है जो उसके लिए विशेष आकर्षण रखता है। यही कारण है कि मनवहलाव नाना प्रकार के होते हैं। आजकल सभी चीजों की उपयोगिता की कसौटी एकमात्र आर्थिक लाभ है, तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनवहलाव की जरूरत ही क्या है। यह सत्य है कि साधारणतः मनबहलाव अर्थोपार्जन की भावना से प्रेरणा नहीं पाता, किन्तु इससे यह नहीं समझ लना चाहिये कि मनवहलाव का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है या कि उसकी कोई उपयोगिता है ही नहीं।

मनुष्य जीवन के हर क्षण में अपने को गंभीर कार्यों में व्यस्त नहीं रख सकता। अगर वह ऐसा करता है तो वह दब ही नहीं जाएगा, बल्कि उसके मन और शरीर पर असह्य भार भी पड़ेगा। ऐसा मनुष्य कुछ ही दिनों में शरीर और मन की व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः हर मनुष्य को विश्राम और इतमीनान की जरूरत होती है, उसे कोई न कोई ऐसा कार्य चाहिए ही जिससे वह अपने मन को अपने दैनिक कार्य-व्यापार से भिन्न दिशा में थोड़ी देर के लिए मोड़ सके। मनवहलाव से ही यह संभव है, और इसीलिए मनबहलाव की उपयोगिता और महत्त्व है।

हमारे देश के कुछ लोगों को विश्राम के सम्बन्ध में विचित्र धारणा है। वे समझते हैं कि विश्राम बिस्तर पर फैल कर या निठल्लेपन से ही प्राप्त

हो सकता है। किन्तु यह नितान्त भ्रामक धारणा है। किसीने ठीक ही कहा है कि काम का न रहना विश्राम नहीं है। इस प्रकार के विश्राम से दिमाग खोखला हो जाता है, ग्रालस्य घिर ग्राता है ग्रौर यह ग्रँगरेजी कहावत तो प्रसिद्ध ही है कि ग्रालसी का दिमाग शैतान का कारखाना होता है! जिसको कोई खास मनबहलाव नहीं होता, उसके जीवन के खाली क्षण उसके लिए दूभर हो जाते हैं। ग्रतः यह उचित है कि सभी किसी न किसी मनबहलाव को ग्रपनाएँ।

दुर्भाग्य यह है कि भारतीय, साधारणतः, वास्तविक मनबहलाव की ग्रावश्यकता ठीक-ठीक नहीं समझते। इस देश के ग्रधिकांश निवासी, वे बूढ़े हों या जवान, दूसरों की पीठ पीछे निंदा करने या गप्प लड़ाने को ही विश्राम का साधन मानते हैं। किन्त इस तरह के कार्यों को ग्रसली मन-बहलाव नहीं कहा जा सकता।

संसार में जो विविध मनबहलाव प्रचलित हैं उनमें पुराने डाक-टिकटों, पुराने सिक्कों, पुरानी चीजों, महापुरुषों के हस्ताक्षरों, चित्रों ग्रादि का संग्रह ग्रौर मछली मारना तथा बागबानी करना प्रमुख हैं। मनबहलाव गरीब लोगों के लिए ही होते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसके विपरीत ऐसे महा-पुरुष, जिनके नाम इतिहास में ग्रमर हो चुके हैं, ग्रपने उन मनबहलावों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं जिनके सहारे वे ग्रपने जीवन की एकरसता को दूर किया करते थे। उदाहरण के लिए इंगलैंड के राजा पंचम जार्ज पुराने डाक-टिकटों के संग्रह में रुचि रखते थे, इसी देश के एक प्रधान मंत्री लायड जार्ज का मनबहलाव खेती था ग्रौर एक दूसरे प्रधान मंत्री चर्चिल का मनबहलाव ईंट जोड़ना ग्रौर चित्र बनाना है।

यद्यपि किसी खास चीज में ग्रपनी रुचि को परितृप्ति प्रदान करना ही मनबहलाव का लक्ष्य होता है, फिर भी कभी-कभी मनबहलाव ग्रनायास ही बहुत लाभदायक भी सिद्ध हो जाता है खासकर डाक-टिकटों या पुरानी वस्तुग्रों के संग्रह के मनबहलाव। डाक-टिकट या सिक्के जितने ही पुराने होते हैं उतने ही बहुमूल्य उनके संग्रह बन जाते हैं, ग्रौर कभी-कभी उन्हें

काल्पनीय धन-राशि देकर लोग खरीदते हैं। उदाहरण के लिए पंचम जार्ज के डाक-टिकटों के संग्रह का मूल्य कई हजार पाउंड कूता जाता था। एक दुर्लभ भारतीय टिकट, जो १८५४ में छपा था और जिस पर भूल से रानी विक्टोरिया का मुख उल्टा आ गया था, लंदन में ७२५ पाउण्ड देकर नीलाम में खरीदा गया था। जहाँ तक हस्ताक्षरों का प्रश्न है, उनका मूल्य हस्ताक्षर करनेवाले के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इस प्रकार के बहुमूल्य संग्रहों के स्वामी बहुधा किसी भी मूल्य पर अपने संग्रहों को बेचने के लिए राजी नहीं होते।

ऐसे मनबहलावों का शिक्षात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। क्योंकि वे छोटे पैमाने पर संग्रहालय या चित्रशाला के समकक्ष ही तो होते हैं। उनके सहारे हमें उस युग की झाँकी मिल जाती है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके आधार पर अध्ययन और शोध के महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकते हैं। मनबहलाव के महत्त्व के सम्बन्ध में किसी ने क्या ठीक कहा है, "आप डाक-टिकटों से शुरू कर सकते हैं और आप यह पा सकते हैं कि आप महादेशों के बारे में सोच रहे हैं। आप सिक्के इकट्ठे करते होंगे, पर आप यह अनुभव कर सकते हैं कि उन पर इतिहास अंकित है। आप मधुमक्खियों से शुरू कर जीवन के विज्ञान पर जाकर रुकते हैं। रस्किन नामक अँगरेज विद्वान् ने चित्रों का संग्रह शुरू किया और पाया कि उन्हीं के सहारे वह अर्थशास्त्र तथा अन्य अनेक विषयों तक पहुँच गया।"

समय का मोल

अंग्रेजी में एक उक्ति है—'समय ही धन है।' बात भी सही है। समय के सदुपयोग से धन-लाभ होता है और उसके दुरुपयोग से धन-नाश होता है। आपने सुना होगा कि अमुक मारवाड़ी एक पीतल का लोटा लेकर कलकत्ते में आया और देखते ही देखते करोड़पति बन गया। यह भी सुना होगा कि अमुक जमींदार या नवाब के शराबी, कुमार्गी और आलसी बेटे ने अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति बेच डाली और एकाएक कंगाल हो गया। होना भी

यही था, क्योंकि एक ने समय का उपयोग किया और दूसरे ने दुरुपयोग। संक्षेप में, समय पर ही धन की वृद्धि वा नाश निर्भर करता है।

पर समय धन से भी अधिक मूल्यवान है। नष्ट हुआ धन उद्योग से वापस हो सकता है किन्तु गया हुआ समय किसी भी मोल पर लौटाया नहीं जा सकता, बिगड़ा स्वास्थ्य संयम, औषधि एवं सुपथ्य से अच्छा हो सकता है और खोयी हुई स्वतन्त्रता शक्ति एवं बलिदान से लौट सकती है पर बीता हुआ समय वापस नहीं आ सकता। हमारे जीवन का जो क्षण-क्षण बीत रहा है, वह हमसे टूटकर सदा के लिए अलग होता जा रहा है। वह बार-बार हमसे कह रहा है कि यदि समय का लाभ उठाना हो तो उठा लो, नहीं तो वह फिर कभी लौटकर नहीं आयेगा, नहीं आयेगा। लेकिन यह जीवन की कैसी विडम्बना है कि मनुष्य धन रहते, धन के मूलस्रोत, सफलता के मूल कारण और आनन्द के मूल आधार-समय को नहीं पहचान पाता, उसका महत्त्व नहीं समझ पाता, उसके मूल्य को आँक नहीं सकता। वह समय का मूल्य तब समझता है जब वह निर्धन और कंगाल हो जाता है, जब उसके संगी-साथी उसे छोड़कर अलग हो जाते हैं, जब सभी उससे मुंह मोड़ लेते हैं और जब सुख के सभी साधन छिन जाते हैं। पर उस समय जब मनुष्य की आँखें खुलती हैं तो वह पाता है कि काफी देर हो चुकी है। उसकी शक्ति और साहस नष्ट हो चुके हैं। उसका आलस्य इतना बढ़ चुका है कि दूर होने का नहीं। उसकी बुरी आदतें इतनी दृढ़ हो गई हैं कि उनसे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। उसके लिए पछताने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि जीवन के आरम्भिक दिनों से ही वह अपने समय का थोड़ा हिस्सा भी अच्छे कामों में लगाता तो उसकी यह दशा न हो पाती और वह दुनिया के लिए एक उपदेश छोड़ जाता। उसका संदेश यही है कि जीवन के उत्थान और पतन समय के उपयोग पर निर्भर हैं। समय मनुष्य का मित्र और शत्रु दोनों है। यदि उसका आदर किया गया तो वह मित्र बनकर आदमी की मदद करता है और यदि उसका अनादर हुआ तो वह शत्रु की तरह आदमी का धन-यश नष्ट कर देता है।

इसलिए मनुष्य को जीवन के आरम्भ-काल से ही समय का सदुपयोग सीखना चाहिए। समय बीत जाने पर पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहेगा—'गया वक्त फिर हाथ आता नहीं'। कबीर ने ठीक ही कहा है—

काल करो सो आज कर, आज करो सो अब।
पल में परलय होत है, बहुरि करोगे कब।।

वस्तुतः जो उन्नति का अभिलाषी है, उसे कल के काम को आज ही और आज के काम को अभी कर लेना चाहिए। जाने किस वक्त क्या कठिनाई आ जाए और काम न हो। जो आज के काम को कल के लिए छोड़ते हैं, उनका काम प्रायः सदा के लिए छूट ही जाता है। अगर खेतिहर समय पर खेत न जोते तो उसका खेत उखड़ जाता है और फसल अच्छी नहीं हो पाती। यदि समय पर खेत में पानी न डाला जाय तो भी उसकी यही दशा होती है। समय का चूका आदमी कभी पनप नहीं पाता। जीवनदर्शी गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी अमर कृति 'रामचरित मानस' में कहा है कि—

का बरखा जब कृषी सुखानी।
समय चूकि पुनि का पछितानी।।

अंग्रेजी में एक कहावत है—'लोहे पर तभी चोट दो जब वह लाल रहे। (**Strike while the iron is hot**)। मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जिनमें सफलता की सम्भावनाएँ भरी होती हैं। जो उस मौके से फायदा उठाता है सफल हो जाता है जो चूक जाता है, असफल ही रहता है। नेपोलियन ने आरकोला की लड़ाई मात्र पच्चीस घड़सवारों से जीती थी। इस जीत का रहस्योद्घाटन करते हुए उसने कहा था—'शत्रु आलस्य में पड़ा था। मैंने सोचा, इस अवसर को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए और चढ़ाई कर दी। इसीका फल हुआ कि हमें विजय मिली।' आस्ट्रिया पर होनेवाली नेपोलियन की विजय में भी समय का बड़ा हाथ था। नेपोलियन ने स्वीकार किया था कि—'आस्ट्रिया की सेना को समय की परवाह न थी, इसीलिए मैं उसे हरा सका। जब वह अपना समय बेकार गँवा रही थी, हमें एक अच्छा मौका मिला और हमने उसे हरा दिया।' शिवाजी ने ऐसे ही मौके का

उपयोग कर शाइस्ता खां को हराया था। नेपोलियन का यह वाक्य चिर-स्मरणीय रहेगा कि––'एक पल भी खो देने से विपत्ति को आने का अवसर मिल जाता है।' यदि हम चाहते हैं कि विपत्ति न आवे तो हमें एक पल भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। समय एक ऐसा खेत है जिसमें अवसर पर जुताई किये बिना बीज नहीं उगते और परिश्रम किये बिना फसल नहीं होती। यह ऐसा खेत है जो समयनिष्ठ और उद्यमी किसान को कभी निराश नहीं करता और आलसी एवं निरुद्यमी व्यक्ति को कभी सुख नहीं देता। जिस तरह खेत की सेवा करने पर उसमें अच्छी फसल होती है और उसे यों छोड़ देने पर, उसमें घास और काँटे उग आते हैं इसी प्रकार समय का ध्यान रखने पर मनुष्य सुख पाता है और उसकी उपेक्षा करने पर दुःख भोगता है।

नेलसन जैसा पराक्रमी आदमी कहा करता था कि 'मेरी सम्पूर्ण सफलता का श्रेय केवल इस बात को है कि किसी काम को करने के लिए निश्चित समय से १५ मिनट पहले तैयार हो जाता हूँ।'

समयनिष्ठता शील का चिह्न है। इससे आदमी लोकप्रिय और विश्वास-पात्र बनता है। यदि आप वादा करके अपने मित्र से नियत समय पर नहीं मिलते, तो उसका विश्वास आप पर से उठ जाता है। यदि आप समय की पाबन्दी नहीं मानते तो लोग आपको अविश्वास की दृष्टि से देखेंगे। आप उनकी नजर में झूठे साबित होंगे। आपके चरित्र पर व्यर्थ ही संदेह किया जायगा। इस प्रकार समयनिष्ठता (Punctuality) मनुष्य के व्यक्तित्व (Personality) के लिए उत्तरदायी होती है। संसार के महान व्यक्तियों ने समय का मोल जाना है। गाँधी जी नियत समय पर उठते, टहलते, बात-चीत करते, पढ़ते, खत लिखते और प्रार्थना करते थे। चाहे कैसा भी आदमी उनसे मिलने आये उसका समय निश्चित रहता था और समय समाप्त होते ही उसे उठ जाना पड़ता था। जो ऐसा नहीं करते थे, उसे वे घड़ी दिखाकर इस बात को याद दिला देते थे। फ्रांसीसी सम्राट् चौदहवें लुई के शब्दों में 'समयनिष्ठता राजाओं का शील (Politeness) है।' इस सम्बन्ध की

थोड़ी-सी असावधानी भी कभी-कभी घातक सिद्ध होजाती है। यदि रोगी की दशा खराब हो और नियत समय पर दवा न दी जाय तो उसकी क्या दशा होगी? अमेरिका के मसीहा जार्ज वाशिंगटन विश्व-विश्रुत व्यक्ति हो गये हैं। एक बार उनके मंत्री कुछ देर से आये। वाशिंगटन के पूछने पर उन्होंने कहा कि 'हमारी घड़ी कुछ सुस्त चल रही थी।' किन्तु वाशिंगटन उनके बहाने से सन्तुष्ट न हुए और बोले—'या तो आप दूसरी घड़ी रखें या मैं दूसरा मंत्री रखूँ।'

प्रतिदिन के व्यवहार में भी समयनिष्ठता का महत्त्व कम नहीं है। आपको किसी जरूरी काम से जाना है। आप तैयारी करने में कुछ देर कर देते हैं, आपकी गाड़ी छूट जाती है और आपका वह आवश्यक काम हो नहीं पाता। आपको बीमारी हो गई है। आप उसकी परवाह नहीं करते और देखते-देखते वह भयानक रूप धारण कर लेती है। आप वर्ष के आरम्भ से नहीं पढ़ते और जब परीक्षा निकट आती है तब रात-रात भर जगने लगते हैं। नतीजा होता है कि न परीक्षा की पूरी तैयारी हो पाती है और न स्वास्थ्य ही ठीक रहता है।

स्वास्थ्य के लिए भी समय की नियमितता आवश्यक है। नियत समय पर उठने, खाने और सोने से सेहत ठीक रहती है। इनके व्यतिक्रम से तन्दुरुस्ती बिगड़ जाती है। अंग्रेजी में एक सुभाषित है कि सवेरे उठने और सवेरे सोने से आदमी स्वस्थ, समृद्ध और बुद्धिमान होता है। सवेरे उठने से सुबह की अच्छी हवा मिलती है, जिससे मन में ताजगी आती है। फिर काम करने का भरपूर समय मिलता है। जो समय को नहीं पहचानते, देर तक सोते हैं उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे सदा निरुत्साह रहते हैं। ज्यादा वक्त सोने में बिता देने के कारण, वे दिन के सभी काम पूरे नहीं कर पाते। वे हड़बड़ी में रहते हैं और कोई भी काम ठीक से नहीं कर पाते। हड़बड़ी का काम ही शैतान का होना है। एक कहावत है—'सोये सो खोये जागे सो पाये।' इसलिये हमें जाग्रत रहना चाहिये, समय के प्रति जाग्रत।

समय का रथ अबाध गति से बढ़ता जा रहा है। हमें उस पर सवार होना है ताकि जल्द से जल्द उन्नति और विकास की मंजिलें तय कर सकें।

एक लड़ाई में पिता और पुत्र एक ओर लड़ रहे थे। पुत्र ने पिता से कहा--पिता जी, हमारी तलवार छोटी है। पिता ने धीरता से कहा--बेटा, एक डेग आगे बढ़कर वार करो।

इस छोटे-से प्रसंग से एक बड़ी नसीहत मिलती है। मनुष्य को सदा समय के मामले में दूसरों से एक कदम आगे रहना चाहिए। ऐसा करने से, शक्ति और साधन कम रहने पर भी वह दूसरों से अधिक सफलता प्राप्त करेगा।



सफलता के उपाय : इच्छा और उद्योग

एक बार आइंस्टीन कोलम्बिया युनिवर्सिटी में दीक्षांत भाषण देने गए थे। भाषण की समाप्ति पर विद्यार्थियों ने उनसे नम्रतापूर्वक प्रश्न किये। एक विद्यार्थी ने पूछा--सफलता का सरल नुस्खा क्या है? आइंस्टीन ने किंचित् मुस्कुराहट के साथ कहा--A (सफलता) = X (काम) + Y (मनोरंजन) + Z (मौन)।

आइंस्टीन के 'X' का तात्पर्य काम अर्थात् कर्म से है। पर हमें काम शब्द अधिक रुचता है क्योंकि भारतीय साहित्य में काम के दो अर्थ हैं (१) कामना और (२) कर्म। ये दोनों सफलता के लिये आवश्यक हैं। किसी भी काम के पहले मन में उसकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब वही इच्छा बलवती हो जाती है तब मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इच्छा ही मनुष्य को क्रियाशील बनाती है। इच्छा के अभाव में मनुष्य शिथिल और पंगु हो जाय। जिसके मन में इच्छा नहीं, वह करेगा क्या? संसार का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी इच्छा से चल रहा है, हमारा प्रत्येक कर्म किसी

न किसी इच्छा से अनुप्राणित हैं। किसी को धन, किसी को पद, किसी को यश, किसी को विद्या की लालसा है। गरज यह कि हर कोई अपने भीतर लालसा पाल रहा है और उसके लिये सचेष्ट है। हिन्दी के प्रियदर्शी कवि पंत ने ठीक ही कहा है—

इच्छा है जग का जीवन।

किन्तु सहज इच्छा का तो कोई अर्थ नहीं। ऐसी इच्छा तो मनुष्य-मनुष्य में है। फिर उसे सफलता की जरूरी शर्त्त क्यों मानी जाय। पर नहीं; इच्छा से हमारा तात्पर्य सदिच्छा, सम्पूर्ण इच्छा, वा उत्कट इच्छा से है। मन में तो हजारों इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो कुछ काल के लिये उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाती हैं। ऐसी इच्छाएँ साधक नहीं बाधक होती हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य के मन की शान्ति भंग होती है, एकाग्रता टूटती है, चंचलता एवं अशान्ति आती और कुछ लाभ नहीं होता। विवेक की कसौटी पर ऐसी इच्छा टिकती नहीं; भाग जाती है, अपने प्रति वितृष्णा उत्पन्न करके। परीक्षा में चोरी करने की इच्छा, विना टिकट चलने की इच्छा, विवाहित स्त्री से प्रेम की इच्छा इत्यादि ऐसी ही इच्छाएँ हैं। लेकिन पूर्ण इच्छा वह है जो उत्पन्न होकर विलीन नहीं होती। विवेक से उसे बल मिलता है। कठिनाइयों से उसमें उत्साह आता है। किसी अच्छे काम करने की इच्छा इसी कोटि की होती है। ऐसी इच्छा यदि उत्कट हुई तो वह जरूर फलवती होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि जिस वस्तु पर मनुष्य का सच्चा स्नेह होता है वह उसे अवश्य प्राप्त होती है—

जापर जाके सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलहिं न कछु सन्देहू।

संतों का कहना है कि आदमी जैसा सोचे वैसा हो सकता है, जो चाहे बन सकता है। इच्छाशक्ति में दैवी गुण होता है, ऐसा कि मनुष्य यदि सच्चे हृदय से किसी वस्तु को कामना करे तो वह कालान्तर में प्राप्त हो जाती है। यह तो एक साधारण बात है कि इच्छानुसार अभ्यास करके आदमी सुशील, सुचरित्र और उदार हो सकता है एवं अपनी खराब आदतों को छोड़

दे सकता है। अगर हम संकल्प कर लें कि सिगरेट न पीयेंगे, शराब न छूयेंगे तो पल मारते ही ऐसा कर सकते हैं। इच्छा-शक्ति की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। ऐसे ही कहानियों में एक बढ़ई की कहानी है। एक समय वह बड़े मनोयोग से किसी न्यायाधीश के लिए एक सुन्दर एवं मजबूत कुर्सी बना रहा था। उसे इस प्रकार काम करते देख किसीने इसका कारण पूछा। उसने कहा कि यह काफी दिनों तक रहे ताकि मैं भी इस पर बैठ सकूँ। कहते हैं कि वह बढ़ई आगे चलकर सचमुच न्यायाधीश बना और उसी कुर्सी पर बैठा। पाश्चात्य साहित्य में पेगमिलियन की कहानी प्रसिद्ध है। उसने एक औरत की मूर्त्ति बनाई। जब मूर्त्ति पूरी हुई तब वह सजीव होकर वास्तव में स्त्री बन गई और पेगमिलियन ने उससे शादी कर ली। जानकारों का कहना है कि वह व्यक्ति पहले से ही एक औरत से प्रेम करता था और उसी की मूर्ति उसने बनाई थी। भारतवर्ष में एकलव्य, कबीर आदि की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। एकलव्य की इच्छा बाणविद्या में निपुण बनने की थी। द्रोणाचार्य उसे शिष्य नहीं बना पाते थे। किन्तु एकलव्य की इच्छा बड़ी उत्कट थी। उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्त्ति बनाई और उसी से प्रेरणा लेकर बाण-विद्या में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। कबीर रामानन्द जी से दीक्षित होना चाहते थे, पर जाति के जुलाहा होने के कारण अपनी इच्छा पूरी करने में सफल नहीं हो रहे थे। एक दिन उन्हें एक बात सूझ गई। रामानन्द जी ब्रह्मवेला में गंगा-स्नान करने जाया करते थे। एक दिन उनके आने के पहले ही कबीर दास जी घाट की सीढ़ियों पर लेट गए। जब रामानन्द जी आए तो उनका पाँव कबीर की देह पर पड़ गया। उन्होंने 'रामराम' कहते हुए अपने पाँव खींचे। कबीर बोल उठे—'महाराज, अब तो मैं आपका शिष्य हो गया। आपने अभी-अभी हमें रामनाम का गुरुमंत्र दे दिया है।' रामानन्द जी भी प्रसन्नता से मुग्ध हो गए। महाभारत की लड़ाई में भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की थी कि आज भगवान् कृष्ण को (जो शस्त्र न धारण करने की शपथ ले चुके थे) शस्त्र-ग्रहण करने पर मजबूर करूँगा और उनकी इस सच्ची आत्मा से निकली हुई इच्छा के समक्ष भगवान् को अपनी

प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। ऐसी ही इच्छाओं के लिए कहा गया है कि––जहाँ चाह वहाँ राह। यदि इच्छा उत्कट है तो कोई न कोई राह निकल ही आती है। भारतवर्ष में अनेक ऐसे महान् व्यक्ति हो गए हैं जो पढ़ने की इच्छा से, विना पैसे के ही घर से भाग निकले हैं और अन्ततोगत्वा महान् हो गए हैं। जयप्रकाश नारायण जव अमेरिका में थे तव उन्हें साधारण होटल में काम करना पड़ता था और वे प्रायः अत्यन्त साधारण भोजन करके अध्ययन करते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का उदाहरण भी ऐसा ही है। तात्पर्य यह कि मनुष्य में आगे वढ़ने की उत्कट आकांक्षा होनी चाहिए। जो अपनी स्थिति से सन्तुष्ट है, जो 'तेल न सही तलछट ही सही' वाला सिद्धान्त मानता है, वह आगे नहीं वढ़ सकता, महान् नहीं हो सकता। इच्छा तो मनुष्य की मूल प्रेरणा है। संस्कृत के एक श्लोक के अन्तिम शब्द 'संतुष्टश्च महीपतिः'। अर्थात् जो राजा संतोषी हुआ, उसका नाश ही समझिए। राजा को तो महत्वाकांक्षी होना चाहिए। राजा को क्यों, प्रत्येक राष्ट्र को, प्रत्येक मनुष्य को महत्वाकांक्षी होना चाहिये।

पर ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को सफलता तभी मिलती है जव उसमें उत्कट अभिलाषा और उद्यम करने की क्षमता हो। परिश्रम के अभाव में इच्छा कोरी कल्पना वन जाती है। ऐसे दिवा-स्वप्नों से लाभ नहीं। सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी इच्छा स्थिर कर लेनी चाहिए। हवा में सूखे पत्तों की तरह डोलने से फायदा नहीं। उसे अपना लक्ष्य स्थिर कर लेना चाहिए। वक्सटन नामक सुप्रसिद्ध विद्वान ने अपने बेटे को एक पत्र में लिखा था––'अब तुम जिन्दगी के एक ऐसे मोड़ पर आ गए हो जहाँ से तुम्हें दायें या वायें मुड़ना है। यहाँ तुम्हें अपनी इच्छा-शक्ति का, अपने संकल्प का, अपने निश्चित उद्देश्य का प्रमाण देना पड़ेगा। यदि ऐसा न कर सके तो गिर जाओगे और फिर उठना कठिन होगा। मेरा अपना विश्वास है कि नवयुवक जैसा चाहे, इच्छा से वन सकता है। मेरे जीवन में यह वात प्रमाणित हो चुकी है। तुम्हारी उम्र में मैंने जो संकल्प किया था उसी का परिणाम है मेरा सुख, मेरी उन्नति। अगर तुम भी अभी

कर्म का संकल्प कर लो तो तुम्हें भी जीवन भर यह सोचकर आनन्द मिलेगा कि हमने संकल्प किया और उसे निभाया।'

जब संकल्प निश्चित हो जाय, तो पूर्ण शक्ति के साथ उसकी पूर्त्ति में मनुष्य को लग जाना चाहिए। संसार में कई तरह के अभिलाषी जन होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जो इच्छा करते हैं, पर हाथ-पाँव हिलाना नहीं चाहते। कुछ ऐसे होते हैं जो इच्छा-पूर्त्ति के लिये कर्म करना आरम्भ तो करते हैं पर कठिनाई आने पर काम छोड़ देते हैं। पर कुछ ऐसे व्रती भी होते हैं जो अपने संकल्प पर प्राणों की बाजी लगाकर बढ़ते जाते हैं। उन्हें इस बात की परवाह नहीं होती कि उनके मार्ग में कितने कंटक हैं, कितनी खाइयाँ हैं, कितनी कठिनाइयाँ हैं। ऐसे ही व्यक्ति सफलता प्राप्त करते हैं। नेपोलियन कहा करता था कि 'सही मानी में वही व्यक्ति चतुर है, जो दृढ़ संकल्प करना जानता है।' नेपोलियन स्वयं दृढ़ संकल्प का प्रतीक था। जो इच्छा करता उसे पूरी करने में वह दिन-रात एक कर देता था। तभी तो विजय उसके चरणों में लोटती रही। एक बार इटली पर उसे चढ़ाई करनी थी। मार्ग में आल्प्स-जैसा पहाड़ था। सलाहकारों ने कहा—आगे आल्प्स है, उसे पार करना असम्भव है। लेकिन नेपोलियन ने यह कहते हुए कि 'आल्प्स नहीं रहेगा' अपना घोड़ा बढ़ा दिया और देखते ही देखते सेना के साथ पार उतर कर इटली पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार इच्छा के साथ जब उद्योग का मेल होता है तब विजय निश्चित हो जाती है।

सही है कि मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं और कभी-कभी असफलता भी होती है। पर ऐसी असफलताओं से सूरमा घबड़ाते नहीं। असफलता तो सफलता का निर्देशक है। असफलता मनुष्य की कमजोरियों को दिखाती है। जो दृढ़-संकल्प है वह असफलता में अपनी त्रुटियों को पढ़ता है, असफलता के कारणों को जानता है और इस प्रकार विजय प्राप्त करने की नये सिरे से, अधिक होशियारी के साथ तैयारी करता है। असफलता वह पाठशाला है जिसमें आदमी जीवन के अनुभवों की सीख ग्रहण करता है। दृढ़-संकल्प धीर हुआ करते हैं। वे उस लोहे के तवे की तरह नहीं होते जो थोड़ी आँच से

गर्म और थोड़ी ठंढक से सर्द हो जाता है। वे तो उस समुद्र की तरह धीर और गम्भीर होते हैं जिसके अन्तर्प्रवाह पर प्रलयंकर प्रभंजनों के प्रकोप का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लंगड़ा तैमूर इक्कीस वार की चढ़ाइयों के वाद जीता था। साधारण व्यक्ति उसकी जैसी असफलताओं से घवरा जाता। विगत महायुद्ध के आरम्भ में मित्र राष्ट्रों की हार होती गई, पर वे धीरता-पूर्वक, चौकसी के साथ लड़ते रहे और अन्त में विजय उन्हीं के हाथ लगी। गाँधीजी को सत्याग्रह में अनेक विफलताएँ मिलीं। कभी उन्हें सत्याग्रह बन्द करना पड़ा, कभी उसका तरीका बदलना पड़ा। पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और स्वराज्य के संकल्प को अपने जीवन-काल में ही साकार कर लिया। जेम्स वाट (वाष्प के इंजन का आविष्कारक) और आर्कराइट जैसे सुप्रसिद्ध आविष्कारकों को भी कम कठिनाइयों का मुकावला नहीं करना पड़ा। एक वार तो कुछ लोगों ने आर्कराइट के सूत काटने की मशीन को नष्ट ही कर दिया था। किन्तु वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा और अपने उद्योग से अपार ख्याति पा सका। सफलता के लिये धीरता का होना आवश्यक है। खेतिहर को भी वीज लगाकर महीनों तक फसल के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वृक्ष रोपनेवाले वागवान् को फलों के लिये वर्षों की वाट जोहनी पड़ती है। वड़े काम तत्काल नहीं होते। ताजमहल और कोणार्क क्षणों या दिनों में नहीं वन सके थे। वर्षों तक धैर्यपूर्वक होनेवाले परिश्रम के परिणामस्वरूप ही ऐसी महान् वस्तुएँ तैयार होती हैं। स्टीफनसन को रेल का इंजन वनाने में पन्द्रह साल और जेम्सवाट को भाप का इंजन वनाने में तीस साल लगे थे। मैथिलीशरण जी को साकेत लिखने में वारह वर्ष लगे। अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' जैसे उपन्यास की पांडुलिपि कई वार तैयार की और नष्ट कर दी। वे वर्षों तक उसका सम्पादन करते गए। तभी तो वह ऐसा वन सका। कारलाइल फ्रांस की क्रांति का इतिहास लिख रहा था। एक वार उसकी दासी ने भूल से उसकी पांडुलिपि का एक भाग आग में डाल दिया। लेकिन कारलाइल ने धैर्य नहीं छोड़ा।

इस प्रकार इच्छा और उद्योग सफलता के मूल मंत्र हैं। संकल्पपूर्ण इच्छा

करने और धीरतापूर्वक उसकी पूर्त्ति के लिए उद्योग करने से सफलता का मिलना अवश्यम्भावी है। एक वार शस्त्र-परीक्षा के अवसर पर जब कर्ण के प्रति अपमान प्रकट किया गया था तव उसने सिंहगर्जन किया था—'दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम् ।' उसके ये वचन आज भारतीय राष्ट्र का नारा बनने योग्य हैं। संकल्प और पौरुष सब कुछ कर सकता है। कहावत है 'करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।' फिर प्रतिभाशालियों का क्या कहना? मगर उनके लिए सूरमा होने की जरूरत है। सफलता उसी को मिलेगी जो संकल्प पर सब कुछ न्यौछावर कर देने को तैयार होगा। शंकर के माथे पर अमृत है, उनके कंठ में जहर है। शंकर की मूर्त्ति बतलाती है कि अमृत उसे ही मिलेगा जो जहर पीने को तैयार रहेगा। जो अपनी उंगली पर तलवार पिजाते हैं, वही सुभट्ट होते हैं। गंगा को पृथ्वी पर भगीरथ ही उतार सकते हैं क्योंकि उनमें दृढ़ इच्छा और उसकी पूर्त्ति के लिए वर्षों तक तपस्या करने और दुःख झेलने की क्षमता है।



स्वावलम्बन और आत्मविश्वास

'भगवान् उन्हीं की सहायता करता है, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं' —यह एक सुप्रसिद्ध सुभाषित है और आज का युग इस उक्ति को प्रमाणित कर रहा है। कोई समय था जब राजा, धनी एवं समृद्ध व्यक्तियों की संतान विना उद्यम किये ही जीवन के सुखों का उपभोग कर लेती थी और लोग कर्म से भाग्य को बड़ा मान सकते थे। किन्तु आधुनिक युग ने उनकी कल्पनाओं को ढाह दिया है। आज का युग साम्यवाद का, सर्वोदय का युग है। जन्मजात स्वामित्व अब नहीं मिलने का। सामंतवाद और पूँजीवाद अब नहीं रहेंगे। आज 'भूदान यज्ञ' हो रहा है और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण।

तात्पर्य यह कि आज कर्म करने से जीवन के मनोरथ पूरे होंगे, भाग्य के भरोसे रहने से नहीं। आज "उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः" वाला सिद्धान्त पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध हो रहा है।

आज स्वावलम्बन जीवन की सफलता की कुंजी है। यह मनुष्य की उन्नति की पहली सीढ़ी है। जो भाग्य के भरोसे बैठेंगे वे बैठे ही रह जायेंगे। जो दूसरों की ओर मदद के लिये देखेंगे, देखते ही रह जायेंगे। आज दुनिया में प्रतिस्पर्द्धा की भावना सीमा को छू रही है। हरेक आदमी, हरेक देश, हरेक राष्ट्र अपना रास्ता बनाने में व्यस्त है। किसी के पास दूसरों की ओर देखने के लिए समय नहीं है। इसलिए आज दूसरों की ओर से मदद की आशा रखना दुराशा मात्र है। फिर दूसरों की ओर देखने से एक और बुराई होती है। आदमी परमुखापेक्षी हो जाता है। वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। स्वयं कुछ करने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। अपने आप में, अपनी बुद्धि में, अपने पराक्रम में उसका विश्वास नहीं होता। ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी कुछ कर नहीं पाता। वह तो सदा दूसरों के हाथ का खिलौना बना रहता है। उसके भीतर हीन-मनोवृत्ति (Inferiority Complex) चली आती है। ऐसा आदमी अपने उद्यमी साथियों से सदा पिछड़ा रहता है। फिर अपने कर्म के फल से मिलनेवाला जो आह्लादकर आनन्द होता है उसका वह भागी नहीं होता। वह मालिक के दानों पर पलनेवाला पक्षी है, जो वृक्ष की डालियों पर लगे ताजा फलों का स्वाद नहीं जानता। ऐसा व्यक्ति हाथ रहते बेहाथ, पैर रहते लंगड़ा, आँख रहते अंधा और विवेक रहते अविवेकी है। वह न तो अपना कल्याण कर पाता है और न परिवार, देश वा विश्व का। वह तो समाज का एक बेजान बोझ है। ऐसा व्यक्ति समाज वा परिवार में कभी आदर नहीं पाता।

हम वर्षों तक परतन्त्र रहे और हमारी गुलामी के अनेक कारण थे—बैर-फूट इत्यादि। पर, जो सबसे बड़ा कारण था, वह यह था कि हममें स्वावलम्बन की मात्रा प्रायः नहीं रह गई थी। इसके लिए अंग्रेजों ने षड्यंत्र भी किये थे। उन्होंने हमारे परिवार को नष्ट कर दिया था। हिन्दुस्तान से

ने कच्चे माल—रूई, लोहा, अबरक, लाह इत्यादि अपने देश में ले जाते थ और हमारे लिए फिर उन्हीं से बने पक्के माल भेज देते थे, जिन्हें हमें काफी पैसे देकर खरीदना पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि हमें कपड़े-लत्ते ओजार-मशीन, यहाँ तक कि पैसे में पचीस बिकनेवाली सुइयों के लिए भी उन्हीं पर निर्भर करना पड़ता था। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षापद्धति का प्रचार किया। इसके कर्णधार मैकाले ने अपने एक गुप्त पत्र में लिखा था कि यदि यह शिक्षा चल गई तो हिन्दुस्तानियों के कपाल पर पुश्त-दरपुश्त के लिए गुलामी का पट्टा बँध जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। अंग्रेजी शिक्षा देने वाले विद्यालय गुलाम पैदा करने के कारखाना बन गए। विद्यालयों से निकलनेवाले स्नातक घर-गृहस्थी के काम-काज लायक भी नहीं रह गए। नोकरी, खास कर किरानीगिरी के सिवाय उनके पास दूसरा चारा नहीं था। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करके वे उसी शासन-व्यवस्था के पुर्जे बन जाते थे, जो सम्पूर्ण देश को पीस रही थी। गाँधी जी ने इस त्रुटि को पहचाना था। इसलिए वे बुनियादी शिक्षा के पक्षपाती थे। बुनियादी शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को इस लायक बनाया जाता है कि आरम्भ से ही वह अपनी कमाई से शिक्षा चलाये ताकि उसमें स्वावलम्बन की भावना आये और शिक्षणालय से बाहर निकलकर दुनिया में आने पर परमुखापेक्षी न हो। गाँधी जी ने प्रत्यक देशवासी को सूत कातकर कपड़े बुनने का आदेश भी इसीलिए दिया था कि हम में स्वावलम्बन आये, और हम विलायत से ध्यान हटाकर अपनी ओर देखें, अपनी ताकत को पहचानें।

आज हम स्वतन्त्र हैं, पर इसलिए स्वावलम्बन की हमें और अधिक आवश्यकता है। जब तक हम अपने देश में कृषि, उद्योग, हथियार, मशीन, इत्यादि तैयार करके इसे स्वावलम्बी नहीं बना देते, तब तक हमारी स्वतंत्रता स्थायी नहीं हो सकती। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के लिए स्वावलम्बन उन्नति की पहली शर्त है।

स्वावलम्बन के लिए आत्मविश्वास का होना जरूरी है। आत्मविश्वास के अभाव में आदमी स्वावलम्बी नहीं हो सकता। जिस आदमी का अपने आप पर

विश्वास नहीं है, वह स्वावलम्बन के मार्ग पर आनेवाली कठिनाइयों का मुकावला कैसे कर सकता है?

इतिहास की एक कहानी है। नेपोलियन जैसा पराक्रमी व्यक्ति पश्चिम में शायद ही कोई दूसरा हुआ हो। सम्पूर्ण यूरोप पर उसकी धाक थी। एक समय की बात है कि उसे इटली पर आक्रमण करना था। वह आगे बढ़ा, पर राह में आल्प्स जैसा पहाड़ खड़ा हो गया। बिना आल्प्स पार किये वह इटली पहुँच नहीं सकता था। सो उसने सैनिकों को पहाड़ पार करने का आदेश दिया। लेकिन सैनिकों को इतनी हिम्मत कहाँ कि वे आल्प्स जैसे ऊँचे पहाड़ को पार करने के लिए आगे बढ़ें। साधारण मनुष्य के लिए यह काम असंभव था। कुछ लोगों ने तो यह भी समझा कि यह नेपोलियन का पागल-पन है। सेना के पदाधिकारियों ने उसे समझाया भी। लेकिन आत्मविश्वासी नेपोलियन कब माननेवाला था। उसने अपने घोड़े को आगे बढ़ा दिया और सेनासहित उस पार उतरकर इटली पर विजय प्राप्त कर ली। ऐसे आत्म-विश्वासी के लिए संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। तभी तो नेपोलियन कहा करता था कि संसार में असम्भव नाम की कोई वस्तु नहीं है।

एक आधुनिक कहानी है एंड्रू कारनेगी की। वे अमेरिका के एक प्रसिद्ध व्यवसायी और करोड़पति हैं। उनका जन्म एक दरिद्र परिवार में हुआ था। उनके पिता घूम-घूम कर मेजपोश वेचा करते थे। माँ को भी १६-१८ घंटा खटना पड़ता था। उस समय कारनेगी के पास कपड़ों के नाम पर केवल एक कमीज थी। पर उसी समय उसने अपनी माँ से कहा था—'घबराओ नहीं। मैं एक बड़ा आदमी बनूँगा। तुम्हें रेशम से लाद दूँगा।' ऐसा आत्मविश्वास था उसमें और यह फलीभूत हुआ। आर्कराइट को कौन नहीं जानता? इस महान यंत्रकार का जन्म भी दरिद्रता की कोख से हुआ था। वह कभी स्कूल न जा सका। जो कुछ उसने सीखा और किया, सब अपने परिश्रम, लगन और आत्मविश्वास से किया। सबसे पहले उसने हजामत बनाने का काम सीखा और इस लगन से यह श्रम किया कि थोड़े ही दिनों में उसके ग्राहकों की संख्या अनगिनत हो गई। इसके बाद उसने सूत कातने की मशीन बनाने

की कोशिश की। उसके पास जो कुछ पूजी थी उसे इस काम में बड़े विश्वास के साथ लगा दिया। वह उसकी पत्नी को अच्छा न लगा। उसने उस मशीन को तोड़-फोड़ दिया और फलस्वरूप आर्कराइट को अपनी स्त्री से अलग रहना पड़ा। पर उसने हिम्मत नहीं हारी और कुछ दिनों के बाद एक कारखाना खड़ा कर दिया। पर शत्रुओं की कमी न थी। लंकाशायर के कारीगर उसे अपना निशाना बनाने लगे। वह कारीगरों का शत्रु घोषित किया गया और एक दिन उसका कारखाना भी लूट लिया गया। किन्तु उसने आत्मविश्वास नहीं खोया। एक दिन एक आदमी ने राह चलते, उसे सुनाकर अपने एक मित्र से कहा ,देखा, हमने उस खसूट नाई को कैसा मजा चखाया। आर्कराइट ने भी ऊँचे स्वर में जवाब दिया—'कोई बात नहीं, हमारे पास अभी भी एक पुराना उस्तरा बचा हुआ है, जो तुम सब की हजामत बना देगा।' यही आत्मविश्वास था जिसके बल पर आर्कराइट, आर्कराइट बना और एक दिन अपने आविष्कारों के उपलक्ष में उसे 'नाइट' की पदवी मिलें।

हमारे देश का इतिहास एवं साहित्य स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास के उदाहरणों से भरा पड़ा है। चाणक्य ने आत्मविश्वास के बल पर ही नन्द का नाश कर भारतवर्ष में एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की थी और सिकन्दर के आक्रमण से देश को रक्षा की थी। सुभाषचन्द्र बोस कहा करते थे कि 'अंग्रेजों ने एक भी ऐसी गोली नहीं बनाई जो मुझे मार सके।' इसी आत्मविश्वास ने दुश्मनों को थर्रा दिया था और विदेश में पड़े लाखों भारतीयों में उमंग की लहर दौड़ा दी थी। गाँधीजी को कौन-सा कष्ट न झेलना पड़ा। एक-आध बार सत्याग्रह भी बन्द करना पड़ा। लेकिन उनका आत्मविश्वास नहीं टूटा। इसी आत्मविश्वास के कारण उग्र काँग्रेसी भी उनका लोहा मान लेते थे। अन्त में गाँधीजी ने स्वराज्य के स्वप्न को अपने जीवन-काल में ही साकार कर दिखाया। गाँधीजी के पास धन तथा हथियार न थे, कूटनीतिज्ञता भी न थी। उनके पास सत्य था, स्वावलम्बन था, विश्वास था। करुण रस के आचार्य भवभूति ने एक जगह लिखा है कि 'आज मेरे प्रशंसक नहीं हैं तो क्या, दुनिया बहुत बड़ी है। एक समय आयेगा जब

हमारे काव्य को पहचाननेवाले मिलेंगे।' आज भवभूति को कौन भुला सकता है? कबीरदास पर न जाने कितने अत्याचार हुए किन्तु अपने मार्ग से न डिगे। वे बेलौस रहे—

कबिरा खड़ा बजार मे सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।

उन्हें विश्वास था कि—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताय।
समरथ का परवाना लाये, हंस, उबारन आय।।

उनके आत्मविश्वास की यह वाणी गूँजी और आज समस्त हिंदी संसार उस वाणी से निनादित है।

निरालाजी आत्मविश्वास के साक्षात् उदाहरण हैं। बहुत पहले अपने रचना-काल के आरम्भिक दिनों में, जब उन्होंने 'जूही की कली', जो बहुतों की दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है (उत्कृष्ट रचना तो है ही)' (सरस्वती' में छपने को भेजी, तो उसके सम्पादक स्व० द्विवेदी जी ने नहीं छापा और उसे लौटा दिया। और आज वे निस्सन्देह एशिया के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

——:०:——

मानव-जीवन में खेल-कूद का स्थान

मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की सनातन प्रवृत्तियों में आत्मरक्षण (Self defence), आत्मविस्तार (Self-extention), आत्मप्रकाश (Self-expression) इत्यादि प्रमुख हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों से उसकी सभी क्रियायें उत्प्रेरित रहती हैं। निदान, इसकी क्रीड़ा-वृत्ति को भी इन्हीं सनातन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में समझना होगा। किन्तु यह कोई एकाकी प्रवृत्ति नहीं है। इसमें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त, रक्षण, और आक्रमण की भूमिका भी निहित है।

वैसे खेल भी एक क्रिया है, किन्तु साधारण गम्भीर कर्मों से इसका रूप नहीं मिलता। साधारण काम आदमी करता है क्योंकि उसे करना पड़ता है। वह उसके लिए अनिवार्य होता है। उसके करने में एक किस्म की वाहरी लाचारी होती है। कर्मचारियों का ठीक समय पर काम पर जाना, रोजगारियों का पर्व-त्योहार में भी दूकान पर बैठना इत्यादि इसी प्रकार की अनिवार्यता और बेबसी से युक्त काम है। खेल में कोई वाहरी लाचारी नहीं होती। खेल वाह्य वाध्यता से नहीं, अन्तर के उल्लास से खेला जाता है। माता-पिता की आँखें बचाकर खेल में शरीक होने के लिए भाग जाना वालक वा किशोर के जीवन की एक मामूली घटना है।

फिर काम का एक निश्चित उद्देश्य होता है। उसमें भौतिक लाभ का एक पहलू होता है। इसलिए आदमी अपनी इच्छा के अनुसार काम नहीं करता। उसे परिस्थिति देखकर, बाजार पर आँख रखकर, लाभ-हानि का हिसाब करके काम करना पड़ता है। खेल में कोई ऐसा उद्देश्य नहीं होता यानी काम का उद्देश्य जहाँ वास्तविक होता है, वहाँ खेल का काल्पनिक। इसलिए काम के असफल होने पर जहाँ आदमी को वास्तविक दुःख होता है वहाँ प्रतियोगिता में हार जानेवाले खिलाड़ी को चन्द मिनटों तक ठहरनेवाला बनावटी अफसोस मात्र। फिर, खेल में स्वेच्छा होती है और इसीलिए उसमें प्रसन्नता की एक सतत धारा भी, प्रवाहित होती रहती है जो हार में भी सूखती नहीं।

स्वेच्छा और आंतरिक उमंग के कारण खेल एक रचनात्मक (Creative) क्रिया होती है, जबकि साधारण काम स्थिर मूल्यों, रीतियों इत्यादि के कारण विवेचनात्मक होता है।

संक्षेप में, खेल आन्तरिक उल्लास से उत्प्रेरित, आत्मिक स्वच्छंदता से पूर्ण और रचनात्मक प्रतिभा से युक्त एक क्रिया है।

खेल की प्रकृति का विवेचन अनेक विद्वानों ने किया है।

"१. शिलर-स्पेन्सर का सिद्धान्त—अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार वालक में आवश्यकता से अधिक शक्ति भरी हुई है।

२५

जिस प्रकार किसी 'सेफ्टी वाल्व' द्वारा इंजन में बढ़ जानेवाली अतिरिक्त भाप को निकाला जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृति ने खेल के द्वारा बालक की अवांछित शक्ति को निकाल देने का बन्ध किया है किन्तु इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि खेल किन्हीं निश्चित धाराओं में प्रवाहित क्यों होता है और थक जाने पर हम क्यों खेलते हैं ? खेलनेवाले बालक की समता उस 'लोकोमोटिव इंजन' से की जाती है, जिसने कोयले के द्वारा आवश्यकता से अधिक शक्ति एकत्र कर ली है और इस हेतु, वह भाप निकालने के लिए विवश होता है।

२. लैजारस का सिद्धान्त——ताजगी का सिद्धान्त——इस सिद्धान्त का प्रतिपादन लार्ड कन्स ने किया और बाद में इसे पैट्रिक का समर्थन प्राप्त हुआ। इन महानुभाव की यह धारणा है कि खेल थके हुए बालकों को ताजा कर देता है; किन्तु काम की भाँति खेल में भी शक्ति का व्यय सन्निहित है। जब हम थक जाते हैं तब हमें आराम करना चाहिए। इस सिद्धान्त में प्रौढ़ व्यक्तियों के दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। खेल एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम जीवन की कठिनाइयों को भूल जाते हैं। इसलिए खेल बालक के स्नायु-संस्थान के ताजे स्नायुओं को काम में लाकर थके हुए स्नायुओं को आराम देता है जिसमें कि वे अपने भीतर एकत्र विषाक्त रासायनिक पदार्थ से निवृत्ति पा लें।

३. कार्ल ग्रूस का सिद्धांत——इस सिद्धांत का प्रतिपादन पहले-पहल मलब्रांच ने किया और बाद में इसका समर्थन कार्ल ग्रूस ने किया। इन महानुभाव की यह धारणा है कि खेल का उद्देश्य जीवन के लिए तैयारी करना है। खेल का समय हमारी तैयारी का समय है : जीवधारियों की निम्न श्रेणियों में खेल का अस्तित्व नहीं; क्योंकि उन्हें अपने पूर्वजों की प्रेरणाएँ और आदेश पहले से ही परिपक्व होकर प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत उच्च श्रेणियों में परिपक्वता की अवस्था बहुत लम्बी होती है, इसलिए उन्हें खेल की आवश्यकता बनी हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार खेल प्रकृति की एक युक्ति है जिसके द्वारा बालक अपने को वातावरण के अनुकूल बनाकर अपने

भविष्य का निर्माण करने में समर्थ होता है। बिल्ली का बच्चा एक गेंद का पीछा करके चूहे पकड़ने की कला सीखने मे अधिक कुछ नहीं करता : जन्म के समय मानव अत्यन्त ही अबोध होता है और उसे परिपक्वता का सबसे अधिक समय मिलता है। साथ ही खेल की प्रवृत्ति भी उसमें अधिक समय तक बनी रहती है। कार्ल ग्रूस के इस सिद्धान्त के अनुसार इन सबका अच्छा समाधान हो जाता है। मानवी खेल के विभिन्न रूप होते हैं क्योंकि मनुष्य के उत्तरदायित्व अनेक और भिन्न होते हैं।

४. स्टैनलोहाल का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनसार सब जीवधारी उन स्थितियों को दुहराते हैं, जिनमें होकर उनके पूर्वजों का विकास हुआ है। जहाँ कार्लग्रूस खेल को प्रकृति में एक प्रतीक्षा समझते हुए आगे की ओर देखता है, वहाँ स्टैनलो हाल खेल को एक पुनरावृत्ति मानते हुए पीछे की ओर मुड़ता है। सम्भवतः हाल को अपने इस सिद्धान्त का आश्रय हेकेले की धारणा में मिला कि 'व्यक्ति का विकास वंश-परम्परा के इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।' अस्तु, स्टैनलो हाल के अनुसार मानवी खेल की प्रतिक्रिया उसी क्रम में पायी जाती है, जिसमें मानव-जाति का विकास हुआ है। बालक का काटना, करवटें बदलना, लटकना, चढ़ना आदि छोटे खिलाड़ी जीवधारियों का अनुकरण मात्र है। दौड़ना, शिकार करना, फेंकना, कूदना आदि क्रियाएँ प्रारम्भिक मानवी पूर्वजों के ढंग पर हैं। बालकों में परस्पर प्रीति का व्यवहार मानवजाति के विकास की घुमक्कड़ स्थिति का द्योतक है। रचनात्मक कार्यों में बालक की दिलचस्पी चरवाहा जीवन की सुधि दिलाती है। सामूहिक या जातीय खेल मानव के पूर्ण सामाजिक विकास को प्रकट करते हैं; परन्तु यह पूछा जा सकता है कि बालक अपने प्रारम्भिक पूर्वजों की क्रियाओं को दुहराते क्यों हैं ? इसके लिए स्टैनली हाल को एक दूसरे सिद्धान्त की खोज करनी पड़ी।

५. स्टैनली हाल का द्वितीय सिद्धान्त—स्टैनली हाल ने अपने पहले सिद्धान्त से असन्तुष्ट होकर एक दूसरा सिद्धान्त खोज निकाला, जिसके अनुसार बालक में जन्म के समय इतनी अधिक अवांछित प्रवृत्तियाँ होती हैं कि वे दूर

न की जायँ, तो संसार में एक वड़ा उत्पात खड़ा हो जाय। इसलिए खेल प्रकृति को एक वड़ी युक्ति है, जिसके द्वारा बालक अपनो प्रवृत्तियों के परिष्कार में समर्थ होता है। मनोविज्ञान के सुप्रसिद्ध विद्वान 'नन' का कथन है कि 'मनुष्य वुराई और वेरहमी की अति प्राचीन प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकता; किन्तु खेल उसकी शरारत को छीन लेने का एक उत्तम उपाय है, खेल के द्वारा मनुष्य उन प्रवृत्तियों को सामाजिक विधान के लिए प्रेरक महत्त्वपूर्ण शक्तियों के रूप में परिवर्तित करता है। स्वभाव से हम लड़ाके हैं और हमें लड़ना अवश्य चाहिए। सभ्य मानव 'खेल' में लड़ता है। हमारा प्रत्येक खेल एक नकली लड़ाई है। आज जो वहुतेरे पहेलियाँ भर कर धनवान् होना चाहते हैं, मानो वे भाग्य से लड़ाई ठाने हुए हैं।"

हमारा उद्देश्य खेल की प्रवृत्तियों का शास्त्रीय अनुसंधान करना नहीं है। ऊपर के अवतरण इसलिए आए हैं कि हम जान लें कि खेल मनुष्य की एक स्वाभाविक और उपयोगी वृत्ति है।

खेल का जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम उससे एक विश्वास की उत्पत्ति होती है और साथ ही आगे आनेवाले जीवन की तैयारी भी। मनुष्य को अनेकविध इच्छाएँ होती हैं। सभी पूरी नहीं होतीं। कुछ दमित रह जाती हैं। और, आदमी इन दमित इच्छाओं, अभावों की पूर्ति कल्पनाओं से, कविता, कला, क्रीड़ा इत्यादि से करता है। घर की इच्छा रखनेवाला बालक घरौंदा बनाता है और उसे विश्वासपूर्वक घर समझता है। उसका यह विश्वास अपने कार्यकलाप और शक्ति पर होता है। यदि उसमें इस विश्वास की रक्षा की जाय तो वह जीवन के लिए वड़ा उपयोगी सिद्ध हो, पर नादान माता-पिता उसके बनाये घरौंदों को, लाठी के घोड़ों को, उसके सृजित खेलों को वर्बाद कर, उन्हें मिथ्या और समय को वर्वादी बताकर बालकों की सुकुमार विश्वास-भावना को अकारण ही नष्ट कर देते हैं, बच्चे खेलों में अपने विपक्षियों को हराना चाहते हैं, इसके लिए साहस और कौशल पैदा

---

१. 'वाल जीवन में खेल का स्थान', बालक-अंक, कल्याण।

करते हैं। खेल-खेल में आया हुआ यह कौशल उन्हें आगे के जीवन में आनेवाली कठिनाइयों से बचने के लिए तैयार करता है खेल की माता प्रकृति है। वह अपनी गोद में बच्चों को दुलार से अपनाकर खेला-खुलाकर आगे के लिए तैयार करती है। पश्चिम के लोगों ने इसका मर्म जाना है। मौनटेसरी ने तो बालकों की क्रीड़ा-प्रवृत्ति के आधार पर शिक्षा की एक नई पद्धति ही पेश की और वह आज संसार भर में लोकप्रिय है। यूरोप में घर पर बच्चों को खेलने के लिए 'मेकानो' (Mechano) दिया जाता है। इसमें कुछ पुर्जे अलग-अलग होते हैं और उन्हीं पुर्जों से कभी मोटरगाड़ी, कभी हवाई जहाज, कभी पानी-जहाज, क्रेन, कुर्सी, बेंच, पलंग, तराजू इत्यादि तैयार हो जाते हैं। बच्चों का इससे मनोरंजन भी होता है और वे कल-पुर्जे की अनेक बातें सीख भी जाते हैं।

खेल-कूद से शारीरिक लाभ तो होता ही है। जो जवानी में खेलते-कूदते नहीं वे समय के पहले ही बूढ़े हो जाते हैं, फुर्ती-चुस्ती खो बैठते हैं और अनेक व्याधियों का शिकार बनकर कष्ट भोगते हैं। मगर खेलने-कूदने वाला आदमी अन्त-अन्त तक फुर्तीला, चुस्त और कामकाजू बना रहता है।

चरित्र पर भी इसका कम असर नहीं होता। इससे एक सामुहिक सम्मिलन की भावना (Team spirit) आती है। कबड्डी, चिक्का, फुटबाल, वाली बाल, क्रिकेट इत्यादि में एक दल दूसरे दल का मुकाबला करता है। इसके लिए जरूरी होता है कि एक दल के सभी सदस्य एक दूसरे की मदद करें। यदि एक आदमी स्वार्थी हो जाय और स्वयं ही सारा श्रेय लेना चाहे तो उसका दल हार जायगा और उसे इस प्रकार वैयक्तिक श्रेय भी नहीं मिलगा।

फिर खेल में हार-जीत के अवास्तविक होने से खेलाड़ी में क्रीड़ा-भावना (Sportsman's spirit) आती है। खेल में यदि एक दल का कोई आदमी चोट खा जाय तो दूसरे दल का आदमी भी उसकी मदद को दौड़ पड़ता है। खेल के पहले दोनों दलों के सरदार मित्रतापूर्ण ढंग से हाथ मिलाते हैं और खेल खत्म होने पर हारनेवाले दल का सरदार जीतनेवाले सरदार

को शाबाशी देता है और जीतनेवाला दल 'विजयचिह्न' (Trophy) लेकर हारनेवाले दल की जय-जयकार करता है।

इस प्रकार खेल से आदमी में मैत्री-भाव आता है और आदमी जानता है किस प्रकार अपनी असफलता को, कठिनाई को, पीड़ा को हँस-हँसकर स्वीकार किया जाता है।

एक और बात बड़े महत्त्व की है। वास्तविक उद्देश्यवाले कामों में राजनैतिक दाँव-पेंच की गुंजाइश ज्यादा होती है। खेल में इसके लिए स्थान नहीं है। अंग्रेजी में क्रिकेट खेलना (to play cricket) एक मुहावरा बन गया है, जिसका अर्थ होता है खुले हृदय से व्यवहार करना।

अब तो खेल भी रोजगारी हो गये हैं। सही है कि रोजगार का ख्याल रखकर शायद ही कोई खेल सीखता है, पर अनेक फुटबाल, टेनिस, क्रिकेट इत्यादि के सिद्धहस्त खेलाड़ी रोजगारी (Professional) हो गए हैं। इससे बुराई नहीं होती बल्कि खेल-कूद को बढ़ावा मिलता है। बुराई होती है रुपये की बाजी पर ताश खेलने से। इससे जुए की चाट बढ़ती है। खेद है कि संसार भर के क्लबों में आज इसी की तो बोलती है। कलबर्टसन जैसे कुछ लोग इस खल पर किताब लिखकर तथा इसे खेलकर धनाढ्य हो गए हैं।

खेल अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र का भी एक साधन बन गया है। अनेक प्रतियोगिताएँ अन्तर्देशीय होती हैं। इन प्रतियोगिताओं में संसार के भिन्न २ देश भाग लेते हैं। इससे उस राजनैतिक कटुता से, जो देश-देश को एक दूसरे से अलग करती है, अलग एक मैत्रीपूर्ण वातावरण में सभी देशों के आदमियों को मिलने का अवसर मिलता है। अभी कुछ ही वर्ष पहले पाकिस्तान की क्रिकेट-टीम हिन्दुस्तान की टीम से खेलने आई थी और मर्मज्ञों का कहना है कि इस मैच ने दोनों देशों को जितना निकट लाया और दोनों के बीच की गलतफहमियों, संदेह और शंकाओं को जितना कम किया उतना इन देशों के अफसरों की बैठकों ने नहीं।

भारतवर्ष का सबसे पुराना खेल कौन है, कहना कठिन है। हाँ, गेंद खेलने की चर्चा अनेक प्राचीन ग्रंथों में है। घुड़सवारी और जलक्रीड़ा के भी प्राचीन उल्लेख हैं। चौपड़ और शतरंज तो यहीं की चीज ही है। देहातों में जमाने से कबड्डी, चिक्का, डंडा-गेंद, गिल्ली इत्यादि खेल चल रहे हैं। क्रिकेट को देखने से ऐसा लगता है जैसे वह डंडा-गेंद और गिल्ली-डंडा का एक विकसित रूप हो। कुश्ती में तो भारत का स्थान आज भी सर्वोपरि है।

आज फुटबाल, वालो बाल, बास्केट बाल, कुश्ती पिलो-फाइट, टेनिस, टेबुल टेनिस, हाकी, बैडमिन्टन इत्यादि खेल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त कर चुके हैं, और हर साल इनकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ होती हैं।

कुश्ती में पिछले दिनों में हिन्दुस्तान का गामा नाम करता रहा, आजकल हरवंश सिंह। हाकी की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में हिन्दुस्तान कई वर्षों से प्रथम होता रहा है। गत वर्ष हेलसिनकी में जो विश्व ओलम्पिक हुआ उसमें भी भारतीय टीम ने अन्य सभी प्रतियोगी देशों को हरा दिया। क्रिकेट में इसी साल हिन्दुस्तान ने पाकिस्तान को हराया और आज उसके दो खेलाड़ियों मनकड और गुप्ते की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ खेलाड़ियों में होती है।

यदि बास्केट बाल और वाली बाल का आविर्भाव विदेश में हुआ और अमेरिका में वे पहली बार क्रमश: १८९२ और १८९५ में खेले गए तो बैडमिन्टन १८६० में पहली बार भारत में ब्रिटिश सेना के अफसरों द्वारा खेला गया। उस समय बैडमिन्टन का नाम 'पूना' था। इसका दूसरा नाम आगे चलकर बैडमिन्टन हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से राष्ट्रीय पोशाक की तरह राष्ट्रीय खेल पर भी विचार किया जा रहा है। अभी कबड्डी को राष्ट्रीय सम्मान मिल रहा है और उसकी देशव्यापी प्रतियोगिताएँ भी हो रही हैं।

सिनेमा का जीवन पर प्रभाव

उस दिन महल्ले के दो जवान लड़के घर छोड़कर भाग निकले। लोगों ने बताया दोनों अपने-अपने घर से काफी पैसे भी लेते गए हैं। उनके कुछ दोस्तों ने बाद को कहा कि वे दोनों बम्बई गए हैं सिनेमा में भर्ती होने।

जाने को तो वे चले गये, अब जो बीत रही है वह परिवारवालों पर। माँ-बाप रो रहे हैं बच्चों के लिए, घर की बहुएँ रो रही हैं गहनों के लिए जो उनके उजागर देवर लेते गए हैं। गर्ज कि लड़के दोनों सिनेमा में भर्ती होंगे न होंगे, मगर घर पर सिनेमा के दृश्यों का काफी मसाला छोड़ते गये हैं।

सिनेमा का प्रभाव केवल इतने तक ही नहीं है। कुछ दिन हुए इसी शहर में "रोमियो जुलियट" फिल्म आयी। उसका असर एक नौजवान पर इस कदर पड़ा कि उसने अपनी जुलियट से मिलने के लिए बगल के मकान पर छलांग लगायी और कमर तोड़कर जनाब बैठ गये। जिस लाठी के सहारे बाप बेचारे बुढ़ौती खेपना चाहते थे वह लाल होने के पहले टूट गयी।

तो, एक ओर तो ये किस्से हैं, दूसरी ओर मेरे एक मित्र के साले हैं, जो चन्द साल पहले बम्बई क्या गए, परिस्तान पहुँच गये! किसी नई कम्पनी के, नये डाइरेक्टर साहब के चंग चढ़ गये हैं। अब पैसे भी हैं, कार भी है और कार में साथ बैठनेवालियों की भी कोई कमी नहीं। थोड़े दिन पहले कोई पूछता नहीं था, उनको आज हर जगह पूछ। माँ-बाप अलग खुश हैं। पहले रोते थे, बेटा आवारा निकल गया, मगर आज कोई पूछे तो छूटे ही कहेंगे, फिल्म क्या बुरी लाइन है? यह तो अपना देश है कि इतनी बदनामी है, विलायत में तो हर स्कूल में फिल्म दिखलायी जाती हैं। रूस में इसे पढ़ाई का एक माध्यम ही बना दिया गया है।

दरअसल ये दोनों तरह की बातें सही हैं। सिनेमा अपने में कुछ बुरा नहीं है। सब कुछ इस्तेमाल पर निर्भर करता है। पर सिनेमा एक ऐसा साधन है जिसका असर व्यापक रूप से और बड़ी गहराई तक पड़ता है।

इसलिए इसके बुरे इस्तेमाल का नतीजा पूरे समाज को भुगतना पड़ता है और उसी तरह उचित इस्तेमाल से सामूहिक लाभ भी होता है।

सिनेमा के दो पक्ष हैं, एक औद्योगिक और दूसरा सामाजिक। दोनों का हमारे जीवन पर प्रभाव है। औद्योगिक पक्ष का प्रभाव पहले इस उद्योग में लगे हुए व्यवसायियों और कलाकारों पर पड़ता है। पर सामाजिक पक्ष का असर सीधे सामाजिक जीवन पर है।

अपने देश में सिनेमा-प्रचार के मुश्किल से ४० वर्ष हुए हैं। इसकी पहुँच भी उन्हीं लोगों तक है जो शहरों में हैं या जो शहरों में आते-जाते हैं। इस अपने देश का बहुत बड़ा भाग आज भी सिनेमा से दूर है। पर जितनी दूर तक सिनेमा का प्रचार हुआ है, उतनी दूर तक इसका असर हमारे जीवन पर पड़ा है। यह प्रभाव केवल बाहर-बाहर ही नहीं है बल्कि लोगों के विचारों और दृष्टिकोण पर भी है। न केवल बाजार में बरुआकट कुरता, काननवाला कट ब्लाउज और डगलस कट मूछें हैं, बल्कि कितने ही पढ़े-लिखे नौजवान सिनेमा से सीखे हुए ढंग पर जीवन में चलने की कोशिश भी करते हैं।

सिनेमा हम मुख्यतया मनोरंजन के लिए देखते हैं। इसमें हमें हर तरह के संभव-असंभव दृश्य देखने को मिलते हैं और हम यह भी जानते हैं कि इन दृश्यों में काम करनेवाले अभिनेता उसी तरह हाड़-माँस के आदमी हैं, जिस तरह हम-आप हैं। यह एक ओर तो हमारी कुतूहल-वृत्ति को शान्त करता है, दूसरी ओर हमारी कामनाओं द्वारा प्रक्षेपित चित्रों को वास्तविक जीवन में मूर्त्त होता-सा दिखलाकर हमें मानसिक तुष्टि देता है। यही कारण है कि सिनेमा देखते समय कुछ क्षणों के लिए ही सभी युवक-युवतियाँ अपने को नायक-नायिका के स्थान पर मान लेती हैं और खलनायक के रूप में वे तमाम बाधाएँ उनकी आँखों के आगे मूर्त्त हो उठती हैं जो उनके जीवन में उपस्थित होती हैं। और चूँकि भारतीय परम्परा के अनुसार अधिकतर भारतीय फिल्में सुखान्त बनती हैं, लोगों को सफलता का सुख भी मिल जाता है। अतः सिनेमा मनोरंजन का एक ऐसा साधन है जिसमें कटु यथार्थ से

पलायन है और आशाओं की काल्पनिक पूर्त्ति भी है। यही कारण है कि बड़े बूढ़ों के नैतिक उपदेशों के बावजूद लोग सिनेमा देखने जाते हैं (अब तो शहरों में सिनेमा देखने के खिलाफ उपदेश देनेवालों की तादाद खत्म हो चली है) और सिनेमाघरों के हाल भरे रहते हैं। सिनेमा का आकर्षण आज लोगों में इतना अधिक है कि मनोरंजन के अन्य साधन छूटते जा रहे हैं। नाटक, सरकस, और खेल-कूद की ओर लोगों की इतनी कम दिलचस्पी है कि इन सब का अपने देश में विकास ही नहीं हो रहा है। जहाँ तक सर्कस का सवाल है, उसकी कमी की पूर्त्ति तो स्टेंट फिल्मों से हो जाती है। पर नाटक की उपेक्षा वास्तव में हमारे कला-जीवन के लिए अफसोस की बात है। एकतो यों ही अपने यहाँ राष्ट्रीय रंगमंच नहीं बना और अब जब हम इस ओर ध्यान दे सकते थे हम सबके सब सिनेमा की ओर ही झुके हुए हैं।

पर इसका एक दूसरा पहलू भी है। सिनेमा हमारे मनोरंजन का साधन है, जो एक स्थान पर ही सर्कस, नाटक और संगीत का आनन्द सस्ते में दे जाता है। इसलिए शहर के मेहनतकश लोग मजदूर और निम्न मध्यमवर्गीय बाबू गम गलत करने के लिए सिनेमा का सहारा लेते हैं। वे महँगे मनोरंजन की कल्पना नहीं कर सकते। पश्चिम के देशों में ऐसी बात नहीं। वहाँ यदि सिनेमा घर हर कदम पर है, तो अच्छे-अच्छे नाटक-घर, नाच-घर और क्लब-रूम भी कुछ कम नहीं हैं। लोगों की अभिरुचि जगी हुई है, पास में पैसे भी पर्याप्त हैं। फलतः वे सिनेमा देखने जाते हैं, तो नाटक, नाच, और कन्सर्ट में भी जाते हैं। उनके लिए मनोरंजन महज पलायन नहीं, बल्कि कला की उपासना और जीवन का आवश्यक कर्त्तव्य भी है। इसके विपरीत भारतीय जीवन का स्तर इतना नीचे आ गया है कि मनोरंजन हमारे लिए पलायन है। कला की उपासना अभिजात वर्ग का मनबहलाव मात्र है। ऐसी दशा में सिनेमा का अपने समाज में विशेष उपयोग है और जब तक अन्य साधन, सस्ती दर पर सुलभ नहीं हो जाते, तब तक सिनेमा का आकर्षण हमारे जीवन पर रहेगा।

इस प्रसंग में भारतीय फिल्मों के स्टैन्डर्ड पर विचार करना अनुचित नहीं होगा। प्रारम्भ की फिल्मों में सामाजिक विषयवस्तु का उचित मान था। किसी में आदर्श की अनुप्रेरणा मिलती थी, तो किसी में यथार्थ का नंगापन। पर सब का केन्द्र-भारतीय जीवन का उन्नयन था। पर आज हमारी फिल्में उस पथ से विचलित होकर सस्ते रोमांस के पिच्छल मार्ग पर गिरती-पड़ती चल रही हैं। निर्माताओं का ध्यान केवल पैसे बनाने की ओर है, उन्हें कदाचित ही इसका ज्ञान है कि फिल्मों का सामाजिक मूल्य भी है। इसलिए वे महज ऐसी तस्वीरें देते हैं, जिनमें कम-से-कम पैसे लगाने पड़ते हैं और लोगों को पलायन-वृत्ति को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिलता है। अपने देश में जन-रुचि इतनी जाग्रत और परिष्कृत भी नहीं कि निर्माताओं की इस मनोवृत्ति के विरोध में आवाज बुलन्द करे। वह ऐसी स्थिति में है कि अगर उसे प्रयासपूर्वक उठाया न गया तो लगातार अवनति होती जायगी। यही कारण है कि निर्मातागण बुरी तस्वीर बनाकर पैसे बना रहे हैं। वे प्रेम के त्रिकोणवाले फार्मूला के अनुसार घटनाओं का सृजन करते हैं, और सिर्फ स्थान, पात्र और समय में थोड़ा हेर-फेर कर देते हैं। नतीजा है कि औसत भारतीय फिल्म भ्रष्ट होती है। उनमें सामाजिक जिम्मेदारियों से लापरवाह युवक-युवतियों के प्रेम-व्यापार के सिवा कुछ रहता नहीं। ऐसा भी नहीं कि सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष के रिश्ते को असंतुलित करनेवाली समस्याओं पर प्रकाश पड़े। अगर समस्या होती है तो नायक-नायिका की व्यक्तिगत समस्या जिसके इर्द-गिर्द नकली दार्शनिकता का मायाजाल रच दिया जाता है, और फिर उसे जाल को सामंती या जासूसी हिकमत से काटने की कोशिश रहती है। सभी फिल्मों में नाकाम जिन्दगी, कुचले अरमान और बेजान शिकायतों के नगमे रहते हैं। न तो कथावस्तु जीवन की यथार्थता से परिचित कराती है और न गाने उल्लास के तराने सुनाते हैं। केवल असफलताओं का रोना-गाना रहता है। दरअसल ये फिल्में हमारे समाज की असफल आकांक्षाओं का फायदा उठाकर बनायी जाती हैं। इनका क्या असर हमारे जीवन पर पड़ रहा है, यह किसी से छिपा नहीं। कहाँ तो हमें

असफलताओं और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा मिलनी चाहिए थी और कहाँ हमारी फिल्में पलायन और पराजय की वृत्तियों को तीव्र कर रही हैं। ये लोगों को सामाजिक दृष्टि से गैरजिम्मेवार बनाती हैं।

अधिकांश भारतीय फिल्मों के वातावरण पर पाश्चात्य अथवा अभिजात जीवन का प्रभाव रहता है। इसका, कुछ उदार प्रभाव भी पड़ता है। भिन्न वातावरण और जीवनप्रणाली के विरुद्ध चिरपोषित पूर्वाग्रह अप्रत्यक्ष रूप से ढीला पड़ता है। देश के विभिन्न समाजों और वर्गों का भी परिचय मिलता है और इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय एकता के सूत्र दृढ़ होते हैं।

सिनेमा के कारण हिन्दी का भी देश में व्यापक प्रचार हुआ है। देश में जितनी भी फिल्में बनती हैं उनमें से अधिकांश हिन्दी की हैं। इसका एक-मात्र कारण यह है कि हिन्दी सारे देश में समझी जाती है। हिन्दी की फिल्में देश के सभी भागों में प्रदर्शित की जाती हैं। इस प्रकार अहिन्दी भाषी प्रान्तों को भी हिन्दी का परिचय मिलता है। यह भी हमारी राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक है।

हिन्दी भाषा के स्वरूप पर भी सिनेमा ने कुछ कम प्रभाव नहीं डाला है। अन्तर्प्रान्तीय प्रचार और कथोपकथन की सुगमता के लिए फिल्मी हिन्दी ने अन्य प्रान्तों के मुहावरों और शब्दों को ग्रहण किया है और राष्ट्र-भाषा के पद के योग्य उदारता दिखलायी है। इस प्रकार की शैली केवल फिल्मों और कथोपकथन तक सीमित नहीं है, बल्कि उन तमाम लेखकों द्वारा, जो कि फिल्मी फीचर लिखते हैं या फिल्मी अखबारों से संबंधित हैं, व्यवहृत होती है।

फिल्मी संगीत ने भी भारतीय जीवन में अपना निश्चित स्थान बना लिया है। हर त्योहार और उत्सव के मौके पर लोग लाउड-स्पीकर के जरिए फिल्मी गानों की रेकर्ड बजाते हैं, यों भी शहर की गलियों में घूमनेवाले छोकड़े बराबर किसी न किसी फिल्मी गाने की धुन दोहराते रहते हैं।

फिल्मी तर्जों का यह हमला हिन्दी कविता पर भी हुआ है। आज जो भी गीत लिखे जाते हैं उनमें किसी न किसी फिल्मी गीत का असर देखा

जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कारण गीतों में सस्ती भावुकता को प्रश्रय दिया जाने लगा है। साहित्य के लिए यह कदापि अभिनन्दनीय नहीं।

फिल्मी गीतों पर नाक सिकोड़नेवालों की कमी नहीं। उनके लिए शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन अक्षम्य और असह्य है। पर हम जानते हैं कि आज शास्त्रीय संगीत म्रियमाण कला है। उसके लिए जितने परिष्कृत ज्ञान और रुचि की आवश्यकता है, वह लोगों में नहीं। आज हमारे जीवन में इतनी भाग दौड़ है कि हम शास्त्रीय संगीत के लिए न समय दे सकते हैं और न उतना धैर्य ही रखते हैं। पैसों का भी अभाव है। शास्त्रीय संगीत के जानकारों की अभ्यर्थना के लिए जितने पैसों की आवश्यकता होती है, कम ही लोग दे पाते हैं। इसमें संगीतज्ञों का अवश्य दोष नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय संगीत की जानकारी उन्हें दीर्घ साधना के बाद प्राप्त होती है और वह उनकी रोजी का भी साधन है।

सिनेमा ने भारतीय और यूरोपीय संगीतों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया है। यह तो विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसमें सफलता ही मिली है, पर मानना चाहिए कि यह प्रयास अभिनन्दनीय है। शायद इससे भारतीय संगीत की रुकी हुई धारा को नयी गति और स्फूर्ति मिले।

रंगमंच और चित्रपट

शताब्दियों तक रंगमंच ही परिष्कृत रुचि के दर्शकों के लिए मनोरंजन का प्रमुख साधन बना रहा। इसकी प्रधानता को चुनौती दे सकनेवाला अन्य कोई साधन नहीं था। किन्तु चित्रपट के आविर्भाव के साथ ही साथ रंगमंच का प्रतिद्वन्द्वी इस क्षेत्र में उपस्थित हो गया और अपने अस्तित्व की रक्षा के प्रयत्न में रंगमंच को अपने रूप को परिवर्तित करने के लिए बाध्य होना

पड़ा। बिजली की बत्ती, घूमने वाला मंच, वैज्ञानिक प्रणाली से विकसित दृश्यावलियाँ और पर्दे आदि ने रंगमंच के शिल्प में युगान्तर उपस्थित कर दिया।

पहले तो सिनेमा मूक चित्रपट के रूप में ही आया था। तब कथा -भंगिमा के सहारे कही जाती थी, और दर्शकों को उनका आशय समझने के लिए कल्पना का उपयोग करना पड़ता था। इससे दर्शकों को पूर्ण संतोष नहीं होता था, क्योंकि वे अभिनेताओं के मुंह से कहानी सुनना चाहते थे और दृश्यों को वास्तविक जीवन के अनुरूप देखना पसन्द करते थे। इस माँग के फलस्वरूप सवाक् चित्रपट का आविर्भाव हुआ।

अब रंगमंच का वस्तुतः समर्थ प्रतियोगी उपस्थित हो गया। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि अब रंगमंच के दिन लद गये। किन्तु रंगमंच आज भी अनेक विशिष्ट साधनों को व्यवहृत कर अपने अस्तित्व की रक्षा करने में सफल हुआ है। प्रवेश-शुल्क को घटा कर, मधुर संगीत और सजीव कथोपकथन से युक्त सामाजिक नाटकों के अभिनय के द्वारा, तथा व्यंग्य-विनोद के समावेश से पुराने ऐतिहासिक नाटकों का रूपांतर कर दिया गया और उसे नया जीवन मिला।

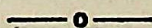
सवाक् चित्रपट के पक्ष में एक और बात है, जिसका अभाव पुराने ढंग के नाटकों में था। चित्रपट प्रायः दो घंटों में समाप्त हो जाता है, जब कि पहले के छोटे नाटक भी चार घंटे से कम में अभिनीत नहीं हो पाते थे। आज की भाग-दौड़ की दुनिया में मनोरंजन के लिए इतना समय बहुत कम लोगों के पास रहता है, अतः चित्रपट अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हो चला। किन्तु नाटक ने यहां भी अपने को परिवर्त्तित कर लिया।

रंगमंच और चित्रपट दोनों ही गतिवान जीवन का चित्रण करते हैं, किन्तु दोनों की पद्धति और शिल्प में आकाश-पाताल का अन्तर है। गतिवान जीवन के किसी प्रकार के उपस्थापन में शब्द और भाव-भंगिमा साथ-साथ चलती हैं। रंगमंच में दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान है जबकि चित्रपट में दूसरी ही प्रमुख है। यही कारण है कि रंगमंच के

सर्वोत्कृष्ट अभिनेता सदैव चित्रपट के भी सर्वोत्कृष्ट अभिनेता नहीं सिद्ध होते, न चित्रपट के अभिनेता सदैव रंगमंच के सर्वोत्कृष्ट अभिनेता प्रमाणित होते हैं। ऐसे कुछ ही अभिनेता होते हैं जो दोनों माध्यमों में समान रूप से सफल हों। उदाहरण के लिए बंगला रंचमंच के प्रसिद्ध अभिनेता चित्रपट के सफल अभिनेता नहीं हो सके और हिन्दी चित्रपट के सफल अभिनेता अशोक कुमार रंगमंच पर कामयाब न हो सके। दोनों में समान रूप से सफल अभिनेता के अच्छे उदाहरण हैं पृथ्वीराज कपूर।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। रंगमंच के लिए दर्शक एक महत्वपूर्ण अंग होता है। उनकी तालियाँ और हर्ष-ध्वनि अभिनताओं में जान डाल देती हैं तो सीटी और आवाज़कशी उन्हें निराश और असफ़ल बनाती हैं। किन्तु चित्रपट में यह दिक्कत नहीं है। वहाँ अभिनेता की छाया और दर्शकों के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित ही नहीं होता।

यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में कला के इन दोनों रूपों के बीच प्रतियोगिता है, किन्तु अपने, अर्थात् कला के, क्षेत्र में कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं हो सकती। कला के दो परस्पर भिन्न माध्यम हैं पर दोनों मनुष्य के आनंद और मनोरंजन के लिए मित्रों की तरह प्रयास करते हैं।



आधुनिक जीवन में रेडियो की उपयोगिता

आधुनिक युग विज्ञान का युग कहा गया है। वस्तुतः वर्तमान युग अणु-युग कहा जाने लगा है। बल्कि, अब तो इसे स्पुटनिक (कृत्रिम उपग्रह)-युग कहना उचित है। इसमें सन्देह भी नहीं कि शारीरिक श्रम से बिजली का युग और बिजली से अणुशक्ति का युग मानव सभ्यता के इतिहास के महत्वपूर्ण अध्याय हैं। इसमें तब आश्चर्य ही क्या कि आधुनिक युग में रेडियो शिक्षा-प्रसार का एक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण साधन बनता जाय।

प्राचीन काल में संसार की आबादी विरल थी, परिवहन तथा संचार के साधन सुगम न थे और प्रत्येक बस्ती अथवा जनपद को अस्तित्व-रक्षा के लिए आत्म-निर्भर होना पड़ता था तथा इसके लिए सहज रूप से सामुदायिक तथा सहयोगपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। शिक्षा की समस्या का जो रूप उन दिनों था, उसके निराकरण के साधन भी वैसे ही असंश्लिष्ट थे। उस समय की सामाजिक शिक्षा बुनियादी तौर पर धर्म-शिक्षा थी जिसके संदर्भ में व्यक्त का वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार का जीवन आ जाता था। उस समय मानव-धर्म तथा सामाजिक कर्तव्य अधिकांश में तो समान ही थे और उनमें यदि कुछ विभेद था भी तो इतना बड़ा नहीं कि दोनों के लिए अलग-अलग शिक्षा की प्रणालियाँ बनायी जातीं।

ज्यों-ज्यों संसार की आबादी बढ़ी है त्यों-त्यों आत्मनिर्भर इकाइयाँ, बस्तियाँ और जनपदों के छोटे आधारों को छोड़कर अपेक्षतया विस्तृत आधारों पर स्थित हुई हैं। इस नवीन स्थिति के फलस्वरूप व्यक्ति का सामान्य जीवन अधिक सुगम तथा सुरक्षित हुआ है, यद्यपि इस प्रकार के जीवन की सृष्टि करनेवाले साधनों से मनुष्य का सम्बन्ध करने तथा उसे लाभ पहुँचाने की प्रणालियाँ संश्लिष्ट हुई है। इन प्रणालियों को आज विज्ञान कहते हैं।

विज्ञान आज के युग का कितना व्यापक तथा अनिवार्य अंग है, यह देखने के लिये हमें खोज ढूँढ़ करने की आवश्यकता नहीं होगी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के दैनंदिन जीवन में विज्ञान प्राणपोषक वायु के समान घुल-मिल गया है। भोजन, वस्त्र, आवास, यात्रा, तात्पर्य कि मनुष्य के लिये अनिवार्य किसी भी कार्य में आप विज्ञान की गरिमा उपस्थित पायेंगे। पुरानी आत्मनिर्भर बस्तियों और जनपदों के आधार को छोड़कर मानव समुदाय की बड़ी इकाइयों की सृष्टि करने में विज्ञान ने सिमेंट का काम किया है। रेडियो और आधुनिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार तथा धारणा विज्ञान और वैज्ञानिक युग की संतान है।

विज्ञान का आघात हमारे समाज पर कितना पड़ा है, इसके अनुमान के लिये देश-विदेश के बीच यात्राओं में लगे समय से ही सहज ढंग से किया

जा सकता है। पहले जहाँ अपने देश के ही एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करने में जीवित लौट आ सकने की संभावना कम रहती थी और यात्रा पूर्ण करने में महीनों लग जाते थे, वहाँ आज कुछ घंटों मे मनुष्य एक स्थान से दूसरे सुदूर स्थान पर भलाचंगा पहुँच जाता है। तात्पर्य यह कि विज्ञान ने दूरी और समय को सिमटा दिया है जिसके फलस्वरूप देश-विदेशों के बीच की दूरी कमती जा रही है और आज के मानव को विश्व के संदर्भ में सभी बातों को सोचना तथा करना पड़ता है। सारी दुनिया को कुछ क्षणों में सिमटा देने के काम करनेवाले यंत्रों में रेडियो तथा टेलीफोन आदि का बहुत बहुत प्रभावशाली हाथ रहा है।

दूसरी बात यह कि जब जीवन से विज्ञान इतना घुल-मिल जायगा, जब वह कुछेक वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं से निकल कर समस्त मानव-जीवन को अनिवार्यरूपेण आच्छन्न कर लेगा तो इस प्रकार के आघात से कुछ इसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होगी। कहने का तात्पर्य यह कि शिक्षा के सम्बन्ध में भी आज मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है।

यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि आज की समस्त शिक्षा-पद्धति एवं प्रणाली में मनोविज्ञान ने आमूल क्रांति ला दी है। पहले जहाँ कतिपय विषय अवस्था विशेष के लिये वर्जित माने जाते थे, वहाँ आज बल इस पर दिया जा रहा है कि उन विषयों को उन्हीं विशेष अवस्थाओं में बतला दिया जाय। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्तित्व में पूर्ण तथा सुन्दर विकास के लिए अपनाया गया है। कहा जाता है कि इस दृष्टिकोण से निर्धारित प्रणाली और विषय के ज्ञान से स्वस्थ मानसिक विकास होता है। रेडियो द्वारा शिक्षा देने का विचार भी मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

आज के मानव-समदाय की बड़ी इकाइयाँ—राष्ट्र तथा राष्ट्रमंडल आदि—शिक्षा के लिये केवल धर्म-शिक्षा पर निर्भर नहीं रह सकतीं। यद्यपि मूलतः मानव धर्म सर्वत्र एकही है तथापि देश-काल के भेद से उसे विभिन्न प्रकार के अनेक चोंगे पहना दिये गये हैं कि वह अपने अलग-अलग रूपों में

दीख पड़ता है। धर्म के इन योगों ने मानवजाति को समानता के सूत्र में आबद्ध करने के स्थान पर उनके बीच दरारें पैदा की हैं और अब मानव-जीवन के विकास के लिये उनकी सार्थकता संदिग्ध हो उठी है। अतः विज्ञान के सर्वव्यापी शिल्प ने शिक्षा को भी बहुविध प्रकारों में बाँध रखा है।

रेडियो की विशिष्टता यह है कि वह एक ही समय में संपूर्ण संसार के इच्छुक और साधन-संपन्न व्यक्तियों में एक ही ज्ञान का वितरण कर सकने में समर्थ है। इस संदर्भ में रेडियो की सर्वाधिक उपयोगिता तब है, जब वह सर्वोपयोगी शिक्षा का प्रसार करता है।

प्रश्न उठता है कि सर्वोपयोगी शिक्षा कौन-सी है ? गणित या इतिहास, भूगोल या जीवशास्त्र, साहित्य या अर्थशास्त्र ? निस्सन्देह उपर्युक्त सभी विषय समान रूप से सभी का ज्ञानवर्द्धन कर सकेंगे और एक अच्छे समाज की रचना के लिए समान समझदारी के व्यक्तियों की आवश्यकता होती भी है। रेडियो इन विषयों के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करने में शिक्षा-शास्त्रियों की सहायता करता है। लेकिन ये सारे विषय सभी सभ्य देश के शिक्षालयों में पढ़ाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन विषयों में प्रवेश पाने के लिए जैसे नियमित और क्रमबद्ध रूप से,ध्यान देने की अपेक्षा है, वह रेडियो के श्रोताओं के लिए संभव नहीं है। अवश्य ही इन विषयों पर साधारण ज्ञान बढ़ाने के लिये रेडियो द्वारा जो कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं, वे अपने उद्देश्य की सिद्धि कर पाते हैं।

सामाजिक शिक्षा-प्रसार में रेडियो कितना शक्तिशाली हो सकता है उसकी एतद्विषयक संभावनाओं से अवगत होने के लिए यह उचित होगा कि हम सामाजिक शिक्षा की धारणा के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट कर लें।

शिक्षालयों, पाठशालाओं, कालेजों, प्राविधिक कालेजों आदि में विभिन्न विषयों में जो शिक्षा दी जाती है, वह निश्चय ही सामाजिक शिक्षा नहीं कही जा सकती। वह वस्तुतः शास्त्रीय शिक्षा की संज्ञा पाने की अधिकारिणी है। शास्त्रीय शिक्षा विषय-विशेष के विस्तृत ज्ञान को कहेंगे, दूसरे शब्दों में ऐसे आलयों में विभिन्न विषयों में जो शिक्षा दी जाती है, उसका ध्येय

शिक्षार्थियों को क्रमशः विषय-प्रवेश में विशेषज्ञता प्राप्त करना होता है। इसकी आवश्यकता भी अनिवार्य है; स्पष्ट भी, यदि कुछ लोग इन विषयों में शास्त्रीय रूप से लगे न रहें तो इन विषयों संबंधी ज्ञान का परिवर्द्धन संभव ही न होगा। तात्पर्य यह कि इन विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान का विस्तार होता चले, शास्त्रीय शिक्षा की इसीलिए अनिवार्य आवश्यकता होगी। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान का कार्यकारी रूप ही सामाजिक शिक्षा कहलायेगी।

सामाजिक शिक्षा में पांडित्य ध्येय नहीं, प्राप्त ज्ञान, अर्जित अभिज्ञता का समाज निर्माण, संचालन तथा विकासार्थ लगाना ही सामाजिक शिक्षा का ध्येय होता है। ऐसा इसलिये कि उस ज्ञान के आलोक में अनेक सामाजिक कठिनाइयाँ और समस्याएँ दूर की जा सकती हैं। उदाहरण के लिये अर्थ-शास्त्र को लें। इस विषय का पंडित होना एक बात है, इसे समाज पर लागू करके सामाजिक विषमताओं का हल निकालना दूसरा। अतएव रेडियो पांडित्य देने योग्य शिक्षा का प्रसार नहीं कर सकता और यदि करे तो वैसा कार्य निस्सन्देह निष्फल होगा। रेडियो द्वारा हम किसी भी विषय सम्बन्धी वैसी जानकारी का प्रसारण करते हैं जिसे बिना किसी प्रकार की विशेष तैयारी के हम अपने जीवन के विभिन्न पक्षों में लागू कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि रेडियो द्वारा शिक्षा देने का विचार, जैसा कि कहा जा चुका है; मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है। मनोविज्ञान यह मानता है कि यदि शिक्षा की बातों को मनोरंजन के साथ घुला-मिलाकर, याना मनोरंजन बनाकर दिया जाय, तो वे अधिक ग्राह्य होंगी। मनोरंजन की, जीवन को स्वस्थ बनाने के लिये परम आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। मनोरंजन का प्रभाव मानसिक जीवन पर भी पड़ता है और मानसिक अथवा शारीरिक श्रांति मिटाने के लिये मनोरंजन एक अमोघ अस्त्र है। इस दृष्टि से भी, यदि मनोरंजन के साथ ही शिक्षाप्रद बातों का प्रसार किया जाय तो वह अवश्य ही कारगर होगा। और रेडियो इसके लिए एक सशक्त साधन है, यह अब स्पष्ट हो चुका है।

स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिये, ग्रामीणों और सैनिकों तथा विशिष्ट प्रकार के वर्गों के लिये कतिपय क्षेत्रीय कार्यक्रम भी रेडियो द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। क्षेत्रीय ज्ञानवर्द्धन के इस प्रकार की लोकप्रियता पिछले दिनों काफी बढ़ी है। विशेषतः ऐसे देशों में जहाँ रेडियो संस्थान कल्याण राज्य के अंग हैं, इस प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा शिक्षा वितरण की महत्ता निर्विवाद है। समाजवादी प्रकार के देशों में तो प्राविधिक शिक्षा के प्रसार के लिये भी रेडियो का बहुत महत्वपूर्ण रूप में उपयोग किया जाता है।

अर्ध विकसित देशों में, विशेषतः ऐसे अर्धविकसित देशों में जहाँ सर्वत्र आवागमन की सुगम व्यवस्था नहीं हो पायी है, रेडियो द्वारा प्राविधिक का मूल्य, एक अभिकर्त्ता के रूप में अत्यन्त मूल्यवान है; उदाहरण के लिये अपने देश को ही लें। हमारा देश, यद्यपि कृषि-प्रधान है, तथापि कृषि के साधन हमारे यहाँ अभी भी पुराने और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अपर्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त हमारा कृषि विषयक अनुसंधानशालाओं में कृषि के सम्बन्ध में जो नवीन प्रामाणिक अन्वेषण होते हैं, उनकी सूचना हमारे देश के अधिकांश कृषकों तक उचित साधनों के अभाव में पहुँच ही नहीं पाता। इस दूसरे प्रकार के अभाव में की पूर्ति के लिए रेडियो से उत्तम अन्य कोई साधन मानव-जाति के हाथ में नहीं। इसी उद्देश्य से प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक रेडियो की व्यवस्था की गयी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में बड़े पैमाने पर इस सामुदायिक श्रवण-योजना की कार्यान्विति की जानेवाली है।

लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में लगाये जानवाले रेडियो का महत्व इतना ही नहीं कि उसके माध्यम से कृषकों को सामान्य ढंग से प्राविधिक शिक्षा मिलती है। वह एक और कार्य करता है जो प्राविधिक ज्ञान वितरण से तनिक भी कम महत्व नहीं रखता। वह है सामाजिक शिक्षा का प्रसार। आधुनिक युग में सामाजिक शिक्षा का स्थान मूलतः वही है जो प्राचीन काल में धर्म-शिक्षा का था। सामाजिक शिक्षा का उद्देश्य प्रथमतः जन-साधारण के सर्वतोमुखी विकास के लिए जन-साधारण के मन में चेतना का उदय करना, उनके

कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों तथा मिथ्या धारणाओं के सम्बन्ध में उन्हें सचेत करना तथा द्वितीयतः उन्हें एक अच्छा नागरिक, अच्छा पड़ोसी और अच्छा व्यक्ति बनने की प्रेरणा देना है। सामाजिक शिक्षा का यह कार्य रेडियो द्वारा प्रसारित किये गये शिक्षाप्रद रोचक नाटकों, वार्तालापों तथा वार्त्ताओं द्वारा सम्पन्न होता है। मानवीय संवेदनाओं को रसाधार बनाकर रचे गये रूपक इस दिशा में बड़ा काय करने की क्षमता रखते हैं। साहित्य के शाश्वत संदेशों को बड़े पैमाने पर प्रभावोत्पादक ढंग से अशिक्षित तथा अर्ध-शिक्षित जनता में प्रसारित करने का कार्य रेडियो द्वारा ही संभव है। मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्थापित करने के लिये, उनके मन में एकात्मता का भाव उत्पन्न करने के लिए ऐसे उच्चकोटि के साहित्य की महत्ता सर्वविदित है और रेडियो अल्प-व्यय पर सामुदायिक रूप से जनता को इनका लाभ दे सकता है।

रेडियो द्वारा वयस्क एवं बाल शिक्षा के सम्बन्ध में भी प्रयोग किये गये हैं। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य संबद्ध वर्गों पर विशिष्ट प्रकार का प्रभाव डालना मात्र होता है। इस प्रकार के कार्य की सफलता का ज्ञान यद्यपि आँखों द्वारा नहीं किया जा सकता, तथापि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार इनका प्रभाव अनुकूल होगा, यह निस्सन्देह है।

रेडियो द्वारा इस प्रकार शिक्षा प्रसार में केवल एक ही कठिनता है कि यदि कोई बात श्रोता की समझ में न आई, अथवा श्रोता चाहता हो कि उसे दुहराया जाय, तो वह तत्काल संभव नहीं हो सकता। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह है कि देहातों में सामुदायिक श्रवण मनोवैज्ञानिक पारस्परिक भेदभाव आदि के मिट जाने की संभावना है साथ ही श्रोता को काफी कम समय में बिना परिश्रम किये, अनेक प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में काफी सूचनाएँ मिल जाती हैं। क्या खेल-कूद, क्या साहित्य, क्या अर्थशास्त्र, क्या ग्रामीण समस्या सभी पर सामान्य सूचनाएँ रेडियो द्वारा प्रसारित की जाती हैं जिन्हें श्रोता आसानी से ग्रहण करता है।

रेडियो द्वारा शिक्षण प्रसार का जहाँ तक भारत में संभव है, एक कठिनाई है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। भारत में रेडियो सरकार

का ही एक विभाग है। स्पष्ट है कि इसके कार्यक्रम सरकारी दृष्टिकोण के अनुकूल पड़ें, इसे ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में विचारों की अभ्यस्ति (Conditioning) की आशंका हो सकती है। किन्तु बावजूद इन सबके इसे तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रेडियो, केवल 'टेलीफोन' को छोड़कर सामान्य शिक्षा प्रसार के लिये अन्यतम सशक्त साधन है।

आकाशवाणी (RADIO) : शिक्षा के माध्यम के रूप में

एक बच्चा दूसरों को बोलते सुन कर ही स्वयं बोलना सीखता है। आकाशवाणी के द्वारा शिक्षात्मक वार्त्ता-प्रसारण इसी सिद्धान्त का व्यापक रूप है, जिसमें वार्त्ताओं के माध्यम से लोगों को शिक्षित करने का प्रयास रहता है। इतिहास को नाटक का रूप देकर, भूगोल को वार्त्तालाप में परिवर्तित कर और कविता के कुशल पाठ के द्वारा औसत शिशु के लिए एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया जाता है और आकाशवाणी से इन्हें सुन कर वह क्षणों में उतना सीख लेता है जितना घंटों में पुस्तक पढ़कर या शिक्षक से सुन कर ग्रहण नहीं कर पाता।

विश्वविद्यालय के वयस्क छात्र भी विषय विशेष पर किसी अधिकारी विद्वान् को बोलते सुनना पसन्द करते हैं। देश-विदेश के विशेषज्ञों की वार्त्ताएँ आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से एक समय में ही प्रसारित की जा सकती है, या एक स्टूडियो में उनका रेकार्ड बना कर विभिन्न केन्द्रों में वितरित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए कार्यक्रम आयोजित कर आकाशवाणी उनमें विचार-विमर्श करने और स्पष्टतापूर्वक बोलने की शक्ति विकसित करती है।

आकाशवाणी के माध्यम से जन-शिक्षा का भी सफल प्रयास किया जा सकता है। आकाशवाणी ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा कम-से-कम शिक्षकों

की सहायता से जनता शिक्षित की जा सकती है। एक बात और है—उच्चरित शब्द लिखे शब्द से अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है; अतः आकाशवाणी से प्रसारित वार्त्ताओं का शैक्षणिक महत्व अत्यधिक है। हमारे देश में ग्रामीण श्रोताओं के लिए आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों में विशेष आयोजन किए जाते हैं और यह निस्संदिग्धरूप में प्रमाणित हो गया है कि स्वास्थ्य, सफाई और अन्य उपयोगी बातों की शिक्षा के लिए एक अमोघ साधन हमें प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार सैनिक शिक्षा भी आकाशवाणी के द्वारा बड़ी आसानी से लोगों को दी जा सकती है।

स्वतन्त्र भारत में स्कूली बच्चों की शिक्षा की समस्या बहुत जटिल हो गई है। स्कूल और कालेजों में छात्रों की बेहद भीड़ रहती है, अध्यापकों को अपनी शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है, और परिणाम यह होता है कि छात्रों को व्यक्तिगत प्रशिक्षणों से वंचित होना पड़ता है। इस समस्या को आकाशवाणी आसानी से सुलझा सकती है। आकाशवाणी एक स्कूल में पढ़ाए गए पाठ को अनेकों स्कूलों तक पहुँचा दे सकता है। प्रेस, फिल्म और रेडियो संबंधी 'यूनेस्को' आयोग (Commission) के प्रतिवेदन (Report) के अनुसार हमारे स्कूली वार्त्ता-प्रसरण में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्कूलों में तथा अन्य शिक्षणालयों में रेडियो-सेट पर्याप्त संख्या में नहीं रखे गए हैं । सामूहिक वार्त्ता प्रसरण को सर्व-सुलभ बना देने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार सस्ते रेडियो-सेटों के निर्माण को प्राथमिकता दे। जिन स्कूलों और कालेजों के पास पर्याप्त निधि हो, उन्हें रेडियो-सेट खरीदने के लिए प्रेरित करना भी जरूरी है। जिन शिक्षण-संस्थाओं को अर्थाभाव हो उन्हें रेडियो-सेट खरीदने के लिए सरकारी सहायता मिलनी चाहिए।

अर्थाभाव के कारण ही देश को, शिक्षा के क्षेत्र में, आकाशवाणी से उतना लाभ नहीं हो रहा जितना हो सकता है। अभी जितना पारिश्रमिक शैक्षणिक वार्त्ताओं के लिए प्रसारकों को दिया जाता है वह इतना कम है कि अच्छे लोग इस कार्य के लिए सुलभ नहीं होते । संगठन और योजना का भी अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। शैक्षणिक कार्यक्रम में सुनने के बाद

यही प्रभाव पड़ता है कि विभिन्न वय-वर्गों (Age groups) के लिए वार्त्ताओं की योजना बनाने में प्रायः परिश्रम और सूझ-बूझ से काम नहीं लिया जाता। उदाहरण के लिए अन्य उन्नत देशों की तरह भारतीय आकाशवाणी के कार्यक्रमों में ऐसा कोई निर्देश नहीं रहता--'सोलह वर्ष से ऊपर के लिए' या 'सोलह वर्ष से नीचे के लिए'--जिससे सुननेवाले को स्कूलों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कार्य-क्रम सुनने में सुविधा हो।

स्कूल के लिए आकाशवाणी से जो शैक्षणिक कार्य-क्रम प्रसारित होते हैं उन्हें सुनने से यह भी प्रतीत होता है कि उनके आयोजक यह निश्चित नहीं कर पाते कि वार्त्ताएँ पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में और उन्हीं पर अवलम्बित हों या पाठ्य-क्रम से भिन्न विषयों पर ध्यान केन्द्रित कर सुननेवाले छात्रों के सामान्य ज्ञान के विकास का प्रयत्न किया जाय। वस्तुतः शैक्षणिक कार्य-क्रमों में दोनों बातों का समन्वय वांछनीय है। पहले वर्ग में पाठ्य-क्रमानुरूप ऐसे विषय रखे जा सकते हैं जैसे इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि! दूसरे वर्ग में पाठ्य-क्रमेतर विषय सम्मिलित किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ नागरिकता-धर्म, सड़क पर चलने के नियम, वर्त्तमान युग की नित्य की महत्वपूर्ण घटनाएँ, सफाई इत्यादि।

यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि वार्त्ताओं को तैयार करने के लिए चुना कैसे व्यक्तियों को जाए। आयोजकों की मनोवृत्ति यह होती है कि सार्वजनिक प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों को ही इस काम के लिए निमंत्रित किया जाय। किन्तु स्कूली छात्रों के लिए बोलनेवाले के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो या बहुत बड़ा विद्वान् हो, बल्कि यह कि वह वार्त्ता को स्पष्टतापूर्वक प्रस्तुत कर सके और अभिव्यंजन की आकर्षक पद्धति से श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किये रख सके। स्कूल के शिक्षकों को भी बहुधा इस काम के लिए चुना जाता है। यह है तो ठीक, लेकिन यह भी एकमात्र सफल तरीका नहीं है।

शैक्षणिक कार्य-क्रमों को नेत्रहीनों के लाभार्थ भी आयोजित करना आवश्यक है। जिन्हें दुर्भाग्य से आँखों की शक्ति के सहारे पुस्तक पढ़ने से

वंचित होना पड़ा हो, उनके लिए श्रव्य शैक्षणिक कार्य-क्रमों से अधिक लाभ-दायक पद्धति और हो ही क्या सकती है? नेत्रहीनों की शिक्षण-समस्या का समाधान आवश्यक है। इस ओर आकाशवाणी के शैक्षणिक अधिकारियों को ध्यान देना उचित है।

जीवन पर भूगोल का प्रभाव

किसी भी देश के इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके भूगोल का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इतिहास के घटना-प्रवाह की दिशाओं के निरूपण के लिए यह जरूरी है कि हम महत्वपूर्ण स्थानों तथा प्रदेशों की निश्चित जानकारी रखें। इस के साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि विभिन्न देशों की भौगोलिक विशेषताओं का उनके निवासियों की प्रकृति पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है तथा राजनीतिक भाग्य से उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है।

यदि यह सब आधुनिक इतिहास के लिए सच है तो प्राचीन इतिहास के लिए और भी ज्यादा सच है। भारतवर्ष जैसे देश के प्राचीन इतिहास के लिए तो भूगोल का अध्ययन बहुत ही महत्व रखता है, क्योंकि इसमें अनेकानेक जातियों, प्रदेशों, नदियों, पर्वतों तथा नगरों के ऐसे नामों का उल्लेख रहता है जो हमारे लिए आज प्रायः अपरिचित हो गये हैं।

भूगोल का अध्ययन केवल राजनीतिक इतिहास के लिए ही उपयोगी नहीं है। हमने ऊपर प्राचीन भारतीय इतिहास की चर्चा की है; यदि इसे ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि राजनीतिक इतिहासकार के अतिरिक्त सामाजिक इतिहासकार भी भूगोल के अध्ययन से समान रूप से लाभान्वित हो सकता है। जब वह धर्मसूत्रों में उदीच्य, सिन्धु देश आदि के विशिष्ट प्रयोग पाता है तो उसके लिए यह जानना सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि उनकी अवस्थिति कहाँ है मानी जाती थी। इसी प्रकार साहित्य

के इतिहासकार को भी उदीच्य, विदर्भ, महाराष्ट्र, शूरसेन आदि स्थानोंकी अवस्थिति का निश्चित ज्ञान रखना आवश्यक है, क्योंकि विभिन्न 'रीतियाँ' तथा प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का नामकरण उन्हीं के आधार पर हुआ है। धार्मिक-पौराणिक इतिहासकार के लिए तो यह नितांत आवश्यक है कि वह देश की पवित्र नदियों, पर्वतों तथा तीर्थस्थानों और धर्म-क्षेत्रों का विस्तृत ज्ञान रखे।

भूगोल देश-विदेश के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है; फलतः इतिहास समझने के लिए भूगोल के अध्ययन की सहायता अपेक्षित होती है। इस सम्बन्ध में हम पाते हैं कि जहाँ देश की भौगोलिक विशेषताएँ स्थायी होती हैं, वहीं उसकी राजनीतिक सीमाएँ बदलती रहती हैं; भौगोलिक विशेषताएँ इतिहास के प्रारम्भिक रूप के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं; राष्ट्रों के निर्माण के बाद भी वे उनके भाग्य का नियंत्रण करती हैं तथा इतिहास के नवीन युग में ही, एक हद तक मानव-प्रयास भूगोल से स्वतन्त्र रह कर किंवा उस पर विजय प्राप्त कर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर पा रहा है।

आधुनिक भूगोल के अध्ययन की उपयोगिता, दूसरे विज्ञानों के अध्ययन की तरह, विश्व की राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्र में ही विशेष रूप से देखी जाती है; इसके विपरीत प्राचीन भूगोल के अध्ययन का महत्व, साहित्य तथा विज्ञान की शाखाओं के अध्ययन के समान ही प्राचीन विश्व के इतिहास के विश्लेषण के प्रयत्नों में प्रमाणित होता है। भूगोल से विरहित इतिहास एक दिग्भ्रांत पथिक के समान है। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, तिथिक्रम तथा भूगोल इतिहास के सूर्य और चन्द्र हैं, उसकी दो आँखें हैं।'

इस दृष्टिकोण से प्राचीन भूगोल का अध्ययन निम्नलिखित विभाजन के आधार पर किया जा सकता है:—

गणितिक भूगोल—पृथ्वी के आकार, जलवायु इत्यादि के सम्बन्ध में।

राजनीतिक भूगोल—राज्यों के विस्तार को ध्यान में रखते हुए प्रदेशों के सम्बन्ध में।

व्यापारिक भूगोल––विभिन्न देशों के व्यापार, व्यापार-केन्द्रों तथा व्यापार-सरणियों के सम्बन्ध में।

नैतिक भूगोल––भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासियों के स्वभाव, आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में।

धार्मिक भूगोल––विभिन्न धर्मों की प्रादेशिक अवस्थिति के सम्बन्ध में।

अब हम समवेत रूप से इस अध्ययन की प्रक्रिया पर विचार करें। प्राचीन भूगोल के अध्ययन से हमें उन जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों का ज्ञान होता है जो प्रागैतिहासिक काल में हुए थे। जलवायु उपज को नियंत्रित करती है और चूँकि किसी प्रदेश की उपज से यहाँ के निवासियों का अटूट सम्बन्ध रहता है अतः हम विभिन्न सभ्यताओं के स्थानांतरित होने के रहस्य को इस प्रकार के अध्ययन से ही बहुत दूर तक समझ पाते हैं। हम प्राचीन भूगोल के अध्ययन से ही इस बात का समाधान पा सकते हैं कि क्यों आज से हजारों वर्ष पूर्व सहारा, मिस्र, अरब और सिंध समृद्ध सभ्यताओं के केन्द्र थे। सहारा को ही ले लें। आज वह एक अपार सैकत-सागर के सिवा कुछ नहीं किन्तु जब नाइगर नदी सहारा की समतल भूमि से होकर गंबीज की खाड़ी में और कांगो नदी सिपा की खाड़ी में गिरती थी तथा नील नदी साथे पश्चिमाभिमुख प्रवाहित होती थी तो इसी रेगिस्तान में मनुष्यों की एक सतरंगी सभ्यता कायम थी।

हम अपने से प्रश्न करते हैं कि क्यों कल के महत्वपूर्ण स्थान आज उपेक्षित या विस्मृत हो गये हैं। मध्य एशिया का खोटान या सीरिया का पालमिरा कभी भरे-पूरे नगर थे, किन्तु आज उनका कोई महत्व नहीं रह गया है। इसी तरह हम ऐसे कृषि-प्रधान प्रदेशों के बारे में अवगत होते हैं जहाँ अब कृषि होती ही नहीं; ऐसी जातियों के बारे में जानकारी हासिल करते हैं जो अनावृष्टि के कारण एक देश से, दूसरे में जा बसी; तथा ऐसी संस्कृतियों और सभ्यताओं की कथा पढ़ते हैं जो एक केन्द्र से उन्मूलित होकर दूसरे में विकसित हुईं।

प्राचीन भूगोल के अध्ययन से हम यह भी जान पाते हैं कि मानव-जीवन तथा पुरानी जातियों के सामाजिक संघटन पर वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है; विभिन्न देशों के बीच जल तथा स्थल के कौन से व्यापारिक मार्ग थे तथा यातायात के साधनों के अभाव में भी संस्सार के दूरस्थ किस तरह परस्पर गुम्फित थे।

इतिहास के लिए इतने महत्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर बहुत दिनों तक लोगों का ध्यान गया ही नहीं किन्तु जैसे-जैसे इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती गयी वैसे-वैसे विद्वानों की दृष्टि इधर आकृष्ट हुई। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब कि विकास के सिद्धान्त की स्थापना के लिए प्रारम्भिक प्रयास हो रहे थे, विद्वानों का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो इतिहास के प्रत्येक स्तर और पहलू को भौगोलिक वातावरण तथा परिस्थिति की दृष्टि से परखने तथा समझने की कोशिश करता था। इसने यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मानव-इतिहास का विकास प्राकृतिक अथवा भौगोलिक परिस्थितियों के विकास का ही अनुसरण करता है और वस्तुत: ये ही मानव इतिहास की प्रेरक शक्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए मानव-सभ्यता के प्रथम स्तर में, भ्रमणशील अवस्था में, भिन्न-भिन्न मानव-जातियाँ तीन भिन्न परिस्थितियों में पायी जाती हैं—समुद्रतट पर, घने जंगलों में, या उपजाऊ प्रदेशों में। जो जाति समुद्र-तट पर रहती थी वह स्वभावत: मछुओं तथा समुद्री लोगों की जननी हुई और घने जंगलों में रहनेवाले बहुत दिनों तक शिकारी ही बने रहे, किन्तु उपजाऊ प्रदेशों के निवासी बहुत शीघ्र ही पशु-पालन भी करने लगे। इतिहास का भौगोलिक व्याख्याता इन्हीं मछुओं, शिकारियों और पशु-पालकों के संघटनों के आधार पर आज की सभी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं तथा विधानों की मीमांसा करने का प्रयास करता है।

मानव-इतिहास के अध्ययन के लिए विवेचन की यह भौगोलिक प्रणाली बहुत उपादेय सिद्ध हो सकती है किन्तु इसके प्रारम्भिक प्रतिपादक बहुधा अतिरंजना के दोषी दीख पड़ते हैं। इंगलैण्ड के बक्ल[१] तथा जर्मनी के रैंजल ऐसे

१. History of Civilization.

विद्वान हैं जिन्होंने अपने अतिशयोक्तिपूर्ण सिद्धान्तोंके फलस्वरूप आधुनिक भूगोल-शास्त्र का ही विरोध का विषय बना दिया था। रैंजल का सिद्धान्त था कि मानवीय कार्य प्राकृतिक परिस्थितियों में से निर्धारित होते हैं, ये परिस्थितियां स्थायी होती हैं और उनका प्रभाव दुर्गम होता है। कहने का का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का विकास कुछ विशिष्ट सरणियों से ही होगा—यदि इसके चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थितियां एक निश्चित प्रकार की हों। रैंजल के कुछ अनुयायी तो इतने अतिवादी थे कि उनका विश्वास था कि यदि इतिहास का नवीन प्रारम्भ और परिस्थितियाँ पहले जैसी हां हों तो इतिहास मूलतः पहले जैसे क्रम में ही विकसित होगा। 'निर्धारणवाद' (Determinism) का यह संप्रदाय पूर्ण 'भौगोलिक नियंत्रण' (Geographical Control) पर जोर देता था। बक्ल ने भी, अपने ढंग से, आंकड़ांकी विशेष रूप से सहायता लेकर 'निर्धारणवाद' का प्रतिपादन किया है।

बक्ल ने 'हिस्टरी ऑफ सिवलीजेशन्' नामक एक विराट ग्रंथमाला लिखने की योजना बनायी थी और इसके लिए उसने लगातार बीस वर्षों तक अध्ययन और परिश्रम किया था; किन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से इसके कुछ ही अंश वह लिख सका। और बातों के अतिरिक्त उसने अपनी पुस्तक में यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण पूर्व सदैव पिछड़ा ही बना रहेगा और पश्चिम ही सभ्यता का केन्द्र हो सकता है। उदाहरण के लिए भारत की उष्ण जलवायु तथा उर्वरता यहां की वर्ण-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है जो कि उसके पिछड़े होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

बक्ल तथा उनके अनुयायी इस स्थापना की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि भारत जैसे देशों में जहाँ एक ओर प्रकृति का उदार रूप प्रकट होता है और वहाँ के निवासी स्वल्प परिश्रम से अपना निर्वाह कर ले सकते हैं, वहीं, दूसरी ओर, इसका बुरा प्रभाव भी पड़ता है और जब प्रकृति अपना भयंकर रूप दिखलाती है तो लोग सर्वथा विवश तथा पराजित हो जाते हैं। इसी का परिणाम होता है भाग्यवाद। भाग्यवादी तथा अदूरदर्शी होने के कारण ऐसे लोग बाढ़ या अकाल के समय निस्सहाय और निरुपाय होकर हाथ पर

हाथ घरे बैठे रह जाने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते? फिर ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों का लाभ उठा कर समाज का वह बुद्धिमान वर्ग, जिसने पहले से आवश्यक सामग्रियाँ इकट्ठी कर रक्खी थीं, अधिकार प्राप्त कर लेता है और साधारण लोगों का शोषण शुरू कर देता है। इसलिए ऐसे जलवायु में वर्ग वैषम्यका उद्भव स्वाभाविक है इसीके परिणामस्वरूप हम भारत में वर्गव्यवस्था जैसी सामाजिक कुरीतियाँ पाते हैं। भाग्यवाद तथा वर्गवैषम्य के ऐसे वातावरण में प्रजातन्त्रवाद भला कैसे पनप सकता है?

इसी प्रकार चावल के रासायनिक तत्वों के परीक्षण के आधार पर बक्ल इसका भी समाधान करना चाहता है कि क्यों भारतीय स्वभावतः दर्शनोन्मुख तथा वास्तविकता से विमुख होते हैं। बक्ल का रसायनशास्त्र तो गलत है ही, उनका इतिहास भी उस समय एकदम खोखला प्रमाणित हो गया जब चावल और मछली खानेवाले जापानियों ने गेहूं और मांस खानेवाले रूसियों को प्रथम महायुद्ध में पराजित कर दिया।

बक्ल या रैंजल के सिद्धान्तों का दूसरे विद्वानों ने किन आधारों पर खंडन किया है, इसके विवेचन के पहले हम यह कह लेना आवश्यक समझते हैं कि शास्त्रीय दृष्टि से इनके मतों के खंडन के उपरांत भी भारतीय इतिहास के विदेशी विशेषज्ञ इन अस्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर यहां के इतिहास का निर्णय करते रहे। इनमें डाक्टर विंसेंट स्मिथ महोदय अग्रगण्य हैं: उन्होंने राजपूतों की पराजय के कारणों के संबंध में जो विचार उपस्थित किये हैं उनकी आलोचना करते हुए डाक्टर भांडारकर कहते हैं—"उनका (स्मिथ का) कहना है कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुस्लिम आक्रमणकारी कहीं अधिक शक्तिशाली थे क्योंकि वे शीत प्रदेशों से आते थे। वे शरीर से ज्यादा तगड़े और मजबूत होते थे क्योंकि वे आमिषभोजी थे जबकि हिन्दू साधारणतः निरामिषभोजी होते थे....एल्फिंस्टन इससे अधिक उदार दृष्टि रखते थे और उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि अरबों ने फारस की तरह भारत पर भी विजय प्राप्त करने में क्यों सफलता नहीं पायी! स्मिथ ने स्वयं स्वीकार किया है कि मुहम्मद की मृत्यु के अस्सी वर्षों के भीतर ही

अरबों ने फारस, सीरिया, पश्चिमी तुर्किस्तान, सिंध, मिस्र और दक्षिण स्पेन पर विजय प्राप्त कर ली थी। किंतु वे भारत को अपने अधीनस्थ नहीं कर सके। भारतवर्ष में इस्लाम के पैर इसके साढ़े चार सौ वर्षों के बाद ही जम पाये। यह एक विचित्र-सी बात है कि स्मिथ कैसे इतने बड़े काल-खंड की उपेक्षा कर देते हैं जो किसी दशा में महत्वशून्य नहीं माना जा सकता। स्मिथ यह नहीं समझ सके कि अरब आक्रमणकारी क्यों सिंध और मुल्तान के आगे अपना राज्य-विस्तार करने में असमर्थ हुए, यद्यपि उन्होंने एशिया, यूरोप तथा अफ्रिका के बहुत बड़े हिस्सों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और उनका धार्मिक उत्साह भी ठंढा नहीं पड़ा था। इस तथ्य की ओर एल्फिन्स्टन का ध्यान तो गया था, किन्तु स्मिथ ने इसकी उपेक्षा की है।"[१]

हमारी पाठ्य-पुस्तक में यह परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही और अभी तक इससे पूरा छुटकारा नहीं मिला है। जिस भ्रामक धारणा का बीजा-रोपण विदेशी विद्वानोंने किया, उसे हमारे देश के अधकचरे इतिहासज्ञों ने ब्रह्म-वाक्य मान कर हृदयंगम किया और छात्रों की न जाने कितनी पीढ़ियां उनकी रचनाओं के अध्ययन के फलस्वरूप अंधकार में पड़ी रहीं। हमारे स्वदेशी इतिहासकारों ने जिस बौद्धिक दासता और दिवालियापन का परिचय दिया है वह कितना दयनीय है, यह किसी से छिपा नहीं। इन विद्वानों ने स्कूली किताबों से लेकर उच्च कक्षा के योग ग्रंथों में बार-बार लिखा है कि भारत-वर्ष की उष्ण जलवायु यहाँ के निवासियों को आलसी और आरामतलब बना देती है। जहां समुद्रतट के समीप रहनेवाले उद्योगी और उत्साही होते हैं वहीं देश के भीतरी हिस्सों में रहनेवाले निष्क्रिय, निश्चेष्ट तथा निरुद्यमी पाये जाते हैं। लेकिन इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि पंजाब जैसे उष्ण प्रदेश में रहनेवाले सिक्ख घुरवारों का अगर कोई मुकाबला है तो रूसी घुड़-

---

१. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Vol. X, Pages 25—28.

सवारों में ही ! इसी तरह कुरुक्षेत्र तथा राजपूताना के जाट और राजपूत पूर्वी प्रदेश के भोजपुरी संसार के किसी देश के श्रेष्ठ सैनिकों की बराबरी कर सकते हैं। भारत के उष्ण प्रदेशों के इन्हीं सैनिकों ने अफगानिस्तान, फारस, चीन, तिब्बत, जर्मनी, अरब, तुर्की, अफ्रीका आदि देशों में अनेकानेक युद्धों में भाग लिया है तथा उल्लेखनीय सफलता भी प्राप्त की है।

ठीक इसी प्रकार जो विद्वान चीनियों को आलसी और निरुद्यमी कहते हैं, वे चीन के इतिहास से अपनी अनभिज्ञता का ही परिचय देते हैं। वे इस बात से अवगत नहीं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में चीनी साम्राज्य पीत सागर तथा दक्षिण चीनी सागर से लेकर कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था और सातवीं और आठवीं शताब्दियों में चीनियों ने तुर्किस्तान और कश्मीर के सुदूर और दुर्गम भागों में अपना प्रभाव स्थापित किया था।

अब हम एक प्रतिकूल पक्ष का उदाहरण देखें। क्या शीत देश में रहनेवाले निवासियों से भी अधिक आलसी तथा निष्क्रिय जाति का अन्यत्र दृष्टांत मिल सकता है ?

'भौगोलिक नियंत्रण' के इस सिद्धान्त का प्रतिष्ठित विद्वानोंने भी किस तरह दुरुपयोग किया है इसके दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। भारतीय इतिहास के शीर्ष-स्थानीय विद्वान् श्री यदुनाथ सरकार ने महाराष्ट्रियों की प्रत्येक विशेषता के कारण को महाराष्ट्र की भौगोलिक विचित्रताओं में ढूढ़ निकालने की कोशिश की है। उनका कहना है कि महाराष्ट्रीय भाषा में हिन्दी के आदरसूचक 'आप' जैसा कोई शब्द नहीं और इसका कारण इस भाषा के प्रदेश का पहाड़ी होना ही है। हम जहाँ यह स्वीकार करने में किसी तरह की द्विविधा का अनुभव नहीं करते कि महाराष्ट्र के इतिहास पर इसके भूगोल का पर्याप्त प्रभाव है, वहीं इस प्रकार की उद्भावनाओं की महत्व-शून्यता की ओर भी विवेकशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। गुजरात प्रदेश पहाड़ी नहीं है किन्तु वहाँ की भाषा में भी इस प्रकार के शब्दों का अभाव है और पश्चिम के हिन्दी-भाषा-भाषी भी 'आप' का अपेक्षाकृत बहुत कम ही प्रयोग करते हैं और स्वयं बंगला में भी 'आप'

का अस्तित्व होने पर भी 'तुम' की ही प्रधानता है। फलतः भूगोल का भाषा पर थोड़ा-बहुत प्रभाव माना तो जायगा, किन्तु इस रूप में अवश्य नहीं।

डा० ए० सी० दास ने भी कुछ भ्रामक भौगोलिक आधारों पर वैदिक काल की अतिशय प्राचीनता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार वेदों का युग वह था जब उत्तर भारत का पश्चिमी हिस्सा समुद्र था। उनके इस मंतव्य की पुष्टि इतिहास के किसी दूसरे स्रोत से नहीं होती, इस लिए इस पर विद्वानों ने काफी गम्भीरतापूर्वक विचार करना भी अनावश्यक समझा है। हाँ, दूसरे स्रोतों को ध्यान में रखते हुए नक्षत्र-विद्या के आधार या इसी विषय के संबंध में याकोबी और तिलक ने भी शोध किये हैं और उनके मत बहुत दूर तक स्वीकृत भी हो चुके हैं।

शास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में बक्ल और रैंजल के सिद्धान्त बहुत पहले ही अस्वीकृत हो गये थे। चार्ल्स किंग्स्ले ने १८६० में ही उसके सिद्धान्त का खंडन किया था।[१] फिर १८६४ में जेम्स एंटोनी फ्रायड ने भी बड़ी सफलता से बक्ल के 'नियंत्रणवाद' की आलोचना की।[२] बक्ल के सबसे कटु आलोचक थे जे० जी० ड्रायसन[३] जिन्होंने 'नियंत्रणवाद' के सिलसिले में यहां तक कह डाला है कि इस प्रकार के दर्जनों सिद्धांत रोज ही उद्भावित किये जा सकते हैं। इन आलोचनाओं के सिद्धांतों का सारांश यह है कि नियंत्रणवाद में जिन निश्चित विज्ञान-सुलभ नियमों की चर्चा की जाती है, उनके सर्वथा विपरीत इतिहास (१) जहाँ तक उसकी पद्धति का सवाल है, निरीक्षण और प्रयोग का विज्ञान नहीं है, अपितु आलोचना का विज्ञान है; तथा (२) जहाँ तक उसकी मान्यताओं का प्रश्न है, वे वैज्ञानिक 'नियम' की तरह कदापि निश्चित या सार्वभौम नहीं हो सकते।

---

१. The Limits of Exact Science as applied to History.

२. The Science of History,

३, Erhebung der Geschichte zum Rang Eiver Wissenschatt और Grundriss der Historik,

रैंजल के मंतव्य के भी विपरीत महान फ्रांसीसी भूगोलशास्त्री Vidal de la Blache ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति वातावरण पर पारस्परिक नियंत्रण या प्रभाव स्थापित करने में समर्थ होता है। मनुष्य जहाँ अपने को प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप बना लेता है वहीं वह अपने वातावरण को बदलने या नवीन रूप से गढ़ने में भी सफल होता है। इस तरह 'भौगोलिक नियंत्रण' के बदले पारस्परिक नियंत्रण या 'भौगोलिक' प्रभाव का सिद्धांत ही अधिक मान्य प्रमाणित होता है।

बहुत संक्षेप में आधुनिक विचार के निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मनुष्य के इतिहास की जो दो प्रेरक शक्तियाँ है वे हैं मनुष्य तथा प्रकृति। उन्हीं की क्रिया-प्रतिक्रिया से मनुष्य का इतिहास निर्मित होता है। मनुष्य स्वतन्त्र भाव से काम करता है, वह अपनी संस्कृति को अपनी इच्छाओं तथा विचारों के अनुसार विकसित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु, दूसरी ओर मनुष्य की उपलब्धि प्रकृति के द्वारा नियमित तथा प्रभावित भी अवश्य ही होती है। किसी भूखंड की बनावट, जलवायु, उपज सभी मिलकर जंगली जानवरों की स्थिति को अवश्य ही नियंत्रित करती हैं। किन्तु हम जब मनुष्य की बात करते हैं, तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह अधिक युक्तिसंगत है कि हम 'प्रभाव' का व्यवहार करें न कि 'नियंत्रण' का, क्योंकि मनुष्य और प्रकृति के बीच पारस्परिक नियंत्रण ही देखा जाता है। कुछ बातों में प्रकृति का मनुष्य पर पूर्ण अधिकार रहता है। उदाहरण के लिए मनुष्य कोयले की खानों को उस प्रदेश में किसी प्रकार स्थानांतरित नहीं कर सकता, जिसमें प्रकृति ने उन्हें अवस्थित नहीं किया है। किन्तु अनेक क्षेत्रों में मनुष्य प्रकृति को परास्त तथा नियंत्रित करने में समर्थ भी हो सकता है। जो प्रदेश बंजर और बेकार है, उसे मनुष्य कृत्रिम उपायों के द्वारा हरे-भरे खेतों में परिणत कर सकता है और यह आज एक मामूली बात हो गयी है। इस तरह के दूसरे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है।

तो इतिहास की दृष्टि से भूगोल दो प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकता है। है। वैज्ञानिक भूगोल पहले तो विश्व के अन्वेषण को पूर्ण कर तथ्यों का संग्रह

करता है और उनके विश्लेषण का प्रयास करता है। इसके बाद ही वह वाता-वरण के उन तत्वों का सांगोपांग अध्ययन करता है, जिन्होंने किसी भू-भाग या उसके निवासियों के विकास को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित किया है।

भूगोल विश्व का अध्ययन करता है तो उसे मनुष्य का निवासस्थान मान कर ही। उसका उद्देश्य केवल यही रहता है कि वह मनुष्य जाति के प्राकृतिक वातावरण की जानकारी प्राप्त करे। कोई भी दूसरा विज्ञान मानव-वातावरण से इस प्रकार से सम्बद्ध नहीं है। भूगर्भवेत्ता प्रसार-खंडों के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखता है; खगोलशास्त्री की दृष्टि जलवायु और मौसम तक ही जाती है; वनस्पतिशास्त्रवेत्ता वनपस्ति जीवन से आगे नहीं बढ़ता और प्राणि-विद्या-विशारद पशु-जीवन को ही अपना विषय मानता है। इसके विपरीत एक भूगोल-विशारद् इन विज्ञानों में से प्रत्येक के परिणामों में से केवल उतना ही लेता है जितने से वह उस सजीव और संपूर्ण रंगमंच की विशेषताओं को समझ सके जिन पर मनुष्य को जीवन-नाटक के अपने भाग का अभिनय करना पड़ता है।

—:०:—

संस्कृति और उसके नये तत्त्व

पिछले दो सौ वर्षों में भारत की जो प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति की तलाश में घुटकर मर जाती थीं उनको स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से उन्मुक्त विकास करने का अवसर मिला है। वे आज राष्ट्र-निर्माण, समाज-निर्माण, राज्यतंत्र और अर्थतंत्र-निर्माण के क्षेत्रों में अभिनव मौलिकता के साथ प्रकट होना चाहती हैं, वे बौद्धिक क्षेत्र में भी अपना माध्यम ढूँढ़ना चाहती हैं : उनके इन्हीं आग्रहों के आधार पर पिछले दिनों में संस्कृति के प्रश्नों पर नाना प्रकार से विचार-विमर्श हुआ है, विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न दृष्टिकोण का परिचय मिला है। किन्तु सर्वत्र विचारों की निर्भीकता और सुस्पष्टता का अभाव दीखता

है। जहाँ निर्भीकता मिल भी जाती है, वहाँ घोर रूढ़िवादी दृष्टिकोण और असंगत विचारधारा का परिचय मिलता है। राष्ट्रिय जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए इस स्थिति का अन्त होना चाहिये, अन्यथा आज की बौद्धिक अस्पष्टताओं का प्रभाव हमारे समाज के भविष्य पर अनिवार्य रूप से पड़ने-वाला है। दूसरे, सभ्यता और संस्कृति के नाम पर पिछले दिनों में जो कुछ कुकृत्य हुए हैं, उनसे सम्पूर्ण राष्ट्र के मुख पर कालिख पुत गयी है। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर ही देश का बँटवारा हुआ। इनको ही रक्षा के नाम पर न सिर्फ आदमी का खून पानी की तरह बहाया गया, बल्कि पिछले २००० सालके बाद इतिहास का जो सबसे महान् पुरुष पैदा हुआ था उसकी हत्या की गयी। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठता है कि संस्कृति अन्ततोगत्वा कौन-सी वस्तु है ? क्या वह इन भयंकर कुकर्मों का सिफारिश करती है। और क्या तब यह किसी रूप में स्पृहणीय बनी रहती है ?

संस्कृति से साधारणतया हमारा आशय कुछ धार्मिक, साहित्यिक अथवा दार्शनिक ग्रंथों, कुछ राग-रागिणियों, कुछ चित्रों, कुछ मूर्तियों और कलात्मक संकेतों से रहता है। इन्हीं प्रसंगों में हम सभ्यता का भी प्रयोग करते हैं। फिर तो हम कहने लगते हैं कि अमुक राष्ट्र की संस्कृति इतने वर्षों की है, अमुक की इतने की। हमारी अपनी संस्कृति की धारा गत ३००० वर्षों से निरंतर बहती चली आ रही है। अन्य देशीय संस्कृतियाँ अस्थायी हैं, हमारी संस्कृति शाश्वत है।

समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। बात आगे बढ़ती है और हिन्दू संस्कृति, ईसाई संस्कृति और इस्लामी संस्कृति की दुहाई दी जाने लगती है। इस प्रकार संस्कृति की सीमा के अन्तर्गत कला, धर्म और इतिहास की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

तो, क्या संस्कृति के उपकरण कला, धर्म और राष्ट्रिय इतिहास से अभिन्न हैं ? क्या संस्कृति की निजी सत्ता नहीं, निजी नियम नहीं ? क्या संस्कृति की उच्चता का बोध उसकी आयु से ही हो जाता है ? संस्कृति सम्पूर्ण मान-

वता से संबंधित है या उसे भी भौगोलिक और ऐतिहासिक इकाइयों की संकुचित परिधि में बन्द रखा जा सकता है ? इन प्रश्नों का समीचीन उत्तर आज समाज तथा राष्ट्र के निर्माताओं और कलाकारों को देना है। १९ वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता के उन्नायकों ने इन प्रश्नों के गुंजलक को साफ नहीं किया। फलतः हमारी राष्ट्रीयता का विकास विकृत रूप से हुआ और अन्तिम परिणति असंभावित और विषपूर्ण है।

जो लोग संस्कृति के नाम पर प्राचीनता का दंभ करते हैं और राष्ट्रीय इतिहास का हवाला देते हैं वे वस्तुतः वर्त्तमान जीवन की समस्याओं से आतंकित होकर अनुर्वर अतीत की रेत में मुंह छिपाते हैं। संस्कृति को वर्ष और आयु की तुला पर तौलना भ्रामक है क्योंकि इस अर्थ में कोल-भीलों की संस्कृति कुछ कम प्राचीन नहीं; अफ्रीका की जंगली जातियों की भी अपनी संस्कृति है जो आधुनिक यरोप की संस्कृति से कहीं ज्यादा पुरानी है। तो क्या हम पुरानेपन के आधार पर इन संस्कृतियों को श्रेष्ठतर मान लेंगे ? आदर्शवादी रहें अथवा यथार्थवादी हम सबके मन में मानव की सर्वांगसुन्दर प्रोज्ज्वल कल्पना रहती है। उसकी प्राप्ति के लिये है वाह्य जीवन लक्ष्य और मानस की बर्बरताओं का शोधन, मानव के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रस्फुटन। इस प्रक्रिया में जिस मात्रा में सफलता मिलती है उसी अनुपात में हमारी संस्कृति का विकास होता है। चूँकि व्यक्ति निस्संग नहीं, बल्कि सामाजिक प्राणी है, उसके व्यक्तिगत की समस्याओं और विकास को सामाजिक पृष्ठभूमि में ही आँकना उचित होगा। यह सत्य है कि व्यक्ति हमेशा समाज का ही अंग नहीं रहता, बल्कि वह अपने व्यक्तित्व के निजत्व में भी विलास करता है, किन्तु यह निजत्व उसके सामाजिक व्यक्तित्व के विपरीत नहीं होना चाहिए। अगर होता है तो वह या तो अपराधियों की सूची में एक नाम का इजाफा करता है या क्रांत द्रष्टा के रूप में सम्पूर्ण समाज के ढांचे को परिवर्तित करने की चेष्टा करता है। इन दोनों दिशाओं में से जिधर भी वह जाय, वह सामाजिक नियमों का अपवाद ही करता है। यह विशिष्ट प्रवृत्तियों के अतिरेक का प्रमाण है, अन्यथा समाज के ढांचे में इतना विस्तार है कि

व्यक्ति किसी हद तक स्वेच्छाचार के लिए भी अवसर पा जाता है। इसलिए उसकी समस्याओं को सामाजिक हितों की कसौटी पर ही रखा जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति का प्रश्न सीधे समाज के स्वरूप से आकर टकराता है।

समाज के जीवन में कला, धर्म, इतिहास, आर्थिक संघर्ष तथा अन्यान्य कितने ही जीवन-व्यापारों का समावेश है। संस्कृति इन सबसे सम्बन्धित है, किन्तु अकेले एक से भी नहीं। अपनी पूर्णता में समाज का जीवन एक संश्लिष्ट योजना है। ऐसी दशा में कला, धर्म, इतिहास या अर्थव्यवस्था किसी भी एक दृष्टिकोण से संस्कृति की समस्या को, सामाजिक व्यक्ति के मानसिक और नैतिक विकास को देखने पर न सिर्फ हमारे निष्कर्ष एकांगी होंगे, बल्कि मूल समस्या भी तिर्यक नजर आयगी।

संस्कृति को कला के तराजू पर भी नहीं तौल सकते, क्योंकि सामाजिक जीवन-व्यापार की व्यापक पृष्ठभूमि में कला अभिव्यक्त रूप में स्वयं एक माध्यममात्र है, जिसका अस्तित्व और रूप कलाकार के समाज-दर्शन पर निर्भर रहता है। अलवत्ता कला को सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रमाण में परखने का यत्न किया जा सकता है।

धर्म के नियमों और रूढ़ियों के अनुमार भी संस्कृति के रूप को निर्धारित करने का प्रयास अस्वस्थ है। धर्मों के साधारण नियमों में कुछ लोगों को विश्वजनीन कल्पना की एकसूत्रता दष्टिगोचर होती है, किन्तु वास्तव में धर्मों ने मनुष्य को अपने विशिष्ट रूपों के कारण तंगनजरी का शिकार बनाया है। धर्म के नाम पर पिछले जमानों में कितना जुल्म हुआ और मनुष्य को आदर्श के साँचे में ढालने के वदले उसे कितना विकृत कर दिया, इसका निर्मम साक्षी मध्ययुग का इतिहास है। फिर, वद्ध, ईसा, मुहम्मद और उनके आदर्श अनुयायियों के वलिदान के वाद भी वीसवीं सदी में दो-दो विश्वयुद्ध और उसके वाद गान्धीजी की हत्या, धर्मों के दावों पर तीखा व्यंग्य है।

धर्म की उत्पत्ति का आधार अन्धविश्वासग्रस्त किन्तु कल्पना-प्रवण मन रहा है। इसके विशद्ध तत्व दार्शनिकता के आवरण में सुरक्षित हैं, किन्तु सक्रिय सामाजिक शक्ति के रूप में इसकी समस्त चेष्टाएँ मध्ययुग तक धर्म-

धुरीणों के अनाचार और धर्मान्ध शासकों के युद्ध में निश्शप हो गयीं। ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है, धर्म के विशुद्ध तत्वों ने मनुष्य के सांस्कृतिक उन्नयन में काफी हाथ-बटाया है। किन्तु अन्ततः मानव जाति के अवचेतन पर उनके पतन का भी गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव समय-समय पर दमित चेष्टाओं के अनियंत्रित विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ। जहां का समाज औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मध्ययुग की देहली को पार कर गया है, वहाँ इस वृत्ति का उभार उग्र, राष्ट्रीयता के रूप में होता है। जहाँ समाज उतना आगे नहीं बढ़ गया है, वहाँ धर्म की अन्धपरम्पराओं का ही दौरदौरा है। किन्तु ऐतिहासिक कारण से भारत में एक काल में ही धर्म और राष्ट्रीयता ने सामाजिक शक्ति के रूप में अपने को अलग-अलग प्रकट किया है, यद्यपि दोनों की मूल वृत्ति एक ही रही है। अस्तु, दोनों अवस्थाओं में मानव की दृष्टि सार्वभौम न होकर एकदेशीय रह गयी। यह संकुचित दृष्टि वैज्ञानिक विकासों के पूर्व किसी हद तक समझ में आ सकती थी। आज जब मनुष्य ने बड़ी-बड़ी प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार पा लिया है और भूगोल सिमट गया है, यह संकीर्णता न केवल बेतुकी है, बल्कि मनुष्य के आदर्श रूप को विकृत करनेवाली है। जिन चेष्टाओं के नतीजे में देशों की चहारदीवारियाँ नीची हो गयीं हैं और जहाँ-तहाँ ढह चली हैं, उनका ही तकाजा है कि मनुष्य जरा ऊँचे उठकर अपनी मौलिक एकता का दिशा-संधान करे।

इसलिए संस्कृति को, मानव के आध्यात्मिक अथवा नैतिक जीवन को, उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और परिष्कार के लिए चलनेवाली समस्त चेष्टाओं को, आधिभौतिक और धर्म-निरपेक्ष रहना चाहिये। यह इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि है जिसकी परिधि में अतीत के अनुभव और भविष्य की आशा समाविष्ट है। कहने की आवश्यकता नहीं, यह विश्व-चिन्ताधारा को मार्क्सवाद की विशिष्ट देन है।

मार्क्सवाद को भी कुछ लोग सामाजिक शक्तियों के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति के रूप में ग्रहण नहीं करते। उनके लिए मार्क्सीय दर्शन दो भाग

हाइड्रोजन + एक भाग आॅक्सिजन = जल-जैसा फार्मूला है जिसे वे देश और काल की विशेषताओं को भूलकर प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में यह समाज-विज्ञान, गणित, पदार्थ-विज्ञान या रसायन-शास्त्र जैसा ही है। वे समाज को विशाल प्रयोगशाला समझते हैं जिसमें मनुष्य का महत्त्व प्रयोग के यंत्र या टेस्ट ट्यूब से रंचमात्र भी अधिक नहीं है। यही कारण है कि वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर आर्थिक व्यवस्था को ही दुरुस्त करके समाज के प्रश्नों को चिरकाल के लिए हल कर देने का दुस्साहस रखते हैं। उनकी धारणा है कि समाजतंत्र के आर्थिक आधार को मार्क्सवादी स्वरूप दे देने के बाद मनुष्य का संस्कार-परिष्कार स्वयं हो जायगा।

इस विश्वास के मूल में तीन मौलिक त्रुटियाँ हैं:—

१. समाज के आर्थिक आधार को युद्ध कर देने पर मनुष्य के स्वतः संस्कृत-परिष्कृत हो जाने की आशा रखना अदृष्टवादी दृष्टिकोण का परिचय देता है। यह धार्मिक दृष्टि हो सकती है, वैज्ञानिक नहीं। मार्क्सवाद के नाम पर एसी भ्रान्ति का प्रचार करना बौद्धिक दीवालियापन और बेईमानी है।

२. इस रूप में मनुष्य को यंत्रवत् और जड़ मानना पड़ता है। अर्थात् वह मस्तिष्कहीन प्राणी है जो सर्वथा बाह्य शक्तियों की मर्जी पर बनता-बिगड़ता है। उसकी निजी प्रतिक्रियाओं का उसके अपने और संपूर्ण समाज के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्राणिशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान ऐसे भ्रान्त सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करते हैं।

३. मनुष्य को यंत्रवत् स्वीकार कर लेने पर समाज में नीति और अनीति का प्रश्न नहीं रह जाता।' समाज के नियमन का अधिकार और उत्तरदायित्व व्यष्टि अथवा समष्टि के हाथ से निलकर ऐसे मुट्ठी भर लोगों के पास चला जाता है जो अपने को समाजतंत्र का निर्माता और निरंकुश शासक मानते हैं। समस्त शक्तियों का स्रोत सिमट कर उनके हाथों में चला जाता है। यह अधिनायकवाद का मार्ग है, समाजवाद और प्रजातन्त्र का नहीं। ऐसे शासन में मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास असंभव है।

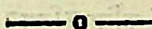
निरंकुश शासन-व्यवस्था को सिद्धान्त रूप में ग्रहण करने पर शासन और समाजतंत्र के अधिकारियों पर किसी प्रकार की पावन्दी नहीं रहती। महान् आदर्शों की प्राप्ति के नाम पर वे बुरे-भले सभी प्रकार के साधनों के व्यवहार की आजादी रखते हैं। समाज के अग्रगण्यों के विचार और कार्य का प्रभाव साधारण जनों पर बड़ा गहरा पड़ता है। अतः वे ही जब साधनों की शुचिता को आवश्यक न मानेंगे तो परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज के जीवन से नीति-अनीति और भले-बुरे की विभाजन-रेखाएँ अन्ततः मिट जायँगी।

यहाँ हम साधन और साध्य की सुचिता और मौलिक एकता का सैद्धान्तिक विश्लेषण गवारा कर सकते हैं। यह प्रासंगिक ही नहीं, आवश्यक भी है। सामाजिक शक्तियों का विकास-मार्ग व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबन्धजन्य प्रतिक्रियाओं की शृंखला से निर्धारित होता है। वैयक्तिक किंवा सामाजिक आदर्श और उनकी प्राप्ति के साधन की उपमा किसी निर्दिष्ट स्थान और वहाँ तक जानेवाले मार्गों से नहीं दी जा सकती। जहाँ व्यक्ति और समाज के जीवन पर आदर्श का प्रभाव स्थायी वृत्ति के रूप में रहता है, वहाँ प्रयोग के सिलसिले में साधन भी निश्चित रूप से उन्हें प्रभावित करते रहते हैं। मनुष्य जिस प्रकार वाह्य शक्तियों का प्रभाव ग्रहण करता है, उसी प्रकार उसकी आत्मिक प्रतिक्रियाएँ भी उसकी प्रगति की दिशा का नियमन करती रहती है। इस रूप में साधन का प्रभाव अन्ततः साध्य पर पड़ता है। साध्य की प्रकृति से मेल नहीं खानेवाले साधनों को व्यवहार में लाकर साध्य को पाना तो दूर रहा हम उसे विकृत कर डालते हैं। अतः सामाजिक कार्य-प्रणाली, आतंक, हत्या और तर्कहीन प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने से समाजवाद की स्थापना असंभव है। समाजवादी आन्दोलन के लिए क्रान्तिकारी मार्ग का अवलम्बन उसी दशा में आवश्यक हो सकता है, जब कि समाज की शासन-व्यवस्था के सूत्रधार परिवर्तन की चेष्टाओं को शुचितापूर्ण मार्ग ग्रहण करने का रंचमात्र भी अवसर नहीं देते हों। जहाँ नाना प्रकार की पावन्दियों के वाद भी कुछ सुविधा मिलती है वहाँ गुप्त षड्यंत्र, घृणा का प्रचार, अनुचित अनावश्यक उत्तेजना का अनुमोदन सामाजिक अपराध और अनैतिक कृत्य है।

आदर्श समाज और उसके संचालक आदर्श व्यक्ति के निर्माण की क्रिया साथ-साथ चलती रहनी चाहिये। तभी व्यक्ति और समाज की समस्याओं में कोई मौलिक विभेद नहीं उठ खड़ा होगा। यदि एक ओर समाज की अर्थ-व्यवस्था को नया आधार दिया जाता है तो व्यक्ति के आधार-विचार की शुचिता और नैतिकता पर भी जोर देना चाहिए। अर्थात् नये सामाजिक पुरुष के व्यक्तित्व का नवीन सांस्कृतिक आधार होगा। मध्ययुगीन समाज में धर्म ने इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया। आज आर्थिक जीवन की धारा का दिशा-परिवर्तन हो गया है, दुनिया बदल गई है, किन्तु धर्म के नियम रूढ़ हैं, संकुचित और एक देशीय हैं। उनसे आज हमारा काम नहीं चलने को। नये समाज और नये आदमी की संस्कृति को धर्म-निरपेक्ष रहना होगा उसके कर्मों को अच्छाई-बुराई की कसौटी धर्म के नियम नहीं होंगे।

तब वह कसौटी आज कौन सी होगी? इस प्रश्न को दार्शनिक अथवा महज सैद्धान्तिक रूप में आगे बढाने पर वस्तुस्थिति का संग छूट जाने का भय है। इसे सामाजिक हितों की पृष्ठभूमि में ही निर्धारित करना होगा। यदि किसी वर्गविशेष का नहीं, बल्कि वर्गहीन और सम्पूर्ण समाज का हित-साधन लक्ष्य है, तो व्यक्ति की संस्कृति को ऊपरी तबके के कुछ लोगों को दिमागी विलासिता का साधन न बनकर साधारण जन के दैनिक व्यापार का विश्वासबल बनना पड़ेगा। अगर वर्गहीन, शोषणहीन समाज में तर्कहीन यन्त्रवत् व्यक्ति नहीं, बल्कि पूर्ण-स्फुटित व्यक्तित्ववाला व्यक्ति हमारा अभिप्रेत है तो समाज-वादी सिद्धान्तों में अनुकूल नीतिशास्त्र का निर्माण आवश्यक है। उस नीति-शास्त्र का आधार समाज के उत्पादक श्रम में व्यक्ति की पारस्परिक सहयोग-भावना होगी जो अधिनायकों के फर्मान के बल लादी नहीं जायगी। यह भावना उत्पादक-श्रम की प्रक्रिया के बीच व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख की पारस्परिक अनुभूति में विकसित और प्रकट होगी। इसकी प्रेरणा का स्रोत उर्ध्व होगा। किन्तु यह चेतना स्वतः उत्पन्न हो जायगी, ऐसा सोचना भ्रम-पूर्ण होगा। उसके लिए व्यापक प्रचारात्मक आन्दोलन चलाना होगा

अन्यथा वर्तमान सामाजिक मनोविज्ञान की छाया चिरकाल तक पीड़ा पहुँचाती रहेगी।



सामाजिक समस्याएँ और समाज-विज्ञान की आवश्यकता

भौतिक विज्ञान की प्रगति आज बेअन्दाज हुई है। भौतिक विज्ञान के मनुष्य को आदिम 'ओब्जेक्टिविटी' पर इसका उत्तरदायित्व था। अपने आसपास की चीजों के बारे में मनुष्य ने सबसे पहले अपनी उत्सुकता दिखलायी थी। चाँद, सितारें और सूरज आदिम मनुष्य के मन में आश्चर्य और अकथ जिज्ञासा भरते थे। जब उनकी समस्यायें हल हुईं तब आसमान से नीचे उतर कर, अपने बारे में तो नहीं, लेकिन अपने आसपास की चीजों के बारे में मनुष्य ने अध्ययन करना शुरू किया,—जैसे हवा, पानी, धरती, वृक्ष, नदी इत्यादि। उसे इन तत्वों पर विजय पानी थी क्योंकि इसी पर उसके जीने-मरने की समस्या निर्भर थी। मनुष्य के अदम्य उत्साह का यह नतीजा है कि आज मनुष्य हवा में पक्षी की तरह उड़ सकता है, सागर में मछली की तरह तैर सकता है। समय और दूरी पर उसने पूर्ण रूप से फतह हासिल कर ली है। क्रम के अनुसार अब मनुष्य ने अपने बारे में, मनुष्य के बारे में सोचना आरम्भ किया है। और यहीं से समाज-विज्ञान की शुरुआत होती है।

समाज विज्ञान के अन्तर्गत जो विशेष विषय आते है, वे हैं नृतत्व-शास्त्र (anthropology), समाज-शास्त्र (Sociology) और मनोविज्ञान (Psychology)। इन तीनों विषयों के अध्ययन का विषय मनुष्य है।

मनुष्य क्या है; मनुष्य का प्राकृतिक इतिहास; गर्भ और व्यक्ति का जीवन; मनुष्य का शरीर; शरीर का कर्म; मनुष्य के शरीर का ढांचा,

सूरत-शक्ल और रंग; मनुष्य सीख कर क्या करता है अर्थात् संस्कृति से उसे कौन-सी शिक्षा मिलती है; मनुष्य का सांस्कृतिक इतिहास; उसके विचारों की श्रृंखला; उसकी माँगों और जरूरतों की सूची; उसके ज्ञान, विज्ञान और दर्शन का सिलसिलाबद्ध इतिहास; ये हैं कतिपय विषय जिनका विस्तृत वर्णन समाज-विज्ञान में मिलता है। साथ ही साथ सामाजिक परिवर्त्तन, सामाजिक आन्दोलन सामाजिक कारणत्व इत्यादि की विवेचना भी समाज-विज्ञान की शाखाओं में ही मिल सकती है। समाज-विज्ञान का अध्ययन कितना जरूरी है यह तो ऊपर लिखे विषयों की सूचीमात्र से ही पता चल सकता है।

आज हममें से शायद कोई भी ऐसा एक नहीं मिलेगा जो समाज सुधार की बात न सोचता हो। समाज को कम या अधिक, बदल डालने की इच्छा आज हर नौजवान में रहती है। कुछ उत्साही युवक तो काम भी करते हैं समाज सुधार के। लेकिन कुछ दिनों में उनका जोश ठंढा पड़ जाता है। अगर उनसे पूछा जाय कि उन्होंने काम बन्द क्यों कर दिया तो कहेंगे प्रोत्साहन नहीं मिलता। उनके काम का कोई फल ही नहीं निकलता तो फिर वे अपनी राह चल देते हैं। समाज के खिलाफ बगावत करने की भावना भी काफूर हो जाती है। अरसा बाद वे समझने लगते हैं कि ऋषियों, मुनियों की बनाई हुई यह समाज-परम्परा तोड़ी नहीं जा सकती, अटूट, अजय है और अन्त में पुनीत है और समाज अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के बावजूद बगैर किसी परिवर्त्तन के चलता जाता है, व्यक्तियों की असंख्य इच्छा और आकांक्षाओं को कुचलते हुए।

ऐसा क्यों होता है? क्या हमारे यहाँ उत्साही नवयुवक की कमी है? नहीं। तब? उनके काम करने का ढंग गलत है। चन्द खराबियाँ देखीं उन्होंने समाज में और लगे प्रयत्न करने। उन्हें दूर करने के बगैर यह जाने हुए कि समाज का वह जो स्वरूप था कुरुप क्यों हुआ? सामाजिक कारणत्व को समझे बगैर समाज के किसी भी पहलू में परिवर्तन लाना तो दूर की बात होगी; समझना भी मुमकिन नहीं। अपने देश में ही हिन्दू-मुस्लिम समाज को ही लीजिये न। बहुत से उत्साही हिन्दू और मुस्लिम युवक मिलेंगे

जो दिल से चाहते हैं कि इन दो धर्मों के लोगों में जो वैमनस्य है, मनमुटाव है, दूर हो जाय। सहभोज, सहवास इत्यादि के सच्चे, ईमानदार प्रयास भी करते हैं लेकिन कुछ खास नतीजा नहीं निकलता। इसका एकमात्र कारण यही है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच 'प्रेजुडिस' का समाज-वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण नहीं हो पाया है। या देशव्यापी प्रान्तीयता के सवाल को ही लीजिए। कितनी विषमता है। ऐसा क्यों होता है ? इसका मुख्य कारण यही है कि हमें दूसरे प्रान्त के लोगों के जीवन की वाकफियत ही नहीं है। एक प्रादेशिक संस्कृति के चक्कर में पड़ रहते हैं, उसे ऊँचा समझते हैं और इसी तरह 'प्रेजुडिस', के शिकार बन जाते हैं। इनसे भी बड़ी-बड़ी सामाजिक समस्याओं को लीजिये। वेश्याओं की समस्या या भिखारियों की समस्या। उन्हें शहर के बाहर निकाल देने से या दान देने से समस्या का हल मुतलक नहीं हो जाता। इनके आर्थिक और मनोवैज्ञानिक पहलू को समझना है। समाज-विकृति के अपने नियम होते हैं। उन्हें दूर करने के लिए उन नियमों को समझना है।

इतना तो समझ ही लेना है कि मनुष्य को अपने बारे में जितनी कम जानकारी है उतनी कम जानकारी और किसी चीज के बारे में नहीं है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ने अपने बारे में अभी भी गम्भीर ढंग से सोचना आरम्भ नहीं किया है। भौतिक-विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति ने उसकी आँखों पर पर्दा डाल दिया है। अणुबम और हाइड्रोजन बम के सामने अभी भी उसका शीश झुका हुआ है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। टेकनालाजी के क्षेत्र में जब कोई भीषण परिवर्तन होता है तो सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उसके मुताबिक परिवर्त्तन होना चाहिए। अक्सर ऐसा होता है, कभी ऐसा नहीं भी होता है। और जब ऐसा नहीं होता है तो उस युग अथवा देश में एक तरह का सांस्कृतिक पिछड़ापन (Cultural lag) आ जाता है। और अगर यह सांस्कृतिक पिछड़ापन काफी दिनों तक टिक जाता तो उस समाज में इन्तशार फैलने लगता है, उस समाज का नाश हो जाता है। रोमन साम्राज्य इसी सांस्कृतिक पिछड़ापन की वजह से खत्म हो

गया। पिछले जमानों में मुख्तलिफ सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही ऐसा सांस्कृतिक पिछड़ापन कभी-कभी आ जाता था। आज जब दुनिया सिमट कर काफी छोटी हो गई है, कोई भी सांस्कृतिक क्षेत्र अगर सांस्कृतिक पिछड़ापन का शिकार बन जाय तो इसका असर सारी दुनिया पर पड़ेगा। दुनिया में खतरे की घंटी बज जायगी। आज के जमाने की अति-औद्योगिता का ढांचे सामज में आमूल परिवर्त्तन नहीं ला पायी है। और यही वजह है कि सारा संसार एक तरह के पिछड़ेपन का शिकार बन गया है। इसके दूर करने का एक ही उपाय है और वह है समाज-विज्ञान की सहायता से समाज के ढाँचे में टेकनालाजी को क्रान्ति के साथ कदम मिलाकर परिवर्तन लाना। यह तभी संभव हो सकता है जब भौतिक-विज्ञान और समाज-विज्ञान दोनों एक साथ मिलकर कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने की कोशिश करें।



क्या प्राणदंड उठा देना चाहिए ?

समाज-संगठन का नियमन जिन शक्तियों द्वारा होता है, उनमें कानून का प्रमुख स्थान है। इसी बल के आधार पर सरकार की पुलिस और अदालत काम करती हैं। कानून के जरिए जहाँ समाजतन्त्र के नियमों की रक्षा होती है, वहाँ उन नियमों की अवहेलना के लिए दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है। परम्परागत विचारानुसार प्राणदण्ड सबसे कठिन दण्ड है, जो समाज और सरकार की ओर से किसी व्यक्ति को दिया जाता है। साधारणतया हत्या और राजद्रोह के अपराध में अथवा इसी प्रकार के किन्हीं गर्हित कदाचार के लिए ही अदालती कारंवाई के बाद यह दण्ड मिलता है। चूँकि यह दण्ड सबसे कठिन माना जाता है, इसलिए इसकी व्यवस्था साधारण अपराधों के लिए नहीं होती। इस तरह जिन अपराधों के लिए कोई समाज प्राण दण्ड की व्यवस्था

करता है, उन अपराधों का विश्लेषण करके हम जान सकते हैं कि उस समाज के जीवन और संस्कृति सम्बन्धी मूल्य क्या हैं।

सम्भवतः हर सभ्य समाज में, जहाँ कि प्राणदंड सबसे कठिन दंड है किसी व्यक्ति द्वारा स्वेच्छानुसार किसी अन्य व्यक्ति का प्राणहरण भी कथनीय तम अपराध माना जाता है। इस प्रकार सभ्य समाज में किसी भी व्यक्तियों को दूसरे की जान ले लेने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार समाज की ओर से सिर्फ सरकार को प्राप्त है और वह भी विशेष परिस्थितियों के लिए। परन्तु यह अधिकार समाज को किस प्रकार प्राप्त हुआ औरइस अधिकार का अथवा प्राणदंड का क्या उद्देश्य है—इन प्रश्नों के विश्लेषण के बाद ही हम समुचित रूप से विचार कर सकेंगे कि प्राणदंड उठा देना चाहिए अथवा नहीं। क्योंकि, यह प्रश्न केवल कानून के बदलने का नहीं है, वल्कि समाज के नैतिक और सांस्कृतिक मन में परिवर्तन करने का प्रश्न भी है।

हम जरा उस समय की कल्पना करें जबकि समाज-संगठन नहीं बन पाया था और सोचें कि किन परिस्थितियों में समाज की आवश्यकता महसूस हुई। उस जमाने के जीवन का अनुमान करने के लिए हम केवल अपनी कल्पना का ही आश्रय नहीं ले सकते। कुछ लोग कहा करते हैं, आदिकाल में न कहीं अशान्ति थी, न मार-पीट, लोग प्रकृति माँ की ममताद्र अंचल में शांति-पूर्ण, प्रेमपूर्ण जीवन बिताते थे। उसी प्रकार ऐसे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि आदिकाल के जीवन में उत्पात, कलह हत्या, के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। इस अरक्षित, अशान्त जीवन से लोगों की रक्षा करने के लिए समाज-तन्त्र की आवश्यकता हुई। वस्तुतः ये एकांगी बातें कल्पना प्रसूत हैं, जिनके लिए तथ्यतः कोई आधार नहीं है। समाजशास्त्रियों का इस विषय में मत है कि समाज-संगठन मिले-जुले कारणों से हुआ और उसके लिए निश्चित काल, अथवा अवस्था निर्धारित करना कठिन है। समाज बनने के पूर्व आदमी, आदमी से ज्यादा पशु रहा होगा। उसकी शक्ति अकेली और बिखरी-बिखरी रही होगी। मस्तिष्क भी बहुत कम ही विकसित रहा होगा। सामाजिक जीवन के सहारे उसका दिमाग बढ़ा, उसे मानवसुलभ देह और भाषा मिली। उसे

सहयोगपूर्ण जीवन और सामूहिक श्रम को उपयोगिता समझ में आई होगी। परन्तु सभ्य, सामाजिक जीवन की प्रातःवेला में अथवा असभ्य जीवन के नैश-अन्धकार में मनुष्य के भौतिक साधन इतने सीमित थे कि 'करतल पात्र और तरुतल वास" के अलावा वह कुछ जानता नहीं था। उसकी सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु उसकी जान थी। उसने अपने जीवन के लिए अन्य मूल्य निर्धारित ही नहीं किये थे कि उनकी रक्षा का प्रश्न उठे। तात्पर्य यह कि पुराने जमाने में आदमी को जान ही उसके लिए सबसे प्रिय वस्तु थी। यों तो आज भी अपनी जान सबसे प्यारी होती है, किन्तु और भी कुछ चीजें हैं जिनकी रक्षा के लिए आदमी स्वेच्छापूर्वक अपनी जान दे देता है। पर उस अपवाद को हम छोड़ दें और विचार करें कि औसत व्यक्ति की क्या प्रतिक्रिया होती है। क्या वह अपने प्राणहरण अथवा हत्या की कल्पना से काँप नहीं उठता ? वह प्राण-रक्षा के लिए क्या कुछ नहीं करता। तो, शुरू से ही प्राण के प्रति हमारी जो आसक्ति रही है, उसके अनुसार इस वस्तु का अपहरण साधार बात समझा जाता रहा है और इसलिए इतने बड़े अधिकार को किसी व्यक्ति के स्वेच्छाचार के भरोसे न छोड़कर समाजशक्ति के हवाला किया गया और हर दशा में प्राणदण्ड, चाहे समाज या राज्य दे, अथवा (गैरकानूनी ढंग से ही सही) कोई व्यक्ति दे, यह सबसे कठिन दण्ड माना जाता है।

दंण्ड कठिन हो, अथवा हल्का-फुल्का, दण्ड देने और दण्ड पाने की बात आदिकाल से चली आ रही है। किन्तु जिस अर्थ में हम अभी प्राणदण्ड के रखने या उठा देन के प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, वह आधुनिक सभ्य जीवन की देन है। मध्ययुगीन समाज में जबकि किसी राजा अथवा सामंत की तानाशाही थी और उसकी मर्जी ही कानून थी, इस प्रकार का सवाल उठता ही नहीं आज भी उन देशों में जहाँ टोटेलिटेरियन (एकतंत्री) समाज है, इस प्रकार की चर्चा संभव नहीं। प्राणदण्ड रख या उठा देने की बात करते समय हमारे मन में एसे समाज का चित्र रहता है, जहाँ जन-समाज को ही कानून बनाने का अधिकार है और कानूनों की अपनी मर्यादा है जिसका

उल्लंघन न तो शासक कर सकता और न शासित, जहाँ वस्तुतः कानून का शासन (रूल आफ ला) है।

ऐसे समाज में भी प्राणदण्ड की व्यवस्था कानून में है। पहले जहाँ यह दण्ड शासक अपनी मर्जी के मोताबिक देता था, वहाँ आज यह दण्ड अदालत देती है पर वह तब, जबकि उसके लिए कानून द्वारा निर्धारित स्थिति मौजूद रहती है। पहले यह दण्ड व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से दिया जाता, पर आज सामाजिक प्रतिशोध की भावना से; साथ ही ऐसा उदाहरण उपस्थित करने के लिए भी कि अन्य लोग आतंकित होकर वैसे अपराध न करें। सामाजिक प्रतिशोध की भावना ऐतिहासिक वृत्ति के रूप में निहित है, वर्त्तमान तथ्य के रूप में नहीं। तथ्यतः अन्य दण्ड की भांति प्राणदंड भी आज प्रतिरोधात्मक, निषेधात्मक है। दंडविधान के द्वारा समाज की राजशक्ति कहती है कि यदि तुम अमुक नियम को तोड़ोगे तो तुम्हें अमुक प्रकार का दंड मिलेगा। देखो अमुक को किस प्रकार दण्डित किया गया है।

परन्तु अगर प्राणदंड (अथवा कोई भी दंड) आज मुख्यतः प्रतिरोधात्मक निषेधात्मक है, तो इसे उठा देने का प्रश्न क्यों उठता है ?

दरअसल हर प्रकार के कानून के पीछे समाज का नैतिक बल होता है। काल पाकर जब वह नैतिक बल समाज के नैतिक मूल्यों में अथवा आवश्यकताओं में परिवत्तन हो जाने के कारण समाप्त हो जाता है, उस समय किसी कानून को उठा देने या उसमें परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होती है। तब क्या प्राणदंड के विधान में परिवर्त्तन करने या उसे उठा देने का समय आ गया ?

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणदंड का विधान किसी-न-किसी रूप में चिरकाल से चला आ रहा है। जिस प्रकार हमारी अनेक संस्थाएँ, अनेक विश्वास पुराने जमाने से चिरपोषित चले आ रहे हैं और उनका आज के जीवन से कोई लगाव नहीं है, उसी प्रकार प्राणदंड का कानून भी है। आधुनिक काल में राज्य का काम केवल शान्ति-रक्षा ही नहीं है, केवल बाह्य आक्रमण से जनता को बचाना ही नहीं है। आज राज्य को अधिकाधिक मात्रा में

लोक-कल्याण की नीति बरतनी है। पहले का राज्य अगर पुलिस-राज्य था तो आज का राज्य कल्याण-राज्य है। कल्याण-राज्य का तात्पर्य है कि राज्य अपनी अधिकांश शक्ति अपनी प्रजा के उत्थान में लगावे, हर नागरिक को उसके व्यक्तित्व के विकास का अवसर दे। ऐसे राज्य में दंड के उद्देश्य में भी अन्तर आ चला है। आज दंड देते समय केवल सामाजिक प्रतिशोध अथवा निषेध का विचार नहीं किया जाता। आज तो दंड देते समय यह भी सोचा जाता है कि उक्त दंड से अपराधी में कुछ सुधार होता है अथवा नहीं। यह नयी दृष्टि सामाजिक मनोविज्ञान, अस्वाभाविक मनोविज्ञान और अपराध-शास्त्र के अनुभवों से आयी है।

इन नये शास्त्रों के अनुसार अपराध करने की प्रवृत्ति को मानसिक विकार अथवा रोग माना जाता है। यह रोग वैयक्तिक भी हो सकता है और अस्वाभाविक सामाजिक परिस्थिति के फलस्वरूप भी। दोनों ही अवस्था में समाज और राज्य को अपराधी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति बरतनी चाहिए। एक ओर तो मनोवैज्ञानिक-पद्धति से अपराधी के मानसिक सुधार की चेष्टा करनी चाहिए दूसरी ओर अपराधी को, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के बाद, सुधरे ढंग से जीवन बिताने का अवसर देना चाहिए। जिस प्रकार कठिन-से-कठिन शारीरिक रोग के लिए ––कोढ़ अथवा क्षय के लिए जो कि रोगी के अलावा दूसरों के लिए भी खतरनाक है किसी रोगी की हत्या नहीं कर दी जाती है, बल्कि उसके इलाज का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार अपराध की प्रवृति जैसी मानसिक विकृति के लिए किसी को प्राणदंड क्यों दिया जाय? क्यों न उसके सुधार की चेष्टा की जाय जिस प्रकार क्षय-अस्पताल और कोढ़-चिकित्सा केन्द्र खोले जाते हैं उसी प्रकार प्राणदंड देने के बदले क्यों न अपराधी के इलाज का प्रबन्ध हो?

प्राणदंड चरम दंड है। इस दंड के बाद दंडित और दंडदाता, दोनों के लिए कोई अवसर नहीं बच जाता है? आज जिस प्रकार का सामाजिक जीवन है उसमें पता लगाना बड़ा कठिन है कि अभियुक्त ने सचमुच प्राणदंड पानेवाला अपराध किया है। इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्त निर्णय का दावा कोई

भी न्यायाध्यक्ष नहीं कर सकता है। इस प्रकार एक ओर तो यह कठिनाई है, दूसरी ओर न्यायशास्त्र का अभिमत है कि कई अपराधी यथेष्ट प्रमाण के अभाव में छूट जाएँ, तो छूट जाएँ पर किसी निरपराध को दंडित कदापि नहीं करना चाहिए। जब दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ हैं, तो प्राणदंड का प्रयोग जितना भी कम किया जाय, अच्छा है।

एक मत यह भी हो सकता है कि कानून में प्राणदंड का विधान तो हो किन्तु उसका प्रयोग न के बराबर रहे। यह विचार इसलिए उठता है कि प्राणदंड का आतंक बना रहे और लोग भयवश गर्हित अपराध न करें। इस तर्क में बहुत बल नहीं है। प्राणदंड पानेवाले अपराधी दो प्रकार के हो सकते हैं: एक, जो पुराने छूटे हुए अपराधी हैं दूसरे, वे जो किसी उत्तेजक परिस्थिति में पड़कर प्राणदंड पानेवाला अपराध कर बैठते हैं। पहले प्रकार के अपराधी तो जानबूझकर वैसे अपराध करते हैं और उनको प्राणदंड का कोई भय नहीं रहता। दूसरे प्रकार के अपराधी में स्वभावतः अपराध करने की प्रवृत्ति नहीं रहती। वह तो दंड के वर्जनात्मक प्रभाव के बावजूद, परिस्थितिवश अपराध कर बैठता है। यह बात साधारणतः सभी औसत व्यक्ति के साथ लागू है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणदंड के विधान का निषधात्मक प्रभाव बहुत सफल नहीं होता। तब फिर क्यों इस प्रकार का कानून व्यर्थ बना रहे हैं ?

दंड-व्यवस्था द्वारा जहाँ तक सामाजिक प्रतिशोध की बात है, आज हमें मानस-शास्त्र के अनुभवों से ज्ञात है कि अपराधी को प्राणहरण से भी कठिन यातना दूसरे प्रकार से दी जा सकती है। हम—आप कभी-कभी—ऐसी परिस्थिति में पड जाते हैं जबकि लगता है कि मृत्यु हो जाय तो अच्छा हो। जिन लोगों ने आर्थर क्वस्लर के उपन्यास "डार्कनेस एट नून" (जिसका हिन्दी अनुवाद "उजेले में अंधेरा" नाम से प्रकाशित हो चुका है) को अथवा जार्ज औरलेल के उपन्यास "१९८४" को पढ़ा है, उन्हें मालूम होगा कि आज विज्ञान ने प्रतिशोध के लिए राज्य के हाथ में प्राणदंड से भी कठिन

साधन दे दिया है। अतः प्रतिशोध की भावना ही अगर मत्यु है, तौभी प्राणदंड वहुत सफल नहीं होता।

प्राणदंड का कानून उठा देने के विरुद्ध यह भी एकाएक कहा जाता है कि ऐसा कर देने से सामाजिक मर्यादा भंग होगी, अपराधों की बाढ़ आ जायगी। यह भय निराधार है। कई देशों में कुछ समय तक इस कानून को स्थगित कर देखा गया है। वहाँ अपराधियों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई है और पुनः उस कानून को जारी कर देने से भी अपराधों की तादाद घटी भी नहीं है। संभवतः साधारण व्यक्ति के मन पर केवल एक बात का प्रभाव सर्वाधिक रहता है कि हमें अपराध करने पर सरकार द्वारा दंड मिलेगा। दंड किस प्रकार का और कितना कठोर होगा, यह मन को वाद में, परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। इसलिए प्राणदंड का विधान हटाकर अगर प्रभावशाली, अधिक मानवीयतापूर्ण दंड का विधान होना चाहिए। अपराधी को एक ओर तो यह भी पता चले कि उसके अमुक कृत्य के लिए यह सजा मिल रही है, दूसरी ओर उसके साथ मानवोचित व्यवहार करके, उसके प्रति सहानुभूति दिखला करके उसके सुधार और शिक्षा की व्यवस्था करके, उसको समाजोपयागी नया इन्सान वनाने का प्रयत्न किया जाय। इस दिशा में आज की सरकारें कुछ काम कर भी रही हैं। जेलों में दस्तकारी और श्रमपूर्ण उद्योगों का प्रबन्ध किया जा रहा है। वहाँ कैदियों को उपयोगी कामों में लगाकर, उसकी वैचारिक आदत (हैविट आफ थौट) को बदलने को चेष्टा होती है। आधुनिक मानस-शास्त्र भी तो (अकुपेशनल थेरापी) "काम के जरिए इलाज" की सिफारिश करता है।

अनुमान कीजिए, किसी व्यक्ति को, जिसे आज के कानून के मुताबिक प्राणदंड मिलना चाहिए, लम्वी कैद की सजा दी जाती है। जेल में उसको परिष्कृत वातावरण में रखा जाता है और आधुनिक अपराध-शास्त्र के अनुभवों के आधार पर उसके साथ मानवोचित व्यवहार होता है, उसको बार-बार वताया जाता है कि उसका अमुक कृत्य अनुचित हुआ। फिर उसमें जीवन के प्रति आस्था और मोह पैदा किया जाता है। तव, हम अनुमान कर सकते हैं,

उसे जेल में अनेक वर्षों तक बन्द रहना कितना अखरेगा। और, अगर उसे ज्ञात हो जाय कि जेल में अच्छा रकार्ड रहने पर उसे कैद में रियायत भी मिल सकती है, तो निश्चय ही वह शीघ्र आत्मोन्नति करने का प्रयास करेगा। कुछ ऐसे भी अपराधी होंगे, जो इस प्रकार की सहूलियतों के बाद भी बार-बार अपराध करेंगे। ऐसे अपराधियों को अलग जेल में रखा जा सकता है। आखिर आज पागलों के लिए कैसी व्यवस्था है? क्या उन्हें गोली मार दी जाती है? अगर उनके लिए पागलखाने का प्रवन्ध हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि अभ्यस्त अपराधियों के लिए भी कुछ इसी प्रकार का प्रवन्ध न किया जा सके।

किन्तु इतना कुछ होते हुए भी प्राणदंड उठाया नहीं जा रहा है। ऐसा क्यों? एक तो सरकारों के चलने की अपनी गति होती है, दूसरे हम अपने संस्कारों और पुराने विचारों से बुरी तरह चिपके रहते हैं। सब कुछ समझ-बूझकर भी हम अपनी मान्यताओं में शीघ्र परिवर्त्तन नहीं करते। हम विचारों में नयापन लाने से ज्यादा महत्त्व देते हैं वस्तुओं में नयापन लाने को। हम ताजा से ताजा माडल की कार, रेडियो, घड़ी, फाउन्टेनपेन वगैरह रखने की ख्वाहिश रखते हैं। परन्तु हम क्षण भर भी बैठकर नहीं सोचते कि हमारी कौन-कौन-सी मान्यताएँ कितनी पुरानी पड़ गयी हैं और उनको शीघ्र त्याग देना चाहिए। आज सब प्रकार से समझते-बूझते हुए भी सरकारें प्राणदंड को नहीं उठा रही हैं। मुमकिन है कल वे इसके लिए तैयार हो जायें। यह केवल समय की बात है, अन्यथा प्राणदंड का विधान पुराना पड़ गया, इस बात से बहुत कम लोग इन्कार करेंगे।

आदर्श-शिक्षा-पद्धति

युद्धोत्तर काल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जो विकट समस्याएँ देश के आगे आयी हैं, उनमें आदर्श-शिक्षा-पद्धति के निर्धारण का प्रश्न बड़ा ही

जटिल और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश अपने देश में राजनीति को इतनी प्रमुखता मिली हुई है कि राष्ट्र-निर्माण के इस महत्कार्य की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। यों तो प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनेक दोषों का एहसास लोगों को है पर शिक्षा के विभिन्न स्तरों के क्या रूप हों, उनमें एकसूत्रता किस तरह लायी जाय, फिर उनकी दिशा क्या हो, इन सारी बातों पर समग्रतापूर्वक विचार करने का कष्ट बहुत कम लोगों ने किया है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने अवश्य ही समस्या के कुछ पहलुओं पर स्वतन्त्र रूप से ध्यान दिया है, किन्तु उनके निष्कर्षों के आधार पर व्यापक रूप से प्रयोग करने का साहस नहीं दिखलाया जा रहा है।

साधारणतया शिक्षा के तीन स्तर हैं---प्राथमिक, माध्यमिक और विश्व-विद्यालयीय। प्रथम दोनों स्तरों के लिए आज जो आदर्श व्यवस्था मानी जा रही है, उस पर बिहार में बड़े पैमाने पर और मध्यप्रान्त में कुछ स्थानों पर प्रयोग किया जा रहा है। प्राथमिक स्तर के लिए जो योजना है वह बुनियादी-शिक्षा-पद्धति के नाम से ज्ञात है और माध्यमिक स्तर के लिए उत्तर बुनियादी शिक्षा है।

इन योजनाओं की आधार-शिला गाँधीजी द्वारा निरूपित आदर्शों के अनुसार प्रतिपादित वर्धा-शिक्षा-योजना है। इस योजना के निर्माण में देश के सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० जाकिर हुसैन का प्रमुख हाथ रहा है। इस पद्धति में काम के माध्यम से सभी विषयों की सैद्धान्तिक शिक्षा देने की चेष्टा है। इस पद्धति में गाँधीजी के दो मुख्य उद्देश्य निहित हैं; प्रथम, जीवन में कर्म की महत्ता को बालपने से प्रतिष्ठित करना, द्वितीय, सभी विषयों की सैद्धांतिक शिक्षा के अलावा बच्चों को किसी-न-किसी रोजगार की शिक्षा देना, ताकि आगे चलकर वे सरकारी दफ्तरों का ही मुँह न जोहें बल्कि अपने पैरों पर खड़ा हो सकें और शिक्षा-काल में ही उनके किये हुए रोजगारी के काम में से (जैसे टोकरी, कपड़ा आदि की बुनाई, बढ़ईगिरी आदि से) इतने पैसे निकाल सकें कि उनकी पढ़ाई का खर्च पूरा हो जाय।

विश्वविद्यालयों के लिए आदर्श-शिक्षा-योजना प्रस्तुत करने के लिए सरकार की ओर से एक कमीशन नियुक्त किया गया था, जिसके चेयरमैन थे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन। इस कमीशन ने एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की है, जिसके सुझावों को कार्यान्वित करने की चेष्टा की जा रही है। प्रसन्नता की बात है कि इस कमीशन ने अपनी जाँच के समय बुनियादी-शिक्षा-योजना को ध्यान में रखा था, क्योंकि अगर देश के लिए सुसंगठित शिक्षा-योजना बनानी है, तो प्राथमिक और माध्यमिक-योजना से उच्चस्तरीय-शिक्षा का जीवन्त-सम्बन्ध रहना ही चाहिए।

किसी भी स्तर की और किसी प्रकार की शिक्षा-योजना बनाने के पूर्व देश की परिस्थितियों को अवश्य ही ध्यान में रखना आवश्यक है यथाः——

१. शिक्षा का आदर्श यह होना चाहिए कि देश के हर मर्द, औरत और बच्चे को उसके व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिले। इसलिए एक सर्व-सामान्य स्तर के बाद सबकी व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उसके लिए विषय का चुनाव करना चाहिए।

२. व्यक्तिगत विशेषताओं को विकसित होने का पूर्ण अवसर देने के बाद भी, हर राष्ट्र का जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण होता है। उसे हम राष्ट्रीय जीवन-दर्शन भी कहते हैं। उसकी समृद्धि के लिए हर व्यक्ति को प्रस्तुत करना भी शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। पर यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि आज की दुनिया में बहुधा राष्ट्रीयता का अन्त उग्र राष्ट्रवाद में होता है। इस खतरे से बचने का एकमात्र उपाय है कि शिक्षा-प्रणाली हमेशा राष्ट्रीय-संस्कृति के सर्वाधिक उदार आदर्शों को ही सामने रखे। अपने देश में आजादी की लड़ाई के सिलसिले में जो विद्यापीठ और 'नेशनल' स्कूल कायम हुए, उनका अनुभव आज हमारे लिए विशेष लाभदायक हो सकता है। अगर अँग्रेजों की चलाई हुई शिक्षा-पद्धति में गुलाम गढ़े जाते रहे हैं और शिक्षित व्यक्ति अपने जन समाज से दिमागी तौर पर विलग होते गये हैं, तो विद्यापीठों और नेशनल स्कूलों से निकले हुए व्यक्ति संकुचित राष्ट्रीयता से

प्रभावित हैं। उनमें से अधिकांश लोग आज सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नाम पर चलनेवाली पुराण-पंथी प्रतिक्रिया के शिकार हो गये हैं।

३. इसलिए शिक्षा-पद्धति को आदर्श नागरिक की कल्पना पर आधारित रहना चाहिए। पर आदर्श-नागरिक का क्या रूप है, इसका निर्णय सरकार या राजनीतिज्ञों पर न छोड़कर शिक्षा-विशेषज्ञों पर छोड़ना चाहिए। किन्तु सबसे पहले राज्य की जनता के मानसिक, बौद्धिक और नैतिक स्तर का पता लगाना होगा। उसके बाद उदार जीवन-दर्शन के स्थायी और मौलिक मूल्यों का चयन करना होगा। यह काम विश्वविद्यालयों के माध्यम से नाना प्रकार के व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक प्रयोगों, शैक्षणिक गणनाओं के जरिये सम्भव है।

४. हर शिक्षा-पद्धति में विशेषज्ञ तैयार करने की व्यवस्था रहनी चाहिए क्योंकि देश की अधिकांश संस्थाओं के संचालन के लिए आजकल की विकसित टेक्नोलाजी के जमाने में विशिष्ट योग्यताओं की जरूरत होती है।

इन सब समस्याओं पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अपने देश में सब काम बिल्कुल जड़ से शुरू करना पड़ेगा। अमेरिका के आगे भी इस प्रकार की समस्यायें उपस्थित हुई थीं और वहाँवालों ने इनका समाधान किया। वहाँ के विद्यालयों ने सबसे पहले राष्ट्रीय अभिरुचि, आवश्यकताओं और परम्पराओं का पता लगाया। वहाँ शिक्षा विषयक राष्ट्रीय सोसाइटी में १२८ बार प्रयत्न करके पता लगाया कि वहाँ के कालेजों की वास्तविक स्थिति क्या है। तत्पश्चात् निष्कर्षों और सुझावों की आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। तब जाकर अमेरिका ने अपने लिए एक प्रकार की शिक्षा-पद्धति का निर्धारण किया। आज वहाँ उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, बैंक, कानून आदि विशेष पेशों के लिए जो विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसके अलावा साधारणतया यह कोशिश रहती है कि मनुष्य शिक्षा प्राप्त करने पर इतनी बौद्धिक, मानसिक और नैतिक सम्पन्नता अवश्य हासिल कर ले कि वह किसी भी उपस्थित परिस्थिति में मानवीय मूल्यों की रक्षा करते हुए अधिक-से-अधिक स्वस्थ प्रतिक्रिया दर्शावे।

अपने देश में अब तक जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित है, वह सीढ़ीनुमा है जो प्राथमिक-शिक्षा से शुरू होकर उत्तर-स्नातक परीक्षाओं के बाद समाप्त हो जाती है। देश के असंख्य लोग इस सीढ़ी के ऊपरी स्तरों तक कभी पहुँच नहीं पाते। उनके पास तो साधनों का नितान्त अभाव है, दूसरे बीच के दर्जों में जो कुछ उन्हें पढ़ाया जाता है, वह उच्चतम शिक्षा के प्रति उनके मन में किसी प्रकार की उत्सुकता पैदा नहीं कर पाता है। इस प्रकार असंख्य लोग प्राथमिक दर्जों से शुरू करके बीच के दर्जों तक पहुँचते-पहुँचते शिक्षालयों से हटने लगते हैं। वे उपयोगी रोजगारों में लग जाते हैं और उनकी नजर में उच्च शिक्षा का कोई महत्व नहीं बच जाता।

इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हुए अलेक्जैण्डर माइकेल जोन ने लिखा है, हमें हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि लोग उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से पढ़ाई नहीं शुरू करते। उनका ध्यान रहता है बीच में इधर-उधर की दिशा में बढ़ निकलना, ताकि वे जीवनोपयोगी कामों में लग सकें। अगर उन्हें उन कामों के सबन्ध में अपनी शिक्षा से विशेष रोशनी नहीं मिलती, तो वे सारी शिक्षा को ही निरर्थक समझने लगते हैं।

यह भी समझने की बात है कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ विभिन्न सामाजिक स्तरों, धर्मों और "संस्कृतियों" के लोग हैं, एक सर्वसामान्य शिक्षा-पद्धति कभी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः शिक्षा के विभिन्न स्तरों तक पहुँचने के बाद कुछ-एक दिशाओं में जाकर किसी-न-किसी प्रकार की रोजगारी शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य रहना चाहिए। इस प्रकार की रोजगारी शिक्षाओं की कल्पना की जा सकती है जिनका उद्देश्य उन रोजगारों में उच्चतम टेकनिकल शिक्षा देना नहीं, बल्कि छोटे-मोटे रोजगार चलाने के योग्य बनाना है। किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि किसी भी रोजगार की शिक्षा अन्य किसी प्रकार की रोजगारी शिक्षा पर आश्रित न हो—क्योंकि वैसा होने पर इस पद्धति का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा।

भारत की अधिकांश आबादी गाँव में बसती है। लोगों का मुख्य पेशा खेती है। ग्रामीण, खेतिहर समाज की मनःस्थिति और उसकी आवश्यकताएँ

औद्योगिक समाज से भिन्न होती हैं। अतः शिक्षा-पद्धति में मुट्ठी भर शहरी लोगों की प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का ही नहीं बल्कि ग्रामीण समाज की आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों का ध्यान रखना जरूरी है। आज हमारे विश्वविद्यालयों से निकले हुए लोग ग्रामीण समाज से वैचारिक या भावात्मक तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। इसका उत्तरदायित्व एक तो आज की शिक्षा-पद्धति पर है दूसरे, इस पर भी है कि हमारे विश्वविद्यालय ग्रामीण अंचलों में न होकर बड़े-बड़े नगरों में हैं।

आदर्श-शिक्षा-पद्धति का स्वरूप निर्धारित करते समय एक और महत्वपूर्ण बात पर ध्यान देना होगा। वह यह कि हमारे विश्वविद्यालय विद्यार्थियों को देश के नैतिक और राजनीतिक जीवन में भाग लेने के लिए कहाँ तक तैयार कर पाते हैं। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में ऊँचा दर्जा पाने का महत्व तो है, पर वह सफलता अगर सहकारिता, सहानुभूति और निःस्वार्थ सेवा-भावना की उपेक्षा करती है, तो वह कदापि स्पृहणीय नहीं हैं। जो शिक्षा समाज की आवश्यकताओं और जीवन के तकाजों को पूरा करने की योग्यता और साहस नहीं प्रदान कर पाती, वह किसी भी दशा में उपयोगी नहीं हो सकती। इस समस्या का एक बुनियादी पहलू भी है। आखिर समाज की आवश्यकताओं का निर्णय किस प्रकार हो सकता है? जब तक उन आवश्यकताओं का वास्तविक स्वरूप निर्धारित नहीं कर दिया जाता, तब तक शिक्षा-पद्धति में उनकी पूर्त्ति का कैसे प्रबन्ध किया जा सकता? जहाँ तक अपने देश का सवाल है, स्पष्टतः हम प्रजातांत्रिक जीवन प्रणाली में विश्वास रखते हैं और उसका ही विकास हमारा लक्ष्य है। अतः यहाँ की शिक्षा-पद्धति तानाशाही एकतंत्री समाज की शिक्षा-पद्धति से विभिन्न होगी। एकतंत्री समाज में स्वतंत्र विचारों और कार्यों की गुंजाइश नहीं रहती। वहाँ अनुशासन के नाम पर एक तरह की 'मोनोटोनी' (एकरसता) रहती है। पर प्रजातांत्रिक समाज में सब को विचारों की स्वतन्त्रता रहती है पर पारस्परिक सहयोग का ध्यान रखते हुए ऐसे समाज में न एक सुर की 'मोनोटोनी' रहती है, और न नाना स्वरों का बेमेल कोलाहल। वहाँ रहता है अनेक स्वरों का सामंजस्यपूर्ण संगीत। इस

संगीत का निर्वाह करने के लिए हर एक नागरिक को प्रस्तुत करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह कार्य तभी सम्पादित हो सकता है, जबकि शिक्षा-पद्धति में सहकारिता और स्वाधीनता के उचित मूल्यों का समावेश किया जाय, विश्वविद्यालयों के वातावरण में विचार-स्वातंत्र्य और भावों की सहिष्णुता रहे। ऐसी व्यवस्था रहने पर ही प्रजातांत्रिक जीवन के स्थायी मूल्यों की प्रतिष्ठा और विकास हो सकता है।

सैनिक शिक्षा अथवा निशस्त्रीकरण ?

सामाजिक जीवन में संघर्ष और सहयोग—दोनों प्रकार की प्रवृत्ति रहती है। किसी समाज में संघर्ष अधिक है, तो दूसरे में सहयोग। कहीं एक ही समाज में किसी एक काल में संघर्ष अधिक रहता है तो दूसरे काल में सहयोग। परन्तु साधारणतया समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, जमात-जमात के बीच समस्याओं के हिसाब से संघर्ष और सहयोग की प्रवृत्तियाँ काम करती रहती हैं। सामाजिक सम्बन्ध का यह द्विविध रूप चिरकाल से चला आ रहा है। परन्तु दो राष्ट्रों अथवा दो जातियों के बीच का अथवा एक राष्ट्र या जाति के भीतर ही विभिन्न दलों के बीच का संघर्ष युद्ध का रूप ले लें, यह प्रागैतिहासिक सभ्यताओं (जिनमें मिस्र, बेबीलीन, असीरिया, वगैरह शामिल हैं) के जमाने की देन है जो आज तक चली आ रही है। और प्रागैतिहासिक सभ्यताओं ने यह लत कुछ-एक जंगली लड़ाकू जातियों से ली थी। तब से लेकर आज तक सभ्यताओं की किस्मत का फैसला युद्ध-क्षेत्र में होता रहा है। युद्धों ने मिस्र और मध्यपूर्व के प्राचीन सभ्यता-केन्द्रों को नेस्तनाबूद कर दिया और आज की सभ्यता को भी यही अन्देशा हो रहा है।

बुद्ध अथवा उनसे पहले से अब तक जितने धर्मोपदेशक और पैगम्बर हुए हैं, उन सबने हिंसा, घृणा और विद्वेष को मानव का शत्रु बताया है और

शांति और प्रेम का संदेश सुनाया है। उन महापुरुषों के उपदेशों ने व्यक्तिगत जीवन को तो यथासंभव खूब प्रभावित किया, किन्तु राष्ट्रों की राजनीति अप्रभावित रही। किसी भी राज्य ने अपनी सेना कभी भंग नहीं की, यहाँ तक कि अशोक ने भी संभवतः अपनी सेना विघटित नहीं की। इतना ही नहीं, सेनाओं पर राज्य का खर्च क्रमशः बढ़ता ही जाता है और आज के युद्ध अधिकाधिक भीषण और व्यापक होते जा रहे हैं। अपने को और सारी दुनिया को मानो धोखा देने के लिए युद्ध-विभाग को प्रत्येक देश रक्षा-विभाग कहता है। सिर्फ ईरान और मिस्र ने बड़ी साफगोई से युद्ध-विभाग का युद्ध-विभाग ही नाम दिया है।

पुराने जमाने से लेकर आज तक के राष्ट्रों ने दो प्रकार से फ़ौज तैयार की है। एक कायदा यह है कि देश-विदेश के युद्धजीवियों को एकत्र कर फौज में भर्ती किया जाय। दूसरा कायदा है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को सैनिक शिक्षा देकर एक फौजी कैम्प-सा बना दिया जाय। पहला तरीका अब पुराना पड़ता जा रहा है और उस प्रकार फौज बनाने की सुविधाएँ कम होती जा रही हैं। कोई देश नहीं चाहता कि उसका नागरिक युद्धजीवी के रूप में दूसरे देश की सेना में भर्ती हो। एक तो यह राष्ट्रीय सम्मान-भावना को चोट पहुँचाती है, दूसरे जिस देश के लोग विदेशी सेना में भर्ती होते हैं, उस देश की अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में कठिनाई होती है और उसका जनबल घटता है। तीसरे, विदेशियों से बनी फौज आज के जमाने में विश्वसनीय नहीं होती। अतः आज का राज्य अपने नागरिकों की ही भर्ती करता है और सेना में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने पर अधिकाधिक जोर देता है। परन्तु अपना नागरिक भी तो फौज में युद्धजीवी के रूप में ही शामिल होता है। ऐसी सेना को पोसने में राज्य की आय का बहुत बड़ा अंश लग जाता है। इसलिए राज्यों की दूसरी प्रवृत्ति सम्पूर्ण राष्ट्र को ही सैनिक शिक्षा देने की है। इस प्रकार राष्ट्र को अधिक विश्वस्त सैन्य-बल का भरोसा मिलता है।

किन्तु राष्ट्रीय सेना का आधार व्यापक बनाने की तमाम चेष्टाएँ आधुनिक युद्ध की निरन्तर बढ़ती हुई विभीषिकाओं को देखते हुए करुण होती जा

रही हैं। आज के युद्ध में शत्रु की दृष्टि में सेना और साधारण नागरिक में अन्तर नहीं रहता। फौजी शिविरों और शान्त गाँवों पर समान भाव से बम बरसाया जाता है। यह राष्ट्रीय सैनिक शिक्षा के पक्ष में बहुत बड़ा तर्क है। किन्तु आज जिस विशाल पैमाने पर विध्वंस और विनाश होता है, उसे देखते हुए सारी दुनिया के सामने सवाल आ गया है कि आखिर युद्ध का ही क्यों न अन्त कर दिया जाय। इसी मूल प्रश्न का रूप है कि सैनिक शिक्षा दी जाय अथवा निश्शस्त्रीकरण की नीति अपनायी जाय। यह युद्ध और शान्ति के बीच चुनाव करना है। वस्तुतः यह चुनाव बड़ा ही सहल दीखता है, क्योंकि शांति को छोड़कर युद्ध पसन्द करे, ऐसा व्यक्ति स्वाभाविक प्रकृति का नहीं हो सकता है। फिर भी चिरकाल से, हम जानते हैं, सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध हर स्वतन्त्र राज्य ने किया है, भले यह शिक्षा सभी नागरिकों को अवश्यमेव न दी जाती हो। अपने ही देश में जिन दिनों अँग्रेजी राज के विरुद्ध आन्दोलन जारी था, हमने अक्सर सुना कि अँगरेजों ने हमारे लिए सैनिक-शिक्षा का द्वार बन्द कर रखा है। हथियार की आजादी छीन ली है। तात्पर्य यह कि स्वाधीन होते ही हम अपने लिए सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध करेंगे। इस प्रकार से सोचनेवालों ने समय-समय पर कहा भी है कि किसी-न-किसी रूप में हर नागरिक को प्रारम्भिक सैनिक-शिक्षा दी जानी चाहिए। कालेजों और विश्व-विद्यालयों ने भी 'नेशनल कैडेट कोर' की व्यवस्था की है।

किन्तु निश्शस्त्रीकरण का प्रयास भी बहुत दिनों से हो रहा है। इस दिशा में मानवतावादियों ने भी प्रयत्न किये हैं, और स्वार्थसाधकों ने भी। विजयी राष्ट्रों ने भी समय-समय पर विजित राष्ट्रों को निश्शस्त्र किया है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ई० पू० २०१ ई० में रोम ने कार्थेज को निरस्त्र कर दिया। १८०८ ई० में नेपोलियन ने प्रशा (जर्मनी) की सैन्य-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाये और आधुनिक काल में प्रथम महायुद्ध के बाद १९१९ ई० में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की जल, थल और वायु सेना को बहुत ही सीमित कर दिया था। रूसी जार ने १९ वीं सदी के अन्त और २० वीं सदी के शुरू के दिनों में निश्शस्त्रीकरण में बड़ी दिलचस्पी

दिखलायी थी और उसके प्रयत्न से १८९९ ई० और १९०७ ई० में हेग में इस विषय पर सम्मेलन हुआ था। किन्तु, दूसरी ओर यूरोप में सैनिकवाद का बोलवाला हो रहा था, विभिन्न राज्यों में तरह-तरह की गुप्त संधियाँ हो रही थीं। फलतः चारों ओर अविश्वास, भय और विद्वेष का धुंआँ फैल रहा था जिसके विषाक्त वातावरण में हेग सम्मेलन की चेष्टाएँ घुट कर मर गयीं। निश्शस्त्रीकरण की चेष्टा तो सुरक्षा के वातावरण में ही सफल हो सकती है। प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व हर राज्य अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाने में ही तत्पर था। १९०८–१४ ई० में ६ यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मिलित फौजी बजट पहले की अपेक्षा ५००,०००,००० डालर अधिक का हो गया था। सैनिकवाद की आग में मारक अस्त्रों के आविष्कार ने आहुति का काम किया।

युद्ध समाप्त होने पर स्वभावतः राष्ट्रों का युद्ध-खर्च घटाने की ओर लोगों का ध्यान गया और निश्शस्त्रीकरण की बात फिर से उठने लगी। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के सैनिक-विकास पर प्रतिबन्ध लगा दिये। स्वयं अपने अपने लिए भी उन्होंने निश्शस्त्रीकरण की नीति को वर्साई (भाग ५) और कौवनेन्ट आफ लीग आप नेशन्स (धारा ८) में कबूल कर लिया।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त निश्शस्त्रीकरण आन्दोलन का प्रधान माध्यम "लीग आफ़ नेशन्स" बनी, क्योंकि इस उलझी हुई समस्या का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बल पर किया जा सकता है। "लीग आफ नेशन्स" इस कार्य के लिए उपयुक्त प्लैटफार्म थी। "लीग आफ नेशन्स" ने १९२० में एक स्थायी कमीशन नियुक्त किया जिसमें सैनिक अफसर ही सदस्य चुने गये। एक वर्ष बाद एक स्थायी कमीशन भी बना जिसमें गैरफौजी अधिकारी भी शामिल किये गये। इन कमीशनों के माध्यम से "लीग आफ नेशन्स" के निश्शस्त्रीकरण-विभाग का काम शुरू हुआ। १९२३ में मिले-जुले कमीशन ने पारस्परिक-आश्वासन-संधि का मसविदा तैयार किया, किन्तु लीग के सदस्य राष्ट्रों ने सम्मिलित रूप से उस पर हस्ताक्षर नहीं किया और वह प्रयत्न व्यर्थ ही गया। १९२४ में "जेनेवा प्रोटोकल" तैयार हुआ। शान्ति और

निश्शस्त्रीकरण की अब तक जितनी चेष्टाएँ हुई थीं, उनमें प्रोटोकल सबसे व्यापक और प्रभावपूर्ण प्रस्ताव था। किन्तु लीग के मेम्बर राष्ट्र इतनी दूर तक कदम बढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। इस प्रकार जेनेवा प्रोटोकल भी असफल चेष्टाओं की सूची में दर्ज हो गया। स्थल सैन्य-बल में कमी करने का प्रयत्न तो फलप्रद सिद्ध नहीं हुआ किन्तु नौ-सेना की शक्ति सीमित करने में अवश्य यत्किंचित् सफलता मिली। इसका श्रेय वाशिंगटन नौ-सेना कान्फ्रेंस को है। इस बाद पुनः सामान्य निश्शस्त्रीकरण की चेष्टा कुछ राष्ट्रों ने अपने-अपने तौर पर की। लोकार्नो सन्धि, फिर विभिन्न राष्ट्रों की अनाक्रमण संधि, और पंचायत, आपसी झगड़ों को सुलझाने की कोशिश, इन् तमाम बातों से युद्ध का भय और सैन्य बल बढ़ाने की होड़ कम करने में सहायता मिली और उतनी दूर तक निश्शस्त्रीकरण का सिद्धान्त भी आगे बढ़ा। १९२६ में प्रबन्धक समिति (Preparatory Committee) की जिसमें लीग कौंसिल के सदस्य, लीग के सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि, जर्मनी और अमेरिका के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, बैठक हुई। इस समिति का उद्देश्य था एक सामान्य व्यापक निश्शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए योजना बनाना। समिति को इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इसी बीच उधर केलोग-ब्रियाँ संधि हो गयी और रूसी प्रतिनिधि लितविनोव को निश्शस्त्रीकरण-योजना किंचित् सनसनी पैदा करके खत्म हो गयी। उसके बाद का इतिहास और निश्शस्त्रीकरण की चेष्टाओं का फल हम सब को ज्ञात है। इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट सरकार सैन्य-बल बढ़ाने लगी। जर्मनी में नाजी पार्टी का उदय हुआ, सुदूर पूर्व में जापान अलग विश्व-विजय और साम्राज्य-विस्तार के सपने देख रहा था। इस प्रकार पुनः सभी प्रमुख राष्ट्रों में शस्त्रास्त्र बढ़ाने की होड़ मच गई। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर युद्ध के धौंसे की धमक सुनाई पड़ने लगी। इस प्रवृत्ति का फल हमें द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में मिला।

इस युद्ध के बाद से, विशेषकर अणु बम के आविष्कार और प्रयोग से दुनिया इतनी आस्थाहीन हो गयी है कि सामान्य निश्शस्त्रीकरण की बात भी नहीं सुनाई पड़ती। इसका कारण यह नहीं कि निश्शस्त्रीकरण असंभव है,

बल्कि इसलिए कि राष्ट्रों की मनोवृत्ति इतनी विगड़ी हुई है कि इस प्रकार महान् आदर्शों की चर्चा भी व्यर्थ, झूठी और निस्सार प्रतीत होती है। किन्तु सिद्धान्ततः कोई भी व्यक्ति निश्शस्त्रीकरण का विरोध नहीं करेगा और हमेशा उसको सैन्यीकरण के मुकावले में तरजीह देगा।

परन्तु अगर निश्शस्त्रीकरण ही से विश्व का कल्याण है तो आज-न-कल सारी दुनिया को इस ओर झुकना ही पड़ेगा। आधुनिक युद्ध इतना अधिक खर्चीला और विभीषिकापूर्ण होता जा रहा है कि छोटे-मोटे राष्ट्र के लिए संभव नहीं कि वह हमान् राष्ट्रों की तुलना में सैन्यवल बढ़ाने की हिमाकत करे और युद्ध के मरण-त्योहार में शामिल हो। आज उत्पादन का ही प्रश्न इतना प्रबल है कि सब राष्ट्र अपने जनवल को फौज से हटा कर कल-कारखानों और खेत-खलिहानों में लगाकर पैदावार बढ़ाना चाहते हैं। आत्म-रक्षार्थ भी सैन्यबल एक सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है। उस सीमा का अतिक्रमण करने पर फौजी अफसरों और शस्त्रास्त्रों के इशारे पर ही राष्ट्र-नीति को चलाना पड़ता है। उसी प्रकार निश्शस्त्रीकरण को लक्ष्य बनाकर चलानेवाला राष्ट्र अपनी नीति और व्यवहार में हमेशा रचनात्मक दृष्टिकोण को ही प्रमुखता देगा।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो जाता है कि अगर सभी राष्ट्र एक बार योजनानुसार निश्शस्त्रीकरण के लिए तैयार नहीं होते, तो क्या संभव है कि कोई राष्ट्र अपने ऊपर खतरा उठाकर अकेले यह कार्य शुरू कर दे, अथवा यथाशक्ति सैन्यबल बढ़ाने के लिए नागरिकों को सैनिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करे? बड़े राष्ट्रों के लिए इस समस्या पर एक स्पष्ट राय देना भले कठिन हो, छोटे राष्ट्र तो निश्शस्त्रीकरण की तैयारी तो कर ही सकते हैं क्योंकि वे सैनिक शिक्षा देकर अथवा अपनी सम्पूर्ण आय को फौज पर खर्च करके भी पार नहीं पा सकते।

——०——

छुट्टियों का उपयोग

प्राय: अभिभावकों से यह शिकायत सुनी जाती है कि स्कूल-कालेजों में पढ़ाई नहीं होती, केवल रुपये बर्बाद होते हैं और अवारागर्दी का सामान मुहैया होता है। शिकायत है कि शिक्षण-संस्थाएँ ६ महीने बन्द ही रहती हैं। इधर कुछ लोग यह भी कहने लगे थे कि शिक्षा-विभाग की ये लम्बी छुट्टियाँ (vacations) अँग्रेजी हुकूमत की विरासत (legacy) है। चूँकि तब अँग्रेज आफिसर सरकारी स्कूल-कालेजों के प्रधान होते थे और उन्हें स्वदेश जाना होता था, इसलिए उन्होंने लम्बी-लम्बी छुट्टियों की व्यवस्था की थी। ऐसा तर्क देकर वे यह प्रस्ताव उपस्थित करने जा रहे थे कि स्वतन्त्र भारत की शिक्षण-संस्थाओं की छुट्टियाँ अब घटा दी जायँ पर जब उन्हें मालूम हुआ कि संसार के स्वतन्त्र देशों, समुन्नत राष्ट्रों, में ऐसी छुट्टियाँ और लम्बी हैं तथा जब विश्वविद्यालय-समिति ने उसके विपक्ष में अपना मत दिया, तब कहीं जाकर वे चुप हुए।

विद्यार्थियों के अभिभावकों की शिकायत बहुत गैरवाजिब नहीं है। आखिर छुट्टियों में होता क्या है? कुछ लड़के पढ़ते हैं। कुछ घर जाकर ताश खेलते हैं। कुछ यात्रा-टोलियों में जाते हैं। छुट्टियों का एक बहुत बड़ा उपयोग ज्ञान के लिए यात्रा करना है। ऐसा करके हम किताबी दुनिया से निकल, आँखों और कानों से सीधा पढ़ने लगते हैं। अनेक लोगों के सम्पर्क में आने से अनेक स्थानों के भ्रमण से हमारी जानकारी का विस्तार होता है और हमारी कूपमंडूकता दूर होती है। हम शिविर-जीवन व्यतीत करते हैं। अपने हाथों पकाते, बर्त्तन साफ करते, धोती छाँटते और जूतों पर पालिश करते हैं। हममें आत्मनिर्भरता और स्वकर्म से पवित्र प्रसन्नता आती है। हम कर्म का महत्व (dignity of labour) जानते हैं। अमेरिका तथा अन्य अनेक देशों में पढ़ाई तब तक समाप्त नहीं समझी जाती जब तक विद्यार्थी भ्रमण करके अपने अर्जित ज्ञान का व्यावहारिक पहलू न जान ले। भूगोल, भूगर्भ-

विद्या, समाजविज्ञान, इतिहास इत्यादि के विद्यार्थी जब तक अपने-अपने विषयों के अध्ययन के लिए उपयुक्त स्थानों को स्वयं जाकर न देख लें, वहाँ की धरती, पत्थर, खनिज, लोग, रिवाज, प्राचीन इमारतें, खुदाई इत्यादि का परिचय न प्राप्त कर लें तब तक उनका अध्ययन तो सिर्फ किताबी, और अधूरे ढंग से सैद्धान्तिक रहेगा। भूगोल के विद्यार्थी को राजरप्पा तथा छोटा-नागपुर के अन्य स्थानों को देखना होगा। इतिहास का विद्यार्थी नालन्दा, वैशाली, अजन्ता इत्यादि को देखना चाहेगा। चिकित्सा-विज्ञान का अध्येता देश के चिकित्सा-केन्द्रों की विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों, रेडियम-चिकित्सा, सेनेटोरियम की चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, इत्यादि का अध्ययन करना चाहेगा। और उन सब का ऐसा चाहना अकारण नहीं है। बल्कि यह तो उनकी शिक्षा का एक परम अनिवार्य अंग है। पर व्यवहार में ऐसा कहाँ होता है? विद्यार्थी ज्ञान की पिपासा से अधिक महज मनोरंजन और सैर के शौक से स्कूल-कालेजों की यात्रा-मंडलियों में सम्मिलित होते हैं। वे जितना खर्च करते हैं उससे कम लाभ होता है क्योंकि उनका अधिकांश खर्च फैशन की चीजें खरीदने, बाजार की उत्तेजक चीज खाने और सिनेमा इत्यादि देखने में होता है। इन यात्राओं में उनका चरित्र भी बड़ा उच्छृङ्खल हो जाता है। रेलवे-विभाग यात्रा करनेवाले विद्यार्थियों को कम दाम पर टिकट देता है। पर ये विद्यार्थी रेल के जिस डिब्बे में पहुँचेंगे, उसमें अन्य यात्रियों का रहना दूभर हो जायगा। वे आवश्यकता से अधिक स्थान ले लेंगे, दूसरों का रास्ता रोक देंगे। हल्ले से सब की नींद हराम कर देंगे। प्रतिवाद करने पर झगड़ने को तत्पर रहेंगे। रेलवे के अधिकारियों को बेवकूफ बनायेंगे। तरह-तरह की बोली बोलेंगे और कहीं कोई खूबसूरत नवयुवती आ गई तब तो ऐसे संकेत करने और बोल बोलने लगेंगे कि भले आदमियों का उनके साथ चलना मुश्किल हो जाय। स्वेच्छाचारिता की पराकाष्ठा हो जाती है। कुछ विद्यार्थी रियायती टिकट भी नहीं लेकर योंही चलने में और कुछ नीचे क्लास का टिकट लेकर ऊँचे क्लास में चलने में अपनी चालाकी समझते हैं। उनके साथ जो अध्यापक होते हैं वे प्रायः नौजवान ही होते हैं। अतः उनका पूरा

रौब इन पर नहीं होता बल्कि वे भी यात्रा में इनके साथ मिलकर किशोर-सा व्यवहार करने लगते हैं। इस प्रकार अभिभावकों की शिकायत दुरुस्त है। लड़के न घर के रहते हैं, न घाट के। अगर वे घर पर रहते तो घर का कामकाज, खेती-बारी तो देख पाते। यात्रा में जाने से वे न तो घर का काम सीख पाते हैं और न बाहर का ज्ञान ही ला पाते हैं। जब वे लौटते हैं, तो किसी के साथ चन्द तस्वीरें होती हैं, किसी के साथ बम्बई का हवाई शर्ट, कलकत्ते का मनीबेग, शान्तिनिकेतन का जूता और इसी तरह की चीजें। ज्ञान के नाम पर वे शायद ही कुछ लाते हैं।

इसलिए यदि हम चाहते हैं कि छुट्टियों का सदुपयोग हो तो आवश्यक है कि हम यात्रा के ढंग को बदल दें। ये यात्रा-टोलियाँ अनुभवी, अनुशासन-पसन्द, वयस्क अध्यापकों की मातहती में जायँ। ये अध्यापक देखें कि रेल, जहाज इत्यादि में विद्यार्थी विनम्रता से, सहायक के रूप में अन्य यात्रियों से व्यवहार करते हैं। बल्कि यात्रा का एक नियम अन्य यात्रियों को सहायता देना भी हो। अगर कोई अपाहिज है, अन्धा है, बूढ़ा है, अकेली औरत है, बीमार है तो यात्रिक विद्यार्थियों का कर्त्तव्य होगा कि वे यात्रा करने में तन-मन से उन्हें सहायता दें। अन्य यात्रियों को डब्बे में गंदी हरकतें करने से रोकें, और पने आचरण से सभी को प्रभावित करें। तब उनके बड़े बुजुर्ग जानेंगे कि आजाद हिन्स्तान की संतान शिक्षा का नया और अनुपम आदर्श उपस्थित कर रही है।

यात्रा-टोलियों को जिन-जिन स्थानों में जाना हो उनकी सूचना वहाँ के शिक्षा-अधिकारियों को पहले ही मिल जानी चाहिए ताकि वे उन्हें एक अच्छे व.तावरण के स्थान में टिकावें और उनका निरीक्षण करावें।

यात्रा-टोलियों को शिविर-जीवन व्यतीत करना होगा। यानी विद्यार्थियों को कम से कम सामान साथ ले चलना होगा, इतना ही जितना वे स्वयं ढो सकें। उन्हें टिकने के स्थानों में खाना-पकाना इत्यादि काम स्वयं करना होगा। उन्हें नियत समय पर उठना, भ्रमण करना, खाना, पढ़ना और सोना होगा। हर रात को अध्यापक भ्रमण किये गये विषयों पर विद्यार्थियों से

बातचीत करें और उनकी जानकारी का हिसाब रखें। यात्रा की समाप्ति पर आचरण और जानकारी के हिसाब से विद्यार्थियों को अंक दिये जायँ। इससे दो लाभ होंगे। एक तो नियमित कामों में लगे रहने से हुल्लड़ करने का अवकाश नहीं मिलेगा और फिर अंक मिलने के कारण वे संलग्न होकर भ्रमण से उचित लाभ उठायँगे।

फिर भिन्न २ विषय के विद्यार्थियों की भिन्न २ टोलियाँ होनी चाहिए। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि कला के विद्यार्थी के लिए जमशेदपुर का लोहा का कारखाना, पटने की बाटा-जूता-फैक्टरी, कलकत्ते का हिन्दुस्तान मोटर कम्पनी, चितरजन का रेल-इंजिन का कारखाना, बंगलोर का वायुयान-कारखाना, अहमदाबाद की वस्त्र-मील देखना निरर्थक होगा और न ह यह कि विज्ञान के विद्यार्थियों का कुछ विगड़ जायगा अगर वे गया, पुरी, काशी, रामेश्वरम्, प्रयाग, हरिद्वार, भुवनेश्वर को देख लेंगे। पर्यटन तो कभी बेकार जाता ही नहीं। घुमक्कड़ी-शास्त्र के आचार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस कार्य के लिए जनेऊ की जगह कैमेरा टाँगा था। मेरे कहने का सिर्फ मतलब यह कि एक विषय और रुचि के विद्यार्थियों के एक साथ रह. से अध्ययन की सहूलियत होती है।

वैसे केवल मनोरंजन के लिए भी पर्यटन महत्वपूर्ण होता है, पर उस मनोरंजन को सृजनात्मक अवश्य होना है। आजकल विद्यार्थियों की यात्राओं में जो मनोरंजन होता है वह प्रायः ध्वंसात्मक होता है। इस प्रवृत्ति को हमें रोकना चाहिए। चूँकि लम्बी छुट्टियों में ही यात्राएँ सम्भव हैं, इ लिए इन छुट्टियों में यात्राएँ हों, मगर छुट्टियों के एक दूसरे पहलू पर भी हमें विचार करना चाहिए।

हमारी शिक्षा-पद्धति की वंलता है कि वह आत्मनिर्भर नहीं है। विद्यार्थी माता-पिता की सम्पत्ति से पढ़ते हैं। फिर यह महज कितावी वा सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक वा प्रयोगात्मक नहीं। भारतवर्ष एक दरिद्र देश है। यहाँ घर-घर में गरीबी है। अतः यहाँ ऐशोआराम की पद्धति पर चलनेवाली शिक्षा नितान्त गर्हित . । साथ ही हिन्दुस्तान अभी-अभी आजाद हुआ है। यहाँ

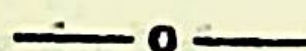
पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अत्यन्त कम है। अन्न-संकट भी उपस्थित है। ऐसे संकट काल में विद्यार्थियों का, जो साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और जाग्रत हैं, अपना उत्तरदायित्व होता है। और इन्हीं लम्बी छुट्टियों में विद्यार्थी अपना उत्तरदायित्व पूरा कर सकते हैं तथा शिक्षा को व्यावहारिकता एवं आत्मनिर्भरता की ओर ले जा सकते हैं। युद्ध के दिनों में रूस के विद्यार्थियों ने अपने अध्यापकों के साथ खेतों में काम करके अभूतपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया था। १९४२ के ग्रीष्मावकाश में रूस के आठ लाख विद्यार्थियों ने विभिन्न प्र । की खेती में योग दिया था। और, उपलब्ध आँकड़े के अनुसार वीस प्रदेशों के सिर्फ बालकों ने ६००८ टन कुकुरमुत्ता, ३१५३ टन वेर और ११५० टन औषध का संग्रह किया था। हमारे विद्यार्थी भी आज के संकट-काल में देहातों में जा सकते हैं। वे अपने घर का छप्पर ठीक कर मवेशियों के लिए चारा लाकर, खेतों में खाद डालकर माता-पिता का भार हल्का कर सकते हैं। गाँवों के पोखरों को साफकर, कुँए की जगतों और नालियों को ठीक कर, सरकार द्वारा प्राप्त सहायता और अपने उद्यम से अहरों और पगारों को दुरुस्त कर वे सामूहिक-योजना में क्रान्ति ला सकते हैं। वे गाँववालों को खाद वनाना, मछली पालना, मधुमक्खी पालना इत्यादि सिखला सकते हैं। गाँवों में पुस्तकालय, रात्रि पाठशाला, लड़कियों के लिए शिक्षा इत्यादि की व्यवस्था करके गाँव से निरक्षरता को भगा सकते हैं। जगह-जगह खुले मैदान में नाटक खेलकर वे ग्रामी जनता को मनोरंजन के साथ-साथ नसीहत भी दे सकते हैं।

आज धरती का नया मसीहा, जो धरतीहीन को धरती दे रहा है, गाँव-गाँव पैदल चल रहा है। वह विद्यार्थियों को पुकारता है। उनसे योग माँगता है। कुछ विद्यार्थी छुट्टियों में उनके साथ गए भी हैं, मगर अभी वहुत ऐसे विद्यार्थियों को जाना है। विनोवा का काम तो हर गाँव में पड़ा है। विद्यार्थी अपने गाँव । रहकर भी उनका काम पूरा कर सकते हैं।

जो विद्यार्थी बीमारी या किसी अन्य कारणवश क्लास की पढ़ाई में पीछे रह गए हैं, वे छुट्टियों में पूरी कर सकते हैं। छुट्टियों में विद्यार्थी, पढ़े हुए

सबक को दुहरा सकते हैं, माँज सकते हैं। अच्छा अंक लाने के लिए यानी अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिए छुट्टी के एक भाग का ऐसा इस्तेमाल जरूर होना चाहिए।

जो अध्यापक हैं, वे तो छुट्टियों का उपयोग करते ही हैं। अधिकांश ऐसे हैं जिन पर बहुत-सी जिम्मेवारियाँ हैं। इनके पास पैसे नहीं हैं और तब वे सैर-सपाटे में प्रायः नहीं जाते। अध्ययन और प्रणयन ही प्रायः उनका काम होता है। अध्यापकों की अनेक खोजपूर्ण अथवा रचनात्मक पुस्तकें छुट्टियों में ही लिखी गई हैं। पर आज राष्ट्र का उनसे आग्रह है कि वे छुट्टी का एक अंश देश-कार्य के लिए भी दें।



समाजवाद बनाम गान्धीवाद

आज भारतीय समाज और विश्वसभ्यता के लिए एक भीषण संकटकाल आ पहुँचा है। पुरातन ग्रन्थ, पद्धति, मतवाद, सब कुछ एक आमूल परिवर्तन के सन्धिक्षण में वर्त्तमान है। हमलोगों के सामने अब यह प्रश्न है कि समाज के अस्तित्व और उन्नति के लिये किधर जाना चाहिए, किस मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एक युग समाप्त हो रहा और एक नये युग का सूत्रपात होनेवाला है। इस नवीन भविष्य को बनाने में हमलोग किस मतवाद का साहाय्य लेंगे? यहाँ पर दो विख्यात मतवाद विशेष उल्लेखनीय हैं—समाजवाद और गान्धीवाद।

अब संक्षेप में विचार करना है कि इन दोनों का सिद्धान्त क्या है; दोनों में समानता क्या है, और पार्थक्य क्या है। उसके बाद विचारणीय होगा कि हिन्दुस्तान के लिये या विश्व के लिये कौन मतवाद ग्रहणीय है।

समाजवाद शब्द का प्रयोग तीन अर्थ में होता है। पहला, महाव्यापक अर्थ, दूसरा व्यापक अर्थ और तीसरा प्रचलित अर्थ है। समाजवाद की महाव्यापक परिभाषा यह है कि आधुनिक वैषम्यबहुल पूँजीवाद के युग के अन्त

में जनसाधारण के सुख के लिये जिस समाज की प्रतिष्ठा होनेवाली है या होगी वही समाजवादी समाज है। इस अर्थ में समाजवाद की दो विशेष धारायें हैं। एक कल्पित समाजवाद; दूसरा वैज्ञानिक समाजवाद। कल्पित समाजवाद के प्रवर्तक थे रावर्ट ओवेन, सेन्ट साइमन्, फूरीयर, कवेट और लूई ब्लाक। महात्मा गान्धी वीसवीं शताब्दी में इस मत के आंशिक समर्थक हैं। कल्पित और वैज्ञानिक दोनों मत के अनुसार व्यक्तिगत उत्पादन-सम्पत्ति अवाञ्छनीय है, और एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करनी है। कल्पित समाजवाद के अन्तर्गत गान्धीवाद का यह वैशिष्ट्य है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सिर्फ असामाजिक स्वार्थपूर्ण भोग के लिए खराब है, लेकिन समाज के हित के लिये संरक्षक के रूप में सम्पत्ति का अधिकार अनुचित नहीं है।

दोनों में पार्थक्य यह कि वैज्ञानिक समाजवाद इतिहास की एक वस्तु-तान्त्रिक व्याख्या के ऊपर प्रतिष्ठित है, वर्ग-संघर्ष को मानता है, और आदर्श समाज की प्रतिष्ठा के लिये विशेष प्रयत्न की जरूरत है, यह मानता है। कल्पित समाजवाद वर्ग-संघर्ष को नहीं मानता, भूतकाल की ऐतिहासिक व्याख्या की जरूरत नहीं समझता है, और यह विश्वास करता है कि शान्तिपूर्वक मनुष्य को समझाकर धीरे-धीरे आदर्श समाज की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

दूसरा, व्यापक अर्थ में समाजवाद कहने से वैज्ञानिक समाजवाद समझा जाता है, इस वैज्ञानिक समाजवाद के दो विशेष अंग हैं। एक, विकासमूलक समाजवाद, जिस मत के अनुसार समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये क्रान्ति की जरूरत नहीं समझी जाती है। दूसरा, विद्रोहमूलक समाजवाद, जिस मत के अनुसार पूँजीवादी समाज में परिवर्त्तन लाने के लिये क्रान्ति की अवश्य जरूरत समझी जाती है। विकासमूलक समाजवाद को माननेवाले तीन विशेष दल हैं। विलायत के फेबियन सोशलिष्ट और गिल्ड सोशलिष्ट लोग इसके अन्दर आते हैं। डेविड्सन, सिडनी वेव्, बर्नार्डशा और लास्की फेबियन दल के परिपोषक थे। आजकल की लेबर पार्टी इस मत के ऊपर प्रतिष्ठित है। वर्टराण्ड रसेल, और जि. डि. एच्. कोल गिल्ड सोशलिष्ट मत के समर्थक थे। जर्मनी के सुधारवादी बर्णष्टाइन् वगैरह भी विकासमूलक समाजवादी थे।

हिन्दुस्तान के समाजवादी लोग विशेषतः सुधारवादियों की तरह विकासमूलक समाजवादी हैं।

विद्रोहमूलक समाजवाद के अन्तर्गत तीन दल हैं। दार्शनिक अराजकतावादी बाकुनिन और प्रूधों, फ्रांस के सिण्डिकलिष्ट दल और सोवियत कम्युनिष्ट दल क्रांतिवादी कहलाते हैं।

तीसरा, प्रचलित परिभाषा के अनुसार मार्क्स-लेनिन-परिचारित कम्युनिज्म या साम्यवाद ही ठीक-ठीक समाजवाद है। लेकिन रूस के साम्यवादी दल और भी अधिक सीमित अर्थ में समाजवाद शब्द का प्रयोग करते हैं। इस अर्थ में पूँजीवाद के युग और साम्यवाद के युग के बीच में जो एक सामयिक युग आता है वही समाजवाद का युग है।

प्रचलित अर्थ में समाजवाद और गान्धीवाद दो परस्पर विरुद्ध मतवाद हैं। इस अर्थ में समाजवाद कार्लमार्क्स और लेनिन के मतानुसार क्रान्तिवादी है। समाजवादी राष्ट्र में सभी उत्पादन की सम्पत्ति राष्ट्र के हाथ में रहती है और साधारण जनता की भलाई के लिये एक केन्द्रीय आर्थिक योज के अनुसार देश में धनोत्पादन होता है। आर्थिक योजना में कल-कारखानों की जरूरत और विशेष महत्त्व माना जाता है। पूँजीवाद के साथ प्रधान पार्थक्य यह है कि समाजवादी राष्ट्र में समूची पूँजी राष्ट्र के हाथ में रहती है, पूँजीपतियों के हाथ में नहीं, और उत्पादन में पृजी का प्रयोग होता है जनसाधारण की आर्थिक भलाई की दृष्टि से: पूँजीपतियों के मुनाफ का दृ ष्ट से नहीं। मार्क्स का कहना है कि इतिहास की अनिवार्य गति के अनुसार पूँजीवाद का जमाना बदलकर अवश्य ही समाजवाद के जमाने में परिणत होगा, और अन्त में जाकर एक राष्ट्रहीन, वर्गहीन आर्थिक प्राचुर्यपूर्ण और न्यायपूर्ण समाज की प्रतिष्ठा होगी। यह परिवर्त्तन लाने में पहले क्रान्ति की आवश्यकता है, पीछे केन्द्रीय आर्थिक उद्योग की आवश्यकता है।

प्रो० कोल का भी कहना है कि अगर समाज को आर्थिक उन्नति की ओर बढ़ाना है तो पुराने पूँजीवाद को छोड़कर समाजवाद को अपनाना ही श्रेयस्कर होगा।

महात्मा गान्धी इन बातों को नहीं मानते थे। वे एक सम्पूर्ण रूप से सभ्यता के अग्रदूत थे। सत्य, अहिंसा, विलासहीन जीवन उनके लिये धर्म का अंग ही नहीं बल्कि असल रूप है। गान्धीवाद के अनुसार वर्गसंघर्ष गलत है। समाज में सर्वोदय या सब वग कीएक साथ उन्नति होनी चाहिए। इतिहास की अनिवार्य आर्थिक व्याख्या भी गलत है। कल-कारखानों की कोई जरूरत नहीं है बल्कि कल-कारख ने शैतान के अस्त्र हैं राजनैतिक क्ति का एकीकरण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिये हानिकारक है, इसलिए पंचायत प्रथा के अनुसार विभक्त शासन-पद्धति ह नी चाहिये। समाज में पूँजीपति और जमीं-दारों का भी स्थान है; सिर्फ वे लोग सम्पत्ति के संरक्षक के रूप में रहेंगे। समाज में परिवर्त्तन लाने के लिए क्रान्तिमूलक उपाय का प्रयोग करना सदैव अवा- छनीय है क्योंकि अच्छे उद्देश्य को हासिल करने के लिये उसका उपाय भी अच्छा ही होना चाहिए। हिंसानीति सर्वथा खराब है। इस मत के अनुसार मार्क्सवादी समाजवादी की प्रतिष्ठा होने से देश में मदगर्वित वस्तुतान्त्रिक नेताओं का राज्य होगा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का महत्त्व नहीं रहेगा।

गान्धीवाद का प्रयोग तीन काल में और तीन क्षेत्र में हो सकता है।

प्रथम काल—१५ अगस्त, सन् १९४७ के पहले, अर्थात् हिन्दुस्तान में आजादी हासिल होने के पहले। इस काल में गान्धीवाद का प्रधान उद्देश्य था राजनैतिक स्वातन्त्र्यलाभ। उनके लिये साधन था अहिंसा और सत्याग्रह। अँग्रेजों के विरुद्ध संगठित होकर लड़ने के लिए नागरिकों के अन्दर आपस में शान्ति की जरूरत थ अर्थात् हिन्दू-मुसलमानों में मेलभाव की जरूरत थी, इसमें कोई शक नहीं है और प्रचंड ब्रिटिश शक्ति के साथ निरस्त्र हिन्दु-स्तानियों को लड़ने के लिये आत्मिक बल को छोड़कर और कोई भी साधन नहीं था; इसलिए अहिंसा, असहयोग का प्रयोग गान्ध जी का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार और दान है। कांग्रेस के सुदीर्घकाल-व्यापी आन्दोलन में इसी उपाय का प्रयोग हुआ और आजादी हासिल करने में शायद यही उपाय अधिकांश रूप में सफल रहा है। विलायत के मिल-निर्मित कपड़े की प्रतियोगिता से यहाँ के गरीब जुलाहों को बचाने के लिये उनक खादी वस्त्र व्यवहार का आन्दो-

लन भी प्रशंसनीय है। उनके धार्मिक भित्ति पर प्रतिठित अनाडम्र जीवन दर्शन नें नये नेताओं को शक्तिगर्व से वचाने में वहुत सहायता की है, यह भी मानना पड़ेगा।

द्वितीयकाल:—(आजादी मिलने बाद आजादी को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के समय तक) इस समय गाँधीवाद का प्रधान उद्देश रहा देश को अन्त द्रह से वचाना, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य प्रतिष्ठि करना। विंश-शताब्दी में एक व्यावहारिक प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा में नार्गा कों के बीच धार्मिक भित्ति पर लड़ाई कितनी हानिप्रद है, यह कतिप अदूरदर्शी व्यक्तियों को छोड़कर और सभी समझ सकते हैं। उनके जीवन काल में तो इस विषय में फलता नहीं मिली थी, किन्तु उन्होंने ई ा सी की तरह अपना जीवन उत्सर्ग करके भारतवर्ष में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना की है।

तृतीय काल:—(स्वाधीन भारत नव-निर्माण में गान्धीवाद का प्रयोग और विश्वशान्ति की प्रतिष्टा में गान्धीवाद का दान।) इस काल का अध्ययन तीन विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग करना ही अच्छा होगा।

व्यक्तिगत क्षेत्र:—आधुनिक यूरोप के साधारण मनुष्य राजसिक भावापन्न हैं। भोगसुख उनके जीवन का उद्देश्य है। प्राचीन भारत का जीवनादर्श सरल और सात्विक था। संयत जीवन को महत्त्व दिया जाता था; धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सभी का प्रयोजन माना जाता था। महात्मा गाँधी चाहते थे कि आधुनिक मानव भी उस देवत्व के लिये कोशिश करे और सत्य एवं अहिंसा के पथ पर रह कर मोक्ष के लिये लोक-सेवा करे। सव काल में सभी देश में श्रेष्ठ मानवों ने इस आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना है। और इस महान आदर्श को अपनाने में ही मानवात्मा की विजय है, यद्यपि देश के सभी मनुष्य इस प्रयास में सफल नहीं भी हो सके।

जातीय क्षेत्र:—जातीय क्षेत्र में सवसे पहले सु-नागरिक की जीवन-यापन-प्रणाली की वात आती है। शिष्ट नागरिकों के लिये, विशेषत: एक आधुनिक प्रजातन्त्र में, शान्तिपूर्वक कर्त्तव्यपरायण जीवन बिताना ध्येय होना चाहिये। इसलिए हिन्दू-मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सभी धर्मावलम्बी के

लिये आपस में मेलमिलाप के साथ रहना जरूरी है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकता।

राजनैतिक क्षेत्र में गान्धीवाद शक्ति के एकीकरण के विरुद्ध है। क्योंकि इससे शक्ति के दुरुपयोग का डर रहता है और साथ-साथ प्रजातन्त्र एवं व्यक्ति-स्वात य की हानि का डर भी रहता है इसलिए केन्द्रीय सरकार के हाथ में अत्यावश्यक शक्ति रहेगी और शेष शक्ति थानीय सरकार और पंचायतों के हाथ में रहेगी। एक दृष्टि से तो यह सही मालूम होता है। लेकिन और एक वास्तविक दृष्टिकोण से यह सिर्फ दुर्बलता का पोषक ही नहीं बल्कि नवप्राप्त स्वातन्त्र्य का घातक प्रतीत होगा। क्योंकि जब सारी दुनिया में शीघ्र ही रणभेरी बजनेवाली हैं और जबकि सामान्य पड़ोसी पाकिस्तान भी लड़ने के लिए तैयार है तब सर्व प्रकार से राष्ट्र की शक्ति-वृद्धि करने के लिये शक्ति का केन्द्रीकरण सामयिक रूप से होना चाहिए, अन्यथा कुछ वर्षों के अन्दर ही गांधीवादी आदर्शवाला दुर्बल राष्ट्र आजादी खो बैठेगा। इतिहास इसका साक्षी है। इसलिये इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। लेकिन हाँ, यदि विश्व के सभी राष्ट्र शान्ति और प्रजातन्त्र के पथ पर चलना शुरू कर दें, तब इस आदर्श में किसी प्रकार के भ्रम की शंका नहीं, वरन् यही श्रेष्ठ राजनैतिक आदर्श होना चाहिए।

राजनीति के साथ धर्म को विजड़ित करने की गाँधीजी की प्रचेष्टा भी उसी तरह समयानुकूल नहीं है; इसलिये परित्याज्य भी है।

दुर्बल राष्ट्र विशेष के लिये गाँधीवाद का अर्थनैतिक अंश और भी हास्यास्पद है। वर्गसंघर्ष खराब हो सकता है, लेकिन अगर इतिहास इसका साक्षी देता है तो उसको मानने में द्विधाबोध क्यों? पूँजीपतियों के स्वार्थ पर हाथ में यन्त्रशक्ति असामाजिक काम करती है, इसलिये उसको त्याग करना चाहिये। तब तो, आग से बच्चों का हाथ जलता है, इसलिये आग का व्यवहार ही छोड़ देना चाहिए? आग का सु-व्यवहार सीख लेना ही उचित है। उसी तरह यन्त्र दानव को राष्ट्र के अधीन बना कर उससे समाज की भलाई के लिये काम लेना ही अच्छा है।

अवश्य यह बात ठीक है कि कुटीर शिल्प के द्वारा सभ्यता का सरल रूप प्रतिष्ठित रह सकता है, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हानि भी नहीं होती है और समाजवादियों के केन्द्रीभूत आर्थिक उद्योग से समाज वस्तुतान्त्रिक बन जाता है, कारखाना-संचालकों के हाथ में साधारण मजदूर स्वातन्त्र्य खो बैठता है एवं केन्द्रीभूत आर्थिक शक्ति के दुरुपयोग की शंका रहती है। लेकिन जिस यन्त्रयुग में चारों तरफ हिंसा का ताण्डव नृत्य चल रहा है उस युग में कोई भी राष्ट्र अकेले निर्भय होकर प्रतिकूल मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता। निरुपाय होकर उसको अर्थनैतिक शक्ति प्रतिद्वन्द्विता के स्तर पर प्रतिष्ठित रखना ही पड़ता है। इसलिये आज कल के जातीय जीवन को युद्ध से बचाने के लिये हमलोगों को भी लाचारी से केन्द्रीभूत आर्थिक उद्योग का साहाय्य लेना ही पड़ेगा। कुटीर शिल्प को बचाते हुए उत्पादन-शक्ति वृद्धि के लिये कल-कारखानों से काम लेना ही पड़ेगा, नहीं तो हिन्दुस्तानियों की आत्मा आजाद तो रह सकती है, किन्तु शरीर फिर से गुलाम बन जायगा।

अन्तर्जातिक क्षेत्र:—जातीय क्षेत्र में गाँधीजी की राजनीति और अर्थ-नीति अस्वाभाविक होने पर भी आन्तर्जातिक क्षेत्र में उनका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। इसका कारण यह है कि अगर सभी राष्ट्र एक साथ गाँधीवाद को अपनाना शुरू कर दे तो देव-राज्य के प्रतिवेशी दानवों से कोई डर नहीं रहेगा।

अब विचारणीय है कि विश्वसभ्यता के इस संकटकाल में आन्तर्जातिक क्षेत्र में कौन रास्ता दिखला सकता है—समाजवाद या गांधीवाद? हमलोगों ने पहले ही देख लिया है कि समाजवाद हिंसा की भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इसलिये हिंसानल से जब तक सारी दुनिया एक बार अच्छी तरह नहीं जल जाती है, और जब तक सभी देश में समाजवाद की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती है, तब तक समाजवाद के द्वारा विश्वशान्ति लाभ का कोई सवाल नहीं उठता है। इस हालत में सभी राष्ट्र को कोशिश करनी चाहिए, गाँधीवादी अहिंसा नीति को मानने की। लेकिन इसमें सन्देह है। उसके बाद प्रश्न यह है कि अगर सारी दुनिया में समाजवाद की विजय हो जाय तो क्या मनुष्य सुखी

होगा ? कारखाना परिचालकों के हाथ में मजदूर अपना कार्यस्वातन्त्र्य खोकर और डिक्टेटरों के हाथ में प्रजा अपनी राजनैतिक शक्ति को जलांजलि देकर कैसे सुखी हो सकता है ? मनुष्य की आत्मा का स्वातन्त्र्य और गरिमा अक्षुण्ण रखने के लिये पंचायत परिचालित शासन-पद्धति और कुटीर शिल्पबहुल आर्थिक व्यवस्था की जरूरत है। इसमें गाँधीवाद की श्रेष्ठता प्रमाणित होगी। मनुष्य सभ्यता को शक्ति और स्वातन्त्र्य के पथ पर परिचालित करने के लिए गाँधीवाद की शरण लेनी ही पड़ेगी। किन्तु यहाँ एक गम्भीर प्रश्न उठता है—क्या यह सम्भव होगा ?...शायद नहीं। राजसिक मदर्गावित राष्ट्र आज विनाश के पथ पर चल रहे हैं। तृतीय महायुद्ध अवश्यम्भावी मालूम पड़ रहा है। पूँजीवादी और समाजवादी देशों में एक शेष युद्ध होनेवाला है। अणुबम किसका नाश करेगा और किसको छोड़ेगा कोई नहीं कह सकता है। लेकिन निराश होने का कोई कारण नहीं है। अगर विश्व सभ्यता को विनाश से वचाना है, तो सोवियट राष्ट्र में और संयुक्तराष्ट्र में जरूर गाँधीजी की आत्मा से अनुप्राणित होकर वहाँ के नेता लोग अहिंसा की आवाज आन्तर्जातिक सुरक्षापरिषद में उठायेंगे। इस बीच में हमलोगों का कर्त्तव्य है कि हमलोग सब कोई व्यक्तिगत जीवन में पूज्य बापू का आदर्श ग्रहण कर लें और सारी दुनिया में गाँधीवाद प्रचार करने की चेष्टा करें।

———:०:———

प्रजातन्त्रवाद बनाम अधिनायकवाद

अरस्तू से लेकर आजतक जितने भी राजनीति दर्शन के आदर्शवादी विचारक हुए हैं उनका आदर्श प्रजातन्त्रवाद रहा है। फ्रांसीसी क्रांति के बाद से जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की सरकार, यही सभी राष्ट्रों का स्वप्न रहा है। यह प्रजातन्त्रवाद है क्या ? आधुनिक युग के महान् साहित्यिक और चिन्तक बर्नार्ड शा के शब्दों में, प्रजातन्त्रवाद "एक ऐसी सामाजिक

व्यवस्था है जो किसी देश के सभी लोगों के लिए, न कि वर्ग-विशेष के लिए, अधिकतम प्राप्य कल्याण को अपना लक्ष्य बनाती है।"

अनेक कवियों ने प्रजातन्त्रवाद के गीत गाए हैं, असंख्य राजनीति-शास्त्रियों ने इसकी सुरक्षा के लिए माथापच्ची की है; और जाने कितनों ने प्राणोत्सर्ग तक किया है। यह प्रजातन्त्रवाद का ही आदर्श है जिसने फ्रांस के सोलहवें लूई के अत्याचारों का खात्मा किया था, रूस के जार के शोषण से त्राहि-त्राहि करती जनता का उद्धार किया था। प्रजातन्त्रवाद ही ऐसी व्यवस्था है जिसमें लक्ष-लक्ष बुभुक्षित मनुष्यों को भोजन मिलता है, नग्नप्राय जन-साधारण को वस्त्र प्राप्त होता है, और अत्याचार-पीड़ित, कराहती मानवता को शरण मिलती रही है। प्रजातन्त्रवाद से साहित्य, धर्म और राजनीति के क्षेत्रों में एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है।

किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के बाद नवीन और विचित्र विचारों का जन्म हुआ, और शासन के नए रूप, अधिनायकवाद ने सर उठाया। यह इस भावना का परिणाम था कि राज्य के नियन्त्रण का अधिकार चंचल-मति जनता को सौंपना बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं है। यही कारण है कि जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी और स्पेन में फ्रैंको अधिनायक बन बैठे।

अधिनायकवाद प्रजातन्त्रवाद का प्रतिद्वंद्वी है। एक प्रजातन्त्रवादी देश में शासनाधिकारियों की गलतियों को सुधारने के उद्देश्य से सभी को यह स्वतंत्रता रहती है कि वे सरकार की आलोचना करें। कोई भी किसी दिन जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हो सकता है। सभी के व्यक्तिगत अधिकार होते हैं और सभी को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार प्राप्त रहता है। एक प्रजातंत्रवादी सरकार तभी तक अधिकार-सम्पन्न रह सकती है जब तक वह जनता का विश्वास-भाजन बनी रहती है। इसके विपरीत अधिनायक के विरुद्ध चूँ करने के लिए जान तक गँवानी पड़ सकती है।

प्रजातन्त्रवाद आज भी आदर्श शासन-प्रणाली के रूप में स्वीकृत होता है, किन्तु इसके आलोचक भी पाए जाते हैं। आलोचना के आधार एकाधिक हैं। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद में खर्च ज्यादा पड़ता है; इसमें आदर की

भावना की कमी रहती है; इसमें समता का मिथ्या सिद्धान्त पाया जाता है; यह साधारणता को प्रोत्साहन देता है; यह चंचल, परिवर्त्तनबहुल और उद्देश्य-रहित होता है; इसमें गुण से अधिक संख्या को महत्त्व दिया जाता है, इत्यादि। इसकी एक बहुत बड़ी कमजोरी को एम० एन० राय जैसे राजनीतिज्ञ और विचारक ने इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है, "प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली, जो कि पक्ष-विपक्ष में मत गिनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं, अन्ततः सामूहिक अहंभाव का आत्मसमर्पण मात्र है। इसमें न तो व्यक्ति के लिए ही गुंजाइश रहती है, न बुद्धि के लिए ही। प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में जोरदार भाषण कर सकनेवाले अयोग्य व्यक्ति भी बहुत ऊँचे उठ सकते हैं, बुद्धिमत्ता, विश्वसनीयता, दार्शनिकता और नैतिक-गुणों का इसमें कोई महत्त्व नहीं रहता "

इसके विपरीत अधिनायकवाद में कार्यों के सम्पन्न होने में विलम्ब नहीं होता। बहुमत और अल्पमत का झगड़ा अधिनायकतन्त्र में नहीं रहता। इस प्रकार के शासन-विधान के अन्तर्गत प्रशासन-कार्य व्यवस्थित, निर्विघ्न और योजनाबद्ध रूप में चलता रहता है। किन्तु इन कुछ गुणों के साथ ही अधिनायकवाद में ऐसी त्रुटियाँ हैं जो गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। एक अधिनायक के अधीन व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन सैनिक जीवन की तरह नियन्त्रित हो जाते हैं, कार्य के लिए व्यक्तिगत प्रेरणा नहीं रह जाती और महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विकास की गुंजाइश नहीं रहती। अपने को प्रभुत्व-सम्पन्न बनाए रखने के लिए एक अधिनायक को बहुधा युद्ध का रास्ता भी अख्तियार करना पड़ता है—ज्वलन्त उदाहरण हैं द्वितीय विश्वयुद्ध को अनिवार्य बनानेवाले हिटलर और मुसोलिनी !

वास्तविकता यह है कि सावधान न रहने पर अधिनायकवाद और प्रजातन्त्रवाद दोनों ही ह्रासोन्मुख हो जाते हैं। पहला दूसरे की अपेक्षा बहुत आसानी से विकृत होकर स्वेच्छाचारिता में परिवर्त्तित हो जाता है और यह हिंस्र राष्ट्रीयता को उत्तेजित कर अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वशान्ति को भी खतरे में डाल देता है। जहाँ तक प्रजातन्त्रवाद का प्रश्न है, वह भी तब

विकृत हो उठता है जब जन-मत शिथिल हो जाता है और ऐसी स्थिति में परिणाम होता है अमीरों के द्वारा गरीबों का शोषण। तब प्रजातन्त्रवाद जन-राज्य न रह कर वर्ग-राज्य में परिणत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जन-स्वातन्त्र्य की कीमत होती है अखंड सावधानता !

तो क्या प्रजातन्त्रवाद सफल हो भी सकता है? उपर्युक्त चिन्तक ने ही इस प्रश्न को उठाया है और उत्तर भी दिया है। उन्हीं के शब्दों में, 'प्रजातन्त्रवाद का आधारभूत सिद्धान्त—अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण—तभी कार्यान्वित हो सकता है जब सार्वजनिक कार्य ऐसे लोगों के हाथ में रहे जो आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अधिकारी हैं और जो अन्य किसी मनुष्य या सिद्धान्त के प्रति उत्तरदायी होने के पहले अपनी ही आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। आशय यह नहीं कि कुछ बौद्धिक व्यक्ति ही शासन करें, बल्कि यह कि एक ऐसा सामाजिक संघटन हो जो स्वाधीन व्यक्तियों को उच्चतम प्रशासनाधिकार देकर मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा के विकास के लिए असीम क्षेत्र प्रस्तुत करे। ऐसे ही व्यक्तियों पर निहित स्वार्थों का कोई प्रभाव नहीं रहता, ये उस सामूहिक अहंभाव की चंचलता से डिगनेवाले नहीं होते जो सहज ही नारेबाजी से विचलित हो जाया करते हैं। यदि प्रजातंत्रवाद को अधिनायकवाद का सफल मुकाबला कर आदर्श मानव-समाज का संघटन करना है तो इस दार्शनिक तत्व को ग्रहण करना ही पड़ेगा।

परम्परागत ढंग का प्रजातन्त्रवाद आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पूर्णतः सक्षम नहीं सिद्ध हो रहा है। समस्या यह है कि किस प्रकार प्रजातन्त्रवाद की परम्परागत संस्थाओं को वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुरूप बनाया जाय। आज प्रजातन्त्रवाद की विफलता सबसे अधिक आर्थिक क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। अतः प्रजातन्त्रवादी देशों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे अपनी आर्थिक-प्रणाली की ऐसी व्यवस्था कर जिससे सभी मनुष्यों के लिए काफी अच्छे जीवन-स्तर को संभव बनाया जा सके। इसके अतिरिक्त सुरक्षित तथा स्वाधीन होने की भावना को लोगों में भरना, यह भी प्रजातन्त्रवाद का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए।

साम्प्रदायिकता का अभिशाप

वनस्पति जगत् में विषवृक्ष वास्तव में है या नहीं, कहना कठिन है किन्तु हमारे जीवन में साम्प्रदायिकता सब प्रकार से विषवृक्ष सिद्ध हो रही है, इसमें बहुत कम ही लोगों को सन्देह हो सकता है। इस विषवृक्ष की जड़ें हमारी जीर्ण समाज-व्यवस्था में हैं और उन्हें हमारी सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों मध्ययुगीन धार्मिक असहिष्णुता और आधुनिक अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमताओं, से खाद्य मिलता रहता है। इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर उठकर राजनीति के क्षेत्र में विस्तार पाती हैं। इसका संस्पर्श लेकर बहनेवाली हवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए घातक है और जो लोग इसकी छाया को सुखद मानकर पास जाते हैं, उन्हें भी फल भुगतना पड़ता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि उन्हें इसका एहसास न होता हो।

साम्प्रदायिकता एक मध्ययुगीन भावना है, जो समाज और जमात को आज की दुनिया में सांस्कृतिक पिछड़ेपन का शिकार बनाकर रखती है। जो समाज या वर्ग एक बार सांस्कृतिक पिछड़ेपन का शिकार बन जाता है, वह बाहरी प्रभावों से बचने के लिए अपने चारों ओर निषेधों का घेरा खड़ा कर लेता है। उसके बाद उस जमात के लोगों से अन्य प्रकार की जीवन-प्रणाली के प्रति युक्तिसंगत दृष्टिकोण की अपेक्षा रखना कीचड़ बिलो कर मक्खन निकालने-जैसी चेष्टा है।

किन्तु निषेधों का घेरा खड़ा कर लेने से ही आज के जमाने में किसी जमात को त्राण नहीं मिल सकता है क्योंकि उस घेरे की दूसरी तरफ जो शक्तियाँ काम करती हैं, वे आ-आ कर टकराती हैं। इस संघात की कितनी ही प्रतिक्रियाएँ घेरे के भीतर रहनेवाली जमात पर पड़ती है। मध्ययुग की युग-वृत्ति चूँकि धर्ममुखी थी, अतः दो जमातों का संघर्ष बहुधा धार्मिक स्वरूप ग्रहण कर लेता था। आज यह लड़ाई आधुनिक समाज की जमातों के बीच राजनीतिक क्षेत्र में चला करती है।

इस लड़ाई का संचालन लड़नेवाली जमातों के जागरूक व्यक्ति करते हैं और इसका सर्वाधिक लाभ भी उन्हें ही मिलता है। उनके अनुयायी जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। पर उन अनुयायियों को नारों और प्रतीकों के आधार पर अथवा नयी-नयी आंतरिक और वाह्य समस्याएँ खड़ी करके हमेशा वहलाया जाता है।

वस्तुतः आज के युग में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन करने का अर्थ है जनता को गुमराह करना ताकि उनकी नजर समाजगत वर्ग-संघर्ष और शोषण पर न पड़े। यह तो अप्रत्यक्ष हानि है। प्रत्यक्ष रूप से भी लोगों को जो कुछ भुगतना पड़ता है, उसका भी ताजा मिसाल अपने देश की सामाजिक अवस्था में देखा जा सकता है। सबसे पहले, तो देश का नक्शा ही बदल गया है। हम दो राज्यों में बँट गये। इस बँटवारे की पृष्ठभूमि में इतनी खींचतान, अविश्वास और घृणा-उपेक्षा है कि इन राज्यों के लिए मैत्री भाव से पारस्परिक सहयोग का जीवन बिताना असंभव हो रहा है। कभी कश्मीर का झगड़ा है, तो कभी नहरों के पानी का। कभी आयात-निर्यात, और अवमूल्यन की लड़ाई है, तो कभी विस्थापितों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में तनातनी है।

देश के बँटवारे का अर्थ केवल आवादी का बँटवारा नहीं, बल्कि प्राकृतिक, औद्योगिक और सामरिक शक्तियों का भी बँटवारा है। फलतः देश की जो शक्ति एकत्रित थी, वह दो टुकड़ों में बँट गयी है, और सहयोग के अभाव में दोनों के दोनों कमजोर पड़ गये हैं। उन्हें अनेक अभावों की पूर्त्ति के लिए दूसरे देशों का मुँह जोहना पड़ता है और इस लाचारी का गहरा मूल्य रुपये-पैसों की शक्ल में या परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में चुकाना पड़ता है।

सबसे बढ़कर तो विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या है। देश-विभाजन के प्रसंग में आवादी के तबादले की बात कभी की गयी थी, पर यह असंभव समझकर छोड़ दिया गया। हालाँकि आज भी वैसे कट्टरपंथियों की कमी नहीं जो आवादी के तबादले की बात करते हैं। प्रश्न उठता कि इस प्रस्ताव में कौन-सी त्रुटि थी जिसके कारण यह प्रस्ताव अमान्य रहा। इस प्रस्ताव,

की मुख्य कमजोरी थी कि इतने विशाल पैमाने पर आबादी के इस-उस ओर आने-जाने के आर्थिक परिणामों का कदाचित् ही कोई युक्तिपूर्ण अनुमान किया गया था। यह मुख्यतया साम्प्रदायिकता की आग में घी डालने का सुझाव था। इसके परिणामों की कल्पना हम उन विस्थापितों की दशा देखकर कर सकते हैं जिन्हें, अधिकारी तौर पर आबादी का तबादला न होने पर भी, परिस्थितिवश अपना घर छोड़ कर भारत या पाकिस्तान जाना पड़ा है। इन लोगों को आज तक अच्छी तरह बसाया नहीं जा सका है। इनको व्यक्तिगत रूप से जो कुछ सहना पड़ा है, वह तो दारुण है ही, देश की अर्थ-व्यवस्था भी असह्य भार से चरमरा रही है। व्यक्तिगत रूप से विस्थापितों को पुनर्वास की कोई योजना मानसिक तोष नहीं दे सकती क्योंकि उन्हें वंशगत घरों से बलात् विलग होना पड़ा है। उन घरों के सुखमय जीवन की याद भुलाये नहीं भूलेगी। वह क्षति अपूरणीय है। तब रही विस्थापित व्यक्तियों के लिए घर और आजीविका के साधन जुटा देने की समस्या। यह कार्य भी आसान नहीं है। अपने देश में, १९५१ की जनगणना के अनुसार, विस्थापितों की संख्या ७५,००,०००, आँकी गई है। इसमें ४९,००,०० व्यक्ति पश्चिमी पाकिस्तान से आये हैं।

कोई भी समझदार आदमी समझ सकता है कि इतने व्यक्तियों के वास और रोजगार का प्रवन्ध करना कितना विकट है। मार्च, १९५१, के अन्त तक पश्चिमी पाकिस्तान से आये लोगों के मकान आदि पर २६०० लाख से अधिक रुपये खर्च किये जा चुके हैं। १९५१–५२ में १२५० लाख रुपये और आ य हंगे। इन लोगों पर मार्च, १९५१ तक देश के कुल १०८००८०लाख रुपये खर्च हुए हैं और १९५१–५२ के लिए ३४८० लाख रुपये का बजट था।

स्मरणीय रहे, इन खर्चों से पूर्वी बंगाल से आये हुए २६,००,००० विस्थापितों का सम्बन्ध नहीं। उन पर अलग व्यय हुआ है।

इतने पर भी कहना कठिन है कि यह कार्य कब तक पूरा होगा। देश की इतनी बड़ी सम्पत्ति का इस प्रकार व्यय केवल साम्प्रदायिकता के अभिशाप के कारण ही हो रहा है।

साम्प्रदायिकता का दूसरा पहलू भी है। यह अन्ततः मानवीय भावनाओं को संवेदनहीन और भोंडा बना देती है। यह मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं देखने देती, बल्कि मनुष्य से पहले उसके धर्म और सम्प्रदाय का बिल्ला देखने को बाध्य करती है। मानव की यह उपेक्षा मानव में जड़ता या पशुता का संचार करती है। तभी देश-विभाजन के साथ दंगे हुए, दंगों में बूढ़े बच्चे कत्ल किये गये, स्त्रियों पर बलात्कार हुआ। मित्र ने मित्र को धोखा देकर मारा। इन काले कारनामों का साक्षी रामानन्द सागर का "और इंसान मर गया" नामक उपन्यास, अज्ञेय का "शरणार्थी" और कृष्णचन्द्र का "हम वहशी हैं" नामक कहानी-संग्रह हैं।

और सबसे बढ़कर तो महात्मा गाँधी की हत्या है, जिसकी जिम्मेवारी एकमात्र साम्प्रदायिकता पर है।

साम्प्रदायिकता के अभिशापों का साक्षी यूरोप का इतिहास भी रहा है जहाँ धार्मिक असहिष्णुता के कारण ईसाइयों और गैरईसाइयों ने ईसाई धर्म के शुरू के दिनों में एक दूसरे को भाँति-भाँति से सताया। फिर इन्क्वीजिटरों की दारुण कहानियाँ हैं। मध्ययुग में रोमन कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के विषम संघर्ष ने पूरे यूरोपियन समाज को जर्जर कर दिया। अन्त में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच क्रूजेड की लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयों के परिणाम यूरोप के इतिहास के पाठकों से छिपे नहीं हैं।

अपने देश में आजकल साम्प्रदायिकता का अर्थ हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष है। पर यह साम्प्रदायिकता का केवल एक पक्ष है। स्वयं हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज के भीतर भी इसके घुन लगे हुए हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में साम्प्रदायिक असहिष्णुता ने किस प्रकार उच्च वर्ण के हिन्दू को अस्पृश्य हिन्दू के कान में गलता हुआ राँगा डालने को बाध्य किया था। छूआछूत की समस्या आज भी समाज की शक्तियों को क्षीण बनाये हुए है। मुस्लिम समाज के भीतर शीया और सुन्नी की लड़ाई भी उसी प्रकार की है। इन सम्प्रदायों के बीच उत्तर प्रदेश में कितनी बार दंगे हुए।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के रूप में साम्प्रदायिकता के प्रसार की कहानी

काफी दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। भारतीय समाज की यह समस्या तुर्क-अफगान काल से लेकर आज तक चली आ रही है, ठीक उसी तरह, जिस तरह अस्पृश्यता की समस्या। इसके समाधान के लिए राजकीय और धार्मिक स्तर पर तरह-तरह के प्रयत्न हुए। संतों और सूफियों ने एक ओर अपनी तौर पर समन्वय की चेष्टा की, दूसरी ओर अकबर ने। औरंगजेब भी आज शायद हमारी निगाह में कुछ दूसरा होता अगर अंगरेजों के पिट्ठू इतिहास-लेखकों ने सत्य को अर्धसत्यों की चादर से उसे ढँका नहीं होता।

यह भी बहुत सम्भव था कि धार्मिक विभेद के बावजूद दोनों सम्प्रदाय के लोग एक सामाजिक ढाँचे के भीतर अन्योन्याश्रित अंग की भाँति अविभाज्य हो गये होते। पर इस प्रक्रिया को अंगरेजों की फूट डालनेवाली साम्राज्यवादी नीति से बड़ा व्याघात पहुँचा। अंगरेजों को अभीष्ट नहीं था कि हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक विभेद को भुलाकर राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बँधें। इसलिए उन्होंने कभी हिन्दुओं को उकसाया, तो कभी मुसलमानों को। १९ वीं सदी में उन्होंने सर सैयद अहमद के अलीगढ़ी आन्दोलन को नवजात कांग्रेस के विरुद्ध प्रोत्साहित किया।

इस सदी के प्रारम्भ में अंगरेजों की प्रेरणा पर ही आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल १९०६ ई० में वायसराय से मिला और मुसलमानों की माँग पेश की। उनकी माँगों के उत्तर में लार्ड मिन्टो ने जो कुछ कहा उसमें ही आधुनिक हिन्दू-मुस्लिम समस्या का बीज था। शीघ्र ही मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। उसके बाद की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता द्वारा बार-बार सैद्धांतिक समझौता करने की दुःखद चेष्टाओं की लड़ी है।

भारतीय राष्ट्रीयता के अनेक सूत्रधार सचेतन रूप से सम्प्रदायवादी नहीं थे। उनका लक्ष्य मुख्यतः स्वाधीनता-प्राप्ति का था। पर उनके (जो धर्म से हिन्दू थे) दृष्टिकोण पर परोक्ष रूप से १९ वीं सदी के हिन्दू नवजागरण आन्दोलन का प्रभाव था। वे किसी-न-किसी रूप से राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि के सुधार-प्रचार से प्रभावित थे। इन आन्दोलनों की धाराओं ने रूढ़ि-बद्ध संकीर्ण हिन्दू साम्प्रदायिकता को

उदार बनाने की चेष्टा की थी। इसलिए इन धाराओं से प्रभावित लोग उदार तो अवश्य थे, पर वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता की मानसिक प्रतिक्रियाओं को समझ नहीं पाते थे। फलतः भारतीय राष्ट्रीयता का हिन्दू-पक्ष उदारतापूर्वक झुक-झुककर भी मुस्लिम प्रतिक्रियाओं को तुष्ट नहीं कर सका। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि साम्प्रदायिकता की समस्या को असाम्प्रदायिक रूप से, समाज की बुनियादी आर्थिक आवश्यकताओं के आधार पर सुलझाने की चेष्टा नहीं हुई। फलतः वह आग न बुझ पायी, न बुझ पायी। और, उसकी ज्वालाओं में झुलसा हुआ देश और समाज कितना विरूप हुआ।

हम स्वतन्त्र भारत के नागरिक इस घातक साम्प्रदायिकता के सारे अवशेषों को मिटा देंगे। हम धर्म-निरपेक्ष देश के वासी हैं। एकता हमारा नारा है। प्रेम हमारा धर्म है।

परमाणु बम और विश्वशान्ति का प्रश्न

रहस्य-भेद की तीव्र उत्कंठा मानव जीवन और सभ्यता की मुख्य प्रेरक शक्ति रही है। इसके आधार पर ही मनुष्य प्रकृति से निरंतर संघर्ष मोल लेकर भी अपने प्रगति-पथ पर अनादि काल से बढ़ता आया है। वह प्रकृति के तत्वों का रहस्योद्घाटन केवल अन्वेषण की भावना से पीड़ित होकर नहीं करता, उसका उद्देश्य नैसर्गिक उपादानों की शक्ति या कमजोरियों का पता लगा कर उन्हें मानव-हितों के लिए उपयोगी बनाना रहता है। इसलिए वह प्रकृति के जर्रे-जर्रे की खोज करता है, स्थूल पदार्थों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों का परिचय प्राप्त करना चाहता है। इस अभियान में उसे हमेशा सफलता ही नहीं मिलती। कभी-कभी तो वह ऐसे निर्णय पर पहुँचता है, जहाँ उसे ठहर कर अपने सारे विश्वास, परंपरा या जीवन-प्रणाली को बदल देना पड़ता है।

कुछ दिन पहले की बात है, पदार्थ-विज्ञान के विद्वान स्थूल पदार्थों का विश्लेषण करते-करते परमाणु तक पहुँचकर रुक से गये थे। उन्हें परमाणुओं की असीम शक्ति का आभासमात्र ही मिलता था, कोई निश्चित प्रमाण नहीं। फिर भी गत महायुद्ध के सिलसिले में विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों में परमाणु की शक्तियों का पता लगाने और उनके सामरिक उपयोग के उपाय ढूँढ़ने में होड़-सी लगी थी। गुप्त रूप से सभी देशों में अनुसंधान चल रहे थे। परमाणु की कल्पनातीत भयंकर संभावनाओं का सबको पूर्ण विश्वास था, फिर भी इनका पूर्ण परिचय प्राप्त करने में १०–२० साल की देर भी हो सकती थी। किन्तु युद्ध-व्यवसायी राष्ट्रों के दुर्दमनीय साहस ने इसे जल्दी संभव बना दिया।

यह सच है कि इस आविष्कार के रहस्य सिर्फ मित्र राष्ट्रों, विशेषतः ब्रिटेन और अमेरिका तक सीमित हैं, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मानव-ज्ञान का आलोक छिप नहीं सकता। विज्ञान को किसी विशेष सीमा में बंद रखना असंभव है। अतः मित्र राष्ट्रों की यह चेष्टा और रूस आदि देशों में इसका पता लगाने के घोर प्रयास को स्वस्थ, संतुलित मानव-बुद्धि का परिणाम नहीं माना जा सकता।

कारण भी स्पष्ट है। अभी तक मनुष्य को परमाणुओं की विनाशक शक्तियों का ही पता चला है, और उनके प्रयोग के परिणाम भी देखे गये हैं। अतः सारी दुनिया भयभीत और हतबुद्धि है। ऐसी मानसिक स्थिति में कोई तात्कालिक निर्णय समुचित नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज यह प्रश्न बार-बार उठता है कि विज्ञान द्वारा मानव-सभ्यता का विकास या कल्याण संभव है? यद्यपि प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाकर मनुष्य ने अपने लाभ के आशातीत साधन ढूँढ़ निकाले हैं, आज परमाणु के विनाशक तत्वों का पता पाकर वह अपने भविष्य की ओर सशंकित एवं त्रस्त नेत्रों से देखता है। वह सोचता है कि उसे अपनी दुनिया का आमूल परिवर्त्तन कर लेना चाहिए अन्यथा विनाश दूर नहीं। उसकी सभ्यता के आगे ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया है, जो उसकी सत्ता को गहरी चुनौती देता है। यदि वह

सामूहिक रूप से इस संकट से त्राण पाने के उपाय नहीं निकालता और परमाणु की शक्तियों का अपने सामूहिक लाभ के लिए उपयोग नहीं करता तो उसका भविष्य अंधकारपूर्ण है। वह जमाना तो कब का लद गया जबकि इंसान अपनी रक्षा के लिए ईंट पत्थर' लाठी-डंडी पर व्यक्तिगत रूप से निर्भर करता था अथवा देश और राष्ट्र की चहारदीवारी खड़ा करके सामूहिक रूप से वेतनभोगी सैनिक दल तथा राष्ट्रीय रक्षा-विभाग की नीतियों का भरोसा करता था।

रूस की भांति राष्ट्रीय सैनिक दलों का संगठन मोर्चा ही राष्ट्रीय सुरक्षा के अत्याधुनिक और सफल प्रबंध का नमूना माना जा रहा था परन्तु वह भी इस आविष्कार के बाद व्यर्थ जँचता है। परमाणु बम की विनाश-लीला नें न केवल आक्रमण या रक्षा के साधनों को अपूर्ण या व्यर्थ सिद्ध कर दिया बल्कि उसकी संभावनाओं के आलोक में आज का समूचा सामाजिक ढाँचा, राजनीतिक समस्याएँ, राष्ट्रीय रक्षा के प्रश्न, आर्थिक और औद्योगिक योजनाओं के स्वरूप और राष्ट्र के प्रचलित अर्थ पुराने या दकियानूस लगते हैं।

पिछले महायुद्धों के ५-६ वर्षों के बीच विज्ञान ने कल्पनातीत उन्नति कर ली है। देश, काल आदि की सीमाओं के व्यवधान बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गये हैं। मनुष्य के हाथों प्रकृति की इतनी घातक शक्तियों का अधिकार आ गया है कि बड़े-से-बड़े क्षेत्र को देखते-देखते नष्ट कर दिया जा सकता है। जेट-संचालित राकेट, वी (१९) वायुयान आदि अस्त्रास्त्रों के आविष्कार से उसने अपने लिए नयी समस्याएँ उत्पन्न कर ली हैं, किन्तु उतनी ही मात्रा में प्रकृति पर उसका अधिकार भी बढ़ गया है। आज वह वायुमंडल के भी ऊपर जा सकता है और उसकी गति शब्द की गति से भी अधिक शीघ्रगामी हो गयी है। इन आविष्कारों के बाद भी परमाणु बम का पता लगाकर उसने अपने को ऐसी स्थिति में ला रखा है जहाँ से उसे अँगरेज, रूसी या अमेरिकन होकर नहीं, सामान्य मानव होकर विश्व की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना है। उसके लिए आज इतिहास और भूगोल के सीमा-बंधन लुप्त हैं और सारी दुनिया उसका वासस्थान है, । उसे अपनी राजनीति, अर्थनीति,

समाजनीति और नैतिकता के मानदंडों का नवीन मूल्यांकन और संगठन कर लेना है, उसे देश और राष्ट्र की पुरानी धाराओं और परम्पराओं को जीतकर पारस्परिक सहयोग के आधार पर ऐसे विश्व का निर्माण करना है जहाँ भविष्य में किसी प्रकार का युद्ध नहीं होगा।

आज हमें परमाणु की शक्तियों को शान्तिकालीन योजनाओं में नियोजित करने का प्रश्न उतना नहीं सताता या उत्सुक करता, जितना राष्ट्रीय देशों की मनोधारा और युद्ध-काल में परमाणु की विनाशक शक्तियों की भीषण संभावनाएँ क्योंकि इतने बड़े रक्त-स्नान के बाद भी विभिन्न राष्ट्रों की नीति पुरानी लीक पर ही चलती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज भी व्यापारिक साम्राज्य के विस्तार की लिप्सा, पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और आतंक-नीति से उसी प्रकार काम लिया जाता है। युद्ध की समाप्ति के इतने दिनों बाद भी शान्ति-स्थापना के प्रश्नों का समुचित हल नहीं निकल सका है। और, अस्त्रों के अत्याधुनिक विकास के विपरीत इंसान के पास बचाव के साधन बिल्कुल अल्प और अपूर्ण हैं।

परमाणु अस्त्रों से बसे-बसाये देश को नाश करने में खर्च भी आज के साधारण अस्त्रों से सैकड़ों गुना कम पड़ेगा। इस प्रकार यह साफ है कि मनुष्य के विनाश करने के साधनों में अभूतपूर्व गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया है। यदि आज दुनिया के सभी राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्रों के उत्पादन की सामग्री का अभाव है या उनमें इसकी प्रवृत्ति ही नहीं पायी जाती, तो यह कोई तर्क नहीं कि भविष्य में भी इस आधार पर युद्ध नहीं छिड़ेगा। एक बार अस्त्रशस्त्रों की प्रतियोगिता चली नहीं कि मनुष्य के बचने का कोई उपाय नहीं रहेगा। कुछ लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि भविष्य के परमाणु अस्त्र आज की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्तिशाली होंगे। उनके प्रयोग से अणु-परमाणुओं की इकाइयों में भीषण प्रतिक्रिया चल पड़ेगी, जिससे यह धरती मनुष्य के बसने लायक नहीं रहेगी या मानव-सृष्टि ही विनष्ट हो जायगी।

गत महायुद्ध के अनुभवों के आधार पर कहा जाता है कि परमाणु बमों से बचने का कोई रास्ता नहीं है। कुछ अधिकारियों ने कहा है कि यदि

ऐसे बमों का विस्फोट लक्ष्य से काफी दूरी पर संभव कर दिया जाय, तो किसी प्रकार का खतरा नहीं आयेगा। किन्तु ऐसे विचार सर्वथा भ्रामक हैं। यह कथन इन पंक्तियों के लेखक का न होकर लुई० एन० राइडनर का है, जो माच्युसेट्स के रेडियेशन लेवोटरी में राडर के विकास के लिए युद्ध काल में अन्वेषण करता था।

कुछ लोग यह भी ख्याल रखते हैं कि परमाणु बम के मिसिल को लक्ष्य से काफी ऊपर कौस्मिक किरणों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। पर ऐसे लोगों को कौस्मिक किरणों के प्रयोग के खर्च का अन्दाज नहीं है। फिर कौस्मिक किरणों का प्रयोग इक्के-दुक्के बमों के लिए ही संभव है, सामूहिक आक्रमण के समय यह विफल हो जायगा। वैसे समय में तो राडर का प्रयोग भी व्यर्थ सिद्ध होगा, क्योंकि एक राडर-स्टेशन के निर्माण में अपार धन और लगभग ३०० कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। सामूहिक आक्रमण-काल में सैकड़ों, हजारों राडर-स्टेशनों का निर्माण देश के विभिन्न भागों में करना होगा। इस प्रकार की योजना का खर्च सर्वसाधन-सम्पन्न राष्ट्रों से भी बर्दाश्त नहीं होगा। अतः परमाणु अस्त्रों से बचने के व्यावहारिक और सफल साधन सर्वथा अप्राप्य हैं।

ऐसी दशा में अगर विश्व के भविष्य की फिक्र राजनीतिज्ञों और श्रेष्ठ वैज्ञानिकों को चिन्तित एवं संत्रस्त करे तो कोई आश्चर्य नहीं। जिन लोगों ने इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनके तर्कों और आपत्तियों की तह में युद्ध की अमानुषिक पुनरावृत्ति को सदा के लिए निर्मूल करने की भावना ही काम करती है, लेकिन जीवन की कठिन समस्याएँ सुखद स्वप्न और निर्दोष भावनाओं से नहीं सुलझतीं। इसके लिए वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान और यथार्थवादी विश्लेषण और समाधान आवश्यक है किन्तु ऐसी मनोदशा उत्पन्न करने के लिए विचारकों और राजनीतिज्ञों को ही नहीं, बल्कि दुनिया के साधारण लोगों को भी आसन्न संकट का पूरा ज्ञान हो जाना चाहिए। तभी शासकों को भी विनाश की सन्निकटता और युद्ध को स्थायी रूप से बन्द करने की आवश्यकता महसूस होगी।

नवम्बर १९४५ के सम्मिलित वक्तव्य में ट्रूमेन, एटली और कनाडा के प्रधान मंत्री किंग ने कहा, हमलोग समझते हैं कि विज्ञान की विनाशक शक्तियों से सभ्य जगत को बचाने के लिए युद्ध बन्द कर देने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। किन्तु इस प्रकार के भावनात्मक उद्गार तो प्रथम महा-युद्ध के बाद भी सुनने को मिले थे। युद्ध रोकने के लिये लोगों ने कुछ संस्थाएँ भी बनायी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई। राष्ट्रों के पारस्परिक झमेलों को शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए 'लीग आफ नेशन्स' भी बनी। लेकिन इनका जो नतीजा निकला, वह राजनीति के किसी भी विद्यार्थी को मालूम है। इनकी असफलता के कारण भी बिल्कुल स्पष्ट हैं। आज के राष्ट्रों की परम्परा इतनी दूषित है कि अलग-अलग कोई भी राष्ट्र किसी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय को नैतिक आग्रह से ही स्वीकार नहीं करता। और नैतिक बन्धनों की अवहेलना करनेवाले साधन-सम्पन्न शक्तिशाली राष्ट्र को कायल करने की शक्ति कहीं रहती नहीं है।

संयुक्त-राष्ट्र संघ भी केवल नैतिक सीमाओं को ही खड़ा कर बैठ गया, तो युद्ध रोकना असम्भव होगा। उसे अपने निर्णयों को व्यावहारिक रूप देने के लिए यथेष्ट शक्ति-संचय करना चाहिए, अन्यथा समझौतों और निर्णयों का कुछ भी फल नहीं होगा।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सामूहिक सुरक्षा का एक ही स्वरूप लोगों के सामने है और वह है किसी राष्ट्र-विशेष को स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को मानने के लिए बाध्य करना। लेकिन इस प्रकार के समाधान की कमजोरियाँ भी साफ हैं। शान्ति-प्रेमी राष्ट्रों को युद्ध रोकने के लिए ही युद्ध करना पड़ेगा और वह नियम इतना दूषित और अप्रीतिकर है कि कोई राष्ट्र-संघ इसका प्रयोग करने में ग्लानि अनुभव करेगा।

इन बातों को ध्यान में रखकर हम एक ही उपाय की कल्पना कर सकते हैं जिसके द्वारा विश्व में सच्ची शान्ति स्थापित हो सकती है। उसका प्रधान सिद्धान्त यह है कि विश्व संघ के निर्णयों को मंजूर करवाने के लिए राष्ट्रों से समझौता न करके आम जनता और व्यक्तियों से अपील की जाय।

इस प्रकार का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नया नहीं है। और यह राज-विज्ञान के अनुभवों द्वारा समर्थित भी हो चुका है। अतः शान्ति कायम रखने के लिए जब विभिन्न राष्ट्रों का संघ बनता है और आपसी समझौते होते हैं, तो उसमें सम्मिलित होनेवाले सभी राष्ट्र अपने नागरिकों में युद्ध के विरुद्ध उचित वातावरण तैयार करें और इसके लिए समुचित प्रचार और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करें। क्योंकि केवल समझौते को स्वीकार कर संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर देने से ही शान्ति स्थापित नहीं हो जाती। इसके लिए राष्ट्रीय सैन्य-संगठन, जनता में राष्ट्रवाद की उत्तेजना और अनावश्यक राष्ट्राभिमान को समाप्त कर देना होगा। आये दिन केवल परमाणु शक्ति के रहस्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण ही की चर्चा सुनी जाती है। पर यह स्थायी शान्ति का बाह्य उपकरण मात्र है। उसकी सफलता भी उपर्युक्त प्रकार की मानसिक स्थिति में ही संभव है।

आज इस प्रकार की बात रोमान्टिक आदर्शवाद लगती है, और वर्तमान स्थिति में असंभव जँचती है। किन्तु मानवता का कल्याण इसी में निहित है।

शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिये अणु-शक्ति का उपयोग

संसार के इतिहास में हिरोशिमा-कांड का अध्याय इतिहास की एक नवीन दिशा की ओर सदा के लिये संकेत बन कर रहेगा। ऐसा इसलिए नहीं कि हिरोशिमा के समान विध्वंस का दृश्य संसार के इतिहास में अभूतपूर्व था। बल्कि इसलिये कि भीषण संहारकारक अणुशक्ति का लक्ष्य सर्वप्रथम हिरोशिमा ही हुआ था और वहाँ के सर्वनाश के दृश्य ने मनुष्य को अणुशक्ति की अपरिमेय कार्यक्षमता के प्रति सचेत किया।

युद्ध कभी भी, किसी भी देश और काल में श्रेयस्कर हो नहीं सकता श्रेयस्कर वह किसी समुदाय, जाति अथवा देश के लिये अल्पकाल के लिये, भले ही हो, मानव मात्र का उससे अहित ही होता है। द्वितीयतः युद्ध से युद्ध का ही जन्म होता है, शान्ति का नहीं! तृतीयतः, युद्ध कुछ संहार और संहारकारी अस्त्रों के प्रयोग को ही नहीं कहेंगे, एक मानसिक अवस्था को भी कहेंगे। और, यह तो निस्सन्देह है कि शारीरिक रूप से युद्ध में संलग्न होने के पूर्व मानसिक तैयारी हो जाती है, यानी युद्ध के लिये मानसिक परिवर्त्तन। किन्तु इतना भी सत्य है ही कि प्रत्येक युद्ध ने ज्ञान को विकसित किया है, थोड़े समय में ही और शान्तिकाल में शायद विज्ञान उतना आगे नहीं बढ़ पाता जितना युद्ध-काल में आगे बढ़ता है। कारण स्पष्ट हैं। युद्ध संलग्न राष्ट्र और अन्य राष्ट्र भी, युद्ध में विजय के लिये और सुरक्षा-प्रतिरक्षा आदि के लिये विज्ञान से शस्त्रास्त्रों की माँग करते हैं और राष्ट्रीयता के नाम पर वैज्ञानिकों को शस्त्रास्त्रों के ईजाद के लिये, नये प्रयोग के लिये प्रेरित और बाध्य करते हैं।

तृतीय विश्वयुद्ध काल में जर्मनी में अणुशक्ति संबंधी पड़ताल, प्रयोग आदि चल रहे थे। किन्तु हिटलरी जर्मनी को सफलता नहीं मिली थी। पदार्थवाद के प्रकांड पंडित तथा अद्वितीय वैज्ञानिक एलबर्ट आइंस्टाइन को जब हिटलर ने जर्मनी से निकाला तो आइंस्टाइन ने इसकी सूचना दी कि जर्मनी अणुशक्ति के विस्फोट तथा युद्ध के लिये उसके उपयोग की दिशा में काम कर रहा है। यह सूचना उन्होंने कुछ अन्य सहयोगी वैज्ञानिकों को दी जिसके फलस्वरूप उन वैज्ञानिकों ने आइन्स्टाइन से अनुरोध किया कि वे इसकी जानकारी अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट को दें। आइंस्टाइन ने रूजवेल्ट के नाम एक पत्र लिखकर स्थिति पर प्रकाश डाला और उसमें कहा कि इसकी पूरी संभावना है कि अणुशक्ति का उपयोग भीषण संहारकारी अणुबम के रूप में किया जाय, और अणुबम बना सकना सम्भव है। इस आशय के एक पत्र पर आइंस्टाइन के अतिरिक्त कुछ और वैज्ञानिकों ने हस्ताक्षर किये और पत्र को राष्ट्रपति रूजवेल्ट के पास भेज दिया। बस क्या

था। रूजवेल्ट ने अपने यहाँ के कुछ वैज्ञानिकों को इस दिशा में कार्य करने के लिए पूरी सुविधाएँ प्रस्तुत कर दीं और अणुशक्ति आयोग की स्थापना कर दी। इसके फलस्वरूप शीघ्र ही अमरीका के पास अणुबम हो गये जिनका एक हल्का प्रयोग उसने जापान को पराजित करने के लिये, हिरोशिमा नामक नगर पर गिरा कर किया। और उसी घटना से समस्त मानव समुदाय ने अणु की अपरिमेय संहारकारी शक्ति का परिचय पाया।

हिरोशिमा-कांड ने जैसे सचमुच संसार को बिजली युग से अणु युग में ला बैठाया। युद्ध समाप्ति की ओर था किन्तु युद्ध संलग्न तथा तटस्थ, दोनों राष्ट्र समझ रहे थे कि इस अणु युग में अस्तित्व तभी तक संभव है जब तक उनके पास भी इसी प्रकार की घोर संहारकारी शक्ति हो। अमरीका में तो अणुविस्फोट के वाद, सफलता से उत्साहित वैज्ञानिक राष्ट्र की कृतज्ञता से आप्यायित इस सम्बन्ध में और आगे प्रयोग करने लगे, करने भी जा रहे ही हैं। युद्ध के अन्त के पश्चात् संसार में दो सशक्त राष्ट्र के रूप में अमरीका और रूस निकले। किन्तु इन दो देशों के शासनों में दो नितान्त विरोधी विचारों का प्रतिबिम्ब है। फलतः दोनों को एक दूसरे से आशंका रही है जिसके परिणामस्वरूप निश्शस्त्रीकरण की आवाज के बुलंद होने पर भी दोनों देशों में अणु की शक्तियों तथा तत्संबंधी अधिकाधिक खोज और छानबीन जारी है। उद्देश्य है, अतुलनीय शक्तिशाली अणुबमों की ईजाद। इस सशंकता के परिणामस्वरूप किये गये प्रयोगों से 'नेप्लाम बम', 'अटम बम' आदि तो निकले ही, अब हाइड्रोजन बम निकला है। रूस और अमरीका, दोनों देशों का दावा है कि उनके पास हाइड्रोजन बम है और हम आये दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं कि आज यहाँ, कल वहाँ, हाइड्रोजन के अणु का विस्फोट किया गया।

एक बार किसी ने आइंस्टाइन से, जिन्हें इसका दुःख था कि उनके पत्र ने अणुबम के भूत को जन्म दिया, (आइंस्टाइन इसके लिये अपने को दोषी मानते थे) पूछा कि चौथा विश्वयुद्ध किन अस्त्रों से लड़ा जायगा। इसके उत्तर में आइंस्टाइन ने कहा था कि यदि चौथा विश्वयुद्ध सम्भव ही होगा तो

उसमें लड़ाई तीरों और पत्थरों से होगी। अणुशक्ति की भीषणता का अनुमान आइंस्टाइन के उत्तर से आसानी से लगाया जा सकता है। उनके उत्तर में इसकी व्यंजना है कि तीसरा विश्वयुद्ध यदि होगा तो वह संसार को नष्ट-भ्रष्ट करके छोड़ देगा। वह इतना संहारकारी होगा कि समस्त ज्ञान-विज्ञान का अन्त हो जायगा और यदि प्राणी का विकास फिर हुआ तो मनुष्य की एक नयी सभ्यता का प्रारम्भ होगा।

मानव जीवन में प्राकृतिक शक्ति के उपयोग की परम आवश्यकता रहती है, इसके लिये किसी विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रकृति की असीम शक्तियों का, यदि मानव-जीवन को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिये, उपयोग किया जाय तो सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में समय की जो दूरी रहती है, वह कम हो जायगी और जिन कार्यों के होने में बहुत समय लगता है, वे तुरत हो जायेंगे। साथ ही मनुष्य की शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति से जो कार्य असाध्य से लगते हैं, वे भी संभाव्य की परिधि में आ जायँगे। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त शक्ति यदि एक ओर महासंहारकारी सिद्ध हो सकती है, तो प्रयोग भेद से वह दूसरी ओर महाकल्याणकारी भी सिद्ध हो सकती है। प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्स ने अपने वैज्ञानिक उपन्यासों में इसी पक्ष पर बल दिया था कि विज्ञान मनुष्य के हाथ में एक ऐसा तेज अस्त्र है कि चाहे तो वह अपना गला काट ले, चाहे तो प्रकृति पर राज्य कर सके। अणुशक्ति के अब तक के प्रयोग से ऐसा महसूस करना कि मनुष्य को यह भस्मासुरी शक्ति मिली है, गलत नहीं। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य चाहे तो इस शक्ति को लोक-कल्याण के अनेक मार्गों और मानव-जीवन के अनेक पक्षों के कल्याण के लिये प्रयुक्त कर सकता है। इस संदर्भ में भारत के प्रधान मन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू के ये शब्द ध्यातव्य हैं:—"यह सुस्पष्ट है कि अणुशक्ति का प्रयोग शांतिपूर्ण उद्देश्यों तथा मानव के महान् कल्याण के लिये प्रयुक्त हो सकता है। यह नयी शक्ति उत्तम जीवन के लिये, जो अन्यथा सदियों तक उपलब्ध न हो, एक छोटा रास्ता सिद्ध हो सकता है।"

साथ ही, अमरीका के राष्ट्रपति आइसनहावर के ये शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं:—"संयुक्त राष्ट्र आपके सामने यह प्रण करता है—और इसलिए सारे संसार के सामने—कि वह भयावह आणविक उलझन को सुलझाने के लिये सहायता करने को कृतसंकल्प है। वह अपने हृदय और मस्तिष्क को उस पथ की खोज करने में लगाने को प्रस्तुत है जिससे मनुष्य की यह आश्चर्यजनक आविष्कारिता उसकी मृत्यु को समर्पित नहीं होगी, बल्कि उसके जीवन के लिये पवित्र बनायी जायगी।"

स्पष्ट है कि अणुशक्ति की भयानकता से अमरीका या रूस या संसार के अन्य राष्ट्र जहाँ इसलिये प्रसन्न हुए कि युद्ध में विजय-प्राप्ति के लिये उनके हाथों अमोघ अस्त्र आ गया है, वहाँ वे इस पर भी कम चिन्तित न हुए कि वैसी विजय केवल 'कलिंग विजय' (Pyrrhic Victory) मात्र होकर न रह जाय। जब मनुष्य ही नष्ट हो जायगा, जब उसकी सभ्यता-संस्कृति सभी नष्ट हो जायगी तो विजय भी किसकी और किस पर? अणु की भीषणता ने ही राष्ट्रों को युद्ध से विमुख होने को सोचने के लिए बाध्य किया और इसकी आशा दी कि यदि शान्तिपूर्ण ढंग से आणविक शक्ति का प्रयोग किया जाय तो जीवन की जटिल विषमताओं को सुलझाया जा सकता है और अकाल रोग और अन्य कष्ट-साध्य, परिश्रम-साध्य कार्यों को आसानी से सुलझाया जा सकता है। इसलिये ४ दिसम्बर, १९५४ ई० को राष्ट्र संघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह घोषणा की गयी कि ६० सदस्य राष्ट्र :

विश्वास करते हैं कि आणविक शक्ति की महान खोज से उत्पन्न कामों को मानवता की सेवा के लिए लगा दिया जाय।

उनकी इच्छा है कि आणविक शक्ति का मानव-कल्याण और शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिये प्रयोग हो, इसके लिये वे सोत्साह कार्य करेंगे ताकि मनुष्य के दैनंदिन जीवन को उन्नत किया जा सके।

वे इसे मानते हैं कि मूर्खता, दरिद्रता तथा रोगों के भार को मनुष्य के

कंधे पर से उठाने के लिये अणु शक्ति के उपयोग, विस्तार तथा विकास में अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की तत्काल आवश्यकता तथा महत्त्व है।

वे विश्वास करते हैं कि शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिये आणविक प्रविधि के क्षेत्र में प्राप्त ज्ञान के प्रसार को सहायता देने के लिए सभी राष्ट्रों को सहयोग देना चाहिये।

प्रकृति में अणुशक्ति का रहस्य युगों से छिपा हुआ था। और मनुष्य ने उसका उद्घाटन कर दिया है। आज वैज्ञानिक उसकी असीम शक्तियों का व्यवहार सीख गये हैं। पेचीदे यंत्रों से वे अणु का विस्फोट करते हैं जिससे इतनी शक्ति निकलती है कि वह दुनिया के नक्शे को बदल दे। अणु एक कल्पनातीत छोटा पदार्थ है। करोड़ों-करोड़ अणु को जब एक साथ रखा जाय तो वह दिखाई पड़ सकता है लेकिन सघन आणविक ईंधन के १५ पाउण्ड उतनी शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं जितनी ४ करोड़ पाउण्ड कोयला। अणु-शक्ति मरुभूमि को खेतों में परिवर्त्तित कर दे सकती है; उसके उपयोग से नए और अच्छे खाद्यान्न उपजाए जा सकते हैं। वह एक नगर को ध्वस्त कर दे सकती है; वह उसे रोशनी, गर्मी और शक्ति दे सकती है। वह एक बच्चे को लुंज बना दे सकती है; वह रोगों के उपचार के लिए और नवीन जीवन देने के रास्ते दिखला सकती है।

स्पष्ट है कि ऐसी भीषण शक्ति का सदुपयोग भी सम्भव है जिससे दुःख और रोगाक्रान्त मानव-समुदाय के जीवन में आशा की नई किरणें फूट सकती हैं।

अमरीका में कैंसर नामक असाध्य रोग का सफल उपचार अणुशक्ति ने ही सम्भव बनाया है। इस शक्ति ने प्रकृति के अनेक रहस्यों के उद्घाटन में वैज्ञानिकों की सहायता की है और कर रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रोग के उपचार, कृषि और खाद्यान्नों में सुधार और विकास तथा उद्योग में क्रांतिकारी प्रगति की सम्भावना अणुशक्ति के उपयोग से है।

एशिया के राष्ट्रों में भारत का सबसे बड़ा और सर्वाधिक आगे बढ़ा हुआ अणु-शक्ति कार्यक्रम है। यह एक शान्तिपूर्ण कार्यक्रम है जिसका लक्ष्य

अणु से शक्ति प्राप्ति करना है। ये कार्यक्रम भारतीय अणुशक्ति आयोग, जिसकी स्थापना १९४८ में हुई थी, जबकि भारतीय अणुशक्ति कानून अपनाया गया था, के अन्तर्गत संचालित हो रहे हैं। भारतीय अणुशक्ति-आयोग में तीन व्यक्ति हैं जो अपने प्रतिवेदन सीधे प्रधान मंत्री को देते हैं। यह आयोग अनेक शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओं में अनुसन्धान-योजनाएँ आयोजित करता है।

भारत में प्रमुख आणविक-शोध-केंद्र 'टाटा इंस्टीट्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च' है जो बम्बई में अवस्थित है। यह संस्था अभी सघन जल के उत्पादन और आणविक रियेक्टर के निर्माण की सम्भावनाओं की छानवीन कर रहा है। कलकत्ते का आणविक पदार्थ-विज्ञान-संस्थान भी अब प्रमुख स्थान ग्रहण करता जा रहा है। अभी हाल ही इसने बत्तीस इंच का साइक्लोट्रोन नामक यन्त्र लगाया है जो भारत में अपने प्रकार की पहली मशीन है। इनके अतिरिक्त कलकत्ते के बोस इंस्टीट्यूट, दिल्ली विश्वविद्यालय, बंगलोर के इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस, अहमदाबाद के फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी और अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भी शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए अणुशक्ति के विकास संबंधी काम हो रहे हैं।

भारत ने हाल के कुछ वर्षों में कास्मिक रे सम्बन्धी शोध की दिशा में अच्छी प्रगति की है। अब वहां औषधि में 'रेडियो आइसोटाप्स' के व्यवहार के लिए एक कार्यक्रम का विकास हो रहा है। ल्यूकेमिया और कैंसर के कुछ प्रकारों के निदान और उपचार के सम्बन्ध में काम चल रहा है।

——:o:——

संयुक्त-राष्ट्र-संघ

आधी शताब्दी के भीतर ही दो-दो बार विश्व-व्यापी युद्ध की विभीषिकाओं से संत्रस्त होनेवाले मानव के नेक इरादों के बीच संयुक्तराष्ट्र संघ

का जन्म हुआ है। विज्ञान ने जिन मारक हथियारों का आविष्कार किया है, उन्हें देखते हुए आज सबको अच्छी तरह मालूम है कि भविष्य में अगर लड़ाई हुई तो विजयी और विजित में कोई भेद नहीं रहेगा, सारी दुनिया तबाह हो जायगी और हजारों वर्षों में इंसान ने प्रकृति से लड़कर जो कुछ अर्जित किया है, सब नष्ट हो जायगा। हमारी सभ्यता मिट जायगी, कला-कौशल मिट जायँगे और शायद मनु-संतान की निशानी तक बर्बाद हो जायगी। यह सब सोच कर ही आत्मचिन्तन की घड़ी में शासन-सूत्रधारों को शान्ति की चिन्ता हुआ करती है। यह कोई नई बात नहीं। हर बड़े संक्रान्ति-काल में मनुष्य ऐसी बुनियादी बातों पर ठंढे दिल से विचार करने को बाध्य होता है। पहले महायुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ और पिछली बार द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में भी चर्चिल और रूजवेल्ट ने एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता महसूस की, जो विश्व के राज्यों के बीच सहयोग और समझौते की भावना जाग्रत कर शान्ति कायम रख सकेंगे।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर १९४१ में चर्चिल और रूजवेल्ट ने अतलांतक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। फिर १९४३ में मास्को सम्मेलन हुआ, जिसमें ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और चीन ने विश्व-शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने की घोषणा की। इसी बुनियाद पर चारों राष्ट्रों ने १९४४ में डम्बर्टन औक्स समझौते के मातहत संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा पत्र तैयार किया। १९४५ में माल्टा सम्मेलन हुआ जिसमें उस घोषणा-पत्र को निश्चित रूप-रेखा प्रदान की गयी। बातचीत में फ्रांस भी शामिल हुआ और पाँच राष्ट्रों ने मिलकर 'वीटो' के सिद्धान्त को भी कबूल किया। पर इस घोषणा-पत्र की धाराओं और सिद्धान्तों का प्लान सैनफ्रांसिसको कान्फ्रेंस में तैयार हुआ। यह कान्फ्रेंस जर्मनी के आत्मसमर्पण के पहले शुरू हुई और जापान पर परमाणु बम गिरने के पहले समाप्त हो गई। उसमें ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था, संयुक्त-राष्ट्र संघ की बाकायदे (विधिवत्) स्थापना की गई।

इस संघ के छः मुख्य अवयव हैं: १. जनरल असेम्बली २. सुरक्षा परिषद्

३. संघीय सचिवालय ४. आर्थिक सामाजिक परिषद् ५. संरक्षक परिषद् ६. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ।

इन अवयवों के माध्यम से संघ अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति चेष्टा की करता है। इनमें से हर संघटन को आवश्यकतानुसार उप-समितियाँ बनाने का अधिकार है और हर के कार्यक्षेत्र और अधिकारों की सीमाएँ निश्चित हैं। जनरल असेम्बली में संघ के सभी सदस्यों (जिनकी संख्या अभी ६१ है) को बैठने का अधिकार है। इसका वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर महीने में होता है। पर सुरक्षा-परिषद् की या अधिकाश सदस्यों की माँग पर संघ के प्रधान मंत्री जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन भी बुला सकते हैं।

जनरल असेम्बली संघ के घोषणा-पत्र के अधीन विश्व-शान्ति से संबंधित सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके विचारार्थ विषय उपस्थित करने का अधिकार सुरक्षा परिषद को है, अथवा दुनिया के किसी भी राष्ट्र को (वह भले इसका सदस्य न हो)। इसकी कार्यवाही में सभी सदस्यों के अधिकार समान हैं।

सुरक्षा परिषद की हैसियत कार्यकारिणी जैसी है। उसके ५ स्थायी सदस्य हैं—१. ब्रिटेन २. रूस ३. अमेरिका ४. फ्रांस और ५. चीन (कुओमिंतांग)। जनरल असेम्बली ३ वर्षों के लिए ६ स्थायी सदस्य चुनती है। परिषद के अध्यक्ष का कार्यकाल केवल १ महीने का रहता है। उसका चुनाव सदस्य राष्ट्रों के नामों के प्रथमाक्षर के क्रमानुसार होता है।

किसी प्रकार की समस्या उठ खड़ी होने पर वह सबसे पहले सुरक्षा परिषद में पेश की जाती है। परिषद उस पर जो फैसला ले, उसे सबको मानना पड़ता है, अन्यथा परिषद को अधिकार है कि वह फैसले को न माननेवाले देश के विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई करे क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व मौलिक रूप से सुरक्षा परिषद पर ही है।

सुरक्षा परिषद की शक्ति या कमजोरी का स्रोत है 'वीटो' का अधिकार जो केवल उसके स्थायी सदस्यों को प्राप्त है। इस अधिकार के उपयोग कर अर्थ है कि कोई भी स्थायी सदस्य अकेले सम्पूर्ण सुरक्षा परिषद को किसी

प्रश्न पर कोई कदम उठाने से रोक दे सकता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य है कि परिषद कोई भी फैसला ले तो सर्वसम्मति से, अन्यथा बहुमत का फैसला किसी स्थायी सदस्य के हित के विरुद्ध चला जा सकता है। वैसा यदि होने दिया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर सुरक्षा और शान्ति की हिफाजत की बात असम्भव हो जायगी, क्योंकि जिस राष्ट्र के विरुद्ध कोई फैसला होगा, वह संघ से अलग हो जा सकता है। और फिर, परिषद के ये ५ राष्ट्र ही तो आज की दुनिया की राजनीति का नियंत्रण करते हैं। इनमें से किसी एक के भी हट जाने का अर्थ है संघ की असफलता।

जिस प्रकार सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्यक्षेत्र राजनीतिक है, उसी प्रकार आर्थिक-सामाजिक परिषद का कार्यक्षेत्र भी उसके नाम से स्पष्ट है। इसका काम है सम्पूर्ण विश्व में शान्ति को संकटापन्न करनेवाले, सामाजिक, आर्थिक कारणों को दूर करना।

इस संघटन का सबसे महत्वपूर्ण काम रहा है अन्तर्राष्ट्रीय मूलाधिकारों की सूची तैयार करना। ये अधिकार अमेरिका के विधान में उल्लेखित अधिकारों के आधार पर निश्चित किये गये हैं। पर अनेक ऐसे पहलू हैं, जिन पर गहरा मतभेद है और इसलिए इस सूची के बावजूद अधिकारों के व्यावहारिक रूप में बड़ी असमानता देखी जाती है।

इस संघटन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है यूनेस्को (संयुक्त राष्ट्र संघीय शैक्षणिक और सांस्कृतिक संघटन)। भारत को इस संस्था की कार्यवाही में विशेष दिलचस्पी है। इसका उद्देश्य है मानव का नैतिक और मानसिक परिष्कार करना ताकि वह क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर विश्व-व्यापी मानवता का ध्यान रखे और युद्ध की आग सुलगानेवाली तर्कहीन प्रवृत्तियों का शिकार न हो।

इस संस्था को विश्व के सभी विचारकों, शिक्षा-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों का सहयोग प्राप्त है। इसके सदस्यों की संख्या ४५ है और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र ने इसकी शाखा अपने यहाँ कायम कर रखी है। भारतीय शाखा की बैठक

पिछली बार १९४९ ई० में दिल्ली में हुई थी और उसने बड़े ही महत्त्वपूर्ण सुझाव विश्व के समक्ष उपस्थित किये।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के करीब ६ वर्ष हुए, इस अवधि में इसके जो अनुभव हुए हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जो आज अवस्था है, उन सबको देखते हुए प्रश्न उठता है कि क्या संघ अपने उद्देश्य में किंचित् भी सफल हुआ है? क्या इसके जरिए विश्व-शान्ति की रक्षा संभव है?

जहाँ तक पहले प्रश्न का उत्तर है, आज की परिस्थितियों को देखते हुए, मानना पड़ेगा कि संघ अधिकांश में असफल ही रहा है। बड़े-बड़े राष्ट्रों के आपसी रिश्ते खतरनाक हो चले हैं। सब किसी को अंदेशा है कि तृतीय विश्व-युद्ध का सूत्रपात किसी भी समय हो सकता है। तब कैसे कहा जाय कि संयुक्तराष्ट्र संघ को अपने महान् उद्देश्यों की पूर्त्ति में कुछ भी सफलता मिली है? इस संस्था का भी वही भविष्य दीखता है, जो "लीग आफ नेशन्स" का रहा। यह सही है कि संघ को लीग की तुलना में अधिक सफलता मिली है, पर इसका कारण यह है कि संघ ने शान्ति-संधियों से अपने को अलग रखा और द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त होने पर विश्व की जो स्थिति रही, उसे कबूल करते हुए भविष्य में विश्वयुद्ध को रोकने तक ही अपने कार्य को सीमित रखा।

उसी प्रकार संघ की कमजोरियों के रहस्य भी साफ हैं। संघ की स्थापना के समय दुनिया युद्ध की ज्वाला में झुलस रही थी, और नेक इरादे अपनी बुलन्दी पर थे। आज पुरानी बातें भूल गयी हैं, या याद भी हैं तो जनसाधारण को, शासन के सूत्रधारों को नहीं। फलतः शक्ति-राजनीति की बातें पूर्ववत् चलने लगी हैं। जिन राष्ट्रों ने सामूहिक शत्रुओं (हिटलर, मुसोलिनी आदि) के मोकाबले में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता समझी थी, वे आपस में ही बँटे हुए हैं। उनकी न केवल एकता नष्ट हो गयी है, बल्कि आपसी घृणा और द्वेष भी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। सारी दुनिया की राजनीति दो खीमों में बँट गयी है। एक खीमा रूस के इर्द-गिर्द खड़ा है, दूसरा पश्चिमी यूरोप वा अमरीका में। दोनों खीमों या गुटों के

न केवल स्वार्थ आपस में टकराते हैं, वल्कि इनके राष्ट्रीय सिद्धांत भी परस्पर विरोधी हैं। इनके बीच किसी प्रकार का स्थायी समझौता सम्भव नहीं।

इन दोनों गुटों के मौलिक विभेद का प्रमुख परिचय सुरक्षा-परिषद में मिल चुका है और जन-साधारण को विश्वास हो चला है कि संघ अब केवल दोनों गुटों के शाब्दिक संघर्ष का अखाड़ा मात्र रह गया है। दोनों दल सिर्फ एक दूसरे पर शह देने की बात सोचते रहते हैं और वीटो की शक्ल में दोनों को वेजोर मोहरे मिला हुआ है। नतीजा है कि हर अहम सवाल पर संघ में 'जिच' (गत्यवरोध) हो जाता है।

संघ की इस असफलता के कुछ वीज इसके संघटन और विधान में भी है। सिद्धान्ततः सभी सदस्य राष्ट्र जनरल असेम्बली में समान माने गये हैं, पर सुरक्षा परिषद नें स्थायी सदस्यों की योजना रख कर दुनिया भर के राष्ट्रों में से ५ को सवर्ण और बाकी ५६ को अछूत करार दिया गया है। वीटो के कारण सुरक्षा-परिषद् के अस्थायी सदस्यों को दोनों गुटों में से एक न एक के पीछे जाना पड़ता है। तटस्थ रहने से उन्हें आत्म-गौरव का सुख नहीं मिल पाता।

दूसरे, संघ के पास ऐसी कोई ताकत नहीं जिसके सहारे वह किसी भी देश को अपना मत मानने को विवश कर सके। इस संस्था के अधीन अन्त-र्राष्ट्रीय पुलिस या फौज खड़ी की जा सकती थी कि तु सुरक्षा-परिषद के स्थायी सदस्यों के आपसी मतभेद और अविश्वास के कारण यह संभव नहीं। शक्ति-राजनीति की खींच-तान के कारण हर मौके पर संघ का फैसला न्याय-पूर्ण भी नहीं होता। कोरिया की लड़ाई में संघ की ओर से जो फौज भेजी गयी, उसमें सभी देशों के सैनिक नहीं गये। यह केवल इसलिए कि इस सवाल पर जो फैसला हुआ, उसमें रूसी गुट शामिल नहीं हुआ और स्पष्टतः वह फैसला आँग्ल-अमेरिकी गुट के इशारे पर हुआ। इसका फल है कि कोरिया की लड़ाई विश्वशान्ति की समस्या न बन कर रूसी गुट और आँग्ल-अमेरिकी गुट की ताकत-आजमाइश का सवाल बन गयी। अगर सचमुच कोरिया की लड़ाई को विश्वशान्ति के लिए खतरा माना जाता, तो संघ के

फैसले की सूरत कुछ दूसरी होती अथवा कोरिया की लड़ाई में इतना भयंकर नर-संहार नहीं होता। भला वह कैसी विश्व-शान्ति है जिसके नाम पर यह छोटा-सा मुल्क शब्दशः तहस-नहस कर डाला गया है।

विश्व-शान्ति के लिए सबसे बड़ा संकट है विश्व के विभिन्न भागों की आर्थिक असमानता। जब तक यह दूर नहीं होती, तब तक साम्राज्यवाद या कम्युनिज्म का अन्त नहीं। और जब तक साम्राज्यवाद और कम्युनिज्म कायम है विश्व-शान्ति स्थायी रूप से कायम नहीं रह सकती।

अतः यदि विश्व-शान्ति की रक्षा करनी है तो पहले रंगभेद, और आर्थिक असमानता मिटाने के लिए जोरदार कदम उठाना होगा। पर इस प्रकार की कोई कार्रवाई तब तक संभव नहीं जब तक कि संघ में विभिन्न सरकारों के भेजे गये प्रतिनिधियों के स्थान पर सीधे चुनाव के जरिए चुने गये जनता के प्रतिनिधि न बैठें। वैसा हो जाने पर संघ को विश्व पार्लमेंट की हैसियत प्राप्त होगी और उसके फैसले सरकार को मान्य होंगे। पर यह ऐसी शर्त है, जो संयुक्त राष्ट्र संघ से पूरी नहीं हो सकती। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विश्व-शांति इस संस्था के बस का रोग नहीं। आज यदि विश्व-युद्ध नहीं छिड़ रहा है, तो इसका श्रेय संघ को नहीं, बल्कि दोनों गुटों के शक्ति-संतुलन को है। जिस दिन वर्त्तमान संतुलन बिगड़ जायगा, युद्ध छिड़ कर रहेगा।

हाँ तब, संघ की आज इतनी उपयोगिता अवश्य है कि इस प्लैटफार्म पर आकर दोनों दल अपने दिल का बुखार उतार लेते हैं और अपना-अपना गुस्सा किसी हद तक रफा करते हैं। और जिस प्रकार "लीग आफ नेशन्स" स्वयं तो खत्म हो गयी, पर अपने से मजबूत संस्था संयुक्तराष्ट्र संघ के लिए जमीन तैयार करती गयी उसी प्रकार यह संघ भी मरते-मरते विश्व सरकार और विश्व पार्लमेंट के लिए रास्ता तैयार करेगा। इस कार्य में जेनरल असेम्बली और सुरक्षा परिषद् से अधिक उपयोगी यूनेस्को जैसे संघीय संघटन होंगे।



पंचशील

पंचशील संसार के विभिन्न देशों के वीच मैत्री और सद्भावना स्थापित करनेवाले आधारभूत सिद्धांतों का सांकेतिक नाम है। इस नाम के प्रवर्त्तन का श्रेय हमारे प्रधान-मंत्री पंडित नेहरू को है, जिन्होंने इसे बहुत दूर तक सार्थक और व्यावहारिक वनाने में भी सफलता प्राप्त की है।

पंचशील अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के पाँच सूत्रों का द्योतक है। वे सूत्र हैं—(१) एक राष्ट्र की भौगोलिक अखंडता और प्रभुता का दूसरे के द्वारा आदर, (२) दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करना, (३) एक दूसरे के आन्तरिक कार्य-व्यापारों में हस्तक्षेप नहीं करना, (४) समानता और पारस्परिक लाभ और (५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

पंचशील की प्रेरक भावना संसार के उदात्ततम आदर्शों से प्राप्त हुई है। यदि उसमें एक ओर बाइबल का यह सिद्धान्त सन्निहित है 'तुम उस वस्तु पर दृष्टि मत डालो जो तुम्हारे पड़ोसी की है', तो दूसरी ओर उसमें गाँधीवाद के मूलभूत तत्त्व--सहिष्णुता और अहिंसा—भी समाविष्ट है।

पंचशील एक महान् आदर्श को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसकी आवश्यकता वर्त्तमान युग को थी। कुछ तो इस कारण और कुछ इसलिए भी कि इसकी उद्भावना पंडित नेहरू जैसे युग-पुरुष ने की है, यह शब्द और इसके द्वारा संकेतित आदर्श कुछ महीनों के अन्दर ही संसार के सभी देशों में प्रचलित और मान्य हो गया है। आधुनिक राजनीति-विज्ञान का यह नया शब्द एशिया से लेकर यूरोप तक, हताश मानवता को आशा और विश्वास का संदेश देता हुआ, चतुर्दिक प्रतिध्वनित हो उठा है।

युद्धोत्तर संसार अभी अपने पिछले कटु अनुभवों और आघातों को भूल भी न पाया था कि जो राष्ट्र विश्व का नेतृत्व कर सकने की स्थिति में हैं शीत-युद्ध छेड़े बैठे और कोरिया में तो इसका छोटा किन्तु खतरनाक विस्फोट भी हुआ। दूसरा विश्व-युद्ध विश्व-शान्ति के नाम पर लड़ा गया था। उसकी समाप्ति होते-न-होते तीसरे विश्व-युद्ध की विकराल छाया क्षितिज को धूमिल

बनाने लगी। अमेरिका संसार भर में हवाई अड्डे स्थापित करने लगा और रूस अधिक से अधिक देशों को अपने रंग में रँगने की कोशिश में लगा। राजनीतिक क्षेत्र में तो यह सब हो रहा था, उधर सामरिक क्षेत्र में अणु और उद्‌जन बम के प्रलयकारी प्रयोगों और आविष्कारों की होड़-सी लग गई।

विश्व-शान्ति के नाम पर अमेरिका ने 'सामूहिक सुरक्षा' का नारा लगाना शुरू किया इसका व्यावहारिक रूप था छोटे और पिछड़े देशों को सामरिक सहायता देकर उन्हें अपनी ओर मिलाना और इसका उद्देश्य था साम्यवाद के खिलाफ मोर्चा तैयार करना। इसका फल यह हुआ कि दक्षिण-पूर्व एशिया में खास कर इंडो-चीन में, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि अमेरिका द्वारा संचालित तथा रूस से प्रभावित विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के दो समूहों के बीच युद्ध अनिवार्य-सा हो चला। सौभाग्य से भारत के महान् नेता पंडित नेहरू ने यह समझ लिया कि इस बार पश्चिमी राष्ट्रों के दोनों समूह आपस में लड़ने को तैयार हो रहे थे और समर-भूमि एशिया को बनाना चाह रहे थे।

भारत ने अपने लिए तो शान्ति का रास्ता चुना ही है, उसने विश्व-शान्ति की कामना से इस आसन्न संघर्ष को भी शुरू में ही रोक देने का सफल प्रयास किया। यह प्रयास पंचशील के सिद्धान्त के प्रचार के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। भारत ने ठीक ही समझा कि विश्व-शान्ति सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त से नहीं, बल्कि सामूहिक शान्ति के आदर्श से संभव हो सकती है। शान्ति के क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तृत बनाने के अपने लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए उसने यह आवश्यक पाया कि विभिन्न मान्यताओं और विरोधी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचोंवाले देशों के बीच सामंजस्य और सद्भावना स्थापित होनी चाहिये। पंचशील ने इस असंभव से लगनेवाले आदर्श को सम्भव सिद्ध कर दिया है। अणु और उद्‌जन बम के इस युग में मानव-सभ्यता की रक्षा पंचशील से ही हो सकती है, यह सभी निष्पक्ष विचारकों का मत है।

पंचशील सिद्धान्तों की उद्भावना के बाद शीघ्र ही अनेक देशों ने उनमें अपनी आस्था प्रकट की। चीन इसमें सब के आगे रहा। जुलाई १९५४ में जब चीन के प्रधान मंत्री भारत में आए थे, तब पंडित नेहरू और उन्होंने नई दिल्ली में, एक संयुक्त वक्तव्य प्रचारित किया जिसमें दोनों देशों की ओर से इन सिद्धान्तों के पालन का आश्वासन था। इसके बाद बर्मा, यूगोस्लाविया, रूस और पोलैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के निर्धारण के लिए पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। अप्रैल १९५५ में हिन्देशिया में बांडुङ्ग में जो अफ्रिका-एशिया परिषद् हुई थी उसके तत्त्वावधान में २९ राष्ट्रों ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर उन पर अपनी मुहर लगा दी।

अभी ऐसे अनेक राष्ट्र हैं जो पंचशील के सिद्धान्तों को वांछनीय मानते हुए भी अव्यावहारिक समझते हैं। किन्तु वे भी धीरे-धीरे महसूस करते-से दीख पड़ रहे हैं कि यदि पंचशील के आधार पर सह-अस्तित्व के लिए प्रयत्न नहीं किया गया तो विश्व-संहार अनिवार्य है। मानवता और मानव-सभ्यता का प्रत्येक हितैषी यह आशा करता है कि पंचशील को सार्वभौम स्वीकृति शीघ्र ही प्राप्त होगी और इस प्रकार युद्ध का सर्वग्रासी आतंक ही नहीं युद्ध-मात्र अतीत की वस्तु बन जाएगा।

'जियो और जीने दो की भावना' और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आदर्श से अनुप्रेरित पंचशील गाँधीवाद के अहिंसा के संदेश की नव-घोषणा करता है। इसके द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिक नियमों के समावेश का सफल प्रयास हुआ है। समय और राजनीति के धक्के खा कर भी पंचशील सजीव और दृढ़ बना रह सकेगा यह नहीं, यह तो भविष्य ही बतायेगा किन्तु अभी तो यही अकेला ऐसा साधन है जिससे शान्ति के वातावरण का निर्माण हो सकता है।

पंचशील ने युद्ध की संभावना के बढ़ते हुए आतंक को दूर किया है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य और तनाव को कम किया है। इसने शत्रु-राष्ट्र को मित्र बनाने के लिए प्रेरित किया है। ये कम बड़ी उपलब्धियाँ नहीं हैं। ये विश्व-शान्ति को, पंचशील के माध्यम से, भारत की बहुमूल्य देन हैं।

विश्व-ऐक्य का सिद्धान्त और संसार का भावी शासन-विधान

इस महायुद्ध के बाद विश्व के नवीन शासन-विधान के क्या आदर्श होने चाहिये, इस विषय में श्रेष्ठ विचारक, राजनीतिज्ञ और पत्रकार जागरूक हैं। विश्व का शासन-विधान भविष्य में ऐसा हो, जिसमें प्रथम श्रेणी के राष्ट्र और लघुतम राष्ट्र कंधे से कंधा भिड़ाकर मनुष्य-मात्र की 'स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व' के लिए सफल प्रयत्न कर सकें--इसके लिए योजनाएँ बनाने में कागज और स्याही का मितव्यय नहीं हुआ है।

यहाँ पर यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि उच्चपदस्थ राजनीतिज्ञ बहुत कुछ कहकर भी अपने आशय को अस्पष्ट ही रखते हैं। धुरीराष्ट्र के अधिनायकों की बातें छोड़ दें; मित्रराष्ट्रों के कर्णधारों की योजनाएँ भी, विशेषत: 'अटलांटिक चार्टर', अस्पष्टता के साथ अनुदारता से भी सदोष है। और इतना होने पर भी यदि कोई विश्व का शासन-विधान बनेगा, तो उसकी रूप-रेखा 'चार्टर' से मिलती-जुलती रहेगी, इसीकी संभावना है। वह स्पृहणीय न हो, पर व्यवहार में आने की संभावना उसी की अधिक है।

लेकिन हम यहाँ कुछ ऐसी योजनाओं की विवेचना करना चाहते हैं, जो अपनी मौलिकता के लिए--व्यावहारिकता के लिए नहीं, महत्व रखती हैं।

ऐसे विचारक सामान्यत: भविष्य में संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना चाहते हैं। पर प्रजातन्त्र की कोई एक परिभाषा या व्याख्या तो है नहीं; फिर इन विद्वानों ने, मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद अधिनायकों का भाग्य-निर्णय कैसे होगा, इस पर भी पूर्णरूप से विचार नहीं किया है।

सुखासन पर बैठे हुए राजनीतिज्ञ और आलोचक इनके साथ भी पक्षपात-रहित व्यवहार ही चाहते हैं। उनके अनुसार विजेता और विजित विश्व के शासन-विधान के मूलाधार-तत्त्वों के समान-रूप से अधिकारी होंगे; किन्तु

अधिनायकों के विरुद्ध मोर्चा लेनेवाले राष्ट्रों के नेता इतनी उदारता नहीं दिखा सकेंगे, वह उनकी आज की मनोवृत्ति से ही स्पष्ट है।

ऐसी हालत में स्वयं एक जर्मन अपने देश के भाग्य के विषय में क्या मत रखता है, इसकी जानकारी मनोरंजक होगी। 'एक्जिट प्रशा—ए प्लान फार यूरोप' (Exit Prussia–A plan for Europe) नामक अपनी पुस्तक में डा० स्टर्न रूबार्थ ने यह प्रतिपादित किया था कि जर्मनी की वर्त्तमान नीति के लिए प्रशिया की मनोवृत्ति ही उत्तरदायी है। जर्मनी तो पाश्चात्य सभ्यता का ही अनुयायी है, पर यह प्रशिया की वर्बरता का ही प्रभाव है, जिसकी वजह से जर्मनों ने संसार को युद्ध के लिए वाध्य किया। प्रशिया तो जर्मनी है नहीं, कि युद्ध के वाद उसी का शासन स्पृहणीय होगा। पर हम रूबार्थ की इस योजना की युक्तियुक्तता के कायल नहीं। क्या इटली और जापान में भी ऐसे प्रदेश-विशेष थे, जिन्हें इन देशों की वर्बरता के लिए उत्तरदायी ठहरा दिया जाय ?

उपाय तो एक ही है और वह है, संसार के सभी शान्ति-प्रेमी राष्ट्रों का संगठन—चाहे वे छोटे हों या बड़े, काले या गोरे। केवल इसी प्रकार भावी युद्ध को असंभव या कम से कम लाभ की आशा से रहित बनाया जा सकता है। ऐसे संगठन का आधार क्या हो सकता है ? बिना किसी दवाव के स्वेच्छापूर्वक ऐसा सहयोग हो सके, इसके लिए कौन-सी बातें जरूरी हैं ? यहाँ हम कुछ महत्वपूर्ण योजनाओं पर विचार करेंगे।

क्लैरेंस के० स्ट्राइट ने इस विषय पर पूर्वोक्त दृष्टि से महत्वपूर्ण सुझाव उपस्थित किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक, 'यूनियन नाउ' (Union now) में तत्कालीन युद्ध की अवश्यम्भाविता की भविष्यवाणी की थी और उससे बचने का उपाय भी बतलाया था—यूरोप के अधिनायकवाद के विरोधी सभी राष्ट्रों का अविलम्ब संगठन।

लेकिन, इस विचारक की बातों पर ये राष्ट्र भला क्यों ध्यान देते। जैसा कि टेलर गैल्ड्वेल ने अपने उपन्यास The Eagles Gather में दिखलाया है, इन देशों की वैदेशिक-नीति के संचालक पूँजीपतियों को तो अपने स्वार्थ-

साधन से मतलब था और शस्त्रास्त्रों की बिक्री से गाढ़ी रकम पैदा करना उनका प्रधान उद्देश्य था। वे युद्ध को रोकने के लिए बहुत उत्सुक नहीं थे। सच पूछिए तो अधिनायक तो इन्हीं की सृष्टि ही थे। सो विश्व-युद्ध छिड़कर ही रहा।

पर स्ट्राइट महोदय हिम्मत हारनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने एक दूसरी पुस्तक 'यूनियन नाउ विथ ब्रिटेन' (Union Now with Britain) लिखकर अपनी यूरोपीय संगठन की योजना को नये सिरे से प्रतिपादित किया। इसे व्यवहार-रूप में परिणत करने से केवल युद्ध ही नहीं जीता जा सकता था, प्रत्युत शान्ति भी चिरस्थायिनी बन सकती थी। इन्होंने अँग्रेजी-भाषा-भाषी सात राष्ट्रों—अमरीका, इंग्लैण्ड, आयरलैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड कनाडा और दक्षिण अफ्रिका के लिये संघ-संगठन (Federal Union) की तजवीज पेश की थी। इसके संघ को आगे चलकर एक ऐसा स्थायी विधान बनाना पड़ता, जिसमें शामिल होने के लिए दूसरे शान्तिप्रिय राष्ट्रों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि योजना आकर्षक थी। लेकिन स्ट्राइट महोदय ने यह स्पष्ट नहीं किया था कि पीछे आनेवाले राष्ट्रों की हैसियत क्या होगी। क्या वे संघ के मूल राष्ट्रों के बराबर ही अधिकार पाते? यदि ऐसी बात थी, तो प्रारम्भ में अँग्रेजी भाषा-भाषी राष्ट्रों को ही संघ-बद्ध होना क्यों जरूरी था? इस योजना में यह एक ऐसी संकीर्णता है, जो इसकी मान्यता को बहुत कम कर देती है।

यूरोप को संघ-बद्ध करने की योजना आर० डब्लू० जी० मकाय ने भी अपनी पुस्तक 'पीस एम्स एंड दी न्यू आर्डर' (Peace Aims and the New Order) में उपस्थित की है। इन्होंने यूरोप के संयुक्त राष्ट्रों की कल्पना की है, जो सहानुभूतिपूर्ण पड़ोसियों की तरह शान्तिपूर्वक जियेंगे और जीने देंगे। उन्होंने अपनी पुस्तक में ऐसे संघ के लिए बना-बनाया विधान भी प्रस्तुत कर दिया है जो काफी व्यावहारिक है। पर जैसा स्ट्राइट महोदय की योजना की आलोचना में हम कह चुके हैं, यह समस्या समस्त संसार से

सम्बन्ध रखती है और इसका समाधान यूरोप तक ही सीमित रखने से सफलता नहीं हो सकती। इन योजनाओं में पूर्वीय देशों को कोई स्थान नहीं; यूरोप में भी, रूस को अलग कर दिया जाता है। 'मकाय' तो स्पष्ट कहते हैं कि इस संघ में पूर्वीय देशों को निकट भविष्य में कोई स्थान नहीं मिल सकेगा—उन्हें अपनी शासनकला को पहले विकसित करना पड़ेगा तभी वे इसके लिए योग्य हो सकेंगे। हम फिर भी कहेंगे कि ऐसे एकांगी समाधान कभी सफल नहीं होंगे।

सी० सी० पर्डन ने इस विषय पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दी न्यू आर्डर' (The New Order) में जर्मनी की 'न्यू आर्डर' की योजना का अँग्रेजी जवाव ही दिया था। जर्मनी की इस योजना के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया है और ठीक ही कहा गया है। जान इवांस ने 'दी नाजी न्यू आर्डर इन पोलैंड' (The Nazi New Order in Poland) में जर्मनों की इस योजना के कुपरिणाम का मार्मिक खाँका खींचा है। ब्रिटेन की किसी ऐसी भावना से प्रेरित योजना अधिक स्पृहणीय होगी, इसकी आशा क्यों की जाय?

कुछ बौद्धिक विचारकों ने मनोविज्ञान और मानवता की दृष्टि से भी इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की है। एच० जी० वेल्स ने 'गाइड टू दी न्यू वर्ल्ड' (Guide to the New World) में दुनिया की अगली पीढ़ी की मनोवृत्ति को उदार-शिक्षा से युद्ध से पराङ्मुख करने की आवश्यकता बतलाई है। यह कोई मौलिक विचार नहीं है। गत महायुद्ध के बाद प्रसिद्ध मनोविज्ञान-विशारद 'ग्लोवर' ने भी कुछ ऐसा ही विचार प्रतिपादित किया था।

हर्बर्ट एगर, टामस मैन, लुई ममफोर्ड, हरमन ब्राख, हैस कोन प्रभृति बीस से भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विचारकों ने 'दी सिटी आव मैन—ए डिक्लैरेशन आन वर्ल्ड डिमोक्रेसी (The City of Man—A Declaration on World Democracy) नामक लेख-संग्रह में विवाद-ग्रस्त राजनैतिक योजनाओं के बदले विश्व-व्यापक सत्यों के आधार पर विश्व-शासन के संगठन के निर्माण की आवश्यकता सिद्ध की है। इसके विरुद्ध

कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनके दृष्टिकोण की उदारता की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। पर कठिनता यह है कि व्यवहार में विश्व-संगठन का कार्य राजनीतिज्ञों के हाथ में ही रहेगा और वे इतनी ऊँची सतह से विचार कर सकेंगे, यह संदिग्ध है।

नोवल पुरस्कार पानेवाली पर्ल बक ने 'अटलांटिक चार्टर' को सभी राष्ट्रों पर समान रूप से लागू करने के लिए जो आन्दोलन चलाया, यदि वह सफल हो सके, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समाधान के लिए सारा संसार व्यग्र है, वह सरलतापूर्वक हासिल हो जायगा।

'डेली हेरल्ड' के भूतपूर्व संपादक, फ्रांसिस विलियम्स 'व्हाट् आर वी फाइटिंग फार' (What are we fighting for) में, एक प्रभावशाली पत्रकार की हैसियत से, इसके पहले ही, ब्रिटेन पर अपने युद्ध-लक्ष्य को व्यापक बनाने के लिए दबाव डाल चुके थे। अमरीका में भी, एक दूसरे प्रसिद्ध पत्रकार, लूई फ़िशर, पर्ल बक के साथ ही इसी आदर्श को ध्यान में रखकर आन्दोलन कर रहे हैं।

इन्हें अपने आन्दोलन में सफलता मिले, यह कौन नहीं चाहेगा?



अहिंसा : एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

हिंसा को आत्मपीड़न-सुख का पर्याय मानने के लिए अब शायद ही कोई तैयार हो। इस विषय में इस भ्रामक धारणा का मूलोच्छेद हो चुका है; जो अब तक इससे छुटकारा न पा सके हों उन्हें गम्भीरतापूर्वक अपनी स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। महात्मा गाँधी के अंधानुयायियों के मन में भी इस भ्रम के बने रहने का कोई कारण नहीं दीखता।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने ही अहिंसा का आधान किया। इसे उनके अमौलिक, स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने में असमर्थ शिष्यों ने एक सर्वथा

विकृत रूप दे दिया। यह बड़े सन्तोष की बात है कि जनता ने स्वाभाविक रूप से अपने सामूहिक प्रयोगों के द्वारा हिंसा को पूर्णता प्रदान की है। यह एक शुभ लक्षण है कि कई बार के ऐसे प्रयोगों के परिणामों को जनता ने अब अच्छी तरह समझ कर ग्रहण कर लिया है और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि उच्च कोटि के अनेक नेताओं ने भी, जो पहले अपने विचारों तथा व्यवहार में शंकित बने रहते थे, अहिंसा के नवीन रूप को स्वीकार कर लिया है।

अहिंसा के व्यावहारिक प्रवर्त्तक के रूप में महात्मा गाँधी बुद्ध से भी बड़े हैं; उसके प्रतिपादक की हैसियत से बुद्ध से भी अधिक असफल। बहुविध प्रयोगों के बाद और महात्मा गाँधी के बावजूद, अहिंसा के विषय में अस्पष्ट भावनाएँ अब सुनियोजित हो सकी हैं। स्रष्टा निर्माणकर्त्ता भी हो यह जरूरी नहीं है; जननी सन्तान नहीं हो सकती। महात्मा गाँधी ने बीजारोपण किया। उस बीज के पौधे में जनता की अपरिष्कृत किन्तु प्रेरणा ने ही कलम लगाई है। आज जो दरख्त हमारे सामने है उसकी एक समृद्ध परम्परा है; वह महात्मा गाँधी का आकस्मिक प्रयोगमात्र नहीं रह गई।

आधुनिक भारत की दुर्द्धर्ष, विद्रोहात्मक अहिंसा बौद्ध या जैन धर्म की नई कड़ी नहीं है। जिन लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उन्हें अपने विचारों में आमूल परिवर्त्तन कर डालने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल सकते हैं। जिस अहिंसा को जनता ने कर्म की नसेनी पर पीट-पीट कर तैयार किया है, उत्साह और बलिदान की ज्वाला में तपा-तपा कर शुद्ध और लचीला बनाया है तथा अनवरत प्रयोग के जल में शीतल कर इस्पात की तरह मजबूत बना लिया है उसकी जड़ें हमारे देश की धरती में दूर तक चली गई हैं। यह अहिंसा प्रताप और शिवा से अपना सम्बन्ध जोड़ने से झिझकती नहीं। इस अहिंसा की पौराणिक परम्परा उस दीन-हीन ऋषि की कथा में पाई जाती है जिसका नाम दधीचि था और जिसने विश्व-कल्याण के निमित्त अपनी हड्डियों का दान किया था। इसके प्रागैतिहासिक चिह्न महाभारत की उस घटना में मिलते हैं जहाँ सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्रतिमूर्त्ति

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों को कौरवों के आमूल विनाश के लिए आशीर्वाद ही नहीं देते, प्रेरित ही नहीं करते प्रत्युत उनका सब तरह से पथ-प्रदर्शन भी करते हैं, क्योंकि कौरव साम्राज्यवाद के, शोषण के तथा अधिनायकवाद के प्रतिनिधि बन बैठते हैं।

ऐतिहासिक युग में आने पर ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं रह जाती जब अहिंसा कार्यरूप में परिणत की गई हो, जब अन्य के उन्मूलन के लिए सर्वभूतानुकम्पा के उपदेशक युद्ध के संचालक बन गए हों। भारतीय इतिहास के पूर्व युग में इसी आदर्श के प्रतीक हैं ब्रह्मचारी चाणक्य। उन्होंने दर्शन की पोथियों के आधार पर अहिंसा का अर्थ नहीं ग्रहण किया था; उन्होंने अहिंसा के मर्म को अपने देश के जीवित इतिहास तथा परम्परा को ध्यान में रखकर पहचाना था। उन्होंने बाध्य होकर जनता के विद्रोह का नेतृत्व किया। जिस दिन यह विद्रोह सफल हुआ उसी दिन वह संसार से पुनर्वार तटस्थ हो गये। बोलशेविक क्रान्ति के बाद 'जनता के अधिनायक' पद को अस्वीकार करते हुए लेनिन की कल्पना कर लीजिए और आपको उपर्युक्त घटना की एक ऊपरी उपमा मिल जायगी।

इसी प्रकार ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने एक बार में ही 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' अन्तिम मौर्य-सम्राट् का खात्मा किया था। राजा की प्रतिज्ञा होती है और होती थी कि वह जनता की रक्षा करेगा। मौर्य-सम्राट् इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकता था और इसके लिए उसे समुचित दण्ड मिला। लेकिन इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि पुष्यमित्र अहिंसा की भावना का निर्वाह करने में असफल रहा—इसलिए नहीं कि उसने राजा की हत्या की थी वरन् इसलिए कि जब कृतज्ञ जनता ने उसे अपना शासक मनोनीत किया तो वह इस प्रलोभन से अपने को बचा न सका और वह खुद राजा बन बैठा।

हिन्दू-धर्म के स्कंध से फूटनेवाली बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म की शाखाओं की राजनीति ने अहिंसा के विकृत नकारात्मक रूप को ही स्वीकार किया। बौद्धों और जैनियों ने विदेशी आक्रमणों तक को अहिंसा से रोकने का उपदेश दिया तथा जीव-अहिंसा के लिए हिंसात्मक दण्डों की व्यवस्था की। प्राचीन

तथा मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि विदेशी आक्रमणों का प्रतिरोध करने में भारतीयों को जो असफलता मिली उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व बौद्ध-धर्म पर ही है।

ऐसी परिस्थिति में भी राजपूतों ने एकाधिक बार असाधारण शौर्य, दृढ़ता तथा त्याग का परिचय देकर देश की रक्षा का प्रयत्न किया। उन्होंने अहिंसा की वह आग फिर से सुलगाई जो तब तक किसी को जलाती नहीं जब तक कोई उस पर फूँक मारने का दुस्साहस न कर बैठे। इस आदर्श के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं राणा प्रताप, जिनकी शक्ति उनके दुर्गों की चहार-दीवारियों तक ही नहीं सीमित थी बल्कि जो लक्ष-लक्ष भीलों के हृदय पर शासन करते थे। ये भील राणा के वेतनभोगी, पेशेवर सैनिक नहीं थे, न तो वे साधारण अर्थ में उनके अधीनस्थ ही थे। शिवाजी भी एक ऐसे ही नेता थे जिनकी शक्ति जनता की शक्ति थी। शिवाजी और राणा प्रताप के संबंध में यह आधुनिक और किमाश्चर्यमतः परम्, वामपक्षी दृष्टिकोण है। आज तक इन महापुरुषों की प्रतिकूल ऐतिहासिकों द्वारा निन्दा ही होती थी, निष्पक्ष विद्वानों के द्वारा भी उपेक्षा ही होती थी और केवल कट्टर हिन्दुओं द्वारा ही प्रशंसा होती थी। अब समय आ गया है जब इन पर स्वस्थ दृष्टि से विचार किया जाय। पर इसकी उम्मीद भारतीय इतिहास-परिषद् के विद्वानों से शायद ही की जा सकती है, जिनमें कम से कम एक विशेषज्ञ, सर यदुनाथ सरकार का यह मत है कि राणा प्रताप से कहीं महान् व्यक्ति मानसिंह थे चूँकि उन्होंने आज से इतने दिन पूर्व हिन्दू-मुस्लिम एकता के महत्त्व को समझ कर मुसलमानों से बेटी-रोटी का सम्बन्ध स्थापित करने का साहस दिखलाया था। अस्तु।

हम कह यह रहे थे कि जिस गतिशीलता के प्रतीक प्रताप और शिवा थे वह मूलतः अहिंसावादी थी। जहाँ तक शिवाजी का प्रश्न है उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के विघ्नरहित अभ्यास के लिए अनुकूल परिस्थिति की उपलब्धि के लिए उन्होंने जिन उपायों का व्यवहार किया वे सर्वांशतः इस उन्नत आदर्श के अनुरूप नहीं थे किन्तु जहाँ तक राणा प्रताप

का सम्बन्ध है उनके उपायों के विरुद्ध भी कुछ कहना असम्भव है। उनके उपायों को सिर्फ इसीलिए हिंसावादी नहीं करार दिया जा सकता चूँकि उन्होंने युद्ध किये और युद्धों में उन्होंने ऐसे शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया जिनसे शत्रु की हत्या हो सकती थी और हुई। इसके विपरीत सच बात तो यह है कि उनकी वीरता उतनी अहिंसक थी जितनी अहिंसा हो सकती है क्योंकि उसमें सर्वस्व के बलिदान की भावना निहित थी, क्योंकि उसके पीछे प्रतिशोध निहित होकर निरीह शिशुओं, स्त्रियों और कृषकों की रक्षा करने की प्रेरणा काम कर रही थी। इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें विजय के अवसर पर राणा के सिपाहियों ने प्रतिशोधमूलक शत्रु-विनाश के कार्य किए हों। यदि अहिंसा की कोई दूसरी परिभाषा भी हो सकती है तो यह कायरता हो सकती है।

अहिंसा के इसी जंग खाये हुए हथियार का पुरातत्त्वान्वेषण महात्मा गाँधी ने किया और उसे नई परिस्थितियों के अनुरूप बना कर हमारे सामने रखा। प्रयोग में आने पर, जनता के हाथों में इसकी प्रच्छन्न संभावनाओं का भी उद्घाटन हुआ और अब तो उसका रूप कुछ ऐसा हो गया है जिसका पूर्वाभास स्वयं उसके आविष्कर्त्ता को भी न मिला होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निरस्त्र भारतीय जनता इसके सिवा किसी दूसरे हथियार का उपयोग चाहने पर भी नहीं कर सकती। जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने अपने एक भाषण में कहा था, जिस देश में पशुओं से अपनी रक्षा करने के निमित्त हथियार रखने की भी मनाही है वह अणुबम के इस युग में शस्त्रास्त्रों का स्वप्न नहीं देख सकता। यह एक साधारण और सर्वविदित सिद्धान्त है कि एक सफल क्रान्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो दल शासकों को अपदस्थ करना चाहता है उसे अधिकारियों से भी अधिक शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होना चाहिए। हमारे देश की वस्तुस्थिति जैसी है उसमें हम इस बात के लिए महात्मा गाँधी के चिर-कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने हमें एक ऐसा अस्त्र दे दिया है जिसका उपयोग हम हर मौके पर और बिना सरकारी अनुमति, लाइसेंस पाए ही कर सकते हैं।

लेकिन कृतज्ञ होने पर भी जनता ने इसे आँख मूँद कर ग्रहण करने से अस्वीकार कर अपनी बुद्धिमत्ता और जागरूकता का परिचय दिया है। मनुष्य में महात्माओं के सिद्धान्त कल्याण-कर ही होते हैं किन्तु वे भी जब अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करने चलते हैं तो साँप की तरह अपनी केंचुली में ही फँस जाते हैं, अन्धभक्त, अन्धविश्वासी शिष्य तो अर्थ का अनर्थ करने के लिए प्रसिद्ध हैं ही। महात्मा गाँधी के अहिंसावाद की विवेचनाएँ और व्यावहारिक नियम भी, जैसा कि स्वयं उन्होंने या उनके शिष्यों ने प्रतिपादित किया है, सर्वथा निष्प्राण और निष्क्रिय प्रमाणित हुए हैं। अहिंसा के सिद्धान्त को शास्त्रकारों ने एक तत्वतः गतिशील शक्ति को निर्जीव गतिहीनता में परिणत कर दिया है। वे जनता को सचेत बनाने के बदले उसके पौरुष का अपहार करते हैं; वे निर्बन्ध बनाने के बदले आत्मसमर्पण करने की सीख देते हैं। यह सचमुच बड़ सन्तोष का विषय है कि जिस अतिशास्त्रीय छापवाली अहिंसा को जनता ने व्यवहार में दो-दो बार अस्वीकार कर दिया था उसे इस बार, १९४२ में, उसने सिद्धान्त रूप से भी अस्वीकार कर दिया। यह देखकर तो और भी अधिक सन्तोष होता है कि सरदार पटेल और पट्टाभि सीतारमैया जैसे अनुदार मतवाले नेताओं ने भी न्यूनाधिक रूप में इस नवीन अहिंसावाद पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी थी। आज जनता की मूक पर अडिग भावना को अभिव्यक्ति मिलने लगी है, नेहरू जैसे वामपक्षियों की घोषित किन्तु अस्वीकृत नीति को लोगों ने अपना लिया है और बोस और जयप्रकाश के कार्य सर्वथा समुचित अथवा युक्तियुक्त प्रमाणित हो गए हैं।

इस प्रान्त में, या पड़ोस में, जो कुछ भी हो रहा है हम उस पर और कुछ कहना असामयिक समझते हैं; उसकी पेंचीली अन्तर्धाराओं तथा संभावित प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि में अहिंसा का विश्लेषण असमीचीन होगा। किन्तु इन पंक्तियों के लेखक को पिछले काँग्रेस-शासन के समय की एक प्रासंगिक घटना आज भी स्मरण है जो तथाकथित सच्ची अहिंसा के खोखलापन को उदाहृत करने के लिए पर्याप्त है। पटना सायंस कालेज के मैदान में साक्षरता-आन्दोलन सम्बन्धी एक विराट् सभा शुरू होने जा रही थी। इतने में

मुख्य द्वार से अव्यवस्थित भीड़, जो स्पष्टतः मुस्लिम लीग के अनुयायियों की थी, अहाते में घुस आई। भीड़ के लोगों में काफी उत्तेजना थी और वे ऊँची आवाज में काँग्रेस विरोधी नारे बुलन्द कर रहे थे। सभा की कार्रवाई रुक गई। कुछ स्कूली लड़के तो उधर भी बढ़े जिधर औरतों के बैठने का इन्तजाम था। कोई अप्रिय घटना तो नहीं घटी लेकिन जिस खेदजनक बात को हम आज भी भूल नहीं पाते वह थी मंच पर आसीन नेताओं की किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ता और निष्क्रियता। जिन धुरंधर महारथियों के आघातों के सम्मुख अंग्रेजों की दुर्जेय शक्ति भी पनाह माँग चुकी थी उनके चेहरों पर हवाई उड़ रही थीं। इस दृश्य को देखकर किसी भी विवेकशील व्यक्ति का हृदय क्षोभ से भर जा सकता था। पीछे चल कर जब मुस्लिम लीग के एक नेता बुलाये गए तो उनकी आज्ञा से भीड़ छँट गई पर इसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

यह स्पष्ट है कि इस तरह की अहिंसा को जागरूक जनता ने निस्संदिग्ध रूप से ताक पर रख दिया है। आज अहिंसा महात्मा गाँधी की प्रयोगात्मक, दार्शनिक, व्यक्तिगत 'आन्तरिक ज्योति' नहीं रह गई, उनके शिष्यों के भाष्यों में प्रतिपादित उसका गुह्य तो जनता ने कभी स्वीकृत किया ही नहीं; आज वह प्रबुद्ध जनता का अपना अस्त्र है जो सिद्धान्त में जितना ही सरल है प्रयोग में उतना ही अमोघ।

——o——

चुनाव

चुनाव गणतंत्र की एक प्रमुख विशेषता है। लिंकन ने गणतन्त्र की परिभाषा करते हुए इसे जनता के द्वारा जनता के लिए जनता का राज कहा है। गणतन्त्र के लिए जो अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त होता है डेमोक्रेसी (Democracy) जिसका अर्थ होता है 'जनता की ताकत'। गणतन्त्र का मौलिक

सिद्धान्त ही यह है कि उसका संघटन और विघटन दोनों ही जनता के मत से हो। जनता से मतलब वयस्क जनसमूह से है। इस समूह की अभिव्यक्ति-जन्य स्वतन्त्रता की रक्षा करना गणतन्त्र का सर्वप्रथम उद्देश्य है। मतदान इसका साधन है। प्रोफेसर सीली ने गणतन्त्र की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है कि 'गणतन्त्र एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें हरेक आदमी का हिस्सा होता है।' इसलिए आवश्यक है कि गणतन्त्र में समय-समय पर निर्वाचन होता रहे और बहुमत प्राप्त व्यक्तियों द्वारा उसका शासन चले। गणतन्त्र की सफलता इसी पर निर्भर है और ऐसा न होने पर गणतन्त्र नहीं रह जाता। ब्रिटेन में जो इतने दिनों से गणतन्त्र का एक विशेष रूप कायम है तो इसीलिए कि वहाँ राज्य के संविधान को सुरक्षित रखने, और बिना खून-खराबी के शान्तिपूर्ण ढंग से अपनी इच्छा के अनुसार शासन में परिवर्त्तन करने का मौका वहाँ की जनता को कुछ वर्षों की नियत अवधि पर मिलता रहता है।

प्राचीन भारत में अनेक गणतंत्र थे, इस बात को सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। पाणिनि ने महाभाष्य में 'राष्ट्रपति' के अतिरिक्त 'गणपति' शब्द का भी व्यवहार किया है। गणपति गणतांत्रिक राज्य का प्रधान होता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गणराज्यों के दो भेद दिखाए हैं और संघ अथवा गणतन्त्र पर विस्तार से विचार किया है। कौटिल्य ने २६ गणतांत्रिक राज्यों का उल्लेख किया है जिसमें प्रमुख हैं—अंग, मगध, काशी, कोशल वृज्जि, कुरु, पांचाल, अवंती, गांधार, कंबोज, लिच्छवि और शाक्य। इस बात का प्रमाण मिलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय अनेक गणराज्य थे, जो आगे चलकर चन्द्रगुप्त के अधीन हो गए। बिहार में वैशाली का गणतन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इसमें चुनाव अथवा निर्वाचन की पद्धति थी। बाँस के पतले टुकड़ों का मत-पत्र बनाया जाता था। उन टुकड़ों को पीले रंग में में रंगकर खूबसूरत बनाया जाता था। इसे 'शलाका' कहते थे।

वर्तमानकाल में सभी गणतांत्रिक राज्यों ने सार्वजनिक बालिग मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश में

बसनेवाले सभी बालिग, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, धनी हों या दरिद्र मतदान का अधिकार पाते हैं। हाँ, दक्षिण अमेरिका और जापान में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। उम्र में थोड़ा भेद होता है; जैसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और भारत में मताधिकार की आयु २१ वर्ष, रूस, टर्की और अर्जेण्टिना में १८ वर्ष, जर्मनी और स्वीजरलैण्ड में २० वर्ष, नार्वे में २३ वर्ष, फिनलैंड में २४ वर्ष तथा जापान, स्पेन, हौलैण्ड और डेनमार्क में २५ वर्ष है। इसके साथ ही सभी देशों में पागल, भीषण अपराध के अपराधी अथवा अवैध आचारवाले व्यक्तियों को वोट देने का अधिकार नहीं होता।

मतदान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। जब मतदाता स्वयं वोट देकर अपना प्रतिनिधि चुनता है, तब प्रत्यक्ष मतदान होता है। अप्रत्यक्ष मतदान तब होता है जब सर्वप्रथम मतदाता मतदान द्वारा प्रतिनिधियों को चुनते हैं और इस प्रकार चुने गये प्रतिनिधि फिर अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दो बार चुनाव होते हैं। आरंभिक चुनाव साधारण मतदाता के वोट द्वारा होता है और अन्तिम चुनाव साधारण मतदाताओं से चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। भारत की प्रान्तिक विधायिका सभाओं (Legislative Assemblies) और इंग्लैण्ड की जन-सभा (Honse of Commons) का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (All India National Congress), अमेरिका के राष्ट्रपति, फ्रांस के सिनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष होता है।

अप्रत्यक्ष चुनाव के पक्ष में दो बातें मुख्य रूप में आती हैं। एक तो यह कि इस प्रणाली में अन्तिम और निर्णयात्मक चुनाव सुयोग्य प्रतिनिधियों द्वारा होता है, साधारण अथवा अयोग्य व्यक्तियों द्वारा नहीं। प्रत्यक्ष चुनाव की बुराई में उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने कहा था—

जम्हूरियत इक तर्जये हुकूमत है जिसमें
बन्दों को गिना करते हैं तौला नहीं करते।

तो अप्रत्यक्ष चुनाव प्रत्यक्ष चुनाव की इस बुराई को कुछ हद तक रोकता है।

दूसरी वात यह है कि निर्वाचन के विस्तृत क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन अधिक निरापद और सुविधापूर्ण होता है। इसमें बुराई यह है कि इसमें मतदाता और अन्तिम प्रतिनिधि के वीच में एक मध्यम व्यक्ति आ जाता है और इस प्रकार आरम्भिक मतदाता के मत का महत्त्व नहीं के वरावर हो जाता है।

हाल में निर्वाचन का एक नया तरीका निकला है। इसे आनुपातिक प्रतिनिधित्व (proportional representation) का तरीका कहते हैं इस सिद्धान्त का जन्म फ्रांस में १७९३ ई० में हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है, जवकि अन्य प्रणालियों में नहीं मिलता। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति में भी दो भेद हैं जिन्हें क्रमशः 'मात्र एक स्थानान्तरयोग्य मतदान की पद्धति' (the single transferable vote system) और लिस्ट-पद्धति (list system) कहते हैं। इन दोनों में पहली पद्धति अधिक प्रचलित और योग्य है। इसके अनुसार एक व्यक्ति एक उतने वोट देने का अधिकार होता है जितने उम्मीदवार खड़े होते हैं। सभी वोट एक ही कागज (मतदान-पत्र) पर लिखे जाते हैं और मतदाता अपने पसन्द के अनुसार उम्मीदवारों के नामों के सामने १, २, ३, ४...लिख देता है। यानी जिसकी वह सबसे ज्यादा पसन्द करता है उनके सामने १ लिखता है। जिसे उसके बाद पसन्द करता है उसके सामने २ लिखता है और इसी प्रकार। अव मान लीजिए कि एक निर्वाचन-मंडल में १०० मतदाता हैं। ५ प्रतिनिधि की जगहें हैं। तो $\frac{100}{5}+१$ अर्थात् जिसको २६ प्रथम (first preference) के वोट आ जायेंगे, वह चुन लिया जायगा। साधारण पद्धति के अनुसार यदि उपरोक्त १०० मतदाताओं में ५१ का गुट होता तो सभी प्रतिनिधि (यानी पाँचों) उसी के हो जाते और ४९ आदमियों के प्रतिनिधि नहीं पहुँच पाते। मगर इस नई पद्धति के अनुसार प्रत्येक २६ व्यक्ति का एक प्रतिनिधि चुन लिया जायेगा। यदि इन पाँच जगहों के लिए उम्मीदवारों की संख्या पाँच से ज्यादा हो गई तो अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधि भेजने का और ज्यादा मौका मिल जाता है।

भारत में अँग्रेजी-शासन-काल में वालिग मताधिकार सही मानी में कभी

लागू हुआ ही नहीं। १९३५ में चुनाव-सम्बन्धी कानून बना। इसके अनुसार केवल १५ प्रतिशत भारतीयों को ही मतदान का अधिकार मिल सका। कारण यह था कि १९३५ के शासन-विधान के अनुसार वे ही लोग वोट दे सकते थे जो सरकार को टैक्स देते थे या जमीन के मालिक थे या शिक्षित थे। इसके साथ ही अँग्रेजी शासन की वह निर्वाचन-पद्धति साम्प्रदायिक होने के कारण अत्यन्त खतरनाक थी। उसके अनुसार विधान-सभाओं का चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर होता था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख यानी हरेक सम्प्रदाय अलग-अलग अपने प्रतिनिधियों को चुनता था। यह अंग्रेजों का एक बड़ा भारी षड्यन्त्र था। इससे भारतीय जनता की एकता भंग होती थी, साम्प्रदायिक भेद-भाव आता था और स्वार्थभावना आती थी। किन्तु देश को इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े करने में अँग्रेज पूर्णतया सफल न हो सके और भारत स्वतन्त्र हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अपने को गणतन्त्र घोषित किया और अपना संविधान (Constitution) बनाया। इस संविधान के अनुसार भारत के प्रत्येक अधिवासी औरत-मर्द को, जिसकी उम्र २१ साल से कम न हो, मतदान का अधिकार प्राप्त है। इस संविधान के अनुसार शासन का संचालन जनता के बहुमत से होता है। इस संविधान में निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचन की उचित व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार समस्त निर्वाचनों का संचालन, चाहे वह राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति का ही क्यों न हो, एक निर्वाचन आयोग (Election Commission) द्वारा होता है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों को राष्ट्रपति, भारतीय संसद् (Indian Parliament) द्वारा इस हेतु बनाई गई विधि के अनुसार नियुक्त करते हैं। एक बार नियुक्त हो जाने पर निर्वाचन-आयुक्तों को साधारण ढंग से हटाया भी नहीं जा सकता। वे उसी हालत में और उसी ढंग से हटाये जा सकते हैं जिस हालत में और जिस रीति से उच्चतम न्यायालय (Supreme court) का न्यायाधीश हटाया जा सकता है।

स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अधिक से अधिक गैरसरकारी निरीक्षक और संचालक हों। और, बड़ी प्रसन्नता एवं संतोष की बात है कि पिछले अखिल भारतीय चुनाव में अधिक प्रेसाइडिंग आफिसर गैर-सरकारी ही थे।

स्वतन्त्र भारत का पहला सार्वजनिक चुनाव (१९५२ ई०) इस देश के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। इतने बड़े पैमाने पर और इतने विस्तृत क्षेत्र में इसके पहले कभी चुनाव नहीं हुआ था। इसमें संसद् तथा प्रान्तीय धारा सभाओं के लिए कुल ३२९३ निर्वाचन क्षेत्र (Constituencies) थे और इसमें ४४१२ प्रतिनिधि चुने गए थे। मतदान-स्थानों (Polling booths) की संख्या २२४००० थी, लगभग ५६००० प्रेसाइडिंग आफिसर थे और २८००९० सहायक थे। नये ढंग के २,३००,००० मत-पेटियाँ (Ballot Boxes) तैयार की गई थीं तथा ७००००००००० मत-पत्र (Bollot papers)। प्रान्तीय राज्यों को छोड़ कर सिर्फ केन्द्रीय सरकार को १० करोड़ रुपये खर्च करने पड़े थे। ४९६००० पुलिस कर्मचारियों को तैनात किया गया था।

इतने बड़े पैमाने पर यह चुनाव हुआ था और फिर भी इस मुस्तैदी से कि कहीं खून-खराबी नहीं हुई। शान्तिपूर्ण ढंग से सभी काम हुए। इसकी प्रशंसा संसार के सभी देशों ने की है।

साधारण मतदाताओं की जागरूकता और उत्तरदायित्व-भावना के बिना इस प्रकार का चुनाव सम्भव न था। अतः उनकी प्रशंसा भी करनी होगी। इस चुनाव की एक और विशेषता ध्यान में रखने की है। इसमें देश के अनेक नामी नेता हार गए। हारे लोगों में समाजवादी दल के जेनरल सेक्रेटरी श्री अशोक मेहता, उसी दल की सुप्रसिद्ध श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय, भारतीय सरकार के भूतपूर्व कानून-मन्त्री तथा हरिजन-फेडरेशन के नेता डा० अम्बेडकर, कृषक लोक पार्टी के प्रधान प्रो० रंगा, कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के प्रधान श्री कृपालानी, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के प्रधान श्री खरे, रामराज्य परिषद् की सभानेत्री श्रीमती प्रभावती राजे, भारत सरकार के

रेलवे-मन्त्री श्री सन्थानम, फारवर्ड ब्लाक के नेता श्री कामथ, ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रधान श्री खान्डूभाई देसाई, विहार के भूतपूर्व मंत्री श्री विनोदानंद झा तथा श्री अंसारी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन हारों के आधार पर कहा जाता है कि अभी तक भारत के मतदाताओं में व्यक्ति को पहचानने का मादा नहीं आया है। वे पार्टियों को वोट देते हैं और प्रचार एवं नारों से प्रभावित होकर वोट देते हैं। पार्टियों को वोट देने की बात तो अन्य शिक्षित देशों में भी समानरूप से लागू हो सकती है। फिर इन आक्षेपों के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। हमें तो इस बात का संतोष ही नहीं वरन् गौरव होना चाहिए कि इतनी कम शिक्षावाले, तथा विदेशी हुकूमत द्वारा सम्प्रदायों एवं खंडों में विभक्त देश में इतनी शान्ति एवं इत्मीनान से इतना बड़ा चुनाव हो गया।

पाँच वर्षों के बाद दूसरा सार्वजनिक चुनाव १९५७ ई० में हुआ और जैसी आशा थी, यह चुनाव पहले चुनाव से भी अधिक सफल रहा।

——o——

स्वतन्त्र भारत के नवनिर्माण का प्रश्न

सदियों की गुलामी और शोषण से जर्जर होने के बाद अब हमारा देश स्वतन्त्र है। पिछले कई सौ वर्षों से भारत का विनाश इतना अधिक हो चुका है कि इसका नवनिर्माण सचमुच में एक महान कार्य है।

क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या राजनीतिक सभी दृष्टियों से भारत एक पिछड़ा देश है। सैकड़ों वर्षों से सामाजिक परिवर्तन न होने के कारण हमारा समाज जकड़ गया है। इतिहास की ओर नजर दौड़ाने पर यह पता चलेगा कि १५ वीं सदी के बाद भारत में आमूल सामाजिक परिवर्तन हुआ ही नहीं। उस सदी के अन्त में सामाजिक उथल-पुथल मचा था और सामंत-

शाहीं के अन्त के आसार नजर आने लगे थे पर वैसा हुआ नहीं। बाद को तो सामन्तशाही की नींव इतनी मजबूत हुई कि वह हाल-हाल तक कायम रही और उसका अवशेष तो अब भी बाकी है। लेकिन इस दौरान में बाकी दुनिया बहुत आगे निकल गयी। अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई और नये समाज का निर्माण हुआ। उत्पादन के नये वैज्ञानिक साधनों के जरिए दुनिया का नक्शा ही बदल गया। न केवल आर्थिक जगत में आमूल परिवर्त्तन आया बल्कि बौद्धिक, मानसिक जगत में भी क्रान्ति हुई। पुरातन रूढ़ियों और ग्रन्थियों का खात्मा हुआ, अन्धविश्वास और अन्धभक्ति की जगह पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार होने लगा। कितने प्राचीन मूल्यों की जगह नये मूल्य स्थापित हुए। उदाहरणार्थ, जन-साधारण को सत्ता का हकदार माना जाने लगा। इस प्रकार जनतंत्र की भावना का उदय हुआ। और सभी प्रकार के सामन्तवादी उत्पीड़न का अन्त हुआ। यह था दुनिया का नक्शा। इसके विपरीत भारत में सामन्तशाही ही बनी रही। न तो औद्योगिक क्रान्ति हुई, न पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कायम हुई और न जनतन्त्र का उदय हुआ। स्वभावतः सामाजिक और बौद्धिक स्तर पर हम पुरातन रूढ़ियों, धारणाओं, गुत्थियों और मूल्यों से ही जकड़े रहे। आर्थिक स्तर पर भी हमारी तरक्की न हुई।

लेकिन अंग्रेजों के आगमन से नई परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। एक तरफ अंग्रेजों ने नई दुनिया से हमें अवगत किया, यातायात के साधनों द्वारा नई दुनिया से सम्बद्ध किया, अंग्रेजी शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की भावना उत्पन्न की, दूसरी ओर हमारा बेहद आर्थिक शोषण शुरू हुआ। औपनिवेशिक पूँजीवादी नीति के नियमों के अनुसार उन्होंने भारत को कच्चा माल देनेवाली मंडी और अपने पक्के मालों का बाजार बनाया। इस तरह हमारी दौलत विदेश जाने लगी। इतना ही नहीं, विदेशी सरकार होने के कारण सर्विस, फौज, आदि के मद में भी दौलत का एक बड़ा हिस्सा विदेश जाने लगा। इस तरह साम्राज्यवादी शोषण के कारण भारत क्रमशः गरीब होता गया और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर हमारी दरिद्रता चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। लेकिन साम्राज्यवादी शोषण के बावजूद अंग्रेजों को कुछ

उद्योग-धन्धे यहाँ खोलने पड़े। बाद को भारतीय व्यापारियों में से भी कुछ ने उद्योग-धन्धे खोले। और इस तरह पूँजीवादी औद्योगीकरण का आरम्भ हुआ, यद्यपि अंग्रेज नहीं चाहते थे कि भारत का औद्योगीकरण हो। यही कारण है कि पिछले १०० वर्ष के अन्दर देश का जितना औद्योगीकरण होना चाहिए था उतना नहीं हो सका। इस प्रकार हम उद्योगों की दृष्टि से पिछड़े ही रहे।

भारत की पूरी अर्थ-व्यवस्था पर विचार करने पर ही आर्थिक समस्याओं का बोध होता है। सबसे पहले हमारी कृषि-समस्या आती है। कृषि-व्यवस्था और कृषि की पद्धति में कोई परिवर्तन पिछले कितनी ही सदियों से नहीं हुआ। इसलिए कृषि की पैदावार क्रमशः गिरती गयी। आज भारत की फी एकड़ पैदावार अन्य विकसित देशों की पैदावार के मुकाबले में बहुत कम है। दूसरे शब्दों में, हमारी धरती की उत्पादकता बहुत कम है और दोषपूर्ण काश्तकारी कानून तथा परम्परागत उत्तराधिकार-कानून के कारण प्रतिदिन अलाभकर जोतें ही बढ़ रही हैं जिससे कृषि की उत्पादकता और भी घट रही है। तीसरे कृषि पर लगभग ९० फी सदी आबादी निर्भर है। परिणामतः कृषि पर निर्भर लोगों की बहुत भारी संख्या साल में करीब ६ महीने तक बेकार रहती है। कृषि पर यह अत्यधिक बोझ हमारी एक महान कठिन समस्या है। चौथे, व्यक्तिवादी कृषिपद्धति के कारण कृषि को उन्नत करने के लिए सैकड़ों वर्षों से कोई विशेष पूँजी नहीं लग रही है जिसका परिणाम होता है उत्पादन-क्षमता का क्रमशः ह्रास। पाँचवें, वर्षा पर ही हमारी कृषि निर्भर है। सिंचाई की समुचित व्यवस्था नहीं रहने के कारण फसलों के खराब होने की कहानी हमारे लिए आम कहानी हो गई है। भारत के किसी न किसी भाग की जनता प्रायः हर साल प्राकृतिक प्रकोप का शिकार होती है। अन्त में आबादी की बढ़ती रफ्तार के अनुपात में नई जमीनें आबाद नहीं हुई। इस असन्तुलन और वैषम्य ने भी समस्या को बहुत जटिल बना दिया है। संक्षेप में कृषि की ये कुछ समस्यायें हैं। स्मरण रहे, हमारी आबादी की ९० फी सदी संख्या कृषि पर ही निर्भर है। हमारा देश कृषि-प्रधान देश है।

कृषि की उन्नति पर ही अन्य समस्या का समाधान और सामाजिक ढांचे की पुनर्व्यवस्था निर्भर करती है। कृषि भारत के आर्थिक जीवन का वह आधार है जिसकी प्रगति पर ही भारत की प्रगति आश्रित है। इसलिए भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सबसे पहले कृषि का पुनर्निर्माण करना होगा।

सदियों से जकड़ी व्यवस्था के नवनिर्माण के लिए आमूल परिवर्तन आवश्यक है। हमारे गाँव आज सतत अन्धकार और निराशा में पड़े हैं। आशा की लौ जलाने के लिए सबसे पहले गाँववालों में नया उत्साह, नई प्रेरणा, नई आशा भरनी होगी और उसका एक मात्र उपाय है कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना। दूसरे शब्दों में, भूमि का पुनर्वितरण करना। इस पुनर्वितरण से भूमि की भूख से पीड़ित बहुसंख्यक ग्रामीण जनता में नवजीवन की लहर उठेगी और वह चौगुनी मेहनत से निर्माण में लग पड़ेगी, फिर, काश्तकारी कानून में उचित परिवर्तन कर, अलाभकर जोतों की जगह लाभकर जोतों की व्यवस्था कर और ग्राम-सहयोग-समितियों के जरिये समुचित पूँजी इकट्ठी कर कृषि को उन्नति के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। जहाँ तक सिंचाई का प्रश्न है, उसके लिए जहाँ कुछेक बड़ी नदी-घाटी योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं, वहाँ नये बाँध, नहर, तालाब, कुओं तथा ट्यूब वेल, गरज यह कि छोटी सिंचाई-योजनाओं द्वारा पानी का अभाव दूर किया जा सकता है।

कृषि के पुनर्निर्माण के ये ही कुछ रास्ते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त कार्य कहाँ तक वर्तमान अवस्था में व्यावहारिक हैं। मेरे विचारानुसार उक्त सभी कार्य व्यावहारिक हैं। यह ठीक है कि भारतीय किसान अपनी जमीन को जान से बढ़कर प्यार करता है, उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना बहुत जबर्दस्त है। इसीलिए तो हमने सिर्फ भूमि के पुनर्वितरण और सहयोगी कृषि-औचित्य पर जोर दिया है। सामूहिक कृषि को हम वर्तमान अवस्था में अव्यावहारिक और हानिकारक समझते हैं। हानिकर इस अर्थ में कि अगर राज्य की ताकत का भय दिखाकर सामूहिक कृषि चलाई गयी तो

अन्ततः जनतन्त्र की हत्या होगी और जिस समाज की उद्भावना होगी वह हमारे आदर्श समाज से बिलकुल भिन्न होगा।

फिर कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार को लाभकर जोत के लायक जमीन देने पर तो अनेक व्यक्ति बच जायेंगे, उनका क्या होगा। उनके लिए दो उपाय किये जा सकते हैं। एक, नई जमीन तोड़ कर उसे आबाद किया जा सकता है। अपने देश में करोड़ों एकड़ परती जमीन पड़ी है। अगर उसमें कुछ करोड़ जमीन भी अगले कुछ वर्षों के अन्दर तोड़ी गई तो करोड़ों व्यक्तियों को जमीन देना सम्भव होगा। दूसरा रास्ता है, कृषि से काफी लोगों को हटा कर उद्योगों में लगाना। अब हम भारत के औद्योगीकरण की समस्या पर आते हैं।

पहले ही बताया जा चुका है कि अपना देश उद्योग-धन्धों की दृष्टि से बहुत पिछड़ा है। १०० वर्ष के औद्योगीकरण के बाद भी हम आज तक सिर्फ ३० लाख लोगों को ही काम दे सके हैं। यह बहुत चिन्ताजनक रेकार्ड है। स्पष्ट है कि अगर हम कृषि के बोझ को कम करना चाहते हैं, बेकारी की समस्या का समाधान करना चाहते हैं तो अनेक नये उद्योग-धन्धे खोलने होंगे। भारत में जो भी औद्योगीकरण होगा उसका पहला लक्ष्य यही होगा। दूसरा लाभ होगा देश का दौलत बढ़ाना और इस प्रकार रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना। इन्हीं दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हम औद्योगीकरण की समस्या पर विचार करेंगे।

आज दुनिया में बड़े पैमाने पर चलाये जानेवाले उद्योग-धन्धों का बोलवाला है। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस प्रकार के औद्योगीकरण के गुण-दोषों तथा कठिनाइयों को हमें परख कर ही कुछ निश्चय करना चाहिये। जहाँ तक लाभों की बात है, हम यह कहेंगे कि इस प्रकार की उत्पादन-प्रणाली से उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ती है, समय की बचत होती है, मानव-श्रम की बचत होती है, लागत कम पड़ती है, चीजों की किस्म अच्छी होती है, चीजें प्रचुर परिमाण में तैयार की जा सकती हैं और इस तरह देश की दौलत तेजी से बढ़ सकती है। दोष यह है कि भारत जैसे

देश का प्रचुर मानव-श्रम वेकार रह जाता है, भारी मशीनें पैदावार बढ़ा सकती हैं पर वेकारी दूर नहीं कर सकती हैं। चीजों का दाम कम हो या ज्यादा ,अगर उसके खरीदार ही कम होंगे तो उससे क्या लाभ ? दूसरा बड़ा दोष यह है कि भ.री उद्योगों के आधार पर जहाँ आर्थिक निर्माण होता है वहाँ केन्द्रीयकरण (रेजिमेन्टेशन) और स्वतन्त्रता की हत्या अनिवार्य हो जाती है। खास तौर पर जो देश पिछड़ा है, वहाँ जब व्यापक तौर पर भारी मशीनों के आधार पर औद्योगीकरण होने लगता है तो वहाँ केन्द्रीयकरण और जनतन्त्र का लोप अवश्यम्भावी है। आधुनिक इतिहास में रूस इस वात का ज्वलन्त उदाहरण है। अगर ब्रिटेन और अमेरिका में ऐसा नहीं हुआ तो इसका कारण यह है कि ये देश पिछड़े नहीं थे। दुनिया में औद्योगीकरण सबसे पहले ब्रिटेन में हुआ। उसकी आर्थिक व्यवस्था पिछड़ी नहीं थी जैसी रूस की १९२० में, या भारत की आज है। औद्योगीकरण की प्रणाली को भी देश काल के आधार पर तय करना होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत की जो आवश्यकता और अवस्था है उनको देखते हुए यहाँ भारी मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर नये उद्योग-धन्धे खोलकर भारत का तत्काल औद्योगीकरण कदापि उचित नहीं होगा। जब हम ऐसे उद्योगों के लिए आवश्यक पूँजी पर विचार करेंगे तब हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि ऐसे औद्योगीकरण अनुचित ही नहीं असम्भव भी हैं। अगर देश में अधिक-से-अधिक पूँजी संग्रह हो तब भी भारी मशीनों की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती है। तब प्रश्न उठता है, क्या भारत का औद्योगीकरण संभव नहीं है ?

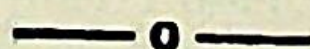
यह संभव तो है पर औद्योगीकरण की नवीन प्रणाली द्वारा ही। छोटी मशीनें ही हमारी आवश्यकता को पूरी कर सकती हैं और हम उसके लिए समर्थ भी हैं। सारे देश में प्रत्येक जिला में छोटी मशीनों वाले उद्योगों की स्थापना कर हम न केवल लाखों, करोड़ों बेकार लोगों को नौकरी देने की व्यवस्था करेंगे बल्कि हम नई उत्पादन-प्रणाली का श्रीगणेश भी करेंगे। इस प्रणाली के सामाजिक परिणाम पर हम पीछे विचार करेंगे। यहाँ इसके आर्थिक पहलू पर ही विचार किया जायगा। बताया जा चुका है कि यह बेकारी की

समस्या का इलाज है। इसके लिए साधारण पूँजी की आवश्यकता होगी जिसके लिए हम समर्थ हैं। भारत के औद्योगीकरण का यही एक मात्र उचित और संभव रास्ता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि बड़े उद्योग-धन्धे बिलकुल खुलेंगे ही नहीं। कुछ बड़े उद्योग तो अनिवार्य रूप से रहेंगे पर वे भारत के औद्योगीकरण के एक स्तम्भ होंगे, मूलस्तम्भ नहीं। मूल स्तम्भ तो छोटी मशीन ही होगी।

आर्थिक पुर्ननिर्माण कर अगर हम यह समझ लें कि देश का सामाजिक, नैतिक निर्माण स्वयंमेव हो जायगा तो यह गलत धारणा होगी। इस क्षेत्र में भी अभी से नवनिर्माण के कार्य करने होंगे। आज हमारा समाज भ्रष्टाचार से ग्रस्त है। नैतिक मूल्यों का पूर्ण ह्रास हो चुका है। रूढ़ि और परम्परा के बोझ से हम कराह रहे हैं, जाति-व्यवस्था इसका प्रमाण है। अतः इस क्षेत्र में नवनिर्माण का पहला कदम होगा जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था का अन्त। खुशी की बात है कि भारतीय संविधान ने छुआछूत का अन्त कर दिया है पर उसे कार्यान्वित करने के लिए गाँवों में व्यापक आन्दोलन चलाना होगा। "नेति नेति" पर आधारित नीतिशास्त्र ने व्यक्ति को अनैतिक ही बनाया है और आधुनिक मनोविज्ञान ने यह साबित कर दिया है कि दमन (repression, suppression) और निराशा व्यक्ति को कुंठित ही करती है। मुक्त और सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अच्छे भोजन, सेक्स-सन्तोष और अच्छे घर की व्यवस्था करनी होगी। स्पष्ट है कि सामाजिक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था का अन्त करना होगा, व्यक्तित्व को कुंठित करनेवाली परम्परा का नाश करना होगा और उसकी जगह सुन्दरता, समता, स्वतन्त्रता और सहानुभूति जैसे मानव मूल्यों के आधार पर नये इन्सान को गढ़ने की क्रिया आरम्भ करनी होगी।

ऊपर जिस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की चर्चा की गयी है उसके द्वारा सिर्फ अपने-अपने क्षेत्र की समस्याओं का ही समाधान नहीं होता है बल्कि वह जनतांत्रिक समाज की ठोस नींव प्रस्तुत करती है। नवनिर्माण एक अस्पष्ट शब्द है। गरीबी दूर करना, सबको खुशहाल बनाना, लेकिन नैतिक

मूल्य का न रहना, यह भी नवनिर्माण हुआ। और एक ऐसे जनतान्त्रिक समाज की उद्भावना करना जिसमें सभी सुखी हों, जिसमें स्वतन्त्रता और समता जैसे नैतिक मूल्यों की स्थापना हो, जिसमें मानव-मानव के बीच वास्तविक भाई-चारे और ममता का सम्बन्ध हो, यह भी नवनिर्माण हुआ। हम दूसरे प्रकार के नवनिर्माण को वास्तविक निर्माण समझते हैं। प्रश्न आज सिर्फ रोटी का नहीं, बल्कि आजादी का भी है क्योंकि, रोटी मिले पर व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता नहीं तो रोटी बेमानी होती है। इसलिए रोटी और पूर्ण सामाजिक, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, हमारे निर्माण का लक्ष्य होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति विकेन्द्रीय आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था द्वारा संभव है। यही जनतांत्रिक समाज की राह है। हमारे नव-निर्माण योजना की यही दिशा है।



भारत का राष्ट्रीय झंडा

प्रत्येक देश का अपना इतिहास होता है—उसके विकास और वृद्धि का। प्रत्येक देश का इतिहास अलग-अलग होता है। यह इतिहास देश की विशेष खूबियों को संसार के सामने लाता है।

राष्ट्रीय झंडा देश-विशेष की वृद्धि और विकास का प्रतीक है। इसलिए हर देश का अपना अलग-अलग झंडा भी होना चाहिए। और है भी। इस झंडे की रक्षा के लिए उस देश के निवासियों के प्राण तक न्यौछावर होते हैं।

इधर शताब्दियों से भारत का अपना झंडा नहीं था, क्योंकि अंग्रेजों ने उसे पराधीन कर उसे अपना झंडा—'यूनिअन जैक'—स्वीकार करने के लिए विवश किया था।

देश में राष्ट्रीय चेतना जगने के बाद हमें अपने झंडे की याद आई। अन्य देशों में वहाँ के झंडे की सम्मान रक्षा में जो त्याग और बलिदान किए

गए हैं, उसकी शान की कीमत दी गई है, उसकी कहानी पढ़-पढ़ कर हमारे हृदय में भी अपने झंडे की कामना उत्पन्न हुई।

जैसे-जैसे यह चेतना उग्रतर होती गई, हमारी कामना तीव्रतर होने लगी, और अन्त में एक दिन हममें से किसी ने अपने राष्ट्रीय झंडे की कल्पना कर डाली। मालूम होता है कि सबसे पहले राष्ट्रीय झंडे की कल्पना भारत के क्रान्तिकारियों के मस्तिष्क में विदेशों में उपजी। सावरकर और श्यामजी कृष्ण वर्मा, हरदयाल और रासविहारी वोस आदि ने ब्रिटेन और जर्मनी में इस झंडे का उपयोग किया था। उस समय इस झंडे का रूप दूसरा था। इसमें लाल, हरा, और उजला तीन रंगों का समावेश था और इनके बीच में उगते सूरज और चाँद के चित्र थे, जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों का प्रतिनिधित्व करते थे। इसी झंडा का आतंकवादियों ने वंग-भंग आन्दोलन तक व्यवहार किया। किन्तु काँग्रेस ने उसे स्वीकार नहीं किया था।

काँग्रेस में आरम्भ में 'यूनियन जैक' ही फहराया जाता रहा। काँग्रेस के उस समय के झंडे में सफेद जमीन पर पाँच लाल एवं चार हरी धारियाँ थीं, और एक कोने में 'यूनियन जैक' वना हुआ था।

तिरंगे की ओर लोगों का ध्यान सबसे अधिक नागपुर के झंडा-सत्याग्रह ने आकर्षित किया था, जो 'सेनापति' आवारी के नेतृत्व में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। यह सन् १९३० की बात है। इस सत्याग्रह ने झंडे का स्वरूप उन लोगों के मस्तिष्क में स्थिर कर दिया, जिन्होंने यह पढ़ा और सुना कि इसी झंडे की सम्मान-रक्षा के लिए रोज सैकड़ों आदमी पुलिस के डंडे खाते, सिर फुड़वाते एवं जेल जाते रहे थे।

सन् १९३१ में, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा, इस झंडे की स्वीकृति दी और उसके बाद राष्ट्रीय समारोहों पर यही झंडा राष्ट्रीय झंडे के रूप में व्यवहृत होता रहा। उस समय से अब तक यही झंडा थोड़े-बहुत परिवर्त्तनों के साथ, देश को स्वीकार रहा है।

इस झंडे का काँग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में फहराया जाना नियम-सा हो गया। हर स्वतन्त्रता-दिवस पर इस झंडे की सामूहिक सलामी कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग हो गया और तिरंगे का भी अपना इतिहास बनाना प्रारम्भ हुआ। इस झंडे को देख कर ब्रिटिश अधिकारी वैसे ही भड़कते जैसे लाल वस्त्र देख कर भैंस भड़कती है। इस झंडे के लिए बलिदान और त्याग की गौरवपूर्ण कहानी है। इसी झंडे के साथ काँग्रेस ने भिन्न-भिन्न समयों पर के सत्याग्रह चलाए, इसी झंडे के नीचे १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन छिड़ा, अगस्त-क्रान्ति हुई और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने के प्रयत्न में सेना संगठित कर 'आजाद हिन्द-सरकार' की स्थापना की। तब से यही झंडा देश के अधिकांश जन-समुदाय को राष्ट्रीय झंडे के रूप में मान्य रहा है।

जब अँग्रेजों ने भारत छोड़ कर चले जाने की घोषणा की तब विधान-परिषद की स्थापना हुई, जिसे भारत के लिए एक विधान बनाने का भार सौंपा गया। इस परिषद् ने राष्ट्र के लिए एक झंडे को निर्धारित करने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए एक समिति बनाई गई। समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसी के आधार पर, २२ जुलाई, १९४७ को, अन्त:कालीन सरकार के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विधान-परिषद् के सामने नया राष्ट्रीय झंडा पेश किया। झंडा पेश करते हुए नेहरूजी ने कहा कि यह झंडा तो व्यवहार और मान्यता के कारण पहले से ही राष्ट्रीय झंडे का स्थान प्राप्त कर चुका है, पर आज हम उसे सविधि स्वीकृति देने जा रहे हैं।

नवीन झंडे में परिवर्तन यह किया गया कि चर्खा के स्थान पर चक्र अंकित किया गया। इस परिवर्त्तन का कारण यह बताया गया है कि चर्खे के चित्रांकन से झंडे के दोनों ओर उसके उल्टा-सीधा होने का सवाल उठ खड़ा होता था जो अशोभन था। चक्र रखने के कारण वह दूर हो गया है।

भारत के इस राष्ट्रीय झंडा की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् ने विधान-परिषद् में स्मरणीय भाषण किया था। उनके विवेचन का सारांश प्रस्तुत है:—

यह झंडा अतीत और वर्तमान की संधि है। हमारी स्वतन्त्रता के उन निर्माताओं द्वारा छोड़ी हुई पैतृक संपत्ति है जो इस झंडे के नीचे लड़े और जो भारत की स्वतन्त्रता के इस महान् दिवस को लाने के भागी हैं।

आज संसार मिथ्या-भ्रम, शंका और विश्वास से भरा हुआ है। इन संकट के दिनों में यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम किस झंडे के नीचे लड़ें। यहाँ हम ठीक केन्द्र में श्वेत सूर्य की किरणों के श्वेत रंग की पट्टी रख रहे हैं। श्वेत का अभिप्राय प्रकाश के मार्ग से है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अन्धकार के बादलों को हटाएँ और उस आदर्श-प्रकाश के द्वारा अपने आचरण को नियंत्रण करें जो सत्य का, पारदर्शी साधुता का प्रकाश है और जो कि श्वेत रंग के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

जब तक हम सत्यपथ पर नहीं चलेंगे, हम न तो पवित्रता प्राप्त कर सकते हैं, न अपने अन्य उद्देश्यों को। अशोक का चक्र हमारे लिए न्याय का चक्र है, धर्म का चक्र है। सत्य केवल धर्म-पथ के अनुसरण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सका है। जो इस झंडे के नीचे कार्य करें उनका अटल सिद्धान्त सत्य होना चाहिए। यह चक्र हमको यह भी बतलाता है कि धर्म वह वस्तु है जो सदैव गतिमान है।

हमें सदैव इतनी चुनौतियाँ दी गईं कि यदि हममें समयानुकूल चलने का बल और साहस न होता तो हम पीछे रह जाते। जाति और अस्पृश्यता का आधार लेकर अनेकों संस्थाएँ बन गई हैं। जब तक इनको दूर नहीं किया जाता, हम नहीं कह सकते कि हम सत्य या धर्म प्राप्त कर लेंगे। यह चक्र जो गतिमान है, जो सदैव घूमनेवाली वस्तु है, यह सूचित करता है कि स्थिरता में मृत्यु, है जीवन गति में है। हमारा धर्म सनातन है। इसका यह आशय नहीं कि वह स्थिर है, बल्कि आशय यह है कि वह सदैव परिवर्तन-शील है। उसकी निर्बाध अविच्छिन्नता ही उसका सनातन लक्षण है। इस कारण हमारी सामाजिक दशाओं को विचारते हुए भी यह आवश्यक है कि हम आगे बढ़ें।

नारंगी और भगवा रंग त्याग की भावना प्रदर्शित करते हैं। कहा गया है कि 'सर्वे त्यागाः राजधर्मेषु दृष्टाः', अर्थात् त्याग के समस्त रूप राज-धर्म के अन्तर्गत हैं। हमारे नेताओं को निष्पक्ष होना चाहिए, उनको कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। वे ऐसे व्यक्ति हों जिनमें त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी हो, वैसे त्याग की, जो हमारे इतिहास के आरम्भ-काल से ही इस केसरिया रंग ने हममें भरा है। यह इस सत्य को सिद्ध करता है कि संसार धनाढ्यों का नहीं, सम्पन्न व्यक्तियों का नहीं, बल्कि दीन-हीन, कर्त्तव्य-परायण और विरागी जनों का है। वैराग्य और त्याग की वह भावना नारंगी या केसरिया रंग से प्रदर्शित की गई है, और महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में हमारे लिए उसका समावेश किया है। यदि कठिन समय में हममें त्याग की भावना नहीं रहती, तो हमारा पतन ही होता चला जाता।

हरा रंग भूमि से हमारा सम्बन्ध, यहाँ के वनस्पति-जीवन से हमारा सम्बन्ध प्रकट करता है, जिस पर प्राणि मात्र निर्भर हैं। हमें इसी हरित भूमि पर यहीं अपना स्वर्ग बनाना चाहिए। यदि हमें प्रयत्नों में सफल होना है, तो हमें सत्य (श्वेत) का अनुसरण करना चाहिए, धर्म (चक्र) का पालन करना चाहिए और आत्मनियन्त्रण तथा त्याग (केसरिया) की नीति ग्रहण करनी चाहिए। यह झंडा हमें आदेश देता है कि सदैव तत्पर रहो, सदैव प्रगति करते रहो, आगे बढ़ो, और ऐसे स्वतन्त्र, परिवर्तनशील, दयालु, सभ्य और प्रजातन्त्रात्मक समाज की स्थापना करने का प्रयत्न करो, जिसमें ईसाई, सिक्ख, मुसलमान, हिन्दू और बौद्ध सभी शरण पा सकें। यही है संसार-प्रसिद्ध दार्शनिक और अब भारत के उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन की भारतीय झंडे की मीमांसा।

इस झंडे ने समस्त एशिया को आशा और आश्वासन का संदेश दिया है। इसने संसार के सारे देशों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया एवं शोषकों और साम्राज्यवादियों को चुनौती दी है। देश का कर्त्तव्य है कि वह इस झंडे को कभी झुकने न दे।

स्वतंत्र भारत का संविधान

स्वतन्त्र भारत का संविधान जनवरी २६, १९५० को लागू हुआ। यह संसार के लिखित संविधानों में सबसे बड़ा है। इसमें अमरीका की राष्ट्रपति-प्रणाली और इङ्गलैण्ड की लोक-सभा-पद्धति (Parliamentary system) का अभिनव समन्वय पाया जाता है। लोक-सभात्मक (Parliamentary) और धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र (Democracy) पर आधारित यह संविधान एक सवल केन्द्र से युक्त है और स्वरूप में संघीय (Federal) है।

संविधान के आधारभूत प्रारम्भिक अंश में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि भारत एक प्रभुतासम्पन्न (Sovereign) गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र होगा और उसमें सामाजिक और आर्थिक न्याय; विचार अभिव्यक्ति (Expression), विश्वास (belief) धर्म (faith) और उपासना (worship) की स्वतन्त्रता; पद और सुविधा की समानता; तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता को वनाए रखनेवाले भ्रातृत्व की व्यवस्था होगी।

संविधान में इसकी भी व्यवस्था है कि भारत अनेक राज्यों का संघ होगा। राज्यों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे यथासंभव व्यावहारिक रूप में एक सामाजिक संघटन को स्थापित और सुरक्षित वना कर सर्वसाधारण के कल्याण के लिये प्रयास करेंगे। इस सामाजिक संघटन में (क) प्रत्येक नागरिक, वह पुरुष हो या स्त्री, आजीविका के पर्याप्त साधनों का हकदार होगा, (ख) समाज के भौतिक साधनों का अधिकार और नियन्त्रण इस प्रकार वितरित होगा कि सबका कल्याण सर्वोत्तम रूप से हो सके, (ग) आर्थिक व्यवस्था का कार्यान्वयन इस तरह न हो कि संपत्ति कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाए, और (घ) पुरुषों और स्त्रियों को समान वेतन मिले।

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों का सात शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया गया है, उदाहरणार्थ (१) समानता का अधिकार; (२) विशेष प्रकार की स्वतन्त्रता का अधिकार; जैसे (क) वाणी और अभिव्यक्ति,

(ख) जन-सम्मेलन (Assembly), (ग) सम्पर्क (Association), (घ) आवागमन (Movement), (ङ) निवास और स्थिति (Settlement) (च) संपत्ति, (छ) वृत्ति (Profession), कार्य और व्यापार; (ज) शोषण के विरुद्ध अधिकार; (झ) धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार; (५) सांस्कृतिक अधिकार; (६) संपत्ति का अधिकार; और (७) वैधानिक उपायों का अधिकार। धर्म, जाति या पुरुष या स्त्री होने मात्र से किसी नागरिक के दूकानों और सार्वजनिक भोजनालयों इत्यादि में प्रवेश करने और सार्वजनिक कुँओं, तालावों और सड़कों के उपयोग पर वंधन नहीं लगाया जाएगा। यदि सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य की क्षति न होती हो तो सभी व्यक्तियों को अपनी भावनाओं के लिए स्वतन्त्रता होगी।

भारत-संघ के अध्यक्ष राष्ट्रपति के नाम से अभिहित किए गए हैं। राष्ट्रपति का चुनाव लोक-सभा, राज्य-सभा तथा विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा होगा। राष्ट्रपति में सभी कार्यकारिणी (Executive) शक्ति निहित रहेगी, जिसका व्यवहार वे लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह के अनुसार करेंगे। वे पाँच वर्षों तक राष्ट्रपति पद पर रह सकते हैं और उनका केवल एक बार ही पुर्ननिर्वाचन हो सकता है। यदि वे संविधान के विरुद्ध कार्य करते हैं तो इसका अभियोग लगा कर ही उन्हें उनके पद से हटाया जा सकता है। मंत्रिगण लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे, इसकी निश्चित व्यवस्था संविधान में है। मन्त्री सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे, किन्तु पृथक्-पृथक् मंत्रियों को पदच्युत करने का अधिकार राष्ट्रपति को रहेगा। राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को नियुक्त करेंगे, और दूसरे मंत्रियों को राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की सलाह से नियुक्त करेंगे। विधान मंडल राष्ट्रपति तथा दो सदनों (Houses) से निर्मित होगा। ये दो सदन राज्य-सभा और लोक-सभा कहलाएँगी। पहली में २५० सदस्य रहेंगे और दूसरी में राज्यों के ५०० से अधिक प्रतिनिधि नहीं रहेंगे। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव पाँच वर्षों के लिए, बालिग मताधिकार के आधार पर होगा।

संविधान में भारत के सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था है। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात अन्य न्यायाधीश रहेंगे। इनकी संख्या लोक-सभा ही बढ़ा सकती है। इस न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से राष्ट्रपति करेंगे।

प्रत्येक राज्य के प्रमुख होंगे राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त राज्यपाल। इन राज्यों में एक या दो संसदों की विधान-सभाएँ होंगी। विधान-परिषद् या प्रवर सदन (Upper house) में अवर सदन (Lower house) की कुल सदस्य संख्या के पच्चीस प्रतिशत से अधिक सदस्य नहीं होंगे। किसी राज्य की विधान-सभा में ५०० से अधिक और ६० से कम सदस्य नहीं होंगे। ७५००० जनसंख्या पर एक सदस्य बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होगा। विधान-सभा की अवधि पाँच वर्ष होगी। प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होगा जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश और उतने अन्य न्यायाधीश होंगे जितने की आवश्यकता राष्ट्रपति समझेंगे। सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होगी। राज्यों पर केन्द्र का नियंत्रण विस्तृत और व्यापक है।

देश ने अपने नवीन संविधान का प्रायः एक स्वर से स्वागत किया है, क्योंकि इससे उत्कृष्ट संविधान का, वर्त्तमान परिस्थिति में, निर्माण संभव नहीं था। संविधान के कार्यान्वयन के सिलसिले में कई कठिनाइयाँ सामने आई हैं जिनके समाधान के लिए संविधान में कुछ सुधार किए जा चुके और कुछ किए जानेवाले हैं।

संविधान चाहे जितना भी अच्छा हो, उसकी सफलता उसकी शब्दावली पर नहीं, प्रत्युत् उस भावना पर अवलम्बित है जिससे वह कार्यान्वित की जाती है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने संविधान को इस प्रकार कार्य-रूप में परिणत करें कि उससे अधिकाधिक कल्याणकारी बातें सम्भव हो सकें।

भारत की पंचवर्षीय योजना

आज से कुछ वर्ष पहले तक किसी देश की सरकार की अर्थ-नीति परिस्थितियों पर निर्भर रहती थी। ऐसा प्रयत्न नहीं किया जाता था कि आदश अर्थ-नीति के अनुरूप परिस्थितियों का निर्माण किया जाए।

पहले विश्व-युद्ध के बाद इस दिशा में रूस आगे बढ़ा। उसने यह सिद्ध कर दिया था कि योजनाबद्ध अर्थ-नीति से किस प्रकार प्रगति की जा सकती है। वहीं पहली बार पंचवर्षीय योजना के नाम से राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, ऐसे लक्ष्य बनाए गए जिनकी पूर्ति पाँच वर्षों की अवधि में निश्चित रूप से हो जाय। यह योजना सफल हुई तो फिर अगली पंचवर्षीय योजना बनी और रूस ने प्रायः सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति कर संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया।

हिटलर ने भी जर्मनी में "नवीन आर्थिक-नीति" के नाम से इस प्रकार की योजना बनाई थी और इसमें उसे आंशिक सफलता भी हुई थी। अन्य देशों में भी इस तरह के प्रयत्न हुए हैं किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि योजना बनाना तो बहुत कठिन नहीं है, लेकिन उसे कार्यान्वित करना अत्यन्त ही कठिन है।

इस प्रकार की आर्थिक योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने में दिक्कत यह होती है कि राष्ट्र के उत्पादन के साधनों पर सरकार का अधिकार आवश्यक होता है और यह अधिनायकवादी देशों में संभव होता है। जनतांत्रिक देशों में यदि ऐसी योजनाएँ बनती ही हैं और उन्हें कार्यान्वित करने की चेष्टा की जाती है तो शासन-तंत्र के अनुरूप ही उन्हें परिवर्तित कर लेना भी आवश्यक होता है।

भारत में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के काफी पहले ही, दूरदर्शी राजनीतिज्ञों का ध्यान आर्थिक-योजना की रूप-रेखा तैयार करने की आवश्यकता की ओर गया था। स्वयं पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक गैर-सरकारी

योजना-ग्रायोग (Commission) की स्थापना की गई थी ग्रौर उसके तत्वावधान में काफी काम भी हुग्रा था।

इस बीच द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा, भारत में स्वतंत्रता-ग्रांदोलन ने जोर पकड़ा ग्रौर ऐसे ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रौर राष्ट्रीय परिवर्तन होते रहे कि इस सम्वन्ध में प्राय: कुछ नहीं के बराबर प्रगति हुई। किन्तु भारत सरकार ने ग्रनुकूल ग्रवसर पाते ही एक योजना-ग्रायोग की स्थापना की ग्रौर ग्रव तो उसने ग्रपने सुझावों को उपस्थित कर दिया है।

भारत की यह योजना समय की ग्रवधि की दृष्टि से रूस की योजना की तरह पंचवर्षीय है। दोनों में यह समानता भी है कि उनका उद्देश्य राष्ट्र की ग्रार्थिक-उन्नति को शीघ्र-से-शीघ्र संतोषजनक बनाना है। किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्तर भी हैं। रूस का शासन-तंत्र ग्रधिनायकवादी है ग्रौर वहाँ के उत्पादन के समस्त साधनों पर वहाँ की सरकार का ही ग्रधिकार है। ऐसी दशा में वहाँ की सरकार के लिए यह संभव है कि वह एक सुनिश्चित योजना वनाये, उसे कठोरतापूर्वक लागू करे ग्रौर निश्चित ग्रवधि के ग्रन्दर पूरा भी कर ले। इसके विपरीत भारत में जनतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था है ग्रौर यद्यपि यहाँ भी कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण किया गया है फिर भी यहाँ सरकार ऐसी ही योजना वना सकती है जो राष्ट्र-निर्माण सम्वन्धी कार्य करने के लिए लोगों को वाध्य न करे, वल्कि उन्हें प्रेरणा, प्रोत्साहन ग्रौर सहायता देती रहे।

इसलिए भारत की पंचवर्षीय योजना के सम्वन्ध में यह याद रखना चाहिए कि उसकी सफलता सरकार से ग्रधिक यहाँ के लोगों की लगन ग्रौर कर्त्तव्य-परायणता पर निर्भर है। यह योजना प्रान्तीय सरकारों, पूँजीपतियों या विभिन्न कार्यों में लगे हुए लोगों को निश्चित कार्य-क्रम के ग्रनुसार काम करने के लिए विवश नहीं करेगी, किन्तु यह उनका मार्ग-प्रदर्शन करेगी ग्रौर उस लक्ष्य की ग्रोर संकेत करती रहेगी जहाँ तक पहुँचे बिना देश, राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होने पर भी ग्रार्थिक दृष्टि से पराधीन वना रहेगा ग्रौर सर्व-साधारण का जीवन-स्तर उन्नत नहीं हो सकेगा। उदाहरण के लिए पंचवर्षीय योजना के ग्रनुसार विहार राज्य में केवल सोलह नये चिकित्सालयों की

स्थापना के लिए केन्द्रीय सरकार से सहायता मिलेगी। यदि राज्य-सरकार योजना के इस अंतिम रूप के अनुसार ही अस्पतालों की संख्या में वृद्धि कर अपना काम खत्म समझें तो पाँच वर्षों में केवल ग्यारह सौ से अधिक रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था हो सकेगी। किन्तु यह प्रगति नगण्य होगी और राज्य-सरकार को इस अवधि में जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में कहीं ज्यादा काम कर दिखाने को तैयार रहना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे क्षेत्रों में भी विभिन्न राज्य-सरकारों को तथा सरकारी और गैर-सरकारी उद्योग-धन्धों की योजना के सुझावों से लाभ उठाने हुए स्वयं तत्परता के साथ काम करना पड़ेगा।

पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्न के उत्पादन को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। देश की सरकार को खाद्यान्न की समस्या ने बहुत बड़ी चुनौती दी है। कुछ दिनों पहले तक तो ऐसा मालूम होता था कि यह विकट समस्या सुलझ नहीं सकेगी। किन्तु अधिकारियों ने बड़ी कुशलता और बुद्धिमानी के साथ खाद्यान्न के अभाव के संकट का सामना किया और अब यह समस्या बहुत कुछ सुलझ भी गई है। योजना में इस बात का ध्यान रखा गया है कि भविष्य में देश इस क्षेत्र में स्वतः संपूर्ण बन सके।

खाद्य-उत्पादन आर्थिक-विकास का एक महत्वपूर्ण अंग है। अतः कृषि-विकास के सम्बन्ध में, पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत, पर्याप्त व्यवस्था की गई है। इसके लिए सिंचाई, विद्युत्-शक्ति और कृषि की वैज्ञानिक प्रणाली के विकास के निमित्त आवश्यक व्यय का प्रबन्ध किया गया है। इन मदों में, बिहार राज्य में लगभग अट्ठाइस करोड़ रुपये खर्च किए जाएँगे। इस राज्य में पंचवर्षीय योजना के कुल व्यय की राशि की आधी है। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कृषि-विस्तार को योजना में कितना अधिक महत्व दिया गया है।

पंचवर्षीय योजना में विद्युत्-शक्ति के विस्तार का भी पूरा ध्यान रखा गया है क्योंकि इसी पर अन्य विकास-कार्य निर्भर हैं। विद्युत्-शक्ति के विकास के बिना सिंचाई का ही नहीं, बल्कि उद्योग-धन्धों का विकास भी असम्भव है। अब तो यह भी अनुभव किया जा रहा है कि गृह-शिल्पों की

उन्नति के लिए भी नगरों तथा गाँवों में पर्याप्त मात्रा में विजली सुलभ होनी चाहिए।

इन्हीं वातों को ध्यान में रख कर योजना में ऐसी व्यवस्था की गई है कि निकट भविष्य में विजली द्वारा संचालित नलकूपों का निर्माण हो और साथ-साथ नगरों तथा गाँवों में जनता के उपयोग के लिए भी बिजली सुलभ हो जाय। दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत स्थापित विद्युत्-केन्द्रों से विहार और वंगाल के अनेक भागों को विजली मिल रही है। इस प्रकार जो विजली मिलती है, उसका उपयोग कृषि के साथ-ही-साथ विभिन्न उद्योग-धन्धों में भी हो सकेगा।

खाद्यान्न के उत्पादन तथा विजली के विकास के लिए योजना में जितने व्यय की व्यवस्था की गई है उसकी तुलना में सामाजिक सेवा-सम्बन्धी व्यय बहुत कम है। जन-स्वास्थ्य के कार्यों में विभिन्न राज्यों-सरकारों को अपने ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा, यह पहले ही वताया जा चुका है। इसी प्रकार योजना में शिक्षा के विकास का जो कार्यक्रम है वह भी अपर्याप्त है और उसे राज्य-सरकारों को अपनी ओर से पूरा करना पड़ेगा।

योजना में यातायात के विकास का यथासम्भव ध्यान रखा गया है। देश की उन्नति के लिए यातायात के साधनों का महत्व है। विहार में लगभग आठ करोड़ रुपए खर्च कर दो हजार मील लम्वी सड़कों की मरम्मत की गई है। इनमें से आधी से कुछ अधिक सड़कें पक्की वनाई जाएँगी। इसी तरह समूचे देश में सड़कों का ऐसा जाल बिछ जाएगा जिससे दूर भीतर के भाग भी व्यापार के केन्द्रों तथा नगरों से सम्वद्ध हो सकेंगे।

पंचवर्षीय योजना में सामूहिक-विकास पर समुचित ध्यान दिया गया है। सामूहिक विकास से सम्वद्ध योजनायें देश के भविष्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनकी सफलता के लिए जनता का सहयोग आवश्यक है। ये योजनायें इस अभिप्राय से वनाई गई हैं कि इनके द्वारा हमारे ग्रामीण जीवन का पूर्ण विकास हो सके। जीवन के मानवीय, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का समन्वित विकास ही इन योजनाओं का लक्ष्य है। हम यदि देश की जन-शक्ति

का पूरा लाभ उठा सकें तो निश्चय ही सामूहिक विकास का कार्य बहुत सरल हो जाएगा। सामूहिक विकास सम्बन्धी योजनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जन-शक्ति को महत्त्व प्रदान करती है और सरकार के साधनों का यथेष्ट उपयोग कर उसके समुचित विकास के लिए प्रयत्न करती है। साथ ही, ये योजनाएँ जनता में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की भावनाओं को भी जागृत करती हैं।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारा राष्ट्र अत्यन्त निर्धन है, उसकी आवश्यकताएँ अनेक हैं और उसके साधन सीमित हैं। कोई भी वास्तविकतापूर्ण योजना इस वस्तुस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकती। भारत सरकार के योजना-आयोग ने जो पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत की है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह वास्तविकतापूर्ण है और उसका निर्माण देश के साधनों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। उसकी दूसरी विशेषता यह है कि उसमें विभिन्न कार्यों का जो क्रम निर्धारित किया गया है, वह बहुत ही उपयुक्त तथा दूरदर्शितापूर्ण है। इसी के फलस्वरूप कार्यक्रम में कृषि को सर्वोच्च स्थान दिया गया है और विद्युत् के विकास तथा यातायात के साधनों के विस्तार को भी उचित महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार पंचवर्षीय योजना में इस बात का आयोजन किया गया है कि हमारे पास जो भी साधन सुलभ हैं उनका अधिक से अधिक उपयोग सामाजिक सेवाओं के लिए किया ज़ा सके। यह तो इतिहास ही प्रमाणित करेगा कि राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति में यह पंचवर्षीय विकास-योजना कहाँ तक उपयोगी और सफल सिद्ध होती है।

---:o:---

भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना मई १९५१ में प्रवर्त्तित हुई थी। उन दिनों देश भयंकर अन्न-संकट से गुजर रहा था। फलतः उस योजना में

कृषि और सिंचाई को सर्वप्रमुख स्थान दिया गया।यह उचित ही था क्योंकि अन्नाभाव में किसी राष्ट्र की प्रगति की बात तो दूर रहे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य, कृषि और सिंचाई का विकास, संतोषजनक रीति से हो चला है। अतः भारत सरकार अन्य समस्याओं की ओर ध्यान देने की स्थिति में है। उसने द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूप-रेखा, सर्वसाधारण के विचार और आलोचना के लिए, प्रस्तुत कर दी है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना अप्रैल १, १९५६ से कार्यान्वित हुई। इसकी मुख्य विशेषताओं में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि योजना के उद्भावकों ने पाँच वर्षों के अन्दर राष्ट्रीय आमदनी को २५ प्रतिशत बढ़ाने का लक्ष्य रखा है। इसके अतिरिक्त एक करोड़ दस लाख नौकरियों की व्यवस्था कर बेरोजगारी का उन्मूलन भी योजना का एक प्रधान उद्देश्य है। उत्पादन सामग्रियों के निर्माण के लिए बुनियादी और बड़े उद्योग-धन्धों का विकास भी योजना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि इस क्षेत्र में आज भी भारत अन्य देशों पर निर्भर है।

योजना में केवल उत्पादक सामग्रियों पर ही ध्यान दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। इसमें उपभोक्ता-सामग्रियों के उत्पादन का भी महत्त्व स्वीकृत हुआ है, किन्तु कुटीर और छोटे उद्योग-धन्धों पर ही, इस क्षेत्र में, जोर दिया गया है। भारत में अन्ततः समाजवादी ढाँचे की व्यवस्था कायम हो सके, इसे दृष्टि में रखते हुए योजना में भूमि-सुधार, मिल-मजदूरों और नगरों के निर्धन निवासियों के लिए बढ़िया आवास, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और शिक्षा आदि को भी प्राथमिकता दी गई है। बैंक, बीमा और वैदेशिक व्यापार तथा कुछ चुनी हुई चीजों के लिए आन्तरिक व्यापार में भी, व्यक्तिगत उद्योग के विस्तार के लिए गुंजाइश रखी गई है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की विशालता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि इस पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के द्वारा कुल मिलाकर ८,८०० करोड़ रुपये की रकम खर्च करने का प्रस्ताव है। इस रकम में से ५,४०० करोड़ रुपए तो विकास-व्यय

के लिए हैं और ३,४०० करोड़ रुपए विकासेतर-व्यय, जैसे सुरक्षा और नागरिक प्रकाशन आदि के लिए हैं। द्वितीय पंचवार्षिक योजना में सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में कुल विकास-व्यय ४,३०० करोड़ रुपए का होगा। इसमें ३,४०० करोड़ रुपए तो बनाई हुई पूँजी (इनवेस्टमेंट) के होंगे, और ९०० करोड़ रुपए राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी कार्यों, जैसे स्वास्थ्य और शिक्षा, के लिए चालू व्यय (करेंट एक्स्पेंडिचर) के होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में ४,३०० करोड़ की जो कुल रकम लगाई जाएगी उसके अतिरिक्त २,२०० करोड़ की रकम व्यक्तिगत क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर) में लगाई जाएगी और इस प्रकार ५,६०० करोड़ की कुल रकम पूरी होती है।

५,६०० करोड़ की इस रकम का विभिन्न कार्यों के लिए निम्न प्रकार से विभाजन होगा:—सार्वजनिक क्षेत्र में—बिजली पर ५४० करोड़, उद्योग-धंधों और खनिजों पर १००० करोड़, यातायात और परिवहन पर ८५० करोड़, कृषि, सिंचाई और सामुदायिक विकास योजनाओं पर ७५० करोड़, निर्माण और सामाजिक ऐश (मकान, विद्यालय, चिकित्सालय आदि) पर २५० करोड़, और अन्न तथा अत्यावश्यक कच्चे मालों के संग्रह पर १०० करोड़। जहाँ तक व्यक्तिगत क्षेत्र का प्रश्न है ये रकमें क्रमशः इस प्रकार निर्धारित की गई हैं—५०,४००, ५०,२००, ११०० तथा ४०० करोड़।

योजना की रूप-रेखा में ८,८०० के कुल सरकारी व्यय को पूरा करने के लिए इन स्रोतों को चुना गया है: रेवेन्यू और अन्य चालू साधनों से ५,२०० करोड़, जन-ऋणों से १००० करोड़, रेलवे सरप्लस से २०० करोड़, विदेशी सहायता से ४०० करोड़, अतिरिक्त कर और विभिन्न राज्यों के वाणिज्य सम्बन्धी या औद्योगिक योजनाओं से ८०० से १००० करोड़ तक, और घटी की पूर्त्ति से १००० से १२०० करोड़ तक।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुछ सामग्रियों के उत्पादन का संभावित लक्ष्य स्थिर किया गया है। उनकी संख्या बहुत अधिक है, अतः उनका पूरा विवरण, न देकर, उनमें से कुछ का उल्लेख मात्र किया जाता है—बिजली ६० लाख किलोवाट, कोयला ६ करोड़ टन, सिमेंट १ करोड़ टन, वर्त्तमान

से तिगुनी खाद, ५,५११० लाख गज सूती कपड़ा प्रति वर्ष, प्रायः ६० लाख गट्ठर रूई, वीस लाख टन से कुछ अधिक चीनी, और जहाजी टनेज़ (shipping tonnage) १,५००,००० ।

संक्षेप में भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना की यही रूप-रेखा है। योजना की विशालता और व्यापकता को देखते हुए यह कहना आवश्यक नहीं रह जाता कि जब तक देश का प्रत्येक निवासी इसे सफल बनाने के लिए कृतसंकल्प नहीं हो जाता तब तक वह कार्यान्वित नहीं हो सकती । इस बात पर, यह उचित ही है, योजना आयोग के अर्थशास्त्री-मण्डल ने खूब जोर दिया है ।

इस योजना की आलोचनाएँ भी हुई हैं। आलोचनाओं का मुख्य आधार यह है कि योजना, अपने प्रस्तुत रूप में, अव्यावहारिक है। आलोचकों द्वारा ऐसी आशंका प्रकट की गई है कि आर्थिक स्रोतों और सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही क्षेत्रों के उत्पादन के निश्चित लक्ष्य में कमी होना अनिवार्य है। इस आशा को भी सन्देहास्पद माना गया है कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी। फिर इस प्रस्ताव को आपत्तिजनक समझा गया है कि नये कर लगाए जाएँ, क्योंकि ये जनता के लिए अतिरिक्त भार साबित होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों के क्षेत्रों पर बहुत ज्यादा अधिकार कर ले इसे भी अवांछनीय कहा जा रहा है। इसी तरह वृहत् उद्योग-धंधों की कीमत पर घरेलू उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देना भी अनेक आलोचकों की दृष्टि में योजना का एक दोष है। अन्त में यह भी भय प्रकट किया गया है कि योजना के कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त संख्या में आवश्यक प्रशासकीय और टेक्निकल आदमी शायद ही मिलें ।

योजना की रूप-रेखा वस्तुतः इसी उद्देश्य से उसके कार्यान्वयन के बहुत पहले ही प्रकाशित कर दी गई है कि अधिकारियों के द्वारा सभी आलोचनाओं पर पूरी तरह विचार कर लिया जाए। योजना का पूर्णतः अंतिम रूप इन आलोचनाओं को ध्यान में रख कर ही स्थिर किया जाएगा।

———:o:———

जमींदारी उन्मूलन

"अंगरेजी राज्य के अधीन भारतवर्ष का रूप दिनोंदिन ग्राम-प्रधान होता गया। काम और रोजगार के बहुत से रास्ते वन्द हो गये और जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय विवश होकर खेतों पर निर्भर करने लगा। नतीजा यह हुआ कि खेत के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और उनसे होनेवाली आमदनी बहुत ही कम हो गयी है। इसलिए यह आवश्यक है कि खेती की समस्या को सुलझाने के लिये चतुर्मुख प्रयत्न किया जाय।......हिन्दुस्तान में खेतों की बन्दोबस्ती की प्रणाली में सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है और इस सुधार का सबसे आवश्यक अंग है उन वीचवालों को हटाना जो किसान और राज्य के वीच पड़ते हैं। इसलिये, उचित है कि इन वीचवानों के अधिकार वाजिब मुआवजा देकर खरीद लिये जायँ।"

ये शब्द हैं कांँग्रेस के चुनाववाले घोषणापत्र के। स्पष्ट है कि कांँग्रेस जहाँ-जहाँ उसकी सरकार बनी और जहाँ-जहाँ जमींदारी प्रथा प्रचलित थी, जमींदारी उन्मूलन के लिये प्रयत्न करती रही।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य-सत्ता कांँग्रेस के हाथों आई, क्योंकि जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था यही थी। राज्यसत्ता हाथ में लेने के बाद केन्द्रीय कांँग्रेस सरकार ने देश के बहुमुखी विकास के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करने के लिये आयोजना आयोग की स्थापना की जिसने भारत की अनेकानेक आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हुए और देश के विभिन्न आर्थिक साधनों को ध्यान में रखते हुए जमींदारी प्रथा को भारत के ७० लाख गाँवों और भारत की कुल जनसंख्या के गाँवों में बसनेवाले ९० प्रतिशत लोगों के जीवन में सुधार, विकास तथा उन्नति के रास्ते में बड़ा बाधक पाया। अतएव उसने भी जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की सिफारिश की।

आयोजना आयोग की दृष्टि में भू-स्वामित्व और खेती, इन दोनों का अधिक महत्व है। ये दोनों विषय राष्ट्रीय विकास में बहुत अधिक महत्व

रखते हैं" क्योंकि भूमि-समस्या के समाधान पर ही, बहुत अंश तक, आर्थिक और सामाजिक संघटन की रूप-रेखा निर्भर है। भूमि-समस्या के समाधान के लिये आयोजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना सम्बन्धी अपने प्रतिवेदन में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के लिए कुछ सुझाव दिये। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से राज्य सरकारों के ये दो लक्ष्य रहने चाहिएँ—(१) कृषिउत्पादन बढ़ाना और (२) कृषि अर्थ-व्यवस्था को कुशलता के उच्च स्तर पर लाते हुए उसमें विविध अंगों की व्यवस्था करना। सामाजिक पहलू से, आयोजना आयोग का विचार है कि भूमि सम्बन्धी नीति उस हद तक उत्तम समझो जानी चाहिये जिस हद तक वह, आगामी वर्षों में धन और आय में विषमता कम करती है, शोषण का अन्त करती है, रैयतों और मजदूरों को सुरक्षा प्रदान करती है और ग्रामीण आबादी के विभिन्न वर्गों को सामाजिक स्थिति और अवसर की समानता का आश्वासन देती है।

विगत कुछ वर्षों से बिहार राज्य के खेतिहरों के बीच जमींदार विरोधी आन्दोलन जोरों से फैला हुआ था इसके चलते अक्सर काफी विषम परिस्थियाँ उत्पन्न हो जाती थीं और बहुधा झगड़े हो जाया करते थे। इन झगड़ों का कारण था जमींदारी प्रथा तथा जमींदारों के विरुद्ध रैयतों की भावना एवं असंतोष। इस असन्तोष की जड़ थी जमींदारों की बेरुखी। वे सिंचाई की सुविधाओं की देख-रेख अथवा व्यवस्था आदि नहीं करते थे, मालगुजारी बढ़ा देते थे, बकाश्त जमीनों से, जिनके जोतने का अधिकार रैयतों को रहता था, रैयतों को बेदखल कर देते थे, गोचरों आदि को भी बन्दोबस्त कर देते थे और इसी प्रकार के अन्य असन्तोषजनक काम कर बैठते थे। जमींदार की सिंचाई सुविधाओं को बनाये रखने में दिलचस्पी की कमी के कारण राज्य के अन्न-उत्पादन में वृद्धि करने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते थे। अतः काश्तकारी झगड़ों का अन्त करने के लिए और विशेषकर 'अधिक अन्न उपजाइये' आन्दोलन को विस्तृत करने और सफल बनाने की दृष्टि से बिहार सरकार ने इसे आवश्यक समझा कि वह जमींदारियों तथा पट्टों का स्वामित्व अपने अधिकार में ले ले।

अतः, कृतसंकल्प होकर बिहार सरकार ने इस दिशा में जो पहला कदम उठाया, वह था जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिये कानून बनने के पहले स्टेटों की व्यवस्था के लिये एक संक्रान्तिकालीन योजना प्रस्तुत करना। इसके अनुसार ७ मार्च, १९४९ ई० को एक विधेयक विधान सभा में उपस्थित किया गया। इस विधेयक को २० सितम्बर, १९४९ ई० को भारत के गवर्नर-जेनरल की स्वीकृति मिली। इसी विधेयक के द्वारा जमींदारी उन्मूलन का सूत्रपात हुआ और आगे चलकर जमींदारी उन्मूलन कानून बना। यह कानून १५ नवंबर १९४९ ई० से कारगर हुआ और १४४ स्टेट और पट्टों के सम्बन्ध में घोषणा कर दी गयी कि वे राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिये जायँगे। ये सभी स्टेट और पट्टे ५०,००० रु० वार्षिक आमदनी से ऊपर के थे।

जमींदारी प्रथा उन्मूलन कानून की वैधानिकता पर कुछ जमींदारों ने आपत्ति की। इस पर न्यायालय ने सरकार के विरुद्ध आज्ञा जारी कर दी। कानून में भूमि-सुधार विषयक आवश्यक व्यवस्थाएँ न होने के कारण यह कानून रद्द कर दिया गया और उसकी जगह १९५० ई० में भूमि-सुधार कानून बना। इस कानून की वैधानिकता पर भी आपत्ति की गयी किन्तु संविधान के ३१ वें अनुच्छेद के संशोधन से कठिनाई दूर हो गयी तथा भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कानून को पूर्णतः वैध ठहराया।

उन्मूलन कार्यक्रम के प्रथम चरण में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ५० हजार रुपये वार्षिक आय से अधिक आयवाली जमींदारियों को लेने का काम शुरू हुआ। राज्य में ऐसी जमींदारियों की संख्या केवल १५५ थी। सुविधा की दृष्टि से ठोस क्षेत्रों की ही जमींदारियाँ अधिकृत करने का विचार हुआ। फलतः १९५२ के सितम्बर महीने में गया, हजारीबाग, मुंगेर और दरभंगा जिलों की जमींदारियाँ ले लेने का निश्चय किया गया। १९५३–५४ ई० के वर्ष के अन्त में, सरकार ने शेष १३ जिलों में १० हजार रुपये से ५० हजार रुपये तक वार्षिक सकल आयवाली जमींदारियों को अधिकृत करना शुरू करने का निश्चय किया।

भूमि-सुधार कानून, १९५०, के अनुसार, किसी जमींदारी को अधिकृत

करने के पहले प्रत्येक जमींदार के सम्वन्ध में अलग-अलग अधिसूचना प्रकाशित करनी पड़ती थी। इसके कार्य में विलम्ब होता था। फलतः, कानून को संशोधन कर विहार भूमि-सुधार (संशोधन) कानून, १९५४ वना जिसे १७ मई, १९५४ ई० को लागू किया गया।

इस संशोधन के अनुसार, राज्य सरकार केवल एक ही अधिसूचना प्रकाशित कर समस्त राज्य अथवा उसके किसी अंश की सभी जमींदारियाँ एक घोषणा द्वारा कम-से-कम तीन महीने की नोटिस देने के वाद अधिकृत कर सकती है। प्रमाणित कागजात और अपेक्षित राजस्व-कर्मचारी मंडल के अभाव में जमींदारी उन्मूलन का कार्य शीघ्रता से नहीं हो सका। किन्तु राज्य-सरकार ने इन वाधाओं को दूर करने का उपाय कर दिया है। गया, हजारीवाग, मुङ्गेर, दरभंगा, पूर्णियाँ, पलामू, सहरसा और चंपारण की सभी जमींदारियाँ २६ जनवरी, १९५५ ई० से ले ली गयी हैं।

प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि १९४७ में उपस्थापित जमींदारी उन्मूलन विधेयक चुनाव के घोषणा-पत्र के संकल्पों का कार्यान्वित रूप था। जमींदारी उन्मूलन की ओर उठाये गये कदम को क्रांति कहना अनुचित न होगा। वस्तुतः यह एक अत्यन्त क्रांतिकारी कदम है और इसके जरिये जमींदारी की वह प्रथा उठा दी गई है जिसे लार्ड कार्नवालिस ने अंगरेजी राज्य की सुविधा के लिए चालू किया था और जिसमें विरुद्ध गत १५ वर्षों से राज्य के कोने-कोने से आवाजें उठायी जा रही थीं। इस अवधि में किसानों ने यदि कोई मांग की थी, और वह भी एक स्वर से, तो वह थी जमींदारी उठा लेने की मांग।

इस विधेयक के मुख्य उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए बिहार राज्य में इसके प्रस्तावक, माननीय कृष्णवल्लभ सहाय ने कहा कि रैयतों की भलाई एवं प्रान्त की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति और विकास के लिए सरकार ने इस नीति को अपनाया है कि सरकार और रैयतों के वीच किसी बीचवान को न रहने दिया जाय। कृषि सम्वन्धी नव-निर्माण के लिये यह जरूरी है कि मालगुजारी की दरें वाजिव हों, जमीन की वन्दोवस्ती पक्की हो, सिंचाई के स्थानीय प्रवन्ध सुचारु हों और उनमें फलस्वरूप अन्न की उपज बढ़े एवं

कृषि का क्षेत्र विस्तृत हो सके, लेकिन इस प्रकार के नव-निर्माण की बहुमुखी योजना तव तक शुरू नहीं की जा सकती जव तक कि पट्टे की वर्त्तमान पद्धति में ग्रामूल परिवर्त्तन न किये जायँ।.......इसलिये सरकार ने यह फैसला किया है कि पट्टे के सम्वन्ध में उस ढाँचे को, जो जमींदारी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो ग्राज के जमाने से वहुत पीछे की जीज हो गई है, खत्म करके उसकी जगह वम्वई ग्रौर मद्रास प्रांतों में चलनेवाली पद्धति के ग्राधार पर 'रैंयतवारी प्रणाली' को चालू किया जाय।

जमींदारियों ग्रौर पट्टों के मालिकों को सरकार मुग्रावजा भी देगी जो उनकी संपत्ति की चुकता ग्रामदनी (नेट इनकम) पर निर्धारित विधि से कूता जायगा ग्रौर नकद या वौंड के रूप में ग्रदा किया जायगा। सार्वजनिक ट्रस्टों पर मुग्रावजा इस प्रकार से दिया जायगा कि जिस काम के लिए ट्रस्ट बनाया गया है उसका वार्षिक व्यय सदा ठीक प्रकार से चलता रहे। घरवास की भूमि ग्रौर खास कब्जे की खेती ग्रौर वागवानी की जमीन पर मालिकों का कब्जा रहने दिया जायगा तथा वे सरकार के रैंयत वनकर उस जमीन का उपभोग कर सकेंगे।

उपर्युक्त से यह सुस्पष्ट है कि जमींदारी उन्मूलन से एक प्रकार की सामाजिक क्रांति की ग्राशा की जा सकती है। इस प्रथा के ग्रन्त से क्या लाभ हो सकते हैं उसके सम्वन्ध में इस प्रथा को उपस्थित करने के कारणों पर विचार कर ही जाना जा सकता है।

कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि विदेशी शासन को प्रारम्भिक ग्रवस्था में यहाँ की ग्रामीण जनता की रक्षा,ग्रार्थिक संपन्नता ग्रथवा उसके विकास की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी ग्रपने स्थायित्व एवं ग्रपने राज्य के पाये मजवूत करने की। विदेशियों की ऐसी इच्छा स्वाभाविक भी थी। ग्रतएव एक ऐसे वर्ग की सृष्टि करना उनके हित में ही था जो पुश्त-दर-पुश्त उनका परम भक्त होकर रहता। यह भी स्पष्ट है कि उनके द्वारा सुविधा प्राप्त भारतीय एक ऐसा वर्ग ग्रपने देशवासियों को ग्रार्थिक परतन्त्रता में दबाकर उनकी बड़ी सेवा कर सकता था। ग्रौर जमींदार ग्रँगरेजों के हितों की रक्षा

में बड़े सहायक भी होते रहे थे। अतः, एक गणतन्त्र राज्य में, जब जनता अपने शासन यंत्र का स्वयं विधायक हुई, एक ऐसे वर्ग का रहना सामंतवादी युग का स्मारक-स्वरूप ही माना जाता।

दूसरी बात यह थी कि ये जमींदार दूसरे के श्रम का नाजायज फायदा उठाया करते थे। अंगरेंजी में absentee landlord बड़े प्रचलित शब्द रहे। ये जमींदार स्वयं तो शहरों में रहते और जमीन पर आश्रित एवं मिहनत करनेवाले के पसीने की आय का उत्तमांश ले लेते। इनके शहरों में रहने से इनकी जमींदारियों में बसे किसानों को अनकानेक असुविधाएँ होतीं लेकिन ये उनकी सहायता करने में बराबर शिथिल रहते। अतः जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से स्पष्ट लाभ ये होने चाहिये कि कृषि-विकास के साधनों में उन्नति हो तथा रैयतों की कृषि-सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हों।

दूसरी ओर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से एक सामाजिक समस्या के उठ खड़े होने की भी संभावना है। निस्सन्देह अनेक संपन्न तथा समृद्ध जमींदार जमींदारियों के चले जाने से, शहरों में, नगरों में रहकर वाणिज्य-व्यवसाय की ओर झुके हैं। किन्तु छोटे-छोटे जमींदार की अवस्था दयनीय हो रही है, होगी भी। इसका कारण यह है कि उनके पास बड़ा व्यवसाय करने के लिये अपेक्षित धन नहीं। दूसरी ओर वे छोटे व्यवसाय में लगना अपनी हेठी समझ सकते हैं। अतः एक ऐसे नवीन वर्ग की इनसे सृष्टि हो रही है जिसकी अवस्था विस्थापितों की-सी हो जायगी। साथ ही जमींदारियों के बल पर आरामतलबी का जीवन व्यतीत करनेवाले ये जमींदार मानसिक रूप से समाज-विरोधी तत्व के रूप में विकसित कर जा सकते हैं।

साथ ही, शासन-यंत्र के निर्जीव होने के कारण रैयतों और सरकार के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी रैयतों की अवस्था में सुधार तभी संभव है जब उन आदर्शों के लिये जिनके लिए यह कानून लागू किया गया है अधिकारी सहृदयतापूर्वक और पूरी रुचि के साथ कार्यरत हों। अन्यथा उनकी अवस्था पहली अपेक्षा अधिक दयनीय भी हो जा सकती है। क्योंकि जमींदार तो तब भी कुछ चिन्तित होते थे कि उनकी आमदनी के मूल में

खेतिहर ही हैं। शासन-यंत्र तो निरंकुश हो जा सकता है और फिर भी मालगुजारी की वसूली कानून के साधनों के जोर पर की ही जा सकती है।

किन्तु, किसी भी आदर्श का फल समय पाकर ही मिलता है। इस कानून के और इसको कार्यान्वित करने के पीछे जिन महान् उद्देश्यों को रखा गया है यदि वे उपलब्ध हो सकें तो इसमें सन्देह नहीं कि भारत का आर्थिक नक्शा ही वदल जायगा।

----:०:----

कृषि की उन्नति के उपाय

हमारे देश की करीव तीन चौथाई से अधिक जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर है। कृषि ही हमारे आर्थिक जीवन का आधार है। भारत का जो कुछ धन है, जो प्राथमिक साधन हैं उनमें दो तिहाई कृषि से ही उपलब्ध होते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि अपने देश में जितने लोग लाभप्रद धंधों में लगे हैं उनमें से ६५ फी सदी कृषि से ही सम्बद्ध हैं। ऐसा है भारतीय कृषि का महत्व। पर जव हम इसकी वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तो महान वैषम्य ही नजर आता है। इसके महत्व और वर्तमान अवस्था में कोई सन्तुलन नहीं है। दूसरे शब्दों में, कृषि, जो हमारे आर्थिक जीवन का मूलाधार है, पिछड़ी दशा में पड़ी है।

अपने देश में उद्योग-व्यवस्था की कमी के कारण कृषि पर बहुत अधिक बोझ है। इसलिए खेतों की जोत अलाभप्रद होती जाती हैं। खेतिहर मजदूरों की भी संख्या तेजी से बढ़ती जाती है। आबादी के निरन्तर बढ़ने से खेतों के टुकड़े-टुकड़े होते ज़ाते हैं और किसान का जीवन-स्तर बहुत गिर गया है।

अंग्रेजी सरकार ने भारत को पक्के माल के लिए एक मंडी बना रखा था और अपने कारखानों के लिए यहाँ से कच्चा माल खरीदा करता था। उसकी औद्योगिक नीति भारत के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने की नहीं

थी। इस तरह किसान निर्धन होकर महाजनों के चंगुल में फँस गया। आज-कल यह मिथ्या धारणा फैल गयी है कि गल्ले का भाव बढ़ जाने के कारण किसान का कर्ज चुक गया है। किन्तु जाँच से यह बात पूर्णतः सिद्ध नहीं होती है। यह धारणा इसी हद तक सत्य है कि बड़े जमींदार और बड़े किसान कर्ज से मुक्त हो गये हैं। किन्तु बहुमत तो अब भी कर्ज से लदा है।

आंकड़ों पर नजर दौड़ाने से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। कृषक जनसंख्या का लगभग ७० फी सदी खेतिहर मजदूर हैं। और जो खेत जोतने वाले भी हैं उनमें से सिर्फ २० फी सदी किसानों के पास ही लाभप्रद जोत हैं, बाकी सभी की जोतें अलाभप्रद हैं। आबाद जमीन का २५ प्रतिशत ५ प्रतिशत लोगों के ही हाथ में हैं। इस प्रकार जमीन पर भारी बोझ के साथ साथ जमीन के इस असम बँटवारे से समस्या और भी कठिन हो गई है।

संक्षेप में, कृषि-क्षेत्र में पिछले अनेक वर्षों से कोई प्रगति नहीं हुई है। प्रगति होना तो दूर, दिनों-दिन अवस्था बिगड़ती ही जा रही है। १९३८-३९ में कृषि की पैदावार का सांकेतिक नंबर १०० था तो १९४७-४८ में वह नम्बर ९७ तक पहुँच गया। देश-विभाजन से स्थिति और भी विकट हो गई है। अविभाजित भारत की ७५ फी सदी आबादी भारत में है लेकिन आबाद जमीन का लगभग ७० फी सदी रकबा ही उसके पास है।

इन सब बातों का कुल नतीजा है आज भारत को अन्न के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरे, अपने उद्योगों के लिए रूई, जूट आदि कच्चे मालों की भी कमी रहती है। इन मामलों में भी हम दूसरे देशों पर निर्भर हैं जिससे उद्योगों के उत्पादन और दामों में बराबर उतार-चढ़ाव होता रहता है। तीसरा, और जो सबसे भयानक है, वह है देश की निरन्तर बढ़ती हुई दरिद्रता। आज खेत पर निर्भर प्रति व्यक्ति पर सिर्फ आधा एकड़ जमीन का हिसाब बैठता है। उस पर जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। परिणाम-स्वरूप हमारे रहन-सहन का स्तर रोज गिरता जा रहा है।

भारत में कृषि में सुधार की जो भी योजनायें लागू हों उनकी अच्छाई, बुराई की परख तीन कसौटियों पर ही हो सकती है। वे कसौटियाँ हैं--१.

उत्पादन-वृद्धि, २. रहन-सहन के स्तर में उन्नति, ३. सामाजिक न्याय। अब हम इन्हीं आधारों पर कृषि-सुधार के प्रश्न पर विचार करेंगे।

कृषि की वर्तमान दुरवस्था के कारणों का दो वर्गीकरण किया जा सकता है। एक वर्तमान कृषि पद्धति, दूसरा सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था। जहाँ तक कृषि-पद्धति का सवाल है, वह पूर्णतः व्यक्तिवादी रही है। इसके अतिरिक्त आबादी बढ़ती गई, दूसरी ओर नयी जमीनों का विस्तार नहीं हुआ। फलतः खेती पर बोझ बढ़ता गया। पुनः औसत जोत अलाभप्रद होने के कारण एक किसान परिवार क बारहों महीने काम नहीं मिल पाता है। ऐसी स्थिति में खेती में अधिक पूँजी लगाकर उसे उन्नत करने का सवाल ही नहीं उठता है। यही है व्यक्तिवादी ग्राम अर्थव्यवस्था की असफलता।

इस व्यवस्था को बदलकर ही कृषि में उन्नति की कल्पना की जा सकती है। जहाँ एक ओर सभी अलाभप्रद जोतों को लाभप्रद बनाना होगा, वहाँ सहयोग समितियों, गाँव बैंकों, ग्राम पंचायतों की स्थापना कर कृषि के लिए समुचित पूँजी की व्यवस्था करनी होगी। पहली कार्रवाई करने के लिए वर्त्तमान भूमि-कानून तथा काश्तकारी कानून में आमूल सुधार करना होगा।

और यहीं सामाजिक, आर्थिक-व्यवस्था का प्रश्न उठ जाता है। भारत में अब तक भूमि-स्वामित्व की जो व्यवस्था रही है उसने अकेले ही कृषि की महान क्षति पहुँचाई है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद ही प्रान्तीय सरकारों ने जमींदारी के अन्त करने की ओर ध्यान दिया और अब अधिकांश प्रान्तों में इस प्रथा का अन्त हो गया है। अब जरूरत इस बात की है कि खेतिहरों और सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये और भी जितने प्रकार के बिचवैये बचे हों उनका तत्काल अन्त होना चाहिए। इसके साथ-साथ एक और कार्रवाई आवश्यक होगी। वह है जमीन जोतनेवालों को बेदखली के भय से पूर्ण रूप से मुक्त कर दिया जाय, जैसा कि ब्रिटेन और अमेरिका में है। तभी अधिक उत्पादन के लिए उचित प्रेरणा प्राप्त होगी। नये काश्तकारी कानून द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। इस कानून का लक्ष्य दो होगा—१. सरकार और खेतिहर के बीच

सीधा सम्बन्ध स्थापित करना और २. किसानों को बेदखली से पूर्ण मुक्ति दिलाना ।

जमींदारी का अन्त कृषि की पुनर्व्यवस्था का पहला कदम है। इसके बाद भूमि का पुर्नवितरण आवश्यक होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि अलाभप्रद जोतों का अन्त किये वगैर कृषि की पैदावार और गाँवों की बेकारी दूर करना असंभव होगा। इसीलिए भूमि का बँटवारा करना होगा जिससे सभी जोतें लाभप्रद हो जाएँ। भविष्य में पुनः जोतों के टुकड़े न होने पायें, उसके लिए सरकार को उत्तराधिकार कानून में आवश्यक संशोधन करना होगा।

भूमि का पुर्नवितरण न केवल लाभप्रद जोतों की दृष्टि से लिए, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को दृढ़ करने और सबसे बढ़कर सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक कार्य है। आज हमारी कृषि अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ी है। खेतिहरों में अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा नहीं है। उनमें निराशा और उदासीनता है। ऐसे समूह से सम्वद्ध व्यवस्था के पुर्ननिर्माण के लिए आमूल सुधार करना ही एकमात्र रास्ता है। सदियों से हमारी कृषि-व्यवस्था एक-सी रही है। आज उसमें महान् परिवर्तन लाकर ही हम अधिक उत्पादन और सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। और भूमि का पुर्नवितरण ही वह महान् परिवर्तन है। इस कार्रवाई से गाँवों में नवजीवन का संचार होगा।

लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि पुर्नवितरण का आधार क्या होगा। हमारे विचार से इसके तीन आधार हो सकते हैं——१. लाभप्रद जोत से कम जमीन किसी को न मिले, २. जो जमीन जोते उसे ही जमीन मिले, ३. सदियों से दलित और पीड़ित निम्नतम वर्ग के लोगों में यथासंभव अधिक से अधिक बँटवारा हो। जमीन बाँटने के बाद जो लोग बच जायेंगे उनके लिए नई जमीनों को आबाद करना होगा। अपने देश में करोड़ों एकड़ बेकार परती जमीनें पड़ी हैं। उचित सरकारी सहायता के बल पर उन्हें आबाद किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान खेतों पर निर्भर अनेक लोगों को नयी जमीनें देकर कृषि का बोझ भी कम करना संभव होगा।

हमारे रहन-सहन का स्तर जो गिरता जा रहा है उसका एक प्रधान कारण है कृषि पर अत्यधिक बोझ। इस बोझ को दूर करने का एक उपाय बताया जा चुका है। दूसरा उपाय है भारत का औद्योगीकरण। कृषि से काफी संख्या में लोगों को हटाकर उद्योग-धन्धों में लगाना होगा। ये उद्योग-धन्धे सभी तरह के होंगे। बड़े-बड़े उद्योग, गृह-उद्योग, गरज यह कि सभी तरह के उद्योग खोलकर कृषि का बोझ हलका किया जा सकेगा। और बेकारी के प्रश्न का भी समाधान तभी हो जायगा। इस प्रसंग में यह कह देना उचित जान पड़ता है कि तत्काल पूँजी के अभाव में बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण प्रायः असम्भव है। अतः अभी तो छोटे उद्योगों का ही जाल बिछा देना होगा।

हमारी वर्तमान कृषि-व्यवस्था पूँजीविहीन है। जमींदारी का अन्त, भूमि का पुनर्वितरण, लाभप्रद जोतों का निर्माण, इन कार्यों द्वारा भूमि-क्रान्ति तो हो जायगी पर पूँजी की समस्या तो हल नहीं होगी। उसके लिए सहयोग समितियों तथा ग्रामीण बैंकों की स्थापना करनी होगी। इन्हीं संस्थाओं के जरिए अच्छी खाद, बीज, हल तथा कृषि के अन्य साधन उपलब्ध किए जा सकते हैं। ग्रामीण खरीद-बिक्री की व्यवस्था ये संस्थायें कर सकेंगी। लेकिन ये संस्थायें कदापि सफल नहीं हो सकती हैं जब तक कि गाँव-पंचायतों की भी स्थापना नहीं हो जाती है। नई कृषि-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए इन दोनों प्रकार की संस्थाओं का निर्माण आवश्यक है।

अन्त में कृषि के पुनरुद्धार के लिए एक और महत्वपूर्ण समस्या का समाधान आवश्यक है। हमारी कृषि आज आसमान का गुलाम है। एकमात्र वर्षा पर निर्भरता भी कृषि को कमजोर बनाती है। अतः सिंचाई का समुचित प्रबन्ध किये वगैर उक्त सारी योजनायें असफल ही साबित होंगी। और सिंचाई की समस्या का समाधान सरकार और गाँव की सहयोग समितियों के सहयोग से ही संभव है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार ने इस दिशा में कदम तो उठाया है। बड़ी-बड़ी नदी-घाटी-योजनाएँ बनी हैं और बन रही हैं। लघु-सिंचाई योजनाएँ भी चली हैं। नहर, बाँध, बिजली और कुएँ भी बने

हैं। अमोनियम सल्फेट और सुपर फोसफेट जैसे खाद बनाने के लिए सिंदरी आदि में कारखाने खुले हैं। पर अब भी बहुत मंजिल तय करना बाकी है।

बिहार सरकार ने भी राज्य के पिछड़े इलाकों (छोटानागपुर आदि) में विशेष सुविधा दी है। यहाँ सरकार की ओर से किसानों को बीहन मिलता है जिस पर सूद नहीं लगता। खेती के औजार आधे दाम पर मिलते हैं। सुपर फौसफेट खाद पर भी रुपए में चार आना छूट है। ग्राम-पंचायत, सहयोग-समितियाँ, कृषि-कालेज, कृषि-स्कूल, प्रसार-प्रशिक्षण केन्द्र आदि भी कृषि-सुधार के राष्ट्रीय कार्य में सहयोग दे रहे हैं।

नवजीवन की और कृषि की उक्त बुनियादी समस्याओं पर अलावा और भी अनेक आनुषंगिक समस्यायें हैं। तत्काल बुनियादी समस्याओं से ही भारत प्रगति के मार्ग पर महान् कदम उठा सकेगा। उक्त समाधान से उत्पादन-वृद्धि होगी, रहन-सहन के स्तर में उन्नति होगी। सबसे बढ़ कर कृषि से सम्बद्ध जनसंख्या में नवजीवन और नवप्रेरणा का संचार होगा। कृषि की उन्नति हम सिर्फ अन्न की उत्पादन-वृद्धि के लिए ही नहीं बल्कि भारतीय स्थिर जीवन को नवस्वरूप प्रदान करने, उसमें नई जान और प्रेरणा भरने के लिए चाहते हैं। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की कृषि में उन्नति का मतलब होता है पूरे भारतीय समाज की उन्नति और नवजीवन की स्थापना। हम जनतांत्रिक समाज बनाने चले हैं; समुन्नत, विकेन्द्रित कृषि-व्यवस्था उसकी रीढ़ होती है और ऊपर इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था का चित्र पेश किया गया है।

———:o:———

हमारी अन्न-समस्या

आज भारत की ही नहीं, दुनिया की सबसे बड़ी समस्या है, अन्न की समस्या। संयुक्तराष्ट्र संघ की अन्न और कृषि-संस्था ने समय-समय पर जाँच-पड़ताल के बाद जो रिपोर्ट तैयार की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया में

कुल अनाज का उत्पादन बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में काफी कम होता है। यह स्थिति तब है जबकि पिछड़े देशों के लोगों को युरोप, अमेरिका के लोगों की अपेक्षा काफी कम खाना मिलता है। अगर दुनिया के सभी देशों के लोगों के लिए एक मानवोचित परिमाण और पौष्टिकता का हिसाब रखा जाय तो अनाज की और भी कमी लक्षित होगी। वह कमी हमें आपको गहरी चिन्ता में डाल देती है। इस तरह अनाज की समस्या को विश्व की जनसंख्या की पृष्ठभूमि में देखने पर उसकी वास्तविकता और विकटता का पता मिलता है। एक वाक्य में इतना ही कहना काफी होगा कि आज दुनिया अनाज कम पैदा करती है लेकिन खानेवाले ज्यादा पैदा करती है। और दुनिया के लिए यह दीर्घकालीन समस्या बन गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सेक्रेटरी जेनरल ने अपने एक बयान में चेतावनी दी है कि अगर अनाज-उत्पादन की यही रफ्तार रही तो भविष्य में भयंकर अकाल और भूखमरी का दृश्य उपस्थित होगा।

दुनिया की पृष्ठिभूमि में हमने इस समस्या पर विचार किया। लेकिन जब हम विभिन्न देशों पर पृथक्-पृथक विचार करते हैं तो समस्या और भी विस्तृत रूप से सामने आती है। उदाहरण के लिए भारत की तुलना अमेरिका तथा अन्य देशों से कीजिए।

एक औसत अमेरिका निवासी को अपने खाने में प्रतिदिन ३२४९ कैलोरी, कनाडा निवासी को ३१०७, ब्रिटेन निवासी को ३००५, डेनमार्क निवासी को ३२१५ कैलोरी जबकि औसत भारतीय को सिर्फ २०२१ कैलोरी मिलता है। भोजन-विशेषज्ञों का कहना है कि एक व्यक्ति को कम से कम लगभग ३ हजार कैलोरी मिलना चाहिए। कैलोरी की इस कमी के अलावा अन्य पौष्टिक वस्तुएँ भी बहुत कम उपलब्ध होती हैं। यद्यपि भारत में ही सबसे अधिक मवेशी हैं, फिर भी उनका दुग्ध-उत्पादन सिर्फ २ करोड़ २० लाख टन है। फलस्वरूप फी व्यक्ति पर अढ़ाई छँटाक दूध का हिसाब बैठता है। लेकिन पौष्टिक तत्व-विशेषज्ञों का कहना है कि फी व्यक्ति को रोजाना कम से कम आधा सेर दूध मिलना चाहिए। इस प्रसंग में पुनः अन्य देशों के अनुपात पर

दृष्टि डाली जाय। ग्रास्ट्रेलिया, कनाडा ग्रौर ब्रिटेन में फी व्यक्ति को रोजाना क्रमशः २२.२, २८.४, २०.३ छटाँक दूध मिलता है।

यही हाल अन्य पौष्टिक तत्वों, अण्डा, माँस, मछली, फल, हरी सब्जी, चीनी आदि का है। स्वास्थ्यप्रद जीवन बिताने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सालाना २२८ पाउन्ड सब्जी मिलनी चाहिए। लेकिन असल में फी भारतीय को सालाना सिर्फ ३० पाउन्ड मिलती है। और यद्यपि हम सबसे अधिक गन्ना पैदा करते हैं पर हमें सबसे कम चीनी या गुड़ प्राप्त होता है। एक ब्रिटिश निवासी को सालाना १०६ पाउन्ड चीनी मिल जाती है जबकि हमें सिर्फ ३० पाउन्ड चीनी (जिसमें गुड़ भी शामिल है) सालाना मिलती है।

ये आँकड़े हमारे भोजन की अवस्था सूचक हैं। लेकिन अवस्था का पूरा बोध प्राप्त करने के लिए अन्य आंकड़ों पर भी ध्यान देना उचित होगा। जाँच-पड़ताल के बाद यह पता चलता है कि लगभग ४० फी सदी लोगों को ही उचित और यथेष्ट भोजन मिलता है, बाकी ६० फी सदी को कैलोरी तथा पौष्टिकता की दृष्टि से बहुत कम खाना मिलता है। दुनिया के ७० देशों की सूची में भारत सिर्फ ७ देशों से आगे है।

संक्षेप में, यही है हमारी खाद्य-स्थिति। ऐसी अवस्था में अति मृत्यु संख्या बाल-मृत्यु, अकाल मृत्यु तथा बीमारी में वृद्धि स्वाभाविक है। और जब जन-स्वास्थ्य की यह हालत है तो फिर अधिक कार्यशक्ति और कार्यकुशलता कहाँ से आवे। यह तो एक भयानक चक्र है। कम भोजन मिले तो काम की शक्ति नहीं रहती और काम की शक्ति न रहने पर अनाज की पैदावार कैसे बढ़े? यही वह भयानक चक्र है।

हमारी अन्न समस्या के दो पहलू हैं। एक, तात्कालिक या आगामी ५ वर्षों के अन्दर सबके लिए अन्न की व्यवस्था करना, दूसरा, दीर्घकालीन योजना द्वारा अन्न-उत्पादन इतना बढ़ा देना कि प्रत्येक भारतीय को सम्भावित भविष्य तक उचित परिमाण में भोजन प्राप्त हो सके।

यह तो स्पष्ट है कि कम अन्न उत्पादन के कारण ही अन्न की कमी है। और यह उत्पादन-ह्रास आज का नहीं है, लगभग २५, ३० वर्षों से यह

सिलसिला चल रहा है। लेकिन जव वर्मा भारत से अलग हुआ और उसके साथ चावल का भंडार हाथों से निकल गया, तो पहली वार हमने अनाज की कमी की भयंकरता महसूस की। फिर द्वितीय महायुद्ध आया, वर्मा और हिन्द-चीन से अनाज आना वन्द हो गया। अव समस्या विकट रूप में उपस्थित हुई।

अव तक आयात के सहारे हम जीते रहे, अव आयात वन्द हुआ कि वह भयंकर वंगाल का अकाल पड़ा जिसने हमारा ध्यान अन्य समस्याओं की ओर केन्द्रित किया। यह वात नहीं कि पहले अकाल नहीं पड़ते थे, १९ वीं सदी में ३ करोड़ २० लाख लोगों की मृत्यु अकाल से हुई थी। लेकिन ये अकाल इसलिए नहीं पड़ते थे कि देश की कुल जरूरतों के मुकावले अनाज की कमी थी वल्कि अस्थायी स्थानीय कारणों और यातायात की सुविधाओं के अभाव में ये अकाल पड़ते थे। लेकिन आज अकाल तो सिर्फ इसलिए पड़ते हैं कि देश में एक ओर अनाज कम पैदा होता है, और दूसरी ओर जनसंख्या बढ़ती जाती है। फिर देश के विभाजन ने हालत को और बिगाड़ दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हालत एक लम्वे अरसे से बिगड़ती जा रही है। भूमि की शक्ति लगातार घटती जा रही है। फी एकड़ पैदावार घटती जा रही है, सिंचाई, वीज तथा खाद्य के अभाव में खेती समुचित रूप से हो नहीं पाती है। इस कारण जितना उत्पन्न हो सकता था उतना नहीं होता है। मौजूदा भूमि-सम्बन्धी कानून भी मार्ग के बाधक हैं। खेतिहरों को आज यह गारन्टी नहीं है कि वे जो पैदा करेंगे उनका माकूल हिस्सा उन्हीं को मिलेगा। भूमि-व्यवस्था के इस दोष के कारण उत्पादन-वृद्धि के लिए लोगों में जोश नहीं। फिर अलाभप्रद जोतें बढ़ रही हैं जिनका उत्पादन पर वहुत बुरा असर पड़ता है। जंगलों की अन्धाधुन्ध वर्वादी होने के कारण वर्षा समय पर नहीं होती है। हमारी चिंताजनक अन्न-समस्या के मूल में ये कुछ प्रमुख बातें हैं।

योजना-कमीशन ने एक अनुमान तैयार किया है जो बताता है कि उत्पादन और हमारी जरूरत में कितना अन्तर है और जनसंख्या की वृद्धि के साथ सन् १९५६ में यह अन्तर कितना बढ़ जायगा। उसके अनुमान के मुताबिक १९५० के स्तर पर खपत लाने के लिए सन् १९५६ में हमको करीब

७० लाख टन अतिरिक्त अनाज की जरूरत होगी। लेकिन सन् १९५० का स्तर स्वास्थ्यप्रद जीवन की दृष्टि से काफी कम है। तब अगर इस अनुपात में वृद्धि करें और फी बालिग पर प्रतिदिन १६ औंस का हिसाब रखें तो १ करोड़ ५८ लाख टन अतिरिक्त अनाज की आवश्यकता होगी।

अभी जब अकाल और भूखमरी की संभावना बनी है तब १६ औंस को स्थगित कर कम से कम १९५० के स्तर पर ही खपत की व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए अधिक से अधिक पैदावार बढ़ानी होगी, अनाज-भण्डार कायम करना होगा और वितरण का समुचित इन्तजाम करना होगा।

जहाँ तक उत्पादन-वृद्धि का सवाल है, वह एक पृथक् पहलू नहीं है, वह सिर्फ खेती की तरक्की से जुड़ी बल्कि वर्त्तमान भूमि-व्यवस्था से भी संबद्ध है। देश के अधिकांश भागों में आज भी कृषि-सम्बन्ध सामन्तयुगीन है, बिचवैयों का अन्त नहीं हुआ है, भूमि दास प्रथा का अन्त नहीं हुआ है; दूसरी ओर खेतिहरों की बेदखली होती है जिससे खेत पर मेहनत करनेवालों में वह प्रेरणा नहीं है जो उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक है। इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि शीघ्र से शीघ्र बिचवैया का अन्त कर, सुरक्षा की व्यवस्था कर, भूमि-पुर्नवितरण कर, कृषि-सम्बन्ध में आमूल में परिवर्तन लाया जाय। इस परिवर्तन से वह वातावरण उत्पन्न होगा जिसमें हर खेतिहर शक्ति से अधिक मेहनत कर पायेगा। हमारी अन्न-समस्या इतनी भयंकर हो चुकी है कि बगैर महान प्रयास के उसका समाधान असंभव है और वह महान् प्रयास तो कृषि-क्रान्ति के बाद ही संभव है।

यह ठीक है कि फिर भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो जाता है। आज खानेवाले अधिक हैं, जमीन कम है। अतः जमीन का रकबा भी बढ़ाना होगा। हमारे देश में करोड़ों एकड़ परती जमीन पड़ी है। अगर भूमि-सेना खड़ी हो जाय और युद्धस्तर पर कार्य किया जाय तो अगले ५ वर्षों के अन्दर कई करोड़ नई जमीन आबाद की जा सकती है।

अब सवाल उठता है, खेती के औजार और साधनों का। कृषि क्रान्ति के बाद जो लाजिमी तौर पर आवश्यक हो जाता है वह है गाँवों को खाद,

बैल, बीज, हल समुचित परिमाण में उपलब्ध करना : इसके लिए व्यक्तिगत सहायता-पद्धति गलत होगी। अनुभव ने यही साबित किया है। वस्तुत: गाँव को इकाई मानकर चलना होगा। गाँव-पंचायत को अपने दूर गाँव के साधन एकत्र करने होंगे, तब भी जो कमी होगी सरकार को उसे पूरा करना होगा।

पूर्व वर्णित सुझावों के अनुसार कार्य होने पर देश की तत्कालीन अन्न-समस्या हल होगी पर फिर भी वह स्थायी हल नहीं होगा। स्थायी हल के लिए हमें पहले देश को स्वावलम्बी बनाना होगा और यह काम कोई असंभव कार्य नहीं है।

स्थायी तौर पर देश को स्वावलम्बी बनाने के लिए उत्पादन को प्रतिशत आज से कई गुना बढ़ाना होगा। वह काम मौजूदा साधनों द्वारा पूरा नहीं हो सकता है। उसके लिए, (१) विशाल नदी-घाटी योजनाओं द्वारा जल तथा सस्ती बिजली की व्यवस्था करनी होगी, (२) सारे देश में सहकारी खेती की प्रथा चलानी होगी, (३) जनसंख्या की रफ्तार कम करनी होगी।

यही वह राह है जिसपर चलकर भारत अन्न-समस्या का स्थायी समाधान कर सकेगा, तभी प्रत्येक भारतवासी को स्वास्थ्यप्रद जीवन बिताने लायक भोजन प्राप्त हो सकेगा, तभी भूख की समस्या का हल होगा। तभी हम व्यक्ति के व्यक्तित्व की मर्यादा स्थापित कर सकेंगे। जनतांत्रिक जीवन विधि के लिए भूख की समस्या का समाधान प्राथमिक आवश्यकता है।

——०——

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उद्योग, कृषि, बैंक, बीमा अर्थात् आर्थिक ढांचे के सभी अंग स्वतन्त्र रहते हैं। व्यक्तिगत उद्योगपति ही विभिन्न उद्योगों का आरम्भ और संचालन करते हैं। बैंक और बीमा कम्पनियों पर भी उनका कब्जा रहता है। उसी तरह कृषि में भी पूँजीपतियों के बड़े-बड़े फार्म रहते

हैं जैसे अमेरिका में। लेकिन कृषि-क्षेत्र में सब देशों की यह हालत नहीं है। जैसे भारत में असंख्य किसान ही खेत के मालिक हैं। लेकिन इस अन्तर के बावजूद मूल कृषि-व्यवस्था दोनों देशों की एक ही है, यानी व्यक्तिगत स्वामित्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में उद्योग, कृषि तथा आर्थिक ढांचे के सभी अंग व्यक्तिगत स्वामित्व के मातहत रहते हैं। जब इन सब आर्थिक विभागों से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर राज्य के स्वामित्व की स्थापना की जाती है तो उसे राष्ट्रीयकरण कहते हैं। अगर सिर्फ उद्योग-धन्धों को ही राष्ट्र के स्वामित्व में कर लिया गया तो वह उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हुआ। मतलब यह कि राष्ट्रीयकरण पूरी अर्थव्यवस्था या उसके किसी एक या दो या उससे अधिक अंगों का हो सकता है। राष्ट्रीयकरण मुख्यत: स्वामित्व में परिवर्तन का द्योतक है।

इस प्रसंग में समाजीकरण के भेद को भी समझ लेना चाहिए। व्यक्तिगत स्वामित्व खत्मकर राष्ट्र के स्वामित्व की स्थापना राष्ट्रीयकरण का सूचक है। लेकिन समाजीकरण इससे भी एक कदम आगे की चीज है। पूरे समाज के स्वामित्व की स्थापना को ही समाजीकरण कहते हैं। स्पष्ट है कि समाज राष्ट्र से अधिक व्यापक है। इस तरह स्वामित्व की तीन प्रक्रिया हुई। व्यक्तिगत स्वामित्व, राष्ट्रीयकरण (राष्ट्र का स्वामित्व) और समाजीकरण (समाज का स्वामित्व)। अंतिम दोनों के भेद समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। भारत के रेलवे-उद्योग राष्ट्रीकृत उद्योग है। अत: इसका संचालन और व्यवस्था सरकार द्वारा होता है। इस उद्योग के मुनाफे का उपयोग सरकार अपने इच्छानुसार करती है। लेकिन समाजीकृत उद्योग में ऐसी बात नहीं होगी। उसका तो संचालन नियंत्रण और व्यवस्था उस उद्योग से सम्बन्धित कर्मचारी और समाज के प्रतिनिधि ही करेंगे। और इससे जो उत्पादन होगा उसका समुचित बँटवारा पूरे समाज में होगा।

दोनों में एक और अन्तर है। राष्ट्रीयकरण पूँजीवादी व्यवस्था में भी संभव है जबकि समाजीकरण सिर्फ समाजवादी व्यवस्था में हो सकता है। मिसाल के तौर पर, रूस को ले लीजिए। वहाँ की पूरी अर्थ-व्यवस्था राज्य

के अधिकार में है, राज्य की ओर से चुने हुए अधिकारी उसका संचालन करते हैं। इसलिए वहाँ की व्यवस्था को हम राज्य-पूँजीवाद कहेंगे यद्यपि वहाँ उद्योग, कृषि का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो चुका है। भारत की व्यवस्था भी पूँजीवादी है। लेकिन यहाँ के रेल-उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इस तरह यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण यद्यपि स्वामित्व में परिवर्तन का सूचक है तथापि यह पूँजीवादी व्यवस्था में भी सम्भव है जबकि समाजीकरण संभव नहीं है। राष्ट्रीयकरण विकास की ओर एक बड़ा कदम है जबकि समाजीकरण अन्तिम समाधान है।

भारत में आज बुनियादी उद्योग-धंधों तथा बैंक और बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है। वह इसलिए कि उद्योगों का सुयोजित विकास हो, पैदावार मुनाफे के लिए नहीं, जनता के उपभोग के लिए हो, राष्ट्र की दौलत का अधिकांश मुट्ठी भर लोगों तक सीमित न रहे, उसका पूरी जनता में बँटवारा हो। इन बातों के अलावा यह तर्क भी पेश किया जाता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से कभी मन्दी और बेकारी आती है, तो कभी तरक्की का समय आता है। इस तरह समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न होता रहता है जिससे बहुसंख्यक जनता तबाह और बर्बाद होती है, जिससे राष्ट्र की प्रगति रुकती है जिससे देश का अधःपतन होता है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सामाजिक न्याय की भी चर्चा की जाती है। कहा जाता है कि देश की दौलत किसी एक व्यक्ति की नहीं है। वह उस दौलत को पैदा करनेवालों की है।

अब हम बिस्तार में इन तर्कों की परीक्षा करेंगे, इस प्रसंग में हम खास तौर पर भारत के उद्योग-धन्धों का ही उदाहरण लेंगे।

करीब १०० वर्ष पहले भारत में आधुनिक ढंग के उद्योग-धन्धे शुरू हुए। यद्यपि विदेशी शासन के कारण इसके आगे कुछ रुकावटें थीं पर दूसरी ओर जनता ने राष्ट्रीय उद्योगों को खूब प्रोत्साहन दिया। स्वदेशी आन्दोलन ने भारत में ऐसे बाजार खोल दिए कि भारत में तैयार घटिया और महँगे माल की खूब खपत शुरू हुई। पुनः विदेशी शासकों ने भी बाद को लोहा, इस्पात,

चीनी, कागज आदि उद्योगों को काफी मदद पहुँचाई। इस तरह उद्योगों का विकास होता गया। फिर दूसरा विश्व-युद्ध शुरू हुआ जिससे कमी की स्थिति उत्पन्न हुई। इस स्थिति में उद्योगपतियों ने उद्योगों का ख्याल न कर बेशुमार मुनाफा ही कमाया। युद्ध के वाद भी दुनिया भर में चीजों की कमी बनी हुई है। माँग काफी ज्यादा है। परन्तु इन सुनहले अवसरों का उपयोग उद्योगपतियों ने अपने हित में, न कि समाज के हित में किया। फल यह है कि १०० वर्षों के औद्योगीकरण के वाद भी हम आज पिछड़े हैं। आज भी उद्योग-धंधों में लगे लोगों की संख्या करीब ३० लाख ही है। और इस-लिए हमारी कृषि पर अतिशय बोझ है। विशेषज्ञों की राय है १०० वर्ष में उद्योगपतियों ने जितने उद्योग-धंधे वढ़ाये हैं उतना विकास सिर्फ ३० वर्ष में हो सकता है अगर उद्योगों पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित हो जाए।

यह तो विकास की वात हुई। फिर उद्योगों के जो विकास भी हुए हैं या हो रहे हैं वे किसी योजना के अनुसार नहीं, जैसे आज देश में वनस्पति घी तथा इस तरह के उद्योगों में उद्योगपति पूँजी लगा रहे हैं जिससे तत्काल मुनाफा आए जवकि देश को आज जरूरत है वुनियादी उद्योगों की मशीन तैयार करनेवाले उद्योगों की, इन्जीनियरिंग उद्योगों की। इन उद्योगों में पूँजी इसलिए नहीं लगाई जा रही है कि इनसे मुनाफा तुरन्त नहीं आयगा और आयगा भी तो अपेक्षाकृत काफी कम। इसीलिए वनस्पति-उद्योग में वह पूँजी लगाते हैं। इस तरह उन्हें अधिक मुनाफा तो मिल जाता है पर हमारे देश का सुयोजित आर्थिक विकास नहीं होता है, धन का उपयोग आर्थिक विस्तार के लिए नहीं हो पाता है वल्कि उससे तत्काल अधिक धन वनाया जाता है और उसको विलास में खर्च किया जाता है। कुल मिलाकर इससे देश की दौलत की ही वर्वादी होती है। इसका वड़ा प्रमाण भारतीय कोयला-उद्योग है। विशेषज्ञों ने जाँच-पड़ताल कर यह मत प्रकट किया है कि कोयला-उद्योग के विभिन्न मालिक इस राष्ट्रीय सम्पत्ति की हिफाजत का बिल्कुल ही ख्याल नहीं करते हैं। वे अपने मुनाफे के लिए लागत कम लगाते हैं। इस तरह

कोयला-मालिकों के मुनाफा और लापरवाही के कारण आज देश का बहुमूल्य धन वर्बाद हो रहा है।

जहाँ तक कार्यकुशलता का सवाल है, उस दिशा में भी हमारे उद्योगों का हाल बुरा है। आज भारतीय उद्योग अकार्यकुशलता के शिकार हैं, न तो उत्पादन-उद्योगों की उत्पादन-क्षमता के अनुसार होता है और न चीजों के गुण में तरक्की आती है। सर्वांगीण कुशलता बढ़ाने के लिए टेकनिकल कुशलता तथा व्यवस्था की कुशलता बढ़ानी होती है। पुनः टेकनिकल क्षेत्रों में नई खोजों द्वारा तरक्की लानी होती है। इस तरह उद्योगों की कार्यकुशलता बढ़ती है। लेकिन भारत में ऐसी कोई चेष्टा नहीं होती है। फलतः हमारे उद्योग जितने हैं भी उनकी कार्यकुशलता अन्य देशों के मुकाबले में बहुत कम है। यह अवस्था अगर कुछ दिन और बनी रही तो देश के उद्योगों को बहुत धक्का लगेगा, औद्योगिक विकास ही रुक जायगा। इसलिए भी भारत में राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता बढ़ गयी है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में और भी अनेक बातें हैं। चूँकि भारत के उद्योगपतियों का लक्ष्य रहता है, शीघ्र-से-शीघ्र अधिक मुनाफा पैदा करना, अतः वे तमाम समुदाय के हितों का ख्याल नहीं करते हैं। आज अधिकांश जो ज्वायंट स्टाक कम्पनी है उनमें छोटे-छोटे शेयर-होल्डरों के शेयर लगे हुए हैं। लेकिन इनका जो मुट्ठीभर लोग संचालन करते हैं वे शेयर-होल्डरों के साथ ईमानदारी नहीं बरतते हैं। आम तौर पर शेयर-होल्डर अनजान होते हैं, अतः उन्हें चकमा देना आसान होता है। मैनेजिंग एजेन्ट के रूप में जो चन्द उद्योगपति कारखाने को चलाते हैं वे मुख्यतः अपने मुनाफे से, कारखाने की तरक्की से नहीं, दिलचस्पी रखते हैं। पुनः, मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकार बेचे और खरीदे जाते हैं। इससे शेयर-होल्डर और तमाम समुदाय के ही हित पर धक्का लगता है। इन बातों का बुरा प्रभाव यह भी पड़ता है कि आज अब लोग उद्योगों में शेयर-लगाना नहीं चाहते हैं और इस तरह बचत और पूँजी-संग्रह घटता जा रहा है। फिर उद्योगों का विकास कहाँ से हो ?

अन्त में पूरे जनसमुदाय को भी कम त्याग करना नहीं पड़ता है। जिस समुदाय ने भारतीय उद्योगपतियों का स्वदेशी आन्दोलन द्वारा समर्थन किया उसके साथ भी ये न्याय नहीं करते हैं। समुदाय के एक साधारण व्यक्ति के लिए दो बातें प्रमुख हैं, सस्ते दाम और अच्छा माल। लेकिन हालत आज बिलकुल उल्टी है। दाम भी ज्यादे हैं और चीजें भी घटिया मिलती हैं। कृत्रिम कमी की स्थिति पैदा कर बहुत अधिक मूल्य कर देने, चोरबाजारी का सिलसिला जारी रखने, आदि से जनसमुदाय का शोषण होता है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयकरण के पक्ष में जो तर्क पेश किये जाते हैं वे तर्कसम्मत यथार्थ हैं। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में एक और जबर्दस्त तर्क है।

अपने देश में वास्तविक अर्थ में उद्योगपति एकाध ही हैं, अधिकांश धनपति हैं। चूँकि देश गरीब है अतः औद्योगिक विकास के लिए पूँजी की कमी है। ऐसी हालत में जिन मुट्ठीभर लोगों के पास पूँजी संग्रहीत है वे ही देश की अर्थनीति को जैसा चाहे चलाते हैं। पिछले कुछ वर्षों से, खास तौर पर दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से, पूँजी का केन्द्रीकरण हो रहा है, मुनाफा चन्द एकाधिकारी मालिक तक ही सीमित रह जाते हैं। इस तरह लोहा, सीमेंट, बिजली, कपड़ा-उद्योग तथा बैंक, बीमा आदि पर जिन गुटों का कब्जा है वे आज बहुत शक्तिशाली हो गये हैं। वे ही आज हमारे असली शासक हैं। वे देश के आर्थिक विकास के नियामक हो गये हैं, वे सरकार को निर्देश दे सकते हैं। पूरी अर्थ-व्यवस्था पर कुछ एकाधिकारी पूँजीपतियों का नियंत्रण छोटे उद्योगपति, कर्मचारियों, उपभोक्ताओ और अन्त में पूरे जनसमुदाय के लिए खतरे की बात है। यह जो पूँजीपतियों का शक्तिशाली गुट बन गया है वह जनतन्त्र के लिए भी खतरा है। आर्थिक शक्ति के इतने केन्द्रीकरण से जनतन्त्र को सबसे पहले क्षति पहुँचती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश के समुचित आर्थिक विकास, सुयोजित राष्ट्रीय विकास, उत्पादन-वृद्धि, समुचित वितरण, कार्यकुशलता और टेकनिकल प्रगति; कर्मचारियों तथा जनसमुदाय के हित और अन्त में जनतन्त्र की रक्षा-

गरज यह कि सभी दृष्टियों से राष्ट्रीयकरण उचित और आवश्यक प्रमाणित होता है।

आरम्भ में बुनियादी और प्रमुख उद्योगों, बैंक और बीमा कम्पनियों तथा उपभोक्ता की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाले उद्योगों जैसे कपड़े आदि का राष्ट्रीयकरण होगा। राष्ट्रीयकरण के बाद उद्योगों का विकास एक योजना के अनुसार होगा। सामाजिक कल्याण के आधार पर तय होगा कि किस उद्योग का पहले विकास किया जाय। जो कुछ भी मुनाफे आयेंगे उनको पुनः आर्थिक योजना के अनुसार उद्योग में ही लगा दिया जायगा। कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए टेकनिकल प्रगति करनी होगी। और उद्योगों का संभालना नौकरशाही द्वारा नहीं होगा। बल्कि वह सरकार तथा कर्मचारियों की मिली-जुली समिति द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि औद्योगिक जनतन्त्र ही प्रबन्ध का मूलाधार होगा। इस ढांचे में स्वभावतः कर्मचारियों के साथ पूर्ण न्याय होगा। जहाँ तक वितरण का प्रश्न है, वह समानता के आधार पर होगा। जितनी पैदावार होगी उसे बराबर के आधार पर बाँटा जायगा।

संक्षेप में, राष्ट्रीयकरण के बाद यही तस्वीर संभव प्रतीत होती है। इतना हो जाने पर मुट्ठी भर लोगों का जनमत के साधनों पर नियंत्रण और राज-नीतिक दलों पर असर नहीं रहेगा, दूसरे शब्दों में जनतंत्र को कोई खतरा नहीं रहेगा।

लेकिन राष्ट्रीयकरण के मार्ग में कुछ अनिवार्य कठिनाइयाँ भी उपस्थित होती हैं, जैसे मुआवजा का सवाल, अनुभवी कर्मचारियों का सवाल, केन्द्रीकरण का सवाल, नौकरशाही का सवाल, इनमें जहाँ तक मुआवजा और अनुभवी कर्मचारियों का सवाल है, वे आसानी से हल हो सकते हैं। मुआवजा बौंड के रूप में दिया जा सकता है। दूसरे, पूँजी टैक्स लागू करने से धनपतियों से रुपये सरकार को मिलेंगे। इस प्रकार उद्योगों में लगी उद्योगपतियों की पूँजी सामाजिक स्वामित्व के खाते में दर्ज हो जायगी। तब मुआवजे की जो थोड़ी रकम बच जायगी उसके लिए बौंड जारी किया जा सकता है। जहाँ तक अनुभवी कर्मचारियों का मामला है वह तो और भी आसानी से हल हो

सकता है। आज पूँजीपतियों के जो कर्मचारी हैं, कल सरकार के हो जायेंगे। वे ही मैनेजर और टेकनिशियन रहेंगे, सिर्फ स्वामित्व और व्यवस्था बदल जायगी। इस प्रकार औद्योगिक जनतंत्र की स्थापना कर नौकरशाही और केन्द्रीकरण का खतरा भी दूर किया जा सकता है। मतलब यह कि चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाय, राष्ट्रीयकरण न केवल उचित कदम, बल्कि संभव कदम प्रतीत होता है।

स्वतंत्र भारत के उद्योग-धंधे

औद्योगिक क्षेत्र में समुन्नत पश्चिम के देश आज भी कुछ ऐसा ही समझते हैं कि भारत अभी बैलगाड़ी के युग से ही गुजर रहा है। हमें यह कहकर अवश्य संतोष कर लेना चाहिए कि आज जैसी भी स्थिति हो, किन्तु एक समय था जब पश्चिम के ये ही देश बर्बरावस्था में थे और हमारे यहाँ बड़े-बड़े दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के अतिरिक्त ऐसी भौतिक प्रगति भी हुई थी जिसकी समता तत्कालीन सभ्यता के केन्द्र नहीं कर सकते थे। हाँ, हम इन देशों से यह अवश्य पूछ सकते हैं कि हमारे औद्योगिक ह्रास और अवनति के लिए उत्तरदायी कौन हैं? सत्य तो यही है कि हमारे औद्योगिक विकास में बाधक ब्रिटेन का शासन-यंत्र ही रहा है, अन्यथा न तो यहाँ कच्चे माल की कमी है, न शिल्पियों की और न व्यावसायिक बुद्धि रखनेवाले औद्योगिकों की ही।

द्वितीय महायुद्ध तक तो विदेशी शासन पग-पग पर भारत के औद्योगिक विकास में बाधा देता रहा, किन्तु इस युद्ध की अवधि में ब्रिटेन के स्वार्थों के लिए ही यह अनिवार्य हो गया कि भारत में बड़े-बड़े उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया जाय। रहस्य यह था कि जापान को पराजित करने के लिए भारत को ही सामरिक अड्डा बनाया गया था और यहीं से पूर्वीय और मध्य-पूर्वीय

युद्ध-क्षेत्रों में सामरिक सामग्रियों को पहुँचाया जा सकता था। फलत: ब्रिटेन को ही अनेक उद्योग-धंधों की स्थापना भारत में करनी पड़ी।

द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्षों के वाद ही जव भारत स्वतंत्र राष्ट्र वन गया, तो आर्थिक पुर्ननिर्माण के पथ की समस्त वाधाएँ हट गईं और देश के अविलम्ब औद्योगीकरण की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। औद्योगीकरण केवल आत्म-निर्भरता के लिए ही आवश्यक नहीं था, बल्कि इसलिए भी कि राष्ट्रीय संपत्ति में वृद्धि की जा सके और इस प्रकार जनसाधारण के जीवन-स्तर को उठाया और वेरोजगारी की समस्या को दूर किया जा सके। जनसंख्या का जो भार कृषि पर दिनानुदिन वढ़ता जा रहा था उसे भी, अधिकाधिक लोगों को उद्योग-धंधों की ओर मोड़कर, कम करना जरूरी था।

इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर भारत सरकार ने देश के औद्योगिक विकास के उपायों और साधनों की छान-वीन शुरू की। तात्कालिक प्रयास के रूप में उसने कुछ उद्योगों की सपूर्ण संभावित शक्ति का अनुमान कर अधिकाधिक उत्पादन के लिए निर्देश जारी किए। इसके उपरान्त अप्रैल १९५८ में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की और सरकारी तथा गैर-सरकारी उद्योग-धंधों के क्षेत्रों का निर्धारण किया।

इस नीति के अनुसार कुछ उद्योग-धंधे उदाहरणार्थ शस्त्रास्त्रों का निर्माण, आणविक शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण और रेलवे, केन्द्रीय सरकार के एकाधिकार में रहेंगे। कुछ उद्योग-धंधे, जैसे कोयला, लोहा, इस्पात, वायुयान, जहाज, टेलीफोन, टेलीग्राफ और रेडियो के सामान और खनिज तेल, ऐसे रखे गए जिनके विकास का दायित्व तो सरकार का था किन्तु आवश्यकतानुसार गैर-सरकारी सहयोग भी लिया जा सकता था। कुछ सरकारी नियमों और नियंत्रणों के साथ अन्य उद्योग-धंधे गैरसरकारी प्रयास के लिए छोड़ दिए गए, जैसे वस्त्र, पाट, चीनी, चाय, सिमेंट और चमड़े के उद्योग।

इसके वाद आई भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना, जिनमें औद्योगिक विकास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें १७३ करोड़ रुपए सरकारी और २३३ करोड़ रुपए गैर-सरकारी उद्योग-धंधों का खर्च करने की व्यवस्था है।

अधिकतर रकम आधारभूत (Basic capital goods), उद्योग पर लगाने की योजना है। जहाँ तक उपभोक्ता-सामग्रियों (Consumer goods) के उद्योगों का प्रश्न है, लक्ष्य यह है कि वर्त्तमान क्षमता के ही अधिकाधिक उपयोग द्वारा, न कि नए कल-कारखानों से, उत्पादन में वृद्धि की जाय। इन विकास योजनाओं के लिए पारस्परिक लाभ की शर्त्तों और सुविधाओं के साथ विदेशी पूँजी भी ली जा सकती है।

यह तो बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में कार्य-क्रम है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि छोटे और घरेलू उद्योग-धंधों की प्रथम पंचवर्षीय योजना में उपेक्षा की गयी है। वस्तुतः ऐसे उद्योगों के लिए एक खासी रकम, २७ करोड़ रुपए निर्धारित है। इनके और बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के क्षेत्रों के बीच एक स्पष्ट विभाजक-रेखा अंकित की गई है जिससे इनके बीच अहितकर प्रतियोगिता शुरू न हो जाए।

भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, जो १-४-१९५६ में लागू होने वाली है दो मुख्य लक्ष्य हैं—(१) राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष पाँच प्रतिशत की वृद्धि, और (२) एक करोड़ से भी अधिक लोगों के लिए जीविकोपार्जन के निमित्त नए कार्यों की व्यवस्था करना।

यह संतोष का विषय है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वयन की चार वर्षों की अल्प अवधि में ही उत्पादक (Producer) और उपभोक्ता (Consumer) सामग्रियों के क्षेत्रों में निश्चित लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए सफल प्रयास हुए हैं। कुछ क्षेत्रों में तो निर्धारित लक्ष्य से अधिक उत्पादन भी हुआ है। आधारभूत सामग्रियों के उद्योगों, उदाहरणार्थ लोहा और इस्पात, ऐलम्यूनियम, रेल-इंजिन, बिजली के बड़े-बड़े यन्त्र आदि के विकास योजना को भी कार्यान्वित किया जा रहा है।

भारत में जो उद्योग-धंधे स्थापित हुए हैं या हो रहे हैं, उनमें कुछ के लिए विदेशी पूँजी भी स्वीकृत हुई है। ऐसे उद्योगों में उड़ीसा के रूरकेला और मध्यप्रदेश के भिलाई नामक स्थानों में आयोजित लोहा और इस्पात के कारखाने महत्त्वपूर्ण हैं। लोहा और इस्पात का तीसरा कारखाना पश्चिम

वंगाल में दुर्गापुर में स्थापित होगा। राँची में वड़ी मशीन वनाने का एक विराट कारखाना खुल रहा है। वम्बई में पेट्रोल साफ करने के कारखाने खोले गए हैं। सरकारी उद्योग के क्षेत्रों में भी काफी प्रगति हुई है, उदाहरणार्थ चित्तरंजन के रेल-इंजिन कारखाने, सिंदरी के खाद के कारखाने, भारतीय टेलीफोन उद्योग, मद्रास के रेल के डब्बों के कारखाने और विशाखापटनम के जहाज-निर्माण-केन्द्र का उल्लेख किया जा सकता है। पेनिसिलीन और डी० डी० टी० के कारखाने भी इस वर्ष से काम करने लगे हैं। कुटीर उद्योगों की प्रगति भी संतोषजनक है।

यह संक्षेप विवरण इस वात का पर्याप्त प्रमाण है कि भारत सरकार औद्योगीकरण के क्षेत्र में पूर्णतः सचेष्ट है। यदि पूँजी के अभाव में योजना के कार्यान्वियन में वाधा नहीं पहुँची तो निकट भविष्य में भारत में औद्योगिक युगांतर उपस्थित हो जायगा। इसके फलस्वरूप भारत की कोटि-कोटि जनता की आर्थिक अवस्था और जीवन-स्तर में तो वृद्धि होगी ही, वह औद्योगिक उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर भी वन सकेगा।

गृह-उद्योग

भारत जैसे कृषि-प्रधान और पिछड़े देश के लिए गृह-उद्योग का विशेष महत्त्व है। वैसे, वर्त्तमान सभ्यता आज यहाँ पहुँच गई है उसके प्रसंग में गृह-उंद्योग और छोटे पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों पर पुनर्विचार आरम्भ हो गया है। भारी उद्योगों पर आधारित समाज जहाँ टेकनिक की दृष्टि से काफी विकसित होता है, वहाँ उसमें कुछ ऐसे आधारभूत दोष आ जाते हैं कि सभी विकास निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

, अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत रूस आदि देशों में भारी उद्योगों का वहुत विकास हो चुका है। बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इन देशों

का आर्थिक केन्द्र-चिन्ह है, बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योग-धन्धे। इन देशों के समाज को हम औद्योगिक समाज कह सकते हैं। खास तौर पर अमेरिका और रूस में इस प्रकार के समाज के गुण-दोष स्पष्ट दीख पड़ते हैं। ब्रिटेन की व्यवस्था जरा भिन्न है। रूस और अमेरिका में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। रूस में तो केन्द्रीकरण का चरम विकास हो गया। रूस की अर्थ-व्यवस्था भारी उद्योगों पर आधारित है। ऐसी व्यवस्था की स्वाभाविक परिणति केन्द्रीकरण में होती है। पहले आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण होता है और चूँकि आर्थिक शक्ति केन्द्रित करने के लिए सख्त राज्य-मशीनरी की आवश्यकता है, अतः कालक्रम में राजनीतिक केन्द्रीकरण और इस प्रकार अन्त में पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाता है। सारा समाज नियंत्रित हो जाता है। रूस में यही हुआ है। अमेरिका में अगर भारी उद्योगों के आधार पर ही औद्योगीकरण होता रहा तो वहाँ भी कालक्रम में पूर्ण केन्द्रीकरण होकर रहेगा क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था का वही तर्कसिद्ध परिणाम है। जहाँ तक ब्रिटेन की बात है, वहाँ उद्योगों में केन्द्रीकरण कम करने की चेष्टा की जा रही है और इस प्रकार औद्योगिक जनतंत्र की पूर्ण स्थापना की चेष्टा की जा रही है। इस दिशा में उन्हें कुछ सफलता भी मिली है पर अन्तिम सफलता तभी मिलेगी जब वहाँ भी उद्योगों का स्वरूप बदला जायगा। वर्त्तमान उद्योग प्रणाली का केन्द्रीकरण से बचाव संभव नहीं है।

केन्द्रीकरण के इस खतरे को महसूस कर ही दुनिया का ध्यान आज छोटे और गृह-उद्योग-धंधों की ओर गया।

भारत में तो इस पर एक और कारण से विशेष ध्यान गया है। हमारा देश कृषि-प्रधान है, हमारी आबादी बेशुमार है। आबादी के बोझ से दबे इस गरीब देश की बेकारी की भीषण समस्या का समाधान करना है। आर्थिक दृष्टि से देश काफी उन्नत नहीं है। तत्काल अनेक उद्योग-धन्धे खोलकर काफी लोगों को काम देना संभव नहीं मालूम होता है। ऐसी दशा में बढ़ती हुई बेकारी का क्या इलाज है?

जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो स्वभावतया हमारा ध्यान

गृह-उद्योगों की ओर जाता है : हम गृह-उद्योगों को बेकारी के समाधान का एक बहुत ही लाभकारी तरीका मानते हैं।

अब इस स्थल पर गृह-उद्योग की परिभाषा देना उचित जान पड़ता है। इस उद्योग की सबसे पहली विशेषता होती है, कम पूँजी। दूसरी विशेषता है इसका छोटापन; तीसरी, छोटी मशीनों द्वारा उत्पादन; चौथा, आदमी के पहले मशीनों से काम नहीं कराकर मानव श्रम का अधिक से अधिक उपयोग और पाँचवाँ, केन्द्रीकरण का अभाव। इस प्रसंग से यह याद रखना चाहिए कि ग्राम-उद्योग के दायरे में ही गृह-उद्योग-धंधे आते हैं। वस्तुत: ये दोनों नाम भिन्न अर्थ के द्योतक नहीं हैं। गृह-उद्योग तो ग्राम-उद्योग के ही अंतर्गत पड़ता है।

जब हम भारी उद्योगों पर आधारित व्यवस्था के दोषों की चर्चा करते हैं तो उससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हम भारी उद्योग बिल्कुल ही नहीं चाहते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि हमारी जो भी आर्थिक योजना बने वह सिर्फ भारी उद्योग के विकास पर जोर न दे। हमारे विचारानुसार कुछ उद्योगों को तो बड़े पैमाने पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन तब भी हम गृह-उद्योग-धंधों का विकास कर सकते हैं। हमारी उद्योग पर आधारित समाज-व्यवस्था के दोषों से बचने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगीकरण की योजना में गृह-उद्योग का भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो। तभी कोई सुसंभव योजना तैयार होगी।

भारत में बेकारी इतनी अधिक है और रोज बढ़ती जा रही है कि सारे देश में गृह-उद्योगों का जाल बिछाये बिना इसका समाधान असंभव है। २१ साल पहले यह हालत थी कि कम से कम दो करोड़ आदमी बिल्कुल बेकार थे और अधूरे काम में लगे हुए व्यक्तियों की तादाद भी लाखों में थी। (१९३१ की मर्दुमशुमारी) खेती को वैज्ञानिक रूप देने के बाद, बचे हुए लोगों को काम में लगाने के दूसरे उपाय तलाश करने होंगे। इसके अलावा शहरी क्षेत्रों के मध्यमश्रेणी के बहुसंख्यक लोगों को और अबादी के बढ़ने के कारण जो नये मजदूर तैयार होते हैं, उन्हें काम-धन्धा देने का सवाल भी है।

हर साल जिन लोगों के लिये हमको काम-धंधा की तलाश करनी है, उनमें से वहुत कम को वड़े उद्योगों में खपाया जा सकता है। वड़े उद्योगों में इस समय करीब ३० लाख व्यक्ति लगे हुए हैं और मोटे तौर पर देश की आबादी में हर साल इतनी ही वृद्धि हो जाती है।

राष्ट्रपिता गांधी जी ने इन शब्दों में इस सिद्धांत को पेश किया है—'वड़े कारखानों में पैदावार करने के वजाय ग्राम जनता के हाथों पैदावार होने दो। वड़े उद्योगों की तुलना में छोटे एवं घरेलू उद्योगों में रोजगार देने की ज्यादा ताकत है।"

दियासलाई-उद्योग का यह हाल है कि वेस्टर्न इन्डिया मैच कम्पनी दियासलाई के २ करोड़ ग्राम वाक्स तैयार करने में ४००० मजदूरों को काम देती है, जवकि सतूर और शिव काशी के घरेलू उत्पादक ५० लाख ग्रास पैदा करने में १६००० आदमियों को काम देते हैं।

इस वारे में आँकड़े सुलभ नहीं हैं कि घरेलू और छोटे उद्योगों में कितने लोगों को काम-धंधा मिला हुआ है। हाँ, हाथ-कर्घा-उद्योग में, यह अनुमान किया जाता है कि २० लाख आदमियों को काम मिला हुआ है।

लोगों को काम देने के अलावा, घरेलू और छोटे उद्योग राष्ट्रीय आय को वढ़ाने में भी काफी वड़ा हिस्सा लेते हैं। हमारी आवादी का बहुत वड़ा हिस्सा अपनी जरूरतों के लिये आज भी उन्हीं पर निर्भर है। कपड़ा मिलों का उद्योग देश का सबसे अधिक उन्नत उद्योग है। फिर भी कपड़े का घरेलू उद्योग देहाती जनता की जरूरत को एक वड़ी हद तक पूरा करता है। उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक घरेलू श्रमिक कपड़े की २५ फी सदी जरूरत को पूरा करता है, और उस हालत में जवकि उसे पिछले डेढ़ सौ वर्षों में तेज और कभी-कभी अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा है। जब हम जनता की रोज जरूरत की दूसरी चीजों का विचार करते हैं तो घरेलू-उद्योग की स्थिति और भी मजवूत मालूम होती है। यह अनुमान किया जाता है कि धान का करीव तीन चौथाई भाग घरेलू उद्योगों की मारफत कूटा जाता है। खाने के काम में आनेवाले तेल का दो तिहाई हिस्सा अब भी घानी या कोल्हू के

जरिये पेरा जाता है। गुड़ का उद्योग बहुत पुराना है, जिससे मुख्यतः मीठे की आवश्यकता पूरी होती है। यह पूर्णतया घरेलू उद्योग है। देहातों में जनता के जूते, बैलों की जोत आदि की जरूरत अभी भी करीब-करीब घरेलू उद्योगों से ही पूरी होती है।

अगर घरेलू उद्योगों की पैदावार और उनमें लगे हुए लोगों के बारे में ठीक-ठीक आँकड़े रखे जा सकें तो यह मालूम करना आसान होगा कि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में उनका क्या स्थान है। राष्ट्रीय आय-कमेटी की रिपोर्ट में यह बताया गया है कि देश की आय में बड़े उद्योगों के मुकाबले, जो आम तौर पर संयुक्त उद्योग होते हैं, छोटे उद्योगों का योग, जो अधिकतर घरेलू हैं, करीब-करीब पांच गुना होगा।

विभिन्न राज्यों में घरेलू उद्योगों के विकास का स्तर एक सरीखा नहीं है और न उनकी उन्नति की ओर ही समान ध्यान दिया गया है। आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि बी श्रेणी के राज्यों के मुकाबले ए श्रेणी के राज्यों में उनकी अधिक उन्नति हुई है। लेकिन सभी राज्यों में घरेलू और छोटे उद्योगों की उन्नति की ओर ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। ए श्रेणी के राज्यों में उत्तर प्रदेश और बम्बई और बी श्रेणी के राज्यों में मैसूर ने अन्य राज्यों के मुकाबले ज्यादा तरक्की की है।

मैसूर ने १६ घरेलू उद्योगों के शिक्षण और उत्पादन-केन्द्र कायम करने की तीनसाला योजना पर अमल किया है। घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने की मैसूर की योजना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ये हैं। घरेलू उद्योगों में लगे हुए कारीगरों को सहायता देने की योजना चालू की गयी है। एक मजबूत विभाग संगठित किया गया है जिसके साथ नौ उद्योग-विशेषज्ञ नियुक्त किये गये हैं। सन् १९४९ के अन्त में श्री एम० विश्वेश्वरैया की देहात-औद्योगीकरण-योजना पर खुद उन्हीं की सक्रिय मदद से अमल शुरू किया गया है। श्री विश्वेश्वरैया की योजना के दो मकसद हैं—१. उत्पादन बढ़ाना, २. लोगों में स्वावलम्बन, सामूहिक प्रयत्न और अनुशासन की भावना जगाना। इस योजना के अनुसार १५ हजार की आबादी के गाँवों का एक समूह बना

दिया जाता है और हर समूह के लिए निर्वाचित सदस्यों की विकास-कमेटियाँ नियुक्त की जाती हैं। इस ग्राम-समूह की औद्योगिक उन्नति की जिम्मेदारी इन कमेटियों को सौंप दी जाती है। ये कमेटियाँ आय-सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठा करेंगी, पैदावार बढ़ाने का कार्यक्रम बनायेंगी, विकास करने के लिए उद्योगों का चुनाव करेंगी और अपना खर्च चलाने के लिए चन्दा इकट्ठा करेंगी। शुरू के दिनों में कमेटियों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जायगी। यह योजना बंगलोर और कोलार इन दो जिलों में शुरू की गई हैं।

विहार ने सूती और रेशमी कपड़ा-उद्योग में काफी प्रगति की है। उसके तैयार माल की विक्री के लिए गुलजारबाग में विहार घरेलू-उद्योग नाम की बढ़िया संस्था है। गुलजारबाग में कारीगरों को शिक्षा देने की संस्था अलग है। हाल ही में पुनर्गठन की एक व्यापक योजना बनाई गई है, जिसके अनुसार माल को वेचने और कारीगरों को शिक्षा देने के काम को फिर से संगठित और मजबूत किया जायगा और चलते-फिरते शिक्षण और प्रदर्शन वर्ग शुरू किये जायेंगे और विभिन्न उद्योगों के बारे में खोज की जायगी। इसमें कोई शक नहीं है कि देश में वेकारों की बहुत बड़ी तादाद को देखते हुए उत्पादन में ज्यादा लोगों को खपाने के तरीकों को तरजीह दी जानी चाहिये। अनेक घरेलू उद्योगों में उत्पादन का तरीका अपव्ययकारी है। हमको ज्यादा अच्छे तरीकों की खोज करनी होगी। जहाँ कहीं मुमकिन हो, कारीगरों को उत्पादन, बिक्री और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए सहकारी समितियों में संगठित किया जाना चाहिए। घरेलू उद्योगों, छोटे पैमाने के उद्योगों और बड़े पैमाने के उद्योगों में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए।

१९४९ में नई दिल्ली में केन्द्रीय गृह-उद्योग भंडार खोला गया। इसमें घरेलू उद्योगों द्वारा तैयार किया गया विविध किस्म का माल रखा जाता है जो राज्य सरकारों के बिक्री-भंडारों, घरेलू-उद्योगों की सहकारी और अन्य संस्थाओं और व्यक्तिगत उत्पादकों से प्राप्त किया गया है। वह अपने भवन में विशेष प्रदर्शनों का आयोजन करता है, हमारे विदेशी दूतावासों आदि को

घरेलू उद्योगों के माल के नमूने भेजता है, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेता है।

यह महसूस किया गया है कि घरेलू उद्योगों की उन्नति के लिये उपयुक्त ट्रेनिंग पाये हुए शिक्षकों की जरूरत है। अतः घरेलू उद्योग-बोर्ड ने सिफारिश की है कि भारत सरकार ऐसे शिक्षक तैयार करने के लिए एक केन्द्रीय शिक्षण और शोध-संस्था स्थापित करे। ये शिक्षण-शोध-संस्थाएँ कच्चे माल के उपयोग के बारे में शोध करें, औजार, छोटी मशीनों और श्रम बचानेवाली युक्तियों का आविष्कार करें, तथा अन्य देशों में काम आनेवाली मशीनों और औजारों का प्रयोग करें, ताकि यह मालूम हो सके कि हमारे देश में उनको किस तरह काम में लिया जा सकता है। एक कमेटी और उसकी नौ टेकनिकल कमेटियों ने इस संस्था की योजना बनाने की दिशा में शुरू की काफी कार्रवाई कर ली है।

छोटे पैमाने के उद्योग ज्यादातर शहरी क्षेत्रों में हैं और मध्यम श्रेणी के लोगों को रोजगार देते हैं। इन उद्योगों में कपड़े की मशीनों के पुर्जे, साइकिलों के पुर्जे, बटन, पेंसिल, फाउन्टेनपेन की स्याही आदि बनाने के उद्योग शामिल हैं। कमीशन ने सिफारिश की है कि छोटे उद्योगों को बड़े बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से बचाया जाय। उसकी सिफारिश है कि छोटे उद्योगों के लिए मात्रा निश्चित कर दी जाय और उत्पादन का क्षेत्र सुरक्षित कर दिया जाय और अमुक माल पैदा करने के लिए नये बड़े उद्योग कायम किये जाने पर रोक लगा दी जाय। कमीशन का सुझाव है कि जब कभी कोई बड़ा उद्योग शुरू किया जा रहा हो, सम्बन्धित राज्य को फौरन उस उद्योग के जन्मदाताओं से परामर्श करके इस बात की जाँच करनी चाहिए कि कौन-सा खास काम छोटी इकाइयों के सुपुर्द किया जा सकता है। उद्योग और व्यापार-मन्त्रालय की विकास-शाखा को इस काम के लिए व्यावहारिक योजना बनाने में मदद देनी चाहिए। इस बात की भी जाँच-पड़ताल जरूरी है कि उत्पादन को हानि पहुँचाये बिना मौजूदा उद्योगों की क्रियाओं को किस रूप में विकेन्द्रित किया जा सकता है। किन्तु यह स्वीकार किया जाना चाहिए

कि छोटे उद्योगों को जहाँ कहीं संभव हो बड़े पैमाने के उत्पादन के साथ इस तरह जोड़ा जाय कि उनका बड़े उद्योगों के साथ विकास हो सके और कुछ उत्पादन में वृद्धि हो। बड़े और छोटे उद्योगों की उत्पादन-योजना एक दूसरे से संलग्न होनी चाहिए जिसमें घरेलू उद्योग, छोटे उद्योग और बड़े उद्योग सब उत्पादन बढ़ाने और देश की अर्थ-व्यवस्था में विविधता लाने में सहायक हो।

लोकतांत्रिक पद्धति में, राज्य समाज के तमाम वास्तविक साधनों का प्रत्यक्ष रूप से अथवा मुनाफे से प्रेरित निजी उद्यम के जरिये, उपयोग नहीं, कर सकता। लोगों के बेकार समय, कौशल और दूसरे अतिरिक्त साधनों और देश के बेकार पड़े भौतिक साधनों को काम में लाने का व्यापक क्षेत्र बच रहता है। उनका स्वेच्छापूर्ण आधार पर उपयोग किया जा सकता है। तभी समाज और उसके निर्बल अंगों के लिए वे आर्थिक और सामाजिक सुविधायें प्राप्त की जा सकती हैं जिनका प्राप्त करना अन्यथा संभव नहीं हो सकता। घरेलू उद्योगों की उन्नति के लिए देहाती क्षेत्रों में शिक्षण और संगठन के लिए आदमियों का प्रबन्ध करके स्वेच्छापूर्ण सेवा प्राप्त की जा सकती है। इस आधार पर विभिन्न जगहों में स्वेच्छापूर्ण काम हो रहा है। कुछ जगह इस प्रकार का काम राज्य के तत्वावधान में हो रहा है। उत्तर प्रदेश में इटावा की प्रयोगात्मक योजना, बम्बई की सर्वोदय-योजना और मद्रास की फिरका विकास-योजना उसके कुछ उदाहरण हैं। योजना-कमीशन ने भारत-सेवा-संघ नामक एक नया संगठन कायम करने का सुझाव दिया है, जो आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए लोगों के स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों को संगठित करेगा। इस संगठन को घरेलू और छोटे उद्योगों के क्षेत्र में उपयोगी काम करने का काफी अवसर मिलेगा।

———:०:———

पिछड़ी जातियाँ

भारत में पिछड़ी हुई जातियों के सुधार की समस्या नयी नहीं है। हमारे परिगणित जाति के लोगों और जंगली जातिवालों की जो बुरी हालत चली आ रही है, उसमें आमूल परिवर्तन किये विना देश कैसे चैन पा सकता है? पिछड़े हुए वर्गों की समस्या अपने ढंग की अकेली समस्या है। देश की आजादी की लड़ाई के दौरान में कांग्रेस ने इस प्रश्न को सदा सामने में रखा और उन परिस्थितियों में भी इस दिशा में सुधार के यथासंभव प्रयत्न किये।

देश की स्वतन्त्रता के बाद जब नये संविधान की रचना हुई तो उसमें पिछड़े हुए वर्गों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गयी और इस आशय का निर्देश किया गया कि दस वर्ष की अवधि की भीतर इस कोटि के लोगों को सबके समकक्ष कर दिया जाय। दस वर्ष के बाद, इनके लिए किसी विशिष्ट व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

पुरानी भारत सरकार के सन् १९३५ के ऐक्ट में पिछड़े हुए वर्गों को तीन हिस्सों में बाँटा गया था। वर्तमान संविधान में भी इसी विभाजन को मान लिया गया है।

पिछड़े लोगों के तीन वर्ग

पिछड़े वर्ग के लोगों के जो तीन हिस्से स्वीकार किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं।

१. परिगणित जातियाँ
२. परिगणित वन-जातियाँ
३. अन्य पिछड़े हुए वर्ग

परिगणित जाति के लोगों को पहले दलित वर्ग या अछूत कहकर संबोधित किया जाता था। सन् १९३५ के भारत सरकार के ऐक्ट में पहली बार यह व्यवस्था की गई कि इनके लिए परिगणित जाति का प्रयोग हो। इसी के साथ एक ऐसी सूची भी नत्थी की गई जिसमें परिगणित जाति के अन्तर्गत

आनेवाली तमाम उपजातियों और फिरकों का वर्गीकरण किया गया था। सन् १९३६ के भारत सरकार के प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद्-आदेशों में वर्गीकरण की यह सूची प्रकाशित की गयी। इसी प्रकार पहले आदिम वन-जातियों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यथा सन् १९०१ की मर्दुम-शुमारी में उन्हें एनिमिस्टस लिखा गया। सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी में उन्हें वन पर्वतीय जातियाँ नाम दिया गया। और सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में उन्हें आदिम जातियाँ कहा गया। इसके बाद क्रमशः पिछड़ी वन जाति और वन जातियाँ सम्बोधन प्रयुक्त हुए। अन्त में नये संविधान द्वारा इन्हें परिगणित वन जाति का नाम दिया गया।

इन जातियों के लोग शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा और हैसियत की दृष्टि से तथा सरकारी नौकरियों की दृष्टि से भी ये काफी पिछड़े हुए हैं। पिछड़ी हुई जातियों के विभिन्न वर्गों की तुलनात्मक हालत का अन्दाज हमें सन् १९५१ की मर्दुमशुमारी से होता है। किन्तु इनकी माली हालत की सही जानकारी करानेवाली सामग्री का अभाव है।

अन्य पिछड़ी जातियों के अन्तर्गत आनेवाले लोगों का कोई स्पष्ट वर्गीकरण अभी तक नहीं किया गया है। अतः राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार द्वारा होनेवाले वर्गीकरणों में काफी भेद है। संविधान की ३४० वीं धारा के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा पिछड़े वर्गों की शैक्षिक और आर्थिक हालत की जांच करने के लिए निकट भविष्य में ही एक 'बैकवर्ड क्लासेज कमीशन' नियुक्त होनेवाला है। यह कमीशन जब अपनी रिपोर्ट पेश करेगा तभी मौजूदा वर्गी-करणों में एकरूपता आ सकेगी।

परिस्थितियों में अन्तर

एक राज्य से दूसरे राज्य में परिगणित जातियों, परिगणित अन्य जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों की अवस्था में तरह-तरह के फर्क हैं। अनेक पिछड़ी हुई रियासतों के एकीकरण और विलयन तथा नये राज्यों की रचना के कारण ये अन्तर और स्पष्ट हो गये हैं। जिन रियासतों का विलयन हुआ

है उनमें इस विषय के कोई ऐसे विश्वसनीय रिकार्ड नहीं पाये गए जिनके द्वारा पिछड़े वर्गों के लोगों का समुचित परिचय उपलब्ध हो।

परिगणित जातियाँ

परिगणित जातियों के वर्गीकरण के लिए अस्पृश्यता ही मुख्य लक्षण है। अस्पृश्यता के अन्तर्गत ही सड़कों, कुओं और स्कूलों आदि की वे सार्वजनिक सुविधायें आ जाती हैं जिनका उपयोग वर्ग विशेष के लोगों के लिये निषिद्ध रहा है। यदि इस अस्पृश्यता के लक्षण को मुख्य मान लिया जाय तो, फिर परोक्ष रूप से उत्पन्न होनेवाली उनकी सामाजिक और धार्मिक असमर्थताएँ अन्य पूरक लक्षणों के रूप में ही आँकी जा सकती हैं। एक राज्य से दूसरे राज्य में अस्पृश्यता के रूप में अन्तर है। इसी प्रकार परिगणित जातियों के विभिन्न फिरकों के बीच में भी इस तरह के भेद मौजूद हैं। कुछ राज्यों में परिगणित जाति के कुछ फिरकों के गहने पहनने, घोड़े पर सवारी करने की मनाही है। वे शादी-व्याह के मौकों पर भी ऐसा नहीं कर सकते। वे अपने मुर्दों को मुख्य सड़कों से नहीं ले जाने पाते। और न वे श्मशानों का उपयोग कर पाते हैं जिनमें अन्य हिन्दुओं के दाह-संस्कार होते हैं। इस दुर्दशा के अलावा होटलों और बाल कटवानेवाले दूकानों आदि के उपयोग भी उनके लिए निषिद्ध हैं। कुछ पिछड़े हुए राज्यों में आज परिगणित जाति के कुछ वर्गों के लिए सार्वजनिक जलाशयों और मन्दिरों का उपयोग वर्जित है। इन राज्यों के देहाती इलाकों में खास तौर से अस्पृश्यता का रोग अधिक है।

परिगणित जातियों के विषय में सन् १९५० की राष्ट्रपति की विधान-आज्ञा में पूरे भारतवर्ष की परिगणित जातियों की सूची दी गयी है। सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार देश भर में परिगणित जातियों की कुल आबादी ४ करोड़ २८ लाख थी। सन् १९५१ की मर्दुमशुमारी में परिगणित जातियों की जनसंख्या ४ करोड़ ९८ लाख बतायी गयी है। (देखिए परिशिष्ट अ) देश के कई राज्यों (पार्ट ए वाले) अस्पृश्यता निरोधक मन्दिर-प्रवेश सम्बन्धी कानून बनाये हैं। और कुछ राज्यों द्वारा अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। इसी प्रकार के कानूनों को केन्द्रीय सरकार ने

पार्ट सी के राज्यों में लागू कर दिया है तथा पार्ट बी वाले कुछ राज्यों नें भी आवश्यक संशोधन परिवर्द्धन के बाद उक्त कानूनों को अपनाया है और अपने यहाँ लागू किया है।

अस्पृश्यता और जनमत

हमारे संविधान ने अस्पृश्यता पर रोक लगा दी है। और पिछले वर्षों में काँग्रेस सरकार द्वारा इस विषय में अनेक कानून बनाये गये हैं। परन्तु इन कानूनों को भलीभाँति लागू करने की जवाबदेही जनमत के ऊपर है। सन १९३४ में महात्मा गाँधी ने अछूतोद्धार के लिए अपना ऐतिहासिक अनशन किया। फिर, हरिजन सेवक संघ और दूसरी गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा हरिजन सेवा कार्य हुए। इन कार्यों को विभिन्न काँग्रेस सरकारों ने नैतिक और आर्थिक सहयोग दिया। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि भारतीय जनता पर काफी प्रभाव पड़ा। अस्पृश्यता-विरोधी जनमत का निर्माण हुआ। आज कोई भी विवेकवान व्यक्ति न तो अस्पृश्यता में विश्वास करता है और न वैसा व्यवहार ही करता है। कुछ राज्यों और कुछ देहाती इलाकों को यदि छोड़ दिया जाय तो फिर देश में शायद ही कहीं उन जातियों के लोगों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार होता हो, जिनके नाम सरकारी सूची में बताये गये हैं।

सन् १९४६ के बाद

सन् १९४६ से आज तक के आँकड़े बताते हैं कि विभिन्न सरकारों नें पिछड़े हुए वर्गों की तरक्की के लिए कैसे लम्बे-लम्बे कदम उठाये हैं, और कितना रुपया खर्च किया है। केन्द्रीय सरकार ने पिछड़े हुए वर्गों के विद्यार्थियों को पढ़ाई के वजीफे दिये। सन् १९४४–४५ से इन वजीफों पर केन्द्रीय सरकार द्वारा केवल ४७,६९७ रुपये खर्च किये गये थे। काँग्रेस सरकार द्वारा यह रकम काफी बढ़ाई गयी और सन् १९५०–५१ तक में इन वजीफों पर १२,६९,४५६ रुपये खर्च किये गये। सन् १९४४–४५ से लगातार सन् १९५०–५१ तक केन्द्रीय सरकार ने कुल मिलाकर ३८,९६,९२६ रुपये पिछड़े हुए वर्गों के विद्यार्थियों के वजीफों पर खर्च किये हैं। ५९१४ विद्यार्थियों ने ये छात्र-

वृत्तियाँ पाईं। चालू आर्थिक वर्ष में इन छात्रवृत्तियों पर १५ लाख रुपए खर्च करने का निश्चय केन्द्रीय सरकार ने किया है।

वन्य जातियाँ

बीते दिनों में वन्य जातियों के प्रश्न को सुलझाने के लिए सरकारी अथवा गैरसरकारी सूत्रों द्वारा उपयुक्त भावना के साथ समुचित प्रयास नहीं किये गये। वैसे भी इनकी समस्या परिगणित जातियों की समस्या से भिन्न थी, किन्तु उक्त कारणवश वह और उलझन वाला सवाल बन गया है। सामान्यत: सरकार और समाज द्वारा वन-जातियों की न केवल उपेक्षा की गयी वरन् उनका शोषण भी काफी किया गया। नतीजा यह हुआ कि ये लोग मजदूर होकर जंगलों के भीतर जाकर बस गये।

विभिन्न राज्यों की वन्य जातियाँ :

विभिन्न राज्यों में बसनेवाले वन्य जातियों के लोगों के रहने के ढंगों और रीति-रिवाज में काफी फर्क है। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी यह अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिये बम्बई राज्य के भीलों और मध्य-प्रदेश के गोंड, कोर्कू और बैगा लोगों में अन्तर है। इसी प्रकार ये लोग उड़ीसा के अत्यन्त पिछड़े हुए खोंड, जुआंग और बोंदोपोराजा जाति के लोगों से भिन्न हैं। एक ही राज्य में भी इन लोगों के विभन्न वर्ग परस्पर भिन्न सांस्कृतिक स्तरों पर हैं।

इनका जीवन :

वन्य जातियों के लोग सभी दृष्टियों से बहुत पिछड़े हुए हैं। वे अछूत भले ही न हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे समाज से अलग ही रहे हैं और उनका काफी शोषण हुआ है। समाज से यथासंभव दूर रहते हुए वे एकान्त की जिन्दगी बसर करते हैं। उनके जंगली रहन-सहन, रीति-रिवाजों और आदतों ने समाज के और उनके बीच की खाई को बनाये ही रखा है। उनके सभ्य देशभाइयों को जीवन की जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं वे उनको मयस्सर नहीं। मिशनरियों के उद्योग से कुछ राज्यों में ऐसा भी हुआ कि ये लोग समाज के और लोगों के सम्पर्क में आये। किन्तु इसका परिणाम

जैसा होना चाहिए था नहीं हुआ। इन्होंने अपने सभ्य पड़ोसियों के गुणों की अपेक्षा अवगुण अपनाये और अपनी जाति की अच्छाइयाँ खो बैठे। इसीलिए मानव-विज्ञानवेत्ताओं ने कहा है कि वन-जातिवालों के साथ दूसरे ही ढंगों से व्यवहार करना चाहिए जिससे कि वे अपने सभ्य पड़ोसियों के सम्पर्क से लाभ की जगह नुकसान न उठायें।

एक अनुचित प्रवृत्ति :

पिछड़े हुए वर्गों को समय-समय पर जो सुविधायें और रियायतें दी जाती हैं और जो विशेष स्वत्व उन्हें दिये गये हैं उनके कारण जब कई दूसरे फिरकों और जातियों के लोग यह दावा करने लगे हैं कि वे भी पिछड़े वर्ग के हैं। ये लोग हैं जो कुछ वर्ष पहले अपने आप को पिछड़े वर्ग वाला कहने में अपमान समझते थे।

इस अनुचित प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक है। और इसे रोकने के लिए पिछड़ेपन की जाँच करनेवाली एक वैज्ञानिक कसौटी का होना जरूरी है।

दस वर्ष की निश्चित अवधि में पिछड़ी हुई जातियों के सुधार की दिशा में वास्तविक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि इनका एक वैज्ञानिक वर्गीकरण करके इस बात पर बराबर नजर रखी जाय कि सही ढंग पर तरक्की हो रही है या नहीं, और साथ ही तरक्की और सुधारों के लिए हर तरह के प्रयत्न किए जायँ। यह बात भी जरूरी होगी कि इन्हें इस बात का विश्वास दिलाया जाय कि दस वर्ष की अवधि के बाद भी जब उन्हें संविधान द्वारा प्राप्त विशेष संरक्षण की अवधि समाप्त हो जायगी वे अपने बूते पर समाज में अपनी उचित जगह बनाए रख सकेंगे।

परिगणित वर्ग के लोगोंने काफी हद तक अपनी हीनता की भावना पर विजय पा ली है, और विधान-सभाओं आदि द्वारा उनके प्रतिनिधि आगे आ रहे हैं। किन्तु इन वर्गों में भी जो सबसे नीचे की श्रेणियाँ हैं, उनकी हालत अभी भी बहुत शोचनीय है। भविष्य में इन्हीं अत्यन्त नीची श्रेणियों की हित-चिन्ता की ओर हमें अधिक ध्यान देना है।

यह आशा की जाती है कि भविष्य के कुछ वर्षों में वह सामाजिक और आर्थिक भेद की खाई जो आज इन पिछड़े वर्गों के और शेष समाज के बीच मौजूद है, पट जायगी। और, इन जातियों के लोग भारतीय समाज में अपनी समुचित प्रतिष्ठा को प्राप्त कर राष्ट्र के निर्माण में अपना हिस्सा बँटायेंगे।

----:०:----

गृह-विज्ञान

व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से हमें सबक मिला है कि हमारी शिक्षा-दीक्षा हमेशा जीवन की समस्याओं को सामने रख कर हो, अन्यथा महज कितावी ज्ञान से हम वास्तविकताओं से दूर चले जाते हैं। इस कड़वे सत्य को हमारे शिक्षा शास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है और वे शिक्षा-पद्धति को क्रमश: जीवन के सन्निकट लाने की चेष्टा कर रहे हैं। तदनुसार स्कूल-कालेजों के शिक्षाक्रम में अनेक व्यापक परिवर्तन हुए हैं। शिल्पों के माध्यम से शिक्षा, फिर शिक्षा का साहित्यिक, वैज्ञानिक, निर्माणात्मक और कलात्मक श्रेणियों में विभाजन और टेकनिकल स्कूलों की स्थापना—ये तमाम प्रवृत्तियाँ इस बात का द्योतक हैं कि हमारी शिक्षा-पद्धति यथार्थ जीवन को सामने रखकर विकसित हो रही है।

हमने यह भी अनुभव किया है कि यदि जीवन के कार्य-विभाजन के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए, तो लड़कियों की शिक्षा भी कुछेक विषयों में लड़कों से भिन्न रहनी चाहिए। यही कारण है कि जहाँ हमने लड़कों के लिए रोजगारी शिक्षा का प्रबन्ध किया है, वहाँ लड़कियों के कोर्स में गृह-विज्ञान को स्थान दिया है।

यहाँ स्वाभाविक रूप से शंका उठ सकती है कि लड़कियों को ही क्यों गृह-विज्ञान पढ़ाया जाय? लड़के क्यों नहीं पढ़ें? यह एक मौलिक प्रश्न है।

पर इसके साथ हजारों वर्षों की धारणाओं और परम्पराओं का बोझ है। आज का हमारा समाज साधारणतः पितृ-सत्ता-परक है। इस व्यवस्था में नारी को घर में बांध कर रखा गया है। यह जितना भारत तथा अन्य एशियाई समाजों के लिए सही है, उतना ही यूरोप और अमेरिका के लिए भी। हम अक्सर सुनते हैं कि पश्चिम की स्त्रियाँ आजाद हो गई हैं। यह एक सापेक्ष स्थिति है। इससे हमें कदापि यह न समझना चाहिए कि पश्चिमी समाज का आधार बदल गया है। वहाँ की स्त्रियाँ अपनी समग्र स्वच्छन्दताओं के बावजूद घर से उसी प्रकार बँधी हैं जिस प्रकार हमारे समाज की स्त्रियाँ। उन्हें ही घर सम्हालना पड़ता है, बच्चों की निगरानी करनी पड़ती है, और गृह-प्रबन्ध के बीसियों मस्ले हल करने पड़ते हैं। ये काम स्वतः पूरे नहीं, बल्कि सामाजिक पारिवारिक जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इनसे अगर किसी प्रकार की हीनता का बोध होता है तो महज इसलिए कि पितृ-सत्तापरक समाज का आधार नारी की आर्थिक परवशता है। अगर स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-विभाजन में यह ऐतिहासिक अन्याय नहीं रहता, तो शायद हमारे समाज का संघटन कहीं ज्यादा स्वस्थ और प्रसन्न रहता।

संभव है कि प्राकृतिक शारीरिक आवश्यकताओं ने स्त्रियों को घर में बँधकर रहने को मजबूर किया हो। पर पितृसत्तात्मक समाज की स्थापना के साथ आर्थिक अन्याय का जो अध्याय जुड़ा है, वह इतना कठोर और शर्मनाक है कि हम इस तथ्य को बहुधा गौण समझ लेते हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियों से शारीरिक मजबूरियों का जिक्र कीजिए तो बहुधा सुनने को मिलेगा कि यह तो अपने आर्थिक अन्यायों को ढकने के लिए पुरुष वर्ग का युक्तिपोषण (रेशनेलाइजेशन) मात्र है। अगर स्त्रियों के इस मत में अगर सच्चाई भी है तो फिर वर्तमान वस्तुस्थिति से निस्तार कैसे हो। पुरुषों के ऐतिहासिक अन्याय का अन्त कैसे हो? यह तो तभी संभव है जब कि स्त्रियाँ आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लें। यह योग्यता भी उन्हें वर्तमान सीमाओं के भीतर ही प्राप्त करनी होगी। पर क्या ऐसी परिवार-व्यवस्था की योजना, अन्यायपूर्ण होगी जिसमें आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से

पुरुष और स्त्री का श्रम समान महत्त्व रखे, पर कार्य-विभाजन के लिए स्त्रियाँ घर सँभालें और पुरुष जीवन के खुले और संघर्षपूर्ण क्षेत्रों का उत्तरदायित्व लें। व्यावहारिक रूप से स्थिति तो आज भी यही है, सिर्फ परम्परागत बंधनों और समाज के आर्थिक ढाँचे के कारण नारी आर्थिक दृष्टि से परवश है।

अस्तु, आर्थिक परवशता की बात को अलग रख कर घर के कुशल-प्रबंध की बात सोचें तो, मानना पड़ेगा कि गृह-विज्ञान उतना ही उपयोगी है, जितना अन्य कोई शिल्प। इसके दायरे में हमारा सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन आ जाता है। क्योंकि गृह-विज्ञान की शिक्षा वैवाहिक जीवन को कुशलतापूर्वक चलाने और घर का सुचारु प्रबन्ध करने का ज्ञान देती है। शिशुपालन, सेवा-सुश्रूषा, सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन बनाने, खाने और खिलाने की कला, मितव्ययिता, घरेलू अर्थशास्त्र, शरीर-ज्ञान, स्वास्थ्य-शिक्षा, मनोविज्ञान, सीना-पिरोना और बुनना——ये सब इस व्यापक विषय के अंग-उपांग हैं। ये विषय अलग-अलग पढ़े जा सकते हैं पर गृह-विज्ञान के अन्दर सब के सब एक साथ आ जाते हैं और उनका तारतम्य भी स्पष्ट हो जाता है। इन विषयों में से कितने ही विषय लड़कों के लिए उतने ही उपयोगी हैं, जितने लड़कियों के लिए। पर भविष्य की दृष्टि से उनका प्रारम्भिक ज्ञान ही लड़कों के लिए आवश्यक है। और, जब हम इन सब विषयों को एक साथ गृह के विज्ञान के रूप में पढ़ाने की बात करते हैं, उस समय उन विषयों की स्वतंत्र संभावनाओं और उपयोगिताओं पर नहीं, बल्कि गृह-व्यवस्था के प्रसंग में उनकी सापेक्ष उपयोगिता पर जोर देते हैं। उस दृष्टिकोण से उपर्युक्त विषयों की संतुलित जानकारी ही गृह-विज्ञान का उद्देश्य है।

घर से यदि हमारा मतलब केवल दीवार, छत और सहन से ही नहीं, बल्कि उनसे लिपटी मानवीय भावनाओं और स्मृतियों से भी है, तो मानना पड़ेगा कि घर एक संस्था के रूप में हमारे समाज-संघटन का आवश्यक अंग है। इसका प्रबन्ध केवल आवश्यक सामग्रियों को जुटाने से ही पूरा नहीं हो जाता बल्कि इसके लिए वातावरण भी तैयार करना होता है—ऐसा वाता-

वरण जिसमें रहनेवाले को मानसिक संतोष और भावात्मक स्फूर्ति मिले। यह क्या समुचित शिक्षा के बिना संभव है ?

वस्तुतः हमें आदर्श घरेलू जीवन का ज्ञान ही नहीं है, इसीलिए गृह-विज्ञान को हम उचित महत्त्व नहीं दे पाते। यह स्त्रियों के लिए खुले स्कूलों और कालेजों की शिक्षाप्रणाली से स्पष्ट है। माँ-बाप भी अपनी लड़कियों को अधिकतर इसी ख्याल से स्कूल-कालिज में दाखिल कराते हैं, कि उनके विवाह में आसानी हो, क्योंकि आजकल लड़केवाले पढ़ी-लिखी लड़की खोजते हैं। यह बात कम ही ध्यान में रहती है कि जिस प्रकार लड़कों को अपने पेशे के उपयुक्त शिक्षा रहनी चाहिए, उसी प्रकार लड़कियों की भी आदर्श माँ, आदर्श गृहिणी बनने की शिक्षा मिलनी चाहिए अन्यथा स्वस्थ संतान और स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना हम नहीं कर सकते।

आज हमारे राष्ट्रीय जीवन के सम्मुख जो समस्याएँ उपस्थित हैं, उनको देखते हुए गृह-विज्ञान की शिक्षा बड़ी उपयोगी और आवश्यक जान पड़ती है। हम उदाहरण के लिए खाद्य-समस्या को ले लें। अन्न की कमी केवल हमारे देश को ही नहीं है। पर जहाँ अन्य देशवालों ने इस संकट को दूर करने का प्रवन्ध कर रखा है वहाँ हमलोग मुख्यतः सरकारी प्रयत्नों पर निर्भर करते हैं। नयी खेती करना और पुरानी खेती को नये तरीकों से अधिक लाभकर बनाना तो दूर की बातें हैं, हमसे इतना भी नहीं होता कि हम अपने रोज के व्यवहार में अन्न की बर्वादी रोकें। हम अपने खाद्यान्नों का बहुत बड़ा अंश अपने अज्ञान के कारण बर्वाद कर देते हैं। कहीं तो कुछ लोगों ने जरूरत से ज्यादा खा लिया, कहीं जरूरत से ज्यादा भोजन तैयार कर लिया गया, अथवा जो भोजन बना, वह भी हिफाजत से नहीं रखने के कारण बर्बाद हो गया। इतना ही नहीं, कभी तो स्वादहीन होने के कारण बना भोजन बेकार हो गया, कभी स्वाद के पीछे भोजन की पौष्टिकता की उपेक्षा कर दी गई। इस प्रकार के असंतुलन का फल देश और समाज के लिए तो घातक होता ही है, व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर भी उसका बुरा असर पड़ता है।

अगर घर की स्त्रियों को मालूम रहे कि सुस्वादु और पुष्टिकर भोजन

कैसे बन सकता है, कैसे भोजन को सम्हाल कर रखना चाहिए और किस तरह से बर्बादियों को रोका जाय, तो हम कितनी ही परीशानियों से बच सकें? पर क्या यह योंही संभव है? क्या इसके लिए गृह-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक नहीं?

कुछ ऐसे भी मिलेंगे, जो कह देंगे, सभी स्त्रियाँ खाना बनाना या इस तरह के काम योंही सीख लेती हैं। इन सब की शिक्षा-दीक्षा क्या? ऐसा दृष्टिकोण केवल हमारे अज्ञान का ही परिचायक है। ज्यों-त्यों भोजन रांध लेना एक बात है और स्वाद और पौष्टिकता की रक्षा करते हुए भोजन बनाना दूसरी बात। कितनी स्त्रियाँ जानती हैं कि प्रोटीन क्या है, विटामिन क्या है, कार्बोहाइड्रेट क्या हैं और इनमें से किसका, कितना अंश भोजन के लिए आवश्यक है और किस पदार्थ में कौन तत्व किस रूप में और किस अनुपात में उपलब्ध हो सकता है?

यह तो गृह-विज्ञान का एक पहलू हुआ। उसी प्रकार घर के अन्दर चीजों को रखना, सजाना, सफाई पर ध्यान देना—ये तमाम बातें गृह-विज्ञान के अन्दर आती हैं। स्त्रियों को मनोविज्ञान, शारीरिक गठन और शारीरिक प्रक्रिया का बोध रहना चाहिए। इन विषयों का ज्ञान उन्हें सफल माता बनाने में सहायक हो सकता है। अगर उन्हें अच्छी तरह मालूम हो जाय कि भ्रूणावस्था से लेकर किशोरावस्था तक लड़के का मन आसपास के वातावरण और माता-पिता तथा अन्य लोगों के व्यवहार से किस प्रकार प्रभावित होता रहता है, तो वे अवश्य ही अपना तथा दूसरों का व्यवहार और घर का वातावरण सुन्दर बनाने की विशेष चेष्टा करेंगी। इस प्रकार बच्चों का स्वस्थ विकास हो सकेगा।

यह प्रसन्नता की बात जरूर है कि अब गृह-विज्ञान का महत्व समझा जाने लगा है और विभिन्न स्तर के शिक्षा-क्रम में इस विषय को स्थान दिया जा रहा है, पर गृह-विज्ञान का पाठ्य-क्रम कभी संतुलित नहीं किया जा सका है। जैसे, बच्चे-बच्चियों को प्रारम्भ से ही भोजन, वस्त्र और घर के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें बतायी जानी चाहिए। हम अक्सर देखते हैं कि बच्चे

छुटपन में रेत का घर बनाते हैं, ईंट-खपरों का चूल्हा बनाते हैं और मिट्टी का चावल रांधते हैं, रोटी पकाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति का संकेत हमें समझना चाहिए और उन्हें प्रारम्भिक कक्षाओं में इन विषयों की मोटी बातें बता देनी चाहिए। पर कितने प्राइमरी स्कूलों में ऐसा प्रवन्ध है? या, क्या अधिकारियों ने इन विषयों को पाठ्य-क्रम में जगह भी दी है? हाँ, विनोबा भावे ने अवश्य सीनियर बेसिक के लिए भोजन-कला को आवश्यक विषय माना है।

उसी प्रकार सफाई की शिक्षा भी प्रारम्भ से ही देनी चाहिए। फिर ज्यों-ज्यों ऊँचा दर्जा आवे, नये-नये विषय सिखाये जायँ। विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र, घरेलू अर्थशास्त्र आदि की ऊँची शिक्षा दी जाय। मद्रास, इलाहाबाद, बनारस और लखनऊ विश्वविद्यालयों ने इस ओर ध्यान दिया है। मद्रास विश्वविद्यालय में गृह-विज्ञान का डिग्री-कोर्स भी है।

पर इस दिशा में अभी सबसे बड़ा सवाल है कि इस विषय की शिक्षा देनेवाले शिक्षक कहाँ से आवें। जब तक योग्य शिक्षक अथवा शिक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं होंगी तब तक गृह-विज्ञान को पाठ्य-क्रम में जगह देकर भी हम इस विषय की उचित शिक्षा नहीं दे पायेंगे।

---:o:---

बेकारी की समस्या

'बेकारी की समस्या' से हमारा तात्पर्य प्राय: शिक्षित मध्य-वर्ग की बेकारी से रहता है। किन्तु इसका आशय वस्तुत: अधिक व्यापक है। कोई मनुष्य, वह किसान हो या कारखाने का मजदूर, किरानी हो या अभियंता (इंजीनियर), वैज्ञानिक हो या साहित्यिक, यदि आजीविका का ऐसा साधन नहीं पाता जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके, तो अवश्य ही बेकार कहा जाएगा। और ऐसा तथा उन लोगों के लिए जो अंशत: काम

में लगे हुए हैं, जीविका के साधन को ढूँढ़ना ही बेकारी की समस्या का मुख्य विवेचनीय विषय है।

बेकारी बहुत बड़ा अभिशाप है । इससे समाज का वातावरण दूषित हो जाता है। यह राष्ट्र के राजनीतिक ढाँचे को ध्वस्त कर देती है। यह अच्छे को बुरा और ईमानदार को अपराधी में परिणत कर देती है। यह भ्रष्टाचार और जाल-फरेब असत्य और हिंसा को प्रोत्साहन देती है। यह मनुष्य में छिपी दानवता को जगाती है और उसकी सत्प्रवृत्तियों पर पर्दा डाल देती है। भूखे पेट भजन नहीं होता—यह कहावंत सर्वथा युक्तिसंगत है। जिसे दोनों जून भरपेट भोजन नसीब नहीं होता, जो अपनी तथा अपने परिवार की साधारण आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति नहीं कर सकता, उससे सत्य, महानता और ईमानदारी जैसे गुणों की आशा करना ही भूल है।

बेकारी किसी देश की शासन-व्यवस्था के लिए भारी खतरा है। इससे असंतोष उत्पन्न होता है। असंतोष से विद्रोह की भावना फैलती है, और यही भावना अन्ततः हिंसात्मक क्रांति का रूप धारण करती है। जो बेकार रहने को विवश हैं, वे सबमें सर्वत्र दोष ही देखते हैं और स्वयं जघन्य-से-जघन्य अपराध कर डालें, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। अतः यह आवश्यक है कि ऐसे कुछ लोगों को छोड़कर जो मिलने पर भी लाभ नहीं करना चाहते, सभी मनुष्यों के लिए जीविकोपार्जन के साधन सुलभ बनाए जाएँ।

यह कहना तो आसान है, किन्तु समस्या की विशालता को देखते हुए मानना पड़ेगा कि इसका समाधान आसान नहीं है। देश के एम्पलायमेंट एक्सचेंज की शाखाओं द्वारा समय-साय पर बेकारी के जो आँकड़े प्रकाशित किये जाते हैं उनसे स्थिति की गंभीरता का अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उनसे भी पूरी तस्वीर की जानकारी नहीं हो पाती।

भारत में जन-संख्या में वृद्धि के कारण प्रत्येक वर्ष तीस लाख से भी अधिक नये बेकार रोजी के लिए भटकते चलते हैं। इससे देश में आर्थिक और राजनीतिक अराजकता का खतरा बढ़ जाता है।

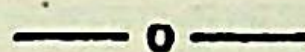
इस समस्या के सम्बन्ध में हमारी सरकार पूर्णतः जागरूक थी, फलतः उसने प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेकारी दूर करने के कुछ उपायों का निर्धारण किया था। किन्तु योजना के अन्तर्गत रोजी के बढ़ते हुए अवसरों की तुलना में, देश में बेकारी की वृद्धि कहीं अधिक है। अतः भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना बनाई जा रही है, जिसमें बेकारी की समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। इसके कार्यान्वित हो जाने पर, भारत सरकार आशा करती है, बेकारी की समस्या सदा के लिए समाप्त हो जाएगी।

बेकारी की समस्या के अनेक सुलभ साधनों में जो सर्वाधिक अमोघ प्रतीत होता है, वह है देश का औद्योगीकरण; क्योंकि कोई भी अन्य उपाय आजीविका के इतने अवसर प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु वृहत् उद्योग-धंधों के त्वरित विस्तार के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जैसे पर्याप्त पूँजी, आधारभूत सामग्रियों (Capital goods) और यंत्रशास्त्रीय निर्देशन का अभाव। अतः शीघ्रतर और अपेक्षाकृत ज्यादा लाभकर परिणाम कुटीर-शिल्पों के पुनर्जीवन और विस्तार से ही प्राप्त हो सकते हैं। कुटीर-शिल्पों की आजीविका प्रदान करने की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता के अतिरिक्त भी उनके पक्ष में अनेक बातें हैं; उदाहरणार्थ, उनके लिए बहुत बड़ी पूँजी के खर्चीलें और जटिल यंत्रों की तथा उच्च यंत्रशास्त्रीय ज्ञान की जरूरत नहीं रहती। उनसे यह लाभ भी होगा कि जो लोग बाध्य होकर उन दिनों में बेरोजगार बन जाते हैं, जिन दिनों खेतीबारी का काम नहीं होता, उन्हें भी जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त हो सकेंगे। इसी बात को ध्यान में रखकर महात्मा गाँधी ने जनता के बीच चर्खे का अधिकाधिक प्रचार करना चाहा था। और यही कारण है कि आज भी जब देश में वृहत् उद्योग-धंधों के विस्तार का प्रयास चल रहा है, कुछ ऐसे अर्थशास्त्री हैं जिनका सुझाव है कि अंबर चर्खा जैसा नये ढंग का चर्खा बहुत बड़ी संख्या में लोगों के बीच वितरित किया जाए और इस प्रकार देशव्यापी बेकारी को यथासंभव कम खर्च और आसान तरीके से दूर किया जाय।

बढ़ती हुई बेकारी की समस्या को दूर करने के लिए यह भी आवश्यक

है कि हम अपनी शिक्षा-पद्धति को आज की तरह केवल सैद्धान्तिक और साहित्यिक न रहने दें, बल्कि उसे जीविकोपार्जन के लिए उपयुक्त बनाएँ। शिक्षितों की बेकारी कम करने के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा-पद्धति में पहले की अपेक्षा अधिक व्यावसायिक और शिल्प-शास्त्रीय ज्ञान के वितरण की व्यवस्था करें।

हमारा राष्ट्र कल्याण-राष्ट्र (Welfare State) होने का दावा करता है और जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रश्न है, उसका दावा ठीक भी है, किन्तु उसकी कड़ी परीक्षा इस बात में है कि वह कितना शीघ्र बेकारी की समस्या दूर कर पाता है। उसे अभी इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना बाकी ही है।



भाषाधार राज्यों का प्रश्न

आजादी के बाद देश के आगे जो बहुत-से जटिल प्रश्न उपस्थित हुए और स्वाधीन भारत को अँगरेजी हुकूमत से विरासत में जो समस्याएँ हल करने के लिए प्राप्त हुईं, उनमें प्रान्तों का नये सिरे से बँटवारे की समस्या सबसे महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक थी। प्रादेशिक सीमाओं को नये ढंग से निर्धारित करके व्यापक आन्तरिक सादृश्यवाले प्रान्तों के निर्माण में एक बुनियादी बात का ध्यान रखना आवश्यक है। वह यह कि मुख्यतः नये प्रांतों का निर्माण भाषा के आधार पर हो और उनका यह नया रूप शासन-प्रबन्ध तथा आर्थिक दृष्टि से अनुकूल हो। इस प्रकार के सुधार की दृष्टि से भारत-वर्ष को दो भागों में बाँटा जा सकता है। इन दो विभागों में एक तो विंध्यपर्वतमाला के उत्तर में स्थित भूभाग होगा और दूसरा विन्ध्यमाला के दक्षिण का प्रदेश। इस प्रकार देश के उत्तरी और दक्षिणी दो विभाग हुए। अब इन विभागों को भाषा की दृष्टि से देखा जाय।

अपने पूर्वोक्त विभाजन के अनुसार उत्तर में पंजाव, उत्तरप्रदेश, वंगाल, बिहार और आसाम प्रदेश आते हैं। भाषा की दृष्टि से ये राज्य सादृश्य-युक्त हैं। इनमें ऐसे प्रदेश नहीं हैं, जिनमें अनेक भाषाओं का प्रचार हो। विंध्याचल के दक्षिण में स्थित अनेक प्रान्तों की हालत इसके ठीक विपरीत है। उदाहरण के लिए हम वम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश को ले लें। इनमें से प्रत्येक राज्य में एक से अधिक भाषाओं का चलन है। कहीं दो भाषाएँ व्यवहार में आती हैं, कहीं तीन और कहीं पर चार-चार।

राज्यों का, जिन्हें हम पहले प्रान्त कहकर सम्वोधित करते थे, जो मौजूदा ढाँचा है, अर्थात् जिस रूप में आज वे नजर आते हैं, वह ईस्ट इंडिया कंपनी की करामात है।

शताधिक वर्षों में ईस्ट इंडिया कम्पनी की अमलदारी ज्यों-ज्यों वढ़ी और फली उसीके सुविधानुसार और शासन-प्रवन्ध की दृष्टि से कंपनी की सहूलियत के मुताविक इन प्रान्तों का निर्माण हुआ।

इस प्रकार वनाये गये प्रान्तों के अलावा देश का वहुत वड़ा हिस्सा देशी रियासतों की छोटी-वड़ी सीमाओं में वँटा था।

जव हम इतिहास की दृष्टि से देखते हैं तो पता चलता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा इन प्रान्तों की रचना किस प्रकार हुई। वस्तुतः होता यह था कि देश के किसी भाग-विशेष में कंपनी द्वारा जीते गये इलाके में क्रमशः वे जिले भी जोड़ दिये जाते थे जो धीरे-धीरे उसके कव्जे में आते जाते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि कम्पनी द्वारा बनाये गये प्रान्तों की सीमाएँ न तो ज्यामिति के अनुकूल वनीं और न आन्तरिक सादृश्य के आधार पर ही उनकी रचना हुई। इस प्रकार होनेवाले सीमा-निर्माण का जो कुफल होना चाहिए था, वही हुआ। एक ओर यदि किसी प्रान्त के अन्तर्गत तीन या चार भिन्न भाषाओं के क्षेत्र समाहित हो गये तो दूसरी ओर एक ही भाषा के प्रचलनवाले भूभाग के दो या तीन प्रान्तों के टुकड़े कर दिये गये। तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता ने अपनी आर्थिक और शासन-प्रबन्ध-सम्वन्धी सामर्थ्य के अनुसार उक्त व्यवस्था की थी।

प्रान्तों की जो रचना अँगरेजों ने की उससे उनका काम तो सहज हुआ और वह व्यवस्था उन्हें अपनी सुविधा के अनुकूल प्रतीत हुई, किन्तु बहुभाषा-भाषी प्रान्तों, जैसे बम्बई या मद्रास में रहनेवाली जनता को इस अन्यायपूर्ण प्रान्त-रचना का कटु अनुभव हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप उनकी अपनी-अपनी भाषाओं और सांस्कृतिक विशेषताओं पर जो प्रभाव पड़ रहा है, वह हितकर नहीं है। अतः स्वाभाविक था कि ऐसी व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाई जाती।

एक के वाद एक उत्कल, आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र की जनता ने आन्दोलन शुरू किया। इनलोगों की माँग थी कि मौजूदा प्रान्तों को भाषा के आधार पर फिर से बाँटा जाय और भाषाधार राज्यों की रचना हो।

देश आजाद हुआ और संविधान-सभा की स्थापना हुई। संविधान-सभा के आगे भाषाधार प्रांतों के निर्माण से संबंधित १९४७ की एक उप-समिति द्वारा की गयी जाँच के फलस्वरूप समस्या के सभी पहलू स्पष्ट रूप में मौजूद थे। इसके वाद भारत-सरकार ने एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन का कार्य भाषा के आधार पर प्रान्तों के बँटवारे की सुगमता के बारे में जाँच करना था।

इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में प्रान्तों के पुनर्निर्माण की माँग के औचित्य को तो स्वीकार किया, किन्तु अनेक कारण बताते हुए उसने यह राय दी कि इस दिशा में तुरत कोई कार्रवाई करना उचित न होगा।

भाषाधार प्रान्तों के निर्माण से सम्बन्धित पुरानी नीति के विरुद्ध कोई कार्य करने का तो कोई सवाल नहीं था। किन्तु रास्ते की दिक्कतों को तो आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता है। जिस समय देश एक संकटकाल से गुजर रहा था उस समय इस प्रकार विभाजित प्रान्तों के आर्थिक और शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी स्थायित्व की समस्या तथा अन्य व्यावहारिक कठिनाइयों को उपेक्षा की दृष्टि से तो नहीं देखा जा सकता है।

भाषाधार प्रान्तों के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ते समय राह के एक और खतरे को भी ध्यान में रखना होगा। यह खतरा अलगाव की भावना

का है। भाषाधार स्वशासन के परिणामस्वरूप बढ़नेवाली भेद-मूलक प्रवृत्तियों का खतरा बड़ी बुरी चीज है। हर कीमत पर हमें इससे बचना है। गुजरे जमाने में हम इस फूट की प्रवृत्ति का बहुत कड़वा फल चख चुके हैं। और अब किन्हीं भी देश-लाभ के लिये हम अपने भविष्य को विगाड़ना नहीं चाहते।

राज्यों की सीमा-रेखा को नये सिरे से भाषा के आधार पर गढ़ने के फलस्वरूप जिन समस्याओं का हमें सामना करना पड़ेगा, उनकी विवेचना नेहरू-पटेल-पट्टाभि रिपोर्ट में की गई है। इसी रिपोर्ट में उन कठिनाइयों का उल्लेख भी कर दिया गया है, जो इस दिशा में तुरन्त आगे कदम बढ़ाने में हमारी राह में रोड़े अटकाएँगी। साथ ही, इस बात का संकेत भी रिपोर्ट में कर दिया गया है कि इन समस्याओं और दिक्कतों से किस प्रकार निपटा जा सकता है।

आन्ध्र के प्रश्न को, दूसरे प्रान्तों के निर्माण के प्रश्न से अलग रखा जा सकता है; क्योंकि आन्ध्र के समर्थन में न केवल प्रबल मतैक्य है, वरन् इस भाषाधार प्रान्त का निर्माण जिस भूमि पर होना है उसका बहुत बड़ा भाग, ठसे हुए रूप में एक ही प्रान्त के भीतर मौजूद है। अतः हम यह सुझाव पेश करते हैं कि यदि इस दिशा में कार्यारम्भ करना है तो हमें पहले उन समस्याओं का अध्ययन और परीक्षण करना चाहिए, जो नये प्रान्त के निर्माण के फलस्वरूप सामने उपस्थित हो जाएँगी। साथ ही, हमें इस बात की भी जाँच करके संतोष पा लेना चाहिए कि क्या वह प्रान्त अलग किया जा सकता है; यदि आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हो जायँ तो हम यह सिफारिश करते हैं कि इस दिशा में कार्रवाई की जाय।

सबसे प्रमुख विचारणीय बात पूरे देश की सुरक्षा, एकता और आर्थिक सम्पन्नता ही होनी चाहिए और अलगाव तथा भेद-फूट की तमाम प्रवृत्तियों को कड़ाई के साथ निरुत्साहित किया जाना चाहिए। इसलिए भाषाधार प्रांतों के लिये निर्मित कांग्रेस की पुरानी नीति को केवल उसी हालत में अमल में लाया जा सकता है जबकि प्रत्येक नये प्रान्त के अलग-अलग प्रश्न पर साव-

धानी के साथ विचार कर लिया जाय और उनके निर्माण द्वारा किन्हीं ऐसे आपसी संघर्षों अथवा शासन-सम्बन्धी अस्त-व्यवस्तताओं की सम्भावना न हो, जिनके फलस्वरूप देश की राजनीतिक और आर्थिक मजबूती को नुकसान पहुँचे। हम इसे ज्यादा पसन्द करेंगे कि नये प्रान्तों के निर्माण का कार्य कुछ वर्षों के लिये स्थगित कर दिया जाय ताकि हम इस दौरान में और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें और यह सवाल हमारा ध्यान बँटा सके। फिर भी, यदि इस सम्बन्ध में जनता की भावना जबर्दस्त और हठपूर्ण होगी तो लोकतंत्रानुयायी के नाते हमें उसे शिरोधार्य करना ही पड़ेगा। किन्तु ऐसा करने में भी समूचे देश के हित से सम्बद्ध सीमाओं का और उन शर्तों का पालन अनिवार्य होगा, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अपनी माँगों के प्रतिफल का ठीक-ठीक अनुमान कर सकने के लिए, सम्बन्धित जन-मानस को यह बात स्पष्ट रूप से अनुभव करनी चाहिये कि अब और बँटवारे के परिणाम क्या होंगे ?

मद्रास, वम्बई और मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों में तथा हैदराबाद, ट्रावन-कोर-कोचीन, मैसूर, और कोल्हापुर, जो पहले रियासतें थीं, की सीमाओं के भीतर काफी बड़े-बड़े इलाके ऐसे हैं, जिनमें बसनेवाले लोगों की एक बहुत बड़ी तायदाद तामिल, तेलगु, मलयाली, कन्नड़, मराठी, गुजराती या हिन्दी बोलती है। इन भाषाओं की अपनी परम्परा है और इन्हें बोलनेवालों की एक अपनी सामाजिक या सांस्कृतिक विशेषता होती है, जिसके कारण ये अपने अन्य भाषाभाषी पड़ोसी से अलग पहिचाने जा सकते हैं। काफी पुराने जमाने में जिन प्रदेशों में उपर्युक्त भाषाएँ बोली जाती थीं, उनके नाम भी आज के नामों से भिन्न थे। उदाहरणार्थ जिस क्षेत्र में तेलगु बोली जाती थी, उसे आंध्रदेश कहा जाता था, जहाँ मलयाली वोली जाती थी, वह प्रदेश केरल कहलाता था। इसी प्रकार कन्नड़, मराठी, तामिल और गुजराती भाषाओं के क्षेत्रों को कर्नाटक, महाराष्ट्र, तामिलनाड और गुजरात कहा जाता था। किन्तु ऐतिहासिक काल-प्रवाह ने पुरानी भौगोलिक सीमाओं में तरह-तरह के उलट-फेर और परिवर्त्तन कर दिये हैं। आज वह पुराना रूप नहीं रह गया है।

भाषाधार राज्य के सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करते समय बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। बावजूद इस बात के कि मौजूदा प्रान्तों की समस्याएँ अस्वाभाविक हैं, यह कहना ही पड़ेगा कि इन्हीं सीमा-रेखाओं के भीतर बहुत हद तक राजनीतिक, आर्थिक और शासन-प्रबंधिक एकता की प्राप्ति की जा चुकी है। इसीलिए क्षेत्रों का नये सिरे से बँटवारा करने में, यह स्वाभाविक ही है, कि नाना प्रकार की समस्याएँ सामने खड़ी हो जायेंगी। अतः भाषाधार राज्यों के निर्माण की किसी भी योजना को कार्यान्वित करने से पहले उन समस्याओं पर बड़ी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है, जो प्रान्तों की नवरचना के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाएँगी।

——o——

भारतीय त्योहार, पर्व और व्रत

व्रत, पर्व और त्योहार में अन्तर :

व्रत, पर्व और त्योहार समान उद्देश्य से किये जाने पर भी रूप और साधना की दृष्टि से परस्पर भेद रखते हैं। व्रत प्रायः एकाकी और एकान्त-रूप से किया जाता है। इसके साधकों की संख्या भी कम होती है। पर्व में तीर्थ-स्थानों, जलाशयों, नदियों या देवालयों में भीड़ होती है। इसके करने-वालों की संख्या भी अपेक्षाकृत बड़ी होती है और त्योहार तो राष्ट्रीय रूप में मनाया जाता है। उसके जमाव का क्या कहना। फिर व्रत में सात्विक गुणों की प्रधानता होती है; क्योंकि उसमें उपवास रहना मुख्य साधना है। पर्व में जमाव और प्रसाद-वितरण एवं पान की समुचित व्यवस्था तथा संगीत-नृत्य इत्यादि के आयोजन के कारण राजसी गुण की प्रधानता होती है। त्योहार तो साधारण लोगों के लिए जलसे का रूप धारण कर लेते हैं। उसमें तो खासकर होली, दीपावली इत्यादि में जोश उपद्रवी वेष भी धारण कर लेता है।

पंचमहाव्रत--

भारतवर्ष में वैसे व्रत तो अनगिनत हैं, पर प्रमुख हैं पाँच, जो पंच-महाव्रत कहलाते हैं। वे हैं--संवत्सर, रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, शिवरात्रि और दशावतार। संवत्सर चैत्रमास, शुक्ल पक्ष, प्रतिपदा तिथि को मनाया जाता है। कहा जाता है कि इसी दिन ब्रह्मा ने संसार की सृष्टि की थी और इसी प्रकार इसी दिन से संसार का संवत् (जो विक्रमीय नाम से प्रसिद्ध है) शुरू होता है। अतः इस दिन ब्रह्मा की पूजा होती है।

रामनवमी चैत्र, शुक्ल नवमी को मनायी जाती है। कहा जाता है कि इसी दिन भगवान् रामचन्द्रजी ने जन्म-ग्रहण किया था। अतः इस दिन राम, उनके अन्य भाइयों--लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न--उनकी पत्नी सीता और भक्त हनुमान की पूजा होती है।

कृष्ण-जन्माष्टमी भाद्र, कृष्ण अष्टमी को मनायी जाती है; क्योंकि यही भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-तिथि मानी जाती है। रामनवमी की तरह जन्माष्टमी को कृष्ण-परिवार अर्थात् कृष्ण, बलदेव, वसुदेव, देवकी, नन्द, यशोदा और लक्ष्मी की पूजा होती है। चूँकि कृष्णजी का जन्म इस दिन आधी रात को हुआ था, इसीलिए उपासक आधी रात तक निराहार जगे रहते हैं और इसके बाद प्रसाद पाते हैं।

शिवरात्रि फाल्गुन, कृष्ण चतुर्दशी को मनायी जाती है; क्योंकि इसी दिन शिवलिंग का आविर्भाव हुआ था। इस दिन शिवभक्त निराहार रहकर शिव का ध्यान करते हैं।

दशावतार भाद्र शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। इस दिन दशावतारों; अर्थात् मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, त्रिविक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध और कल्कि का पूजन होता है।

पर्व--

जैसा ऊपर कहा गया है, पर्व व्रत का ही एक वृहत् और सामूहिक रूप है। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, संक्रांति, सोमवती, कार्त्तिक पूर्णिमा अर्थात कार्त्तिकी स्नान, रामनवमी इत्यादि ऐसे ही पर्व हैं। इन्हें मनाने के लिए लाखों-लाख

देहाती और शहरी लोग गंगा-तट अथवा तीर्थ-स्थानों में एकत्र होते हैं। रामनवमी में अयोध्या; कृष्ण-जन्माष्टमी में वृन्दावन; कार्त्तिक-स्नान में प्रयाग, काशी, पटना और सोनपुर तथा गंगादशमी में गंगासागर, हरिद्वार इत्यादि स्थानों में मेला लग जाता है।

त्योहार--

त्योहार का व्रत या पर्व से भी बड़ा वृहत् रूप है। इन त्योहारों में उपवास से अधिक उत्सव और खानपान की प्रधानता होती है। जहाँ पर्वों में लोग बाहर तीर्थ-स्थानों में जाते हैं, वहाँ त्योहारों के अवसर पर लोग घर पर ही रहना चाहते हैं और जीविका के लिए बाहर गये लोग भी गाँव में ही ये दिन बिताना चाहते हैं।

हिन्दुओं के त्योहारों में तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—होली, दीपावली और दुर्गापूजा (दशहरा)।

होली फाल्गुन-पूर्णिमा और चैत्र प्रतिपदा को मनाई जाती है। यह तिथि कई कारणों से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि इस दिन ईश्वर-भक्त सत्यवादी प्रह्लाद को उसके पापाचारी पिता ने आग में न जलने का वरदान पा लेनेवाली होलिका की गोद में बैठाकर आग में डाल दिया था, किन्तु भगवान् की महिमा से होलिका जल मरी और प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ। उसी के उपलक्ष्य में होलिका-दहन महोत्सव मनाया जाता है। कहा जाता है कि इसी दिन राम ने लंका पर विजय पाई थी और होलिका-दहन लंका-दहन का प्रतीक है। होली के दिन हिन्दू नया वस्त्र पहनते हैं, रंग-अबीर खेलते हैं, झाल-ढोलक के साथ होली गाते हैं और पकवान खाते हैं। एक दिन पहले कहीं-कहीं कादो-मिट्टी खेलने का भी रिवाज है और होली की रात को कहीं-कहीं अश्लील होलैया और जोगीरा बोलने का भी। इससे कटुता बढ़ती है, अतः इस गंदी आदत को छोड़ देना चाहिए।

विजयादशमी और दीपावली की पौराणिक पृष्ठभूमि लगभग एक-सी है। जब महिषासुर के अनाचारों ने पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को कँपा दिया था, तब देवताओं के संगठन से एक दैवी शक्ति पैदा हुई थी—दुर्गा, जिसे सभी

देवताओं ने अपने-अपने शस्त्रास्त्र दे दिये थे। देव-प्राप्त आयुधों से वह नौ दिनों तक महिषासुर से लड़ती रही और अन्त में आश्विन शुक्ल दशमी को देवी ने उक्त दानव का नाश किया। विजयादशमी भारतीय अतीत की उस सांस्कृतिक घटना की स्मृति है, हमारा कौमी त्योहार है।

दीवाली भी एक ऐसी घटना की याद दिलाती है। महिषासुर की तरह प्राज्योतिष के अधिपति नरकासुर ने अपने अत्याचारों से अपनी समस्त निरीह प्रजा को त्रस्त कर दिया था। लाखों व्यक्ति उसके अहंकार की खुराक बने थे। उसकी लिप्सा ने असंख्य बेबसों का धन लूटा था और उसकी वासना ने सोलह हजार कन्याओं को अन्धकूप में डाल दिया था। चारों ओर घोर अन्धकार था। ऐसे समय में अचानक प्रकाश की एक स्वर्गिक रेखा झिलमिला उठी। भगवान् श्रीकृष्ण ने देश के स्वर्ग को नरक बनानेवाले नरकासुर का वध करने का निश्चय कर लिया। वे समर-यात्रा के लिए प्रस्थान कर रहे थे कि सत्यभामा सामने आकर बोली—'देश के पुरुषों और स्त्रियों दोनों पर संकट आया है। ऐसी स्थिति में नारी का चुप बैठा रहना शोभा नहीं देता। युद्ध में आप पुरुषों का प्रतिनिधित्व करेंगे और मैं नारी का। मैं युद्ध में जाऊँगी।' यह कहकर सत्यभामा कृष्ण के रथ में बैठ गई। दोनों के सम्मिलित युद्ध से कार्तिक अमावस्या के दिन नरकासुर का संहार हुआ। अमा का अन्धेरा जैसे फट गया। उसी की याद में हम दीपों की पंक्ति सजाते हैं।

इस प्रकार विजयादशमी और दीपावली—दोनों ही हमारे सांस्कृतिक विजयोत्सव के दिन हैं—दोनों ही हमारे राष्ट्रीय पर्व हैं। दोनों ही दिन देश के पुरुष-नारी ने हमारे सांस्कृतिक संकट को अपने सम्मिलित उद्योग से टाला था और हमारा मार्ग प्रशस्त किया था। ये दोनों ही तिथियाँ हमारे लिए आनन्द और उत्तरदायित्व के संदेश लाती हैं। हम प्रमादवश आनन्द की लौ को देख लेते हैं, किन्तु उत्तरदायित्व के स्वर को सुन नहीं पाते। यह हमारे जातीय जीवन की असंगति है। यह असंगति उस दिन भी खड़ी हुई थी ज़ब महिषासुर ने शक्ति को अपने लिए रख लिया था और नरकासुर ने जन-जन की लक्ष्मी को स्वायत्त कर लिया था। हम विजयादशमी के दिन पाठे करते

हैं और दीपावली की रात को द्यूत-क्रीड़ा करते हैं। यानी आनन्द (?) के अतिरेक में हम दुर्गा और राम, सत्यभामा और कृष्ण के श्रेष्ठांश छोड़कर महिषासुर और नरकासुर की भूमिका में उतर आते हैं। विजयादशमी हमारे क्षत्रियत्व की पराजय बन गई है और दीपावली हमारे श्रेष्ठत्व का विभ्रम।

वस्तुतः विजयादशमी और दीपावली दोनों की छवि करुणोज्वल है।

विजयादशमी के दिन शमी वृक्ष की पूजा होती है और दीपावली के दो दिन पहले धन-तेरस का दीप (यम का दीया) जलाया जाता है। इनकी भी अपनी-अपनी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि एक बार राजा रघु ने विश्वजित यज्ञ किया और उसके उपलक्ष्य में इतना दान दिया कि उनका खजाना ही खाली हो गया। उसी समय वरतन्तु ऋषि के शिष्य कौत्स उनके पास आये और गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए उनसे चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ मांगी। राजा रघु बड़े सोच में पड़ गये। खजाने में कुछ न था; पर वे याचक स्नातक को लौटा भी नहीं सकते थे। अन्त में उन्होंने इन्द्र से युद्ध कर उनके कोष को जीत लेने का निश्चय किया। पर इन्द्र ने होशियारी से काम लिया। इसके पहले कि रघु आक्रमण करें, इन्द्र ने एक शमी वृक्ष पर असंख्य स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा कर दी। रघु प्रसन्नता से खिल उठे और उन्होंने सभी मुद्राएँ कौत्स को भेंट कर दीं। पर कौत्स भी एक ही निकला। उसने केवल चौदह करोड़ मुद्राएँ ही लीं और शेष वहीं छोड़ दीं। धन-तेरस के दीप की कहानी इस प्रकार है। एक बार यमराज के मन में ममतापूर्ण कौतूहल जगा। उसने अपने दूतों को बुलाया और पूछा—तुमलोग तो बड़े कठोर काम करते हो। बतलाओ तो तुम्हें अपने काम से कभी दुःख भी हुआ है? कभी किसी समय ममता की अनुभूति हुई है? यमदूतों ने कहा—'महाराज, एक बार जब हेमराज के नवविवाहित पुत्र की अकाल-मृत्यु हुई थी, तब उसका प्राण-हरण करते समय बड़ा दुःख हुआ था। दूतों के इस निश्छल उत्तर को सुनकर यमराज ने कहा था—'धन-तेरस की रात जो हमें दीप-दान करेगा, उसकी अकाल मृत्यु नहीं होगी।'

आज न तो शमी वृक्ष पर सोने की वर्षा होती है और न दीप-दान से

अकाल-मृत्यु रुकती है। पर संकट में भी अपने कर्त्तव्यों को न भूलना और विवश निराशा में भी आशा का दीप जलाना कितना बड़ा बल है, कितना बड़ा आश्वासन है! जीवन का जूआ ढोना यों ही कठिन है, फिर दु:ख-दु:ख चिल्लाने से दु:ख-दर्द की दुनिया में क्षण-भर के लिए भी टिक रहना असंभव हो जायगा। जब भाग्य की रेखा को हम मेट नहीं सकते, तब भाग्य पर रोना निरर्थक है। रोना निरर्थक ही नहीं, हानिकारक भी है; क्योंकि दु:ख की भावना दु:ख को बढ़ा देती है। उपचार तो यही है कि हम कष्टों पर मुस्कुराना सीखें, साधना में आनन्द ढूँढ़ें। कृति का सुख बड़ा सुख है, सुलभ और महान्। लक्ष्मी 'करुणामधुरा' है—

अशेषभुवना मोदमादधानां शुचिस्मिताम्।
करुणामधुराकारां लक्ष्मी देवीमुपास्महे।

(उस देवी की उपासना करता हूँ जो अखिल विश्व को आनन्द प्रदान करनेवाली पवित्र मुस्क्यानवाली और करुणा की मधुर आकृतिवाली है।')

हम लक्ष्मी की सुन्दर आकृति और मुस्कान पर जाते हैं, पर उस पवित्र करुणा को पढ़ना भूल जाते हैं, जो उसकी मुस्कान को स्निग्धता तथा उसकी आकृति को रुचि देती है। सो लक्ष्मी चंचल होती रही।

आग, सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश से दीपक की ज्योति को श्रेष्ठ कहा गया है—

अग्निज्योतिः रविज्योतिश्चन्द्रज्योतिस्तथैवच।
उत्तमः सर्वज्योतीना दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

क्यों? इसीलिए न कि दीपक की ज्योति पर स्नेह की करुणा की नमी है।

आज देश में संकट उपस्थित है—आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों। इसलिए हमारा आग्रह होगा कि हम दीपावली को करुणा से देखें, महज विनोद से नहीं। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मुसलमानों का त्योहार:

मुसलमानों के प्रमुख त्योहार हैं—मुहर्रम और ईद। मुहर्रम के दिन



मुसलमान लोग ताजिया निकालते हैं और गदका, बाना, पाटा इत्यादि खेलते हैं। ईद के दिन सामूहिक रूप से नमाज पढ़ते हैं और सेवइयाँ खाते हैं।

आदिवासियों का त्योहार :

छोटानागपुर के आदिवासियों के मुख्य दो त्योहार हैं——सरहुल और करमा। सरहुल प्रकृति-पर्व है। यह पर्व खेती आरम्भ करने के पहले मनाया जाता है। कहा जाता है कि आदिवासियों के पुरखों ने सरहुल मनाकर ही पहले-पहल खेती की थी। उसी परम्परा की स्मृति में आदिवासी सरहुल मनाते हैं। सरहुल-पर्व मनाने के पहले खेत की नयी फसल खाना मना है। सरहुल के समय खेती-बारी का काम बन्द रहता है। निश्चित दिन को पाहन (गाँव का पुरोहित या प्रधान) सरना-पूजन करता है। इस अवसर पर मुर्गे की बलि दी जाती है और हड़िया (चावल से बनाया गया नशीला पेय) का अर्घ्य दिया जाता है। नाच-गीत से गाँव-गाँव का वातावरण फूल उठता है। एक गीत है——

खद्दी चाँदो हियो रे नाद नौर
फागु चाँदो दुलम रे नाद नौर
भर चाँदो चाँदो रे नाद नौर
मिरिम चाँदो हो-सोड ले-डना।
खैया ने-डोय हियो रे नाद नौर
खेड़ो ने-डोय दुलम रे नाद नौर
भर चाँदो चाँदो रे नाद नौर
मिरिम चाँदो हो-सोड से-डना।
बंडी खेरन पिटोय रे नाद नौर
बूचा हांडी तुदौय रे नाद नौर
भर चाँदो चाँदो रे नाद नौर
मिरिम चाँदो हो-सोड ले-डना [१]

---

१ 'आदिवासी', अप्रील, १९५३।

(सरहुल का चाँद आया है। फूल-फल लेता आया है। भर आँव हम उसे लेते हैं, फिर त्याग देते हैं। भाभियों, वहुओं और स्वजनों को बुलाओ। वड़ी मुर्गी की वलि चढ़ाओ। टूटे घड़े से हँड़िया अर्घ्य दो।)

ऐसे ही अनेक गीतों को गाते हँड़िया पीकर मस्त युवक-युवतियाँ, नगाड़े मृदंग और वाँसुरी पर थिरक-थिरक कर नाचते और आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

करमा का त्योहार भाद्र, एकादशी को मनाया जाता है, यों इसके गीत आषाढ़ से आश्विन तक गाये जाते हैं। इस पर्व में भी हँड़िया-पान और नाच-गान की धूम रहती है। पर करमा के खास गीत होते हैं। सवमें प्रकृति और प्रेम का वर्णन होता है। संयोग-पक्ष के गीत वड़े उल्लासपूर्ण और वियोग पक्ष के गीत वड़े मार्मिक होते हैं। एक गीत देखिए—

"हवा टाटी पीतल टाटी
होड़मोरे दो तितेजागी
तिरिरीरि तिरिरीरि
रुतु दोरे साड़ीतन।
पिड़ी रेदो चिकन कामी
ओड़ारे दो हनर-होंजर
तिरिरीरि तिरिरीरि
रुतु दोरे साड़ीतान।

(मिट्टी के दिये (से), पीतल के दीये से (लेकर अपने शरीर में तेल) लगा चुकी (अपना शृंगार कर चुकी)। (उधर) बाँसुरी तिरिरीरि तिरिरीरि वज रही है।

(वह सोच रहा है कि) घर में सास-ससुर (मौजूद) हैं मैदान में कौन-सा काम है (जिसका वहाना करके वाहर निकलू उधर) बाँसुरी तिरिरीरि तिरिरीरि वज रही है।)" २

---

२. मुंडा जाति के करमा-गीत, 'आदिवासी', १९५२।

कुछ गीतों में राम और कृष्ण की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जैसेः—

"राम राम मेन्ते
दो भाई, दो भाइ लंकाते
राम राम मेन्ते
सीता देवी पिछाते।
जेता वीराए कुड़िलतना
जेदा वीराए सवा काद्
राम राम मेन्ते
दुरं तना को मोसाते
राम राम मेन्ते
सेनोः तना को लंकाते।
रामायण रे ओला कना
बुदु वावुए दुरंतना
राम राम मेन्ते
सेटेर केदा को लंकारे
राम राम मेन्ते
सीता देवी पिछाते।

(राम की जय बोलते हुए हे भाई हमलोग लंका चलें।
राम की जय-जयकार करते हमलोग सीता की खोज में लंका चलें।
कोई-कोई वीर उछल रहा है, कोई-कोई (हाथ में कुछ) धरे हुए हैं।

राम की जय बोलते हैं, गाना गाते हैं और एक साथ उछलते हैं। सीता देवी की खोज के लिए राम की जय बोलते हैं।

जो कुछ रामायण में लिखा है, उसीको वुदू बाबू गा रहा है। (वे) राम-राम बोलते हुए लंका में उतर गये। सीता की खोज में राम-राम बोलते हुए।)

उरिः गुपियाते गोपाल
हिजुलेना अकल वकल
एला वाछा सुगारे चोओ लेमा
अमा सुगड़ मिरू मोचारे चोओ लेमा
हिजु लेना डगर-डुगुर
ओड़ाराटी शोभा जाना
आम नातिन दोवा काना
रोका तोवा लोटा रे, चोओ लेमा
अमा सुगड़ मिरु मोचारे चोओ लेमा।
यशोदा जी का जितना
उरी गुपी आलोम सेना
कंस राजा मेनाई वछा
मुदई मूरकाटारे—चोओ लेमा
अमा सुगड़ा मिरू मोचारे चोओ लेमा।

("गोपाल कृष्ण गाय चराकर थके-माँदे आये हैं। (यशोदा कहती हैं कि) हे सुग्गे के समान बच्चे, आओ, तुम्हें चूम लूँ।"

तुम्हारा मीरू (पक्षी) के समान सुन्दर मुँह चूम लूँ। तुम जो डुगुर-मुगुर आये (इससे) सारा घर शोभायमान हो गया। मैंने तुम्हारे लिए लोटे में ताजा दूध रखा है। आओ, तुम्हारे सुग्गे के समान सुन्दर मुखड़े को चूम लूँ।

यशोदा जी कहती हैं कि तुम गाय चराने मत जाओ। कंस राजा जानी दुश्मन है। आओ, चूम लूँ। तुम्हारे सुग्गे के समान सुन्दर मुखड़े को चूम लूँ।")

---

३ वही

३८

पत्रकारिता

पत्रकारिता एक समाचार-पत्र या साहित्यिक पत्र-पत्रिका को संचालित अथवा प्रकाशित करने की कला को कहते हैं। पत्रकार वे ही कहे जा सकते हैं, जो समाचार-पत्रों के लिए लेखन-कार्य कर जीविकोपार्जन करते हैं। लेकिन ऐसे संपादक, जो पत्र के लिए लिखते तो कुछ भी नहीं, पर उसमें व्यक्त विचारों का कानूनी उत्तरदायित्व लिए रहते हैं, और ऐसे उपसंपादक, जो केवल संशोधन का काम करते हैं, वे भी पत्रकार ही कहलाते हैं।

प्रजातंत्र, और दलीय (Party) शासन के युग में पत्रकारिता एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है। अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था में विचारों की अभि-व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं रहती। फलतः, ऐसी वस्तु-स्थिति में पत्रकारिता का उपयोग सीमित हो जाता है; किन्तु, एक प्रजातंत्रवादी देश में, जहाँ के समाचार-पत्र विचार की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं, पत्रकारिता एक वहुत वड़ी शक्ति होती है। ऐसे देश में पत्रकारिता जनता और सरकार के वीच की कड़ी वनी रहती है। यह सरकारी कार्यों और नीतियों की व्याख्या करती है, उन्हें प्रभावित करती है और आवश्यक होने पर उनकी आलोचना और निन्दा भी करती है। वह जन-मत को अभिव्यक्त करती है और सर्व-साधारण के कष्टों और माँगों को सरकार के सामने प्रस्तुत करती है। यह सरकार और जनता, दोनों को ही सलाह देती है, दोनों का ही पथ-प्रदर्शन करती है।

पत्रकारिता निष्पक्ष भी हो सकती है और पक्षपात तथा स्वार्थ से प्रेरित भी। पहले प्रकार की पत्रकारिता समाचार और विचारों को बिना किसी लाभ के उद्देश्य से प्रकाशित कर देती है। सत्य के लिए आदर और मनुष्य की सेवा, ये ही इसके मुख्य सिद्धांत हैं।

पक्षपातपूर्ण पत्रकारिता, इसके विपरीत, चेष्टा करती है कि दलगत भावनाएँ उत्तेजित हों, असंतोष की आग भड़के और विभेद और सन्देह का वातावरण तैयार हो। यह शिष्टाचार और औचित्य को तिलांजलि देकर व्यक्तियों पर

गाली की बौछार करती है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए यह दानव को देवता, निकृष्ट को महान् और दुर्जन को सज्जन घोषित करने में रंचमात्र संकोच या हिचक नहीं महसूस करती।

कुछ ऐसे भी पत्रकार होते हैं, जो दलविशेष, संप्रदायविशेष या व्यक्ति-विशेष से संवद्ध पत्रों में काम करते हैं। इनकी पत्रकारिता निर्धारित दृष्टि-कोण से तथ्यों को रँग कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करती है।

पत्रकारिता के लिए विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। इतिहास, भूगोल, राजनीति और अर्थशास्त्र का तो, पत्रकारिता के लिए, विशेष और गंभीर ज्ञान अपेक्षित है। सफल पत्रकारिता के लिए विजली की तेजी से लिखते चले जाने की क्षमता, तथ्यों को शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति, संतुलित निर्णय और विश्व की चलित विचार-धाराओं का सम्यक् परिज्ञान भी सर्वथा आवश्यक हैं।

यह सत्य है कि कविता, नाटक, उपन्यास, आदि की तुलना में पत्रकारिता के विषय क्षणिक महत्त्व के होते हैं; किन्तु, यह भी स्मरण रखना उचित है कि इन्हीं विषयों से किसी देश के इतिहास का आगे चलकर निर्माण होता है। यही कारण है कि सभ्य और समुन्नत देशों में, पत्रकारिता की श्रमसाध्यता और उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर, पत्रकारों को पर्याप्त पारिश्रमिक, वेतन और सम्मान दिये जाते हैं। किन्तु, भारत में, कुछ तो पाठकों की सीमित संख्या, विज्ञापनदाताओं में प्रचार पर कम-से-कम पैसे खर्च करने की मनोवृत्ति और पत्र-संचालकों की शोषण-नीति के कारण, पत्रकारिता अभी आजीविका का अवलंबनीय साधन नहीं बन सकी है। इसका परिणाम यह होता है कि आज भी हमारे देश में, पत्रकारिता के क्षेत्र में, विशेष रूप से भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता के क्षेत्र में, उत्कृष्ट प्रतिभा, शिक्षा और योग्यता-संपन्न व्यक्ति नहीं पाए जाते। बहुधा पत्रकारिता वे ही अपनाते हैं, जो और पत्रों से निराश हो चुके रहते हैं। पत्रकारिता ऐसे लोगों के लिए अंतिम शरण-स्थल बनती है।

एक प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार ने ठीक ही कहा है—"भारत की वर्त्तमान राजनीति सशक्त पत्रकारिता के विकास के सर्वथा विरोध में है।" इस प्रकार के कटु निर्णय का कारण यह है कि राजनीतिक दल स्वतंत्र पत्रकारिता को पनपने का मौका नहीं देते। किंतु, इससे भी भयंकर स्थिति तो अब उत्पन्न हो रही है। पूँजीवाद के विस्तार के साथ-ही-साथ हम देख रहे हैं कि जितने भी प्रभावशाली पत्र थे, वे किसी-न-किसी बड़े उद्योगपति के द्वारा खरीद लिए गए हैं और वे उसी ढंग की पत्रकारिता को प्रश्रय देते हैं, जो उनके प्रचार में आकाश-पाताल एक कर देने को तैयार हो। यह स्वतंत्र पत्रकारिता की पूर्ण समाप्ति है।

पत्र पर इस प्रकार के उद्योगपतियों के बढ़ते हुए एकाधिकार और पत्रकारों के शोषण को खत्म करने के लिए भारत के प्रजातांत्रिक नेताओं ने पत्रकारिता संबंधी वास्तविकता, उसकी त्रुटियाँ और उनके मार्जन, स्वतंत्र पत्रकारिता के विकास और पत्रकारों की स्थिति के सुधार, आदि पर विचार करने की आवश्यकता समझी है। कुछ दिन हुए, भारत सरकार ने एक आयोग को इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। उसका प्रतिवेदन (Report) बड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। अब उसी के सुझावों के अनुसार लोकसभा ने एक अधिनियम स्वीकृत किया है। इस अधिनियम के कार्यान्वित होने पर निस्सन्देह ही भारत में भी पत्रकारिता का मानदंड ऊँचा हो जाएगा।

सैनिक प्रशिक्षण (मिलिटरी ट्रेनिंग)

स्वतंत्र भारत एक विशाल देश है। यूरोप में रूस को हटा दीजिए, तो जितना बड़ा भू-खंड बच जाता है, उतने पर इस देश का विस्तार है। और, यहाँ के निवासियों की संख्या भी कितनी बड़ी है—सैंतीस करोड़! इतने बड़े

देश की दूर-दूर तक फैली हुई सीमाओं की सुरक्षा सहज साध्य नहीं है। यों तो हमारी सेना सुसंगठित और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हैं; किन्तु यदि दुर्भाग्य से कभी व्यापक अशांति फैल जाय या बाहरी आक्रमण हो, तो हमारी इस स्थायी सेना से काम नहीं चलने का। यही कारण है कि हमारी सरकार ने देश के उन नवयुवकों को भी सामरिक प्रशिक्षण देने की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की हैं, जो स्थायी सेना में भर्ती होकर सैनिक बनने के अन्य क्षेत्रों में कार्य करने का विचार रखते हैं।

युवकों को सामरिक प्रशिक्षण देने के लिए सरकार ने (१) भारतीय टेरिटोरियल फोर्स, (२) नैशनल कैडेट कोर और (३) नैशनल वालंटियर फोर्स का संगठन किया है। इन संगठनों का ध्येय है—नवयुवकों के लिए बुनियादी सामरिक प्रशिक्षण की सुविधाओं को सुलभ बनाना तथा उनमें अनुशासन तथा संघ-बद्ध होकर काम करने की प्रवृत्ति को विकसित करना।

टेरिटोरियल फोर्स का उद्घाटन गवर्नर-जेनरल ने ९ अक्तूबर, १९४९ में ही किया था। इसमें १,३०,००० युवकों को भर्ती करने का लक्ष्य रखा गया था। १८ से लेकर ३५ तक के सभी स्वस्थ भारतीयों को, वे चाहे अशिक्षित ग्रामीण हों या उच्च शिक्षित नागरिक, इसके दोनों विभागों—ग्रामीण या नागरिक—में भर्ती होने के योग्य माना गया है। दोनों विभागों में प्रशिक्षण की अवधियं भिन्न-भिन्न हैं। इस सैनिक-संगठन के सदस्यों के लिए यह नियम है कि उन्हें भारत की सीमा के बाहर सैनिक कार्य करने की बाध्यता नहीं होगी। यदि यह आवश्यक समझा भी गया, तो इसके लिए केन्द्रीय सरकार को विशेष आदेश जारी करना पड़ेगा। इसमें भर्ती होने की योग्यता का निर्णय, सांप्रदायिक या जातिगत बातों को ध्यान में रखकर नहीं किया जाएगा। असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, टेरिटोरियल फोर्स के सदस्य अपने सामान्य जीवन-व्यापार करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र रहेंगे। राष्ट्रीय संकट के काल में यह देश की द्वितीय सुरक्षा-पंक्ति के रूप में स्थायी सेना की महत्त्व-पूर्ण सहायता करेगी।

इस सेना में सभी सैनिक-विभाग सम्मिलित हैं——उदाहरण के लिए भारतीय आर्मर्ड कोर, भारतीय आर्टिलरी, भारतीय इंजीनियर्स, भारतीय सिग्नल, इनफैंट्री, भारतीय आर्मी आर्डनैंस कोर, भारतीय एलेक्ट्रिकल एंड मेकैनिकल इंजीनियर्स और पोस्टल युनिट्स। जो व्यक्ति भर्ती होने के योग्य सिद्ध होग उसे सात वर्षों के लिए सक्रिय सैनिक के रूप में भर्ती किया जाएगा और आठ वर्षों के लिए "रिजर्व" में। सक्रिय सैनिकता की अवधि एक-एक बार करके दो साल तक के लिए बढ़ाई जा सकती है।

चूँकि टेरिटोरियल फोर्स की नागरिक शाखा में अपेक्षित संख्या में युवक भर्ती नहीं हुए, इसलिए भारत सरकार ने कुछ दिन पहले लोकसभा में एक विधेयक उपस्थित किया, जिसमें इस बात की व्यवस्था थी कि आवश्यकता पड़ने पर २० से ४० वर्षों तक के सरकारी तथा जनोपयोगी संस्थाओं के कर्मचारियों को टेरिटोरियल सेना में अनिवार्य रूप में भर्ती होना पड़ सकता है।

सैनिक प्रशिक्षण का दूसरा संगटन है——नेशनल कैडेट कोर, जिसमें ऐसे छात्रों के भर्ती होने की व्यवस्था है, जो टेरिटोरियल सेना के योग्य युवकों की अपेक्षा अल्पवयस्क हैं। यह संघटन बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और आजतक प्राय: डेढ़ लाख छात्र इस योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षित हो चुके हैं। इसमें छात्राओं की भी एक टुकड़ी है, जिसमें हजारों की संख्या में बालिकाओं का सैनिक प्रशिक्षण सपन्न हो चुका है।

चूँकि इस योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण की व्यवस्था माँग की तुलना में अत्यधिक अपर्याप्त सिद्ध हुई है, इसलिए एक आकजिलियरी कैडेट कोर की स्थापना की भी आवश्यकता हुई। इसमें पाँच लाख से भी अधिक छात्र हैं।

नैशनल वालंटियर फोर्स-स्वयंसेवकों को प्रारंभिक सैनिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करता है। समें भर्ती होनेवालों को अनिवार्य रूप से सैनिक सेवा करने की बाध्यता नहीं है। इस संघटन के तत्वावधान में सारे देश में प्रतिवर्ष प्राय: एक लाख व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए अस्थायी व्यवस्था की जाती है। संत विनोबा के निर्देशन में जो शांति-सेना सघटित हो रही है उसका अपना महत्त्व है।

यह कहना आवश्यक है कि भारत की असुरक्षा का प्रत्येक भारतीय पर दायित्व है, और विशेष रूप से युवकों पर। अतः, उनका तो धर्म ही है कि वे अपने जीवन का एक अंश, इन सैनिक संघटनों में से किसी एक का सदस्य बनकर सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने में अवश्यमेव लगाएँ। सुविधा और विलासिता के जीवन के लिए लालायित रहने के बदले भारतीय युवकों को यह सिद्ध कर दिखाना है कि यदि उनके देश पर कभी संकट आ पड़े, तो वे उसकी सुरक्षा के लिए साहस का ही परिचय नहीं देंगे, बल्कि सामरिक निपुणता का प्रमाण भी उपस्थित कर सकेंगे; क्योंकि दूसरे के बिना पहले की सफलता सदैव संदिग्ध बनी रहती है।

भारत की ऋतुएँ

सर्वविदित है कि पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने से भूखंडों का ऋतु-परिवर्त्तन होता है। पर चूँकि, भूखंडों की पृथ्वी के गोलार्द्ध पर स्थिति का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है, भिन्न-भिन्न अक्षांशों पर स्थित देशों में ऋतुओं की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। कोई देश अपेक्षाकृत ज्यादा गर्म होता है, कोई ज्यादा ठंढा। ऋतुओं के मानी में भारतवर्ष अन्य देशों की अपेक्षा ज्यादा समृद्ध है। यह छः ऋतुओं का देश है और वे ऋतुएँ हैं—ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त, शीत (शिशिर) और वसन्त। हरेक ऋतु का काल दो मासों का होता है। इस प्रकार वैशाख और ज्येष्ठ को ग्रीष्म, आषाढ़ और श्रावण (सावन) को वर्षा, भाद्र (भादो) और आश्विन (आसिन) को शरत्, कार्तिक और अगहन को हेमंत, पौष और माघ को शीत या शिशिर तथा फाल्गुन (फागुन) और चैत्र को वसन्त ऋतु कहेंगे। वैसे आम तौर पर तीन ही ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा और शीत—अनुभूत होती हैं, यद्यपि इनकी अन्तर्वर्ती ऋतुओं का अनुभव भी कठिन नहीं है।

चूंकि साहित्य और समाज पर देश की भौगोलिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है, भारतीय साहित्य में षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासे की परिपाटी परम्परा से आ रही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने ऋतुवर्णन को महाकाव्य का एक आवश्यक अंग माना है। हिन्दी कवियों में भी, संस्कृत के प्रभाव—स्वरूप, यह परिपाटी मिलती है। जायसी, आदि प्रेमाख्यानी कवियों में तो ऋतु-वर्णन या बारहमासे का एक अच्छा खासा साहित्य उपस्थित है। विरह के प्रसंग में चूंकि उद्दीपनकारी प्रकृति का वर्णन होता है, अतः हिन्दी के लगभग सभी कवियों ने ऋतुओं को वियोग-वर्णन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है।

ग्रीष्म—भारत में यह ऋतु अपना प्रभाव शायद सब ऋतुओं से अधिक दिखलाती है। दिन पहाड़-सा बड़ा होता है, रात चिड़िया-सी छोटी। दोपहर को लू चलती है, बगूले उठते हैं। पसीने के मारे बुरा हाल होता है। अगर तंग जगह में सफर करना पड़े, तो जान ही निकल जाय। मगर खुली जगह में, पानी के छिड़काव के बाद, रात की टहटह चाँदनी में सोने में मज़ा आ जाता है। सुबह-शाम का गंगा-स्नान भी इस मौसम में कम स्मरणीय नहीं होता। गर्मी का मौसम अमीर-गरीब दोनों के लिए समान रूप से सुखदायी अथवा दुःखदायी होता है। हैजे की बीमारी दोनों को होती है। शादी-व्याह का यही मौसम है। इसी मौसम में किसान खेत-खलिहान से फुर्सत पाकर बारात-बारात करता है। गाँव-गाँव में मंडप छाया जाता है, बाजे बजते हैं, रोशनी जगमगाती है, नाच-गाने, हँसी-मजाक होते हैं। एक नई रवानी आती है। अमीर घर में खसखस की टट्टी लगाता है, गुलाब-जल का छिड़काव करता है; इत्र-फुलेल से वस्त्रों को सुवासित करता है। शहरों में शाम को मलमली अँगरखा झाड़कर निकलनेवाले बाबुओं का कुलफी-मलाई, आइसक्रीम, लस्सी और पान की दुकानों पर जमाव देखने लायक होता है। लीची, जामुन, आम और कटहल ये सब इसी ऋतु के अमृत फल हैं।

निर्धन भी घर को मिट्टी से लीप-पोतकर, छप्पर के पुआल को भींगोकर आराम कर लेता है और कभी-कभी ठंढई तथा छांछ का आनन्द भी उठा लेता है।

खेती के लिहाज से यह एक अत्यन्त आवश्यक ऋतु है। जब खेत अधिक तपता है, तभी अच्छी फसल होती है। गर्मी के कारण खेत के घास-पात, कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं। मिट्टी का विजातीय द्रव्य निकल जाता है। सही है कि घास के सूख जाने से मवेशियों को तकलीफ होती है, पर दूब कुछ हद तक उनकी जरूरतें पूरी करती है। और, वैशाखनन्दन तो इसी ऋतु में मोटे-ताजे होते हैं :

कहलाने एकत वसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सों कियों, दीरघ दाघ निदाघ।।
बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँहि।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहों चाहत छाँह।।

वर्षा—वर्षा की कल्पना में एक अजीब जादू है। 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' की कल्पना करके कालिदास का प्रकृति-मुग्ध हो जाना अस्वाभाविक न था। साधारण आदमी का मन भी वर्षा-ऋतु की कल्पना करते ही मयूर-सा नाचने लगता है। आषाढ़ के बादल आसमान पर चढ़ते हैं, हाथियों के झुंड की तरह। प्रथम फुहार से तपी धरती सोंधी गंध फेंकने लगती है। मुरझायी लताएँ हरी हो उठती हैं। एक नवजीवन की हरियाली छा जाती है। खेतों में धान बोया जाता है। रिमझिम के बीच जब रोपिनी गीत गाकर धान रोपी जाती है, बीच-बीच में मेढ़क टर्र करते हैं और बगुलों की पाँति उड़ती है, तो एक समा बँध जाता है। हरिऔध जी की ये पंक्तियाँ सार्थक हैं—

सरस सुन्दर सावन मास था
घन घटा नभ थी घिर घूमती।
विलसती जिसमें बहुधा रही
छबिवती उड़ती वकमालिका।

आदिकवि वाल्मीकि ने वर्षा-ऋतु का जो वर्णन किया है, वह संस्कृत-साहित्य की अमर निधि है।

हिन्दी में तुलसीदास, निराला, इत्यादि ने इस ऋतु को अमर किया है। आसमान में घिरने-घुमड़ने वाले बादलों और कौंधनेवाली बिजली को गोस्वामी ने इन पंक्तियों में मूर्तिमान किया है--

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माँही।
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।

बादलों के संगीत को निराला के बादल-राग में सुनिए--

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर!

बरसात में उमड़कर बहनेवाली नदियों और हहराकर ढलनेवाले निर्झरों की गति उन्हीं के शब्दों में देखिए--

धँसता दल दल,
हँसता नद खल्-खल,
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।

शरद्--वर्षा के बाद शरद ऋतु आती है--'वर्षा विगत शरद ऋतु आई' (तुलसीदास)। आसमान साफ हो जाता है। यों कभी-कभी इन्द्र-धनुषी बादल दिखाई पड़ जाते हैं। धरती का कर्दम दूर हो जाता है। पानी इतना स्फटिक हो जाता है कि आदमी चेहरा देख ले। कमल-कुमुद खूब शोभा देते हैं। हरसिंगार इस ऋतु का विशेष फूल है। धान की बालियाँ अब फूटने लगती हैं। खंजन इस ऋतु का विशेष पक्षी है, जो अन्य ऋतुओं में दिखाई नहीं पड़ता। अगस्त्य नक्षत्र आसमान का विशेष शृंगार करता है। इस काल में अनेक त्योहार मनाए जाते हैं, जिसमें प्रसिद्ध है, दुर्गापूजा। एक प्रकार से हम इसे त्योहारों का मौसम कह सकते हैं।

हेमन्त--इस ऋतु में ठंढक बढ़ने लगती है। शाम को ओस या हिम गिरने लगता है। इस ऋतु में धान की कटनी होती है। गाँव-गाँव, घर-घर 'नवान्न' का महोत्सव होता है।

शीत—शीत ऋतु अमीरों की है, गरीबों की नहीं। इस ऋतु में, खासकर पूस-मास में इतनी ठंढक वढ़ जाती है कि फुटपाथ पर सोनेवाले अनेक अपाहिज और भिखमंगे इस धरती से उठ जाते हैं। गरीबों को ठिठुर-ठिठुर कर रात काटनी पड़ती है। सबको घूरे की आग भी नसीब नहीं होती। अमीरों के क्या कहने हैं। शरीर पर कीमती-से-कीमती ऊनी वस्त्र हैं। ऊनी वस्त्रों में सिलाई की काट अच्छी आने से, अमीरों की शारीरिक शोभा वढ़ जाती है। वावुओं के कोट पर ओभर कोट पड़ा होता है, गले में मफलर, माथे पर फेल्ट हैट। वे उन गरीबों को क्या जाने, जो आधी धोती कमर में और आधी सर पर रखकर दिन काटते हैं और जिनकी औरतें फटे आँचल में वच्चों को गर्म रखती हैं। अमीर इस मौसम में गिजा खाते हैं और फुर्तीला वनने को टेनिस खेलते हैं। रात बड़ी होती है। अतः कवियों ने विरह की रात और सुहाग की रात के प्रसंग में इस ऋतु का खूब वर्णन किया है।

न कट सकी न घट सकी
विरह-घिरी विभावरी
तुषार से लगा रही उमीद मैं
वहार की थी

पूस का दिन कितना छोटा है, बिहारीलाल ने इन पंक्तियों में वतलाया है—

आवत जात न जानिये, तेज तेजहि सियरान।
घरहिं जमाई लौं, घट्यो, खरौ पूस दिनमान॥

वसन्त—वसन्त सौंदर्य की सीमा है। इसलिए तो कालिदास ने कहा था—'सर्वं प्रिये! चारुतरं वसन्ते'। स्वभावतः वसन्त से कला और साहित्य को वहुत प्रेरणा मिली। वसन्त और कला के सम्वन्ध का प्रमाण देते हुए ज्योतिषशास्त्र ने वतलाया है कि जिस व्यक्ति का जन्म वसन्त-पंचमी के दिन होता है, वह ललित कलाओं का प्रेमी होता है। (निराला जी का जन्म इसी दिन हुआ है)।

इस वसन्त की वासन्तिकता के बीच भगवान् शंकर को कामदेव के मोहन रूप ने मोहने की चेष्टा की थी और तब महादेव के तीसरे नेत्र ने उसे भस्म कर दिया था। प्रतिवर्ष होलिका-दहन अन्य बातों के अतिरिक्त इस घटना की स्मृति भी दिला जाता है। वही स्वस्थ शृंगार भारतीय साहित्य ने वसन्त में ढूंढ़ा है। अतः हमारे इस सांस्कृतिक पर्व में रति और विरति का अनूठा सामंजस्य है। इसीलिए जहाँ इसे एक ओर 'मदन महोत्सव' की संज्ञा दी गई है, वहाँ दूसरी ओर 'शतपथ ब्राह्मण' ने वसन्त को ही ब्रह्म माना है।

फागुन में पुराने पत्ते झड़ने लगते हैं। नवीन कोपलें निकलती हैं। वसंत के इस अनुराग-विराग-समन्वित रूप की स्पष्ट झाँकी कबीर में मिलेगी। एक ओर विराग की यह अन्योक्ति है--

फागुन आवत देख करि बन रूना मन माँहि।
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाँहि।।

दूसरी ओर, मधुर भाव की पुजारिन कवि की आत्मा परम प्रियतम से चुनरी पहनकर फाग खेलना चाहती है--

"मैं तो वा दिन फाग मचैहों
जा दिन प्रिय मेरे द्वारे ऐहैं।
रंग वही, रंगरेजवा ओही
सुरँग चुनरिया रँगैहों।"

इस प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों के लिए होली 'मृत्यु' और 'महा-मिलन' का प्रतीक बनकर आती है।

जायसी ने बारहमासे में होली का विस्तृत विवरण दिया है। मीराबाई की रचनाओं में भी होली के कई पद हैं। इन पदों में दग्ध हृदय का तीव्र विरह-निवेदन है।

आधुनिक कवियों ने विभिन्न रूपों में वसन्त के अनुराग-विराग का चित्रण किया है।

——o——

भारतीय पोशाक

राष्ट्रीय परिधान की समस्या

भारत अनेक अर्थों में एक महादेश है। यहाँ नाना जातियाँ, धर्म और भाषाएँ हैं। गर्म-से-गर्म और ठंढे-से-ठंढे प्रदेश हैं। भौगोलिक स्थितियों और विभिन्न अभ्यस्तियों एवं प्रभावों के कारण एक प्रदेश का खान-पान, ओढ़ावा-पहिरावा दूसरे प्रदेश से बहुत भिन्न है। अगर पंजाबी रोटी और गोश्त अधिक पसन्द करते हैं, तो बंगाली भात और मछली (जलेर फल) चाव से खाते हैं। अगर मद्रासी झाल अधिक खाते हैं, तो बिहारी मिठाई। पोशाकों का भी यही हाल है। अगर पंजाबी पाग बाँधते हैं, तो महाराष्ट्री पगड़ी अथवा कुल्ही। बिहारी दुपलिया टोपी, कलीदार कुर्त्ता, पट्टा और खूंटिया धोती पहनते हैं, तो बंगाली चूनदार धोती और बंगला कुर्त्ता पहनते हैं और नंगे सिर रहते हैं। इन सबका ऐसा परस्पर प्रभाव पड़ा है कि एक-एक घर एक-एक महादेश बना है। एक ही घर में अगर दादा मिर्जई, पेंचदार पगड़ी और चमरौंधा जूता पहनते हैं तो बड़े चाचा डिलेवाल जूता, कामदार कुर्त्ता और अच्छी टोपी डाटते हैं; बाप अल्बर्ट जूता, खद्दर के कोट और गाँधी टोपी में रहते हैं और बेटा अबाराकट शर्ट पहनकर पिकनिक पर जाते हैं, सूट डाटकर कालेज जाते हैं, कुर्त्ता-धोती में रंग खेलते हैं तथा चूड़ीदार और शेरवानी पहनकर राजनीतिक सभाओं में शरीक होते हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में ज्यादा दिक्कत नहीं है; क्योंकि साड़ी के सौंदर्य और उपयोगिता ने अन्य सभी नारी-परिधानों को मात कर दिया है। अब तो पश्चिम की स्त्रियाँ भी साड़ी की ओर आकृष्ट होने लगी हैं और साड़ीनुमा गाउन के अनेक डिजाइन निकले हैं। पर, पुरुषों में बड़ा झमेला है। सही है कि चूड़ीदार और शेरवानी को दफ्तरी पोशाक मान लिया गया है; किन्तु यह परिधान लोकप्रिय नहीं हो सका है। अधिकांश राज्यों के मंत्रिगण धोती कुर्त्ता ही पहनते हैं। अधिकांश अफसर, वर्दीधारी महकमों के आदमियों को छोड़कर, पतलून और बुशशर्ट में

ही रहते हैं। वस्तुतः गर्म देश के लिए चूड़ीदार और शेरवानी बहुत आराम-देह पोशाक नहीं है।

प्राचीन परिधान

कपड़े की जरूरत आदमी ने तब महसूस की होगी, जब उसमें अपने शरीर के प्रति लाज उत्पन्न हुई होगी। शायद सबसे पहले ईव (हौवा) पेड़ की डाली की आड़ में खड़ी हुई होगी और शायद इसके बाद आदम और हौवा दोनों ने ही अपनी कमर में पत्ते बाँधे होंगे।

गुप्तांगों को ढकने का आदेश देते हुए ऋग्वेद मंडल ८ सूक्त ३३ मंत्र १९ में ऋषि ने कहा कि हे नारि! नीचे देख, ऊपर न देख, होशियारी से पैर रख, ताकि तेरा गुप्तांग न दिखाई पड़े; क्योंकि स्त्री-वेष में ब्रह्मा ही तेरे भीतर आविर्भूत हुआ है—

अधः पश्यवमोपरिसन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दशन् स्त्रीहि ब्रह्मा बभूविथ ॥

वेदों में अनेक प्रकार के वस्त्रों और उनके बुने जाने का उल्लेख मिलता है। कपड़ा बुनना स्त्रियों का एक प्रधान काम था[1] पुरुष और स्त्रियों के कपड़े भिन्न-भिन्न हुआ करते थे और पुरुष के लिए स्त्रियों द्वारा पहने गए कपड़े का पहनना मना था।[2] पर इसी से सिद्ध होता है कि पुरुष और नारी के कपड़े अलग-अलग रहकर भी लगभग एक से थे। अर्थात् दोनों ही लपटने वाला वस्त्र पहनते थे। स्त्रियों का सामान्य वस्त्र साड़ी ही था। भद्र महिलाएँ साड़ी के ऊपर उत्तरीय भी डालती थीं।

कुछ लोगों का मत है कि वैदिक-काल में लम्बे वस्त्र धोती-साड़ी एवं उत्तरीय के रूप में पहने और ओढ़े जाते थे, पर तब सिले हुए कपड़ों का

---

१. वयन्ती वस्त्र वयन्ती नारीव।

२. अश्लीयला तनूर्भवति रूशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वोवासस: स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥
ऋग्वेद १०।८५।३०

रिवाज न था। जब यवन भारतवर्ष में आए, तब आर्यों ने उनसे सिले हुए वस्त्र पहनना सीखा। किन्तु, यह धारणा गलत है; क्योंकि वेदों में सिले हुए वस्त्रों का जैसे 'पेशस्'[१] (घँघरा, जिसे नृत्य करते समय स्त्रियाँ पहनती थीं), 'तुष'[२] (झालर, किनारी, वा गोटा) तथा सिलाई के यंत्रों जैसे 'सूची'[३] (सूई) एवं 'भुरिज'[४] (कैंची) का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। वैदिक साहित्य में गिनाए गए वस्त्रों से ऐसा जान पड़ता है कि उस समय भिन्न-भिन्न कामों एवं अवसरों के लिए भिन्न-भिन्न वस्त्र थे। जैसे ऊपर उल्लेख किया गया, नृत्य करने के लिए स्त्रियाँ घँघरा पहनती थीं, विवाह के समय 'वाधूयं: वासः अर्थात् शादी का विशेष 'कपड़ा पहना जाता था। सर पर 'उष्णीष'[५] (पगड़ी) रखा जाता था। ऋषि[६] गण 'द्रापि'[७] (लम्बा चोगा) पहनते थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' में इस आशय का विचार प्रकट किया है कि चोगा मध्य एशिया से भारत में उधर से आनेवाले ऋषियों के साथ आया। किन्तु वेदों में 'द्रापि' का वर्णन मिलने के कारण उनके इस कथन को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। कपड़े सादे भी होते थे और रंगीन भी। वेद में भूरे चोगे इत्यादि का वर्णन मिलता है।

---

१. ऋग्वेद २ । ३ । ६

२. तैत्तिरीय संहिता ४ । १ । १ । ३

३. ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि में सूची का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। शतपथ में सूई के तीन भेद माने गये हैं—

त्रय्यः सूच्यो भवन्ति। लोहमय्यो रजता हिरण्य।

४. ऋग्वेद ८ । ४ । १६

५. ऋग्वेद १० । ८५ । ३४

६. अथर्ववेद १५ । २५

७. ऋग्वेद १ । ११६ । १०

ऋग्वेद में एक वाक्य ग्राया है—युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोर छिद्रा मंतवो हि सर्गा:। इस वाक्य में ग्राये हुए 'वस्त्राण पीवसा' से ज्ञात होता है कि वेदकालीन वस्त्र मोटे (पीवसा) हुग्रा। करते थे उस समय रेशमी ग्रौर ऊनी वस्त्र भी वनते थे। ग्रथर्ववेद में ग्रौर शतपथ ब्राह्मण में 'ताप्यं' (रेशमी वस्त्र) का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में लिखा है कि कवि मनीषी मनन के साथ ऊन के सूत से (ऊर्णासूत्रेण) कपड़ा बुनते हैं।१ ग्रथर्ववेद में ग्रच्छे कम्वल को साफ कर उस पर वैठने का ग्रादेश किया गया है। २

रामायण-महाभारत-काल

रामायण-महाभारत-काल में तपस्वी ग्रौर उनकी पत्नियाँ प्राय: 'वल्कल' पहना करती थीं। 'वल्कल' भी एक प्रकार का वस्त्र था, जो लता ग्रौर वृक्षों के रेशों से वनता था। रामायण-काल में रेशमी वस्त्र का चलन ज्यादा था।

'सीताजी ने जिस समय नवोढ़ा (नववधू)के रूप में दशरथ के राजमहल में प्रवेश किया था, उस समय उन्होंने रेशमी वस्त्र पहन कर ही उसका स्वागत किया था। इसी तरह भरत जिस समय श्री रामचन्द्र जी से भेंट करने के लिए गए, उस समय उनकी पोशाक भी रेशमी ही थी। रावण सोने के समय भी रेशमी वस्त्र पहनता था। सीताजी जिस समय दण्डकारण्य में विरह-विह्वल वैठी थीं, उस समय भी उनके शरीर पर रेशमी ही साड़ी थी। रामायण के ग्रयोध्याकाण्ड के वर्णन से यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि उस समय साधारण दासी की साड़ी तक रेशमी ही थी।' ३

महाभारत के समय भारतीय ग्रार्य पुरुषों की पोशाक बिल्कुल सादी थी। दो धोतियाँ ही उनकी पोशाक थीं। एक धोती कमर के नीचे पहन ली जाती

---

१. सीसेन तन्त्र मनसा मनीषिण: ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ।
यजुर्वेद १६।८०

२. संमले मलं सादयित्वा कम्वले दुरितं वयम्। ग्रथर्ववेद १४।२।६७

३. खादी मीमांसा

थी और दूसरी शरीर पर, चाहे जैसे, डाल ली जाती थी। उल्लिखित दोनों वस्त्रों के सिवा भारतीय आर्यों की पोशाक में और कपड़े न थे। आजकल स्त्रियाँ जैसे लहँगे आदि वस्त्र पहनती हैं, वैसे उस समय न थे; बल्कि पुरुषों की तरह, पर उनके वस्त्रों से लम्बे होते थे। १

महाभारतकाल में कपड़े बड़े महीन बनने लगे थे, कपड़ों की रँगाई भी होती थी और सूती, ऊनी एवं रेशम का व्यवसाय भी होता था। सभापर्व में युधिष्ठिर को अन्य राजाओं द्वारा दिये गये उपहारों का दीर्घ वर्णन है। उसमें कहा गया है कि चोल और पाण्डव देश से हीरे-मोती एवं सूक्ष्म वस्त्र, उत्तर देश से अलंकार, दुशाले एवं मृगचर्म, और हिमालय-प्रदेश से ऊनी, सूती एवं रेशमी वस्त्र उपहार-स्वरूप मिले थे।

मध्यकालीन वस्त्र

'आपस्तम्ब धर्म सूत्र' तथा 'भिक्खुनी पातिमोक्खः महावग्ग' जैसे बौद्ध-ग्रंथों में 'कंचुक' (पुरुषों के पहनने का लम्बा वस्त्र) का उल्लेख हुआ है। मौर्य, शुङ्ग और शतवाहन के राज्यकाल में भी 'कंचुक' का व्यवहार होता था। कंचुक एक लम्बा अंगरखा-सा वस्त्र होता था। उस काल में लम्बा अंगरखा अथवा अचकन का काफी प्रचार था। इसकी लम्बाई पूरी आस्तीन की होती थी, और नीचे जंघे तक भरहुत, भीटा, साँची की मूर्तियाँ इसी प्रकार के वस्त्रों को पहने हैं। शुंगकाल की, भीटा से प्राप्त एक मूर्ति के अचकन में छाती पर बन्द करने के लिए घुंडियाँ लगी हैं। समुद्रगुप्त की जो मूर्ति मिली है उसमें भी वह लम्बा-सा अचकन पहने हैं। 'सम्राट समुद्रगुप्त के सिक्कों से पता चलता है कि राजाओं की वेश-भूषा में बहुधा मुकुट, लम्बे कोट, पायजामा तथा कमरबन्द, आदि होते थे। रानियाँ विशेषकर घाँघरा और करधनी प्रयोग करती थीं। २ †

१. महाभारत मीमांसा

२. श्री भाष्करनाथ मिश्र (गुप्तकालीन समाज)

†प्राचीनकालीन वस्त्रों का विवरण श्री शिवपूजन सिंह के 'भारतीय परिधान मीमांसा' शीर्षक निन्बध पर आधारित है।

मुगलकाल में साधारण जनता अपनी पुरानी पोशाक पहनती थी यानी धोती, अचकन और पगड़ी। ठंढे पहाड़ी इलाके के लोग पायजामा पहनते थे। राजकीय विभागों से सम्पर्क रखनेवाले मुलाजिम, शासक और उनसे प्रभावित रईस पायजामा, अचकन, आवा-कावा और शाफा पहनते थे।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक मुगलकालीन वस्त्र चले। आगे चलकर अँगरेजी पोशाक का फैशन बढ़ा। तब गाँधीजी का आन्दोलन हुआ। विदेशी वस्त्रों की होली खेली गई। पतलून और मलमल की जगह मोटी खादी ने ले ली। सिर पर गाँधी-टोपी लगी। इस गाँधी-टोपी की भी एक कहानी है। इसके आविष्कार का श्रेय दक्षिण अफ्रिका के उस जेलर को है, जिसके जेल में गाँधीजी कैद थे। बात १९१० की है। तब गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह करने के कारण कैद कर लिए गए थे। गाँधीजी के साथ जेल में अनेक अन्य गोरे और काले कैदी भी थे। जेलर ने कालों को गोरों से अलग करके पहचानने के लिए एक खास किस्म की उजली टोपी बनवाई और सबसे पहले गाँधीजी को दी। गाँधीजी को इस टोपी पर इतना अभिमान हो गया कि जेल से निकलने पर उसे पहनते रहे। तब इसका नाम गाँधी-टोपी पड़ गया। आगे चलकर गाँधीजी ने टोपी पहनना छोड़ दिया, पर उसके पहनने-वालों की संख्या करोड़ों की हो गई।

राष्ट्रीय पोशाक की माँग

जब देश स्वतंत्र हो गया तो स्वभावतः राष्ट्रीय झंडे की तरह राष्ट्रीय पोशाक की भी माँग हुई और बहरहाल चूड़ीदार एवं शेरवानी ने राष्ट्रीय पोशाक की इज्जत पाई। वैसे ये दोनों ही चीजें विदेशी नहीं दीखतीं। शेरवानी अरब से आई हो, इसका कोई प्रमाण नहीं। अरब-जैसी गर्म भूमि के लिए छाती कसनेवाली शेरवानी का जन्म देना अस्वाभाविक है। इस्लाम की धार्मिक पुस्तकों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत् जैसा ऊपर देखा गया है, भारत की प्राचीन मूर्तियों में अचकन या शेरवानी-सा वस्त्र धारण करनेवाली आकृतियाँ मिलती हैं। कुछ लोग ऋग्वेद के 'अत्क' शब्द से

शेरवानी का सम्बन्ध जोड़ते हुए इसे भारतीय कहते हैं और मानते हैं कि अत्क (भीतर के वस्त्रों को ढँकनेवाला लम्बा-सा वस्त्र) शेरवानी का प्राचीन रूप था। 'हर्षचरित' में वर्णित 'चण्डातक' और परवर्तीकाल के ग्रंथों में आया हुआ 'आतक' भी उसी प्रकार के वस्त्र का द्योतक है। कुछ मूर्तियाँ जंघिया पहने भी मिली हैं। अतः यदि पायजामा और शेरवानी भी राष्ट्रीय पोशाक बनती हैं, तो राष्ट्रीय भावना को चोट नहीं पहुँचती; क्योंकि उनमें विदेशीपन नहीं है। सवाल सहूलियत का है। चूड़ीदार और शेरवानी उत्सवों या खास अवसरों के लिए ही उपयुक्त हैं। सदा व्यवहार में आनेवाले वे वस्त्र नहीं हैं। धोती की तरह उठने-बैठने, चलने-फिरने और देर तक सुखपूर्वक पहने रहने में आराम देनेवाला दूसरा वस्त्र नहीं है, ऐसा तो संसार के सभी विद्वान मानते हैं। पर यह सही है कि यह पूर्ण पोशाक नहीं है। लेकिन संसार के अन्य देशों में भी भिन्न-भिन्न कामों और समयों के लिए भिन्न-भिन्न पोशाकें होती हैं। अतः यदि भारत में भी भिन्न-भिन्न पोशाकें सहूलियत के मुताबिक चलें तो एतराज नहीं होना चाहिए। हमारा विश्वास है कि अनेक संकट से निकल जानेवाला भारतवर्ष निकट भविष्य में अनुकूल राष्ट्रीय परिधान ढूंढ़ लेगा।

---:---

भारतीय फिल्म

करीब ४० वर्ष पहले की बात है, कुछ प्रदर्शकों ने बम्बई में इंगलैण्ड के बादशाह पंचम जार्ज के राज्यारोहण का चल-चित्र दिखलाया। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रदर्शकों ने स्थायी रूप से एक प्रदर्शन-गृह बना डाला और बाहर से फिल्में मँगाकर दिखलाना शुरू किया। इस प्रकार भारतीय फिल्म-उद्योग की महज मामूली-सी शुरुआत हुई। इसमें चार व्यक्ति—जे० एफ० म्यून, एफ० एच० सिधवा, अलेक्जैन्डर हेग और चन्नीलाल मुनीम सबसे आगे

आये। इनका काम था विदेशी मूक फिल्मों को मँगाकर सिनेमा-घरों में प्रदर्शित करना। इस प्रकार के सिनेमा-घर सम्पूर्ण उत्तर भारत में छाये हुए थे। अमेरिकी फिल्मों का सर्वत्र वोलबाला था।

ऐसे समय में ही कुछ भारतीय उद्योगपति का ध्यान फिल्म-निर्माण की ओर गया। सबसे पहले महाराष्ट्र के दादा फड़के ने चार रीलों की पौराणिक फिल्म "हरिश्चन्द्र" बनायी, जिसमें राजा हरिश्चन्द्र के सत्य-प्रेम की कथा वर्णित थी। यह प्रथम भारतीय चल-चित्र था। इसका प्रथम प्रदर्शन बम्वई चित्र के कोहनूर सिनेमा-घर में हुआ। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि दादा फड़के ने देश के विभिन्न भागों में इसके प्रदर्शन का प्रवन्ध कराया।

अपने प्रथम प्रयास में ही आशातीत सफलता पाने से फड़के का उत्साह वढ़ा हुआ था। आर्थिक कठिनाइयों के वावजूद उन्होंने कई पौराणिक चित्र बनाये। पर दुर्भाग्यवश उन्हीं दिनों उनके साझीदारों में मतभेद हुआ और वे खिन्न होकर फिल्म-व्यवसाय से अलग हो गये। उनके बाद जो लोग इस व्यवसाय में आये, वे अमेरिकन फिल्मों की प्रतियोगिता में टिक नहीं पाये। १९२८ ई० में इंडियन सिनेमेटोग्राफ-कमेटी नियुक्त हुई, जिसने इस भारतीय उद्योग की समस्याओं पर विचार करके अपने सुझाव दिए। पर उन सुझावों की ओर किसीने विशेष ध्यान नहीं दिया।

इसके वाद ही विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के लक्षण प्रकट हुए। फिल्म-कम्पनियों के आगे बड़ी कठिन समस्याएँ उपस्थित हो गयीं। कुछ ने समय के बहाव के विरुद्ध सवाक्-चित्रों के निर्माण में हाथ लगाया और वे फेल हो गईं। कई उद्योगपतियों का दिवाला पिट गया। फिर भी आर्देशिर ईरानी ने साहस नहीं त्यागा और १९३१ में "आलमआरा" नामक बोल-पट तैयार कर लिया। आर्थिक मंदी के हटने पर वोल-पट का जोर-शोर शुरू हुआ। शुरू में पूना के 'प्रभात' और कलकत्ता के 'न्यू थियेटर्स' ने खूब नाम कमाया। इन कम्पनियों ने उन दिनों ऐसे-ऐसे कलात्मक चित्र बनाये, जिनका रेकार्ड आज भी अछूता है।

१६३१ से लेकर १६३८ तक का समय भारतीय फिल्मों का स्वर्णकाल रहा। इस उद्योग का आर्थिक पहलू जैसा भी रहा हो, हम भूल नहीं सकते कि शान्ताराम, बरुआ, देवकी बोस, हिमांशु राय जैसे निर्देशकों और चन्द्रमोहन सहगल, नवाब, पृथ्वीराज, यमुना, कानन, शान्ता आप्टे, पहाड़ी सन्याल जैसे कलाकारों के उच्चतम अवदान हमें उन्हीं दिनों प्राप्त हुए। इस अवधि में ही भारतीय फिल्मों की कथावस्तु में कई प्रकार के परिवर्त्तन हुए। प्रारम्भ में सनसनीखेज चित्र बनाये जाते थे। फिर धार्मिक फिल्मों की बाढ़ आई। उनसे तृप्ति हो जाने पर निर्माताओं का झुकाव सामाजिक कथावस्तु की ओर गया और समाज-सुधार-सम्बन्धी फिल्में बनाई जाने लगीं। 'अछूत-कन्या', 'चण्डी-दास', 'जागरण', 'मुक्ति', 'दुनिया न माने', 'आदमी' और 'जेलर' जैसे उत्कृष्ट कोटि के चित्र बने और दर्शकों ने उनका स्वागत किया।

ये भारतीय फिल्मों के कलात्मक उत्कर्ष के दिन थे, जब कि व्यावसायिक कठिनाइयों के बावजूद निर्माताओं की नजर हमेशा प्रगतिशील विषय-वस्तु और प्रतिभाशील कलाकारों की तलाश किया करती थी। ऐसे समय में ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया और भारतीय फिल्म-उद्योग का नया अध्ययन शुरू हुआ। तबसे अब तक दो प्रवृत्तियाँ बड़ी स्पष्ट होकर सामने आई हैं। एक तो यह कि निर्माताओं की दृष्टि कलात्मक उत्कर्ष से ज्यादा सस्ती, भावुकतापूर्ण और लोक-चित्रों की ओर रहती है। दूसरी, इस व्यवसाय में अब अधिकाधिक पूँजी नियोजित की जाने लगी है; हालाँ कि प्रति चित्र-निर्माण में आज युद्ध-पूर्व की तुलना में बहुत कम पैसे खर्च किये जाते हैं। इन प्रवृत्तियों ने इस उद्योग पर गहरा असर डाला है। आज की फिल्मों का स्तर बड़ा ही नीचा हो गया है और कोई भी ऊँचे पाये का नया कलाकार नहीं आया है, जिसे हम पुराने महारथियों की पाँत में बैठा सकें। आज की अधिकांश फिल्मों में प्रेम के त्रिकोणवादी फार्मूला को किन्हीं घटनाओं के ताने-बाने के साथ फिट कर दिया जाता है। नतीजा है, सर्वत्र बासीपन और दुहराहट। देश और समाज के जीवन-संघर्ष की झलक तो दूर की बात है, सुरुचिपूर्ण मनोरंजन भी नहीं हो पाता। हाँ, गानों की अलबत्ता भरमार रहती

है और भारतीय संगीत के लिए पश्चिमी आर्केष्ट्रा की पृष्ठभूमि देने का अच्छा प्रयास किया जाता है।

इस अवधि में भारतीय फिल्मों ने आर्थिक दृशिटकोण से अच्छा विकास किया है। लड़ाई के पहले के दिनों में इस उद्योग की सम्मिलित आय लगभग तीन करोड़ रुपयों की थी, जो आज करीब १४ करोड़ के लगभग है। आज इस व्यवसाय में १० करोड़ से अधिक की पूँजी लगी है और करीब २० हजार लोगों की इससे जीविका चलती है। पूरे देश में लगभग ६० स्टूडियो हैं, जहाँ फिल्म-निर्माण होता है और निर्माता-कम्पनियों की संख्या करीब ३०० है। वितरक १५० हैं, जिनमें ८ अमेरिकन फिल्मों का वितरण करते हैं और एक ब्रिटिश फिल्मों का। इनकी संख्या रोज बढ़ती ही जा रही है।

भारतीय फिल्मों का स्तर नीचा रहने पर भी उनकी खपत एशिया के उन भागों में हो जाती है, जहाँ भारतीय जनता किसी-न-किसी अनुपात में है। इस प्रकार विदेशों से भी कुछ आय हो जाती है, पर इसकी रकम मामूली-सी है। किन्तु इस आय में वृद्धि होने की सम्भावना है, बशर्ते कि कुछ उन वसूली और बुनियादी बातों पर ध्यान दिया जाय।

युद्धोत्तर काल में इस उद्योग का जैसा विस्तार हुआ है, वह अभिनन्दनीय अवश्य है, पर नाकाफी है। ३० करोड़ की आबादी वाले इस देश में केवल २५०० सिनेमा-घर हैं, जिनमें से २,००० घरों में भारतीय चित्रों का प्रदर्शन होता है। उधर ब्रिटेन में ४ करोड़ की आबादी में ५००० सिनेमा-घर हैं, और अमेरिका में १२ करोड़ की आबादी में १७,००० प्रदर्शनगृह हैं। इसलिए अभी भारत में फिल्मों के विस्तार का बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। अभी तो केवल ६०० शहरों में ही सिनेमा-घर हैं। करीब २,००० शहर और लाखों गाँवों में प्रदर्शन का कोई प्रबन्ध नहीं है। अगर इस बाजार का उपयोग किया गया, तो यह उद्योग बड़ी तेजी से आगे बढ़ेगा।

पर यह बाजार केवल सिनेमा-घर खोलने से पकड़ में नहीं आयगा। इसके लिए फिल्मों में जनजीवन की झांकी रहनी चाहिए। जब तक कथावस्तु,

निर्माण और अभिनय का स्तर ऊँचा नहीं उठेगा, वास्तविक उन्नति संभव नहीं है। विषय और अभिनय में गिरावट आयी है, उसको तो सबसे पहले रोकना है। फिर टेकनिक में भी सुधार करना चाहिए। रंगीन-चित्र बनाने की ओर भी ध्यान देना है। अब तक इस दिशा में लगातार कोशिश नहीं की गयी है। इनके टुकड़े फिल्मों में प्रयास किया गया है, पर विशेष सफलता नहीं मिली है। इधर एक दो रंगीन चित्र बने हैं।

फिल्मी दुनिया के वातावरण में भी सफाई आवश्यक है। आज वहाँ हद दर्जे की कुरीतियाँ घर कर गयी हैं। भले घर की लड़कियाँ, जो भी इस क्षेत्र में आयी हैं, बुरे अनुभव लेकर लौटी हैं। पुरुष कलाकारों में से भी कुछ ही ऐसे भाग्यशाली हैं, जिन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसलिए जब तक फिल्म-क्षेत्र के कामों की प्रतिष्ठा और मर्यादा कायम नहीं की जाती और स्त्री-पुरुष के लिए सम्मानपूर्ण आजीविका-प्राप्ति करने का अवसर नहीं मिलता तब तक वास्तविक उन्नति संभव नहीं है।

इन सब दिशाओं में बड़े सुधार की आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने इसकी जाँच के लिए एक जाँच-समिति नियुक्त की है। सरकार ने इस उद्योग के सामाजिक महत्त्व को भी स्वीकार किया है। वह महसूस करती है कि यह उद्योग शिक्षा और प्रचार का साधन बन सकता है। उसके सूचना और ब्राडकास्टिंग विभाग के 'फिल्मसडिवीजन' ने १९४८ से डाकुमेन्टरी फिल्में बनाना आरम्भ किया है। इस विभाग की ओर से किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण घटना पर बराबर डाकुमेन्टरी मुक्त की जाती है। इन फिल्मों को जनता ने पसन्द किया है। इनके जरिए साधारण लोगों को नाना प्रकार की उपयोगी बातें बतायी जा सकती हैं।

———:o:———

पुस्तकालय की उपयोगिता

मनुष्य सदा बुभुक्षु, पिपासु और लोलुप बना रहनेवाला प्राणी है। उसकी भूख-प्यास केवल रोटी-दाल या पानी से शान्त नहीं होनेवाली है। इनसे उसके शरीर की ही भूख-प्यास मिट सकती है, किन्तु उसकी बौद्धिक भूख-प्यास तो ज्ञान से ही शान्त हो पाती है। और, ज्ञान के आगार हैं—ग्रंथ।

मुद्रण-कला के विकास को यह श्रेय है कि पुस्तकें हजारों की संख्या में छपने लगी हैं। किन्तु कुछ ही लोग ऐसी स्थिति में होते हैं कि अपनी रुचि और आवश्यकता की पुस्तकें खरीद सकें। एक पुस्तकालय की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इस आवश्यकता की पूर्त्ति करता है।

पुस्तकालय का अर्थ ही है पुस्तकों का भांडार। दूसरे शब्दों में, एक पुस्तकालय पुस्तकों, पत्रिकाओं, समाचारपत्रों आदि का ऐसा आगार होता है, जिसमें जाकर या जिससे ले आकर, लोग निःशुल्क या निर्धारित शुल्क देकर पुस्तकें वगैरह पढ़ सकते हैं।

पुस्तकालय दो प्रकार के होते हैं, व्यक्तिगत या सार्वजनिक। जो शिक्षित एवं सम्पन्न हैं, जो पेशेवर या पत्रकार हैं, वे बहुधा अपना निजी पुस्तकालय रखते हैं। ऐसे व्यक्तिगत पुस्तकालयों में दूसरे लोगों का प्रवेश नहीं हो सकता। सर्वसाधारण के लिए सार्वजनिक पुस्तकालय होते हैं, जो सरकार या जनता के द्वारा संचालित होते हैं और जिन्हें नगर-निगम आदि से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। कलकत्ते में स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय भारत का सबसे विशाल सरकारी पुस्तकालय है। आधुनिक ढंग के पुस्तकालयों में पुस्तकों का वर्गीकरण किया जाता है और उन्हें वर्णानुक्रम से रखा जाता है। आज-कल पुस्तकालयों में साधारणतः पुस्तकें 'ड्यूई' (Dewey) पद्धति से रखी जाती हैं।

पुस्तकालयों की उपयोगिता का महत्त्व ठीक-ठीक निरूपित कर सकना असम्भव है। पुस्तकालय किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति के मानदण्ड

होते हैं। इन्हीं से जाना जा सकता है कि किसी देश का शैक्षणिक विकास कहाँ तक हुआ है। किसी देश में कितने पुस्तकालय हैं, किसी पुस्तकालय में कितनी पुस्तकें हैं, पुस्तकों के विषय क्या हैं, पाठकों की संख्या कितनी है, इन बातों से वहाँ के लोगों की अभिरुचि और प्रगति का बहुत दूर तक अनुमान किया जा सकता है।

पुस्तकालय से स्वतन्त्र चिंतन को प्रोत्साहन और अनुसंधान को आवश्यक साधन प्राप्त होते हैं। यहाँ पर विद्वानों को ऐसे पुराने कागज-पत्र और प्राचीन कुंडलियाँ मिल जाती हैं, जिनकी सहायता से वे मानवीय ज्ञान के अज्ञात क्षेत्रों पर प्रकाश डालने में समर्थ होते हैं। एक पुस्तकालय से पुस्तक-प्रेमियों को समय काटने, चिंता दूर करने और शक्ति प्राप्त करने के आधार भी प्राप्त होते हैं। पुस्तकालय ज्ञान का प्रसार करता है। सभी मनुष्य विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति में नहीं होते। किन्तु चाहें तो सभी पुस्तकालय में सुलभ ज्ञान-राशि का लाभ उठा सकते हैं। कार्लाइल ने ठीक ही कहा है कि आज का वास्तविक विद्यालय तो पुस्तकों का संग्रह ही है।

हमारी शिक्षा-पद्धति कुछ ऐसी है कि हम पाठ्य-क्रम के बाहर के विषयों के अध्ययन का अवसर नहीं पाते। पुस्तकालय में बैठकर छात्र विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम से प्राप्त अपने सीमित ज्ञान को विस्तृत बना सकते हैं। वह अतीत की समस्त संचित ज्ञान-राशि का तो लाभ उठा ही सकता है, सम-सामयिक बौद्धिक उपलब्धि को भी सहज ही अधिकृत कर सकता है।

भारत में निरक्षरता और अज्ञान का बोलबाला है। यहाँ तो पुस्तकालयों की सबसे अधिक उपयोगिता है। देश में जितने अधिक पुस्तकालय खुलें, उतना ही अच्छा। चलते-फिरते पुस्तकालयों की व्यवस्था बहुत लोकप्रिय सिद्ध हो रही है। गाँव-गाँव तक ज्ञान का आलोक फैलाया जा सके, इसके लिए ऐसे पुस्तकालय बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

पुस्तकालय सांस्कृतिक निधियाँ होते हैं। वे युग-युग की ज्ञान-राशि और मनीषा के आगार होते हैं। उनमें अतीत और वर्त्तमान, मृत और जीवित

एक साथ ही सुरक्षित रहते हैं। उनके भीतर भिन्न जातियों और धर्मों, नाना रुचियों और मनोवृत्तियों और परस्पर-विरोधी विचारों और आदर्शों के व्यक्तियों को शान्तिदायी शरण मिलती है। एक पुस्तकालय में गाँधी या मार्क्स, तुलसीदास या प्रसाद, गालिब या रवीन्द्रनाथ आज भी आपको अपनी उपस्थिति से प्रेरणा देने के लिए वर्त्तमान हैं। वहाँ बैठकर आप इन ऋषि-महर्षियों के विचारों, भावों और आदर्शों को ग्रहण कर सकते हैं, अपने ज्ञान की पिपासा को शान्त कर तृप्ति का अनुभव कर सकते हैं।

यह तो ठीक ही है कि पुस्तकालय इस प्रकार की वास्तविक सेवा तभी कर सकता है, जब उसकी आलमारियों में बढ़िया किताबें हों। रद्दी किताबें बहुत बड़ी संख्या में भी हों तो उनसे विशेष लाभ नहीं होता। अच्छी पुस्तकें कम भी हों तो लाभकारी सिद्ध होती हैं। एक पुस्तकालय के अधिकारियों को यह समझना चाहिए कि पुस्तकालय कीं वास्तविक उपयोगिता यह है कि वह जनता में अच्छी और ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों के लिए रुचि पैदा करे--ऐसी पुस्तकों के लिए जो ज्ञान का विकास कर सकें, बुद्धि के लिए निर्मल खाद्य जुटा पाएँ, और अपने पाठकों के नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण के साधन प्रमाणित हों।

----:o:----

किताबों का चुनाव (Choice of Books)

प्राचीनकाल में, हमारे पूर्वजों के लिए, किताबें दुर्लभ और बहुमूल्य हुआ करती थीं। किन्तु आज स्थिति सर्वथा भिन्न है और हम अपने को अपेक्षाकृत अधिक सौभाग्यशाली पाते हैं। अब तो संख्यातीत किताबें छपती हैं और उनकी कीमत भी पहले की तुलना में बहुत कम होती है। फलतः अब समस्या दूसरी ही हो गई है--अब समस्या यह है कि हम कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ने के लिए चुनें? एक समझदार आदमी के लिए यह जरूरी है

कि वह बड़ी सावधानी से किताबों का चुनाव करे, अन्यथा हमारे समय और अर्थ का अपव्यय होता है। बहुत-सी किताबें तो सिर्फ नाम के लिए होती हैं, उन्हें इस नाम से अभिहित करना ही अनुचित है। बहुतेरी किताबें तो ऐसी होती हैं जो रद्दी से भी रद्दी होती हैं; क्योंकि उनमें असत्य, अशिव और असुन्दर के ऐसे चित्रण-वर्णन होते हैं, जिनसे हमारे नैतिक जीवन का स्रोत ही पंकिल हो जाता है।

फिर, पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक है कि न तो सभीको पढ़ पाना संभव ही है, न आवश्यक और न उपयोगी ही। रद्दी के ढेर के रूप में वृहत् पुस्तकालय रखने से तो कहीं अच्छा है कि कुछ चुनी हुई बढ़िया पुस्तकें ही हम रखें——ऐसी पुस्तकें जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, जो विवेक, आनन्द, लाभ, शान्ति और सुख प्रदान करनेवाली हैं। अतः जीवन के आनंद और चरित्र के निर्माण के लिए यह निहायत जरूरी है कि किताबों का सही तरीके से चुनाव किया जाय।

यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का युग है। पुस्तकों के चुनाव में भी आज का मनुष्य अपने को स्वतंत्र रखना पसन्द करता है। किन्तु बौद्धिक प्रौढ़ता भी स्थिति में पहुँचे बिना पुस्तकों के चुनाव की यह स्वतन्त्रता पुस्तक-प्रेमी को भी पथभ्रष्ट कर दे सकता है। अतः कम-से-कम प्रारम्भिक जीवन में तो उसके लिए यह बहुत लाभदायक सिद्ध होगा कि वह योग्य व्यक्तियों से सलाह और पथ-निर्देश लेने की कोशिश करे।

एक पुस्तक-प्रेमी को सबसे पहले तो ऐसी श्रेण्य पुस्तकों (Classics) को चुनना चाहिए जो सर्वोत्तम लेखकों की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हों, जो समय की कसौटी पर खरी उतर चुकी हों। जैसे मनुष्यों के बारे में सिद्धान्त है कि अस्तित्व की रक्षा के लिए उनके बीच सदैव संघर्ष चलता रहता है और उनमें जो सबसे अधिक सशक्त होते हैं, वे ही बच पाते हैं, वैसे ही किताबों के बारे में सच है कि जो सर्वोत्तम होती हैं, वे ही समय की सीमा का अतिक्रमण कर युग-युग तक जीवित रहती हैं; अन्यथा जिनमें दम नहीं है वे तत्काल प्रसिद्धि पाकर भी कुछ दिनों के बाद काल-कवलित हो जाती हैं।

पश्चिम में एक कहावत है कि प्राचीनता चार चीजों की उत्तमता प्रमाणित करती है : पुरानी लकड़ी, पुरानी शराब, पुरानी मित्रता और पुरानी पुस्तकें ही उत्कृष्ट होती हैं ! एक हद तक बात ठीक भी है। नई पुस्तकें तो समय के सागर में बुलबुलों के समान होती हैं। कोई नहीं कह सकता, इन बुल-बुलों में कितने फूट जाएँगे और कितने बचे रहेंगे। किन्तु श्रेण्य पुस्तकें तो समय की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सिद्ध कर चुकी होती हैं कि वे श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार की श्रेण्य पुस्तकों के अध्ययन से अध्ययन की परिष्कृत रुचि विकसित करने में सहायता मिलती है। अध्ययन-रुचि एक बार परिष्कृत हो गई वो फिर यह खतरा नहीं रह जाता कि पाठक रद्दी किताबें पढ़ने में अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग और अपव्यय करेगा। किन्तु श्रेण्य पुस्तकों के बीच भी यह ध्यान रखकर चुनाव करना आवश्यक हो जाता है कि किन विषयों में रुचि है और किन्हें ग्रहण करने की योग्यता है। मानव-जीवन इतना लम्बा तो होता नहीं कि सभी श्रेण्य पुस्तकें भी पढ़ डाली जा सकें।

पुस्तकों का चुनाव करते समय जिस दूसरी बात का ध्यान रखना आव-श्यक है, वह यह कि हम जिस कार्य-क्षेत्र में हैं, उसमें हमारे अध्ययन से हमें कहाँ तक लाभ होता है। एक वकील को कानून की किताबों के अध्ययन से, एक चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र के ग्रंथों के अवलोकन से अपने-अपने विषयों का नवीन ज्ञान प्राप्त होता रहता है और उन्हें अपने कार्य में अधि-काधिक सफलता मिलती है। भिन्न-भिन्न पेशों में लगे रहनेवालों को अपने विषयों से संबद्ध पत्र-पत्रिकाओं का भी अध्ययन करते रहना चाहिए; क्योंकि वे भी एक तरह की पुस्तकें ही हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि सभी को यह स्वतन्त्र रहनी चाहिए कि वे जैसी पुस्तक चाहें पढ़ें; वह अच्छी हो या बुरी। ऐसे लोगों का यह कहना है कि पढ़ते-पढ़ते अन्ततः पाठक को अच्छी-बुरी पुस्तक पहचानने का विवेक हो ही जाता है। यह ठीक भी हो तो इस प्रकार से—पुस्तकों के

चुनाव में बहुत वक्त बर्बाद होता है और इसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि ऊपर से देखने पर पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक आकर्षक होता है, और गंदी बातों का वर्णन करनेवाली पुस्तकों के निरन्तर अध्ययन से पाठक के नैतिक स्वास्थ्य की क्षति होती है।

फिर यह भी प्रश्न है कि अध्ययन में रुचि रखनेवाले को अधिक पढ़ना चाहिए या कम; पर अधिक ध्यान से पढ़ना चाहिए; क्योंकि सस्ती और बहुसंख्यक पुस्तकों के प्रकाशन के इस युग में दोनों प्रकार का अध्ययन एक साथ चलाना संभव नहीं। वास्तविकता यह है कि अन्ततोगत्वा पुस्तकों का अध्ययन लाभदायक होता है। अतः हमें चाहिए कि हम कम ही किताबें पढ़ें; लेकिन वे उत्तमोत्तम हों, और हम उनके सार-सर्वस्व को ग्रहण करने के लिए ही प्रयास करें, न कि अधिक संख्या में पुस्तकें पढ़ लेने का संतोष प्राप्त करें।

भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यहाँ के निवासियों का, पाठकों के रूप में, उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। सस्ती भावुकता उत्तेजित करनेवाली पुस्तकें पढ़कर इस नवीन देश के नव-वय के पाठकों को अपने समय का अपव्यय नहीं करना चाहिए। उन्हें तो ऐसी किताबें पढ़नी हैं, जो महान् साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न भाषाओं में मानव-कल्याणार्थ प्रस्तुत की हैं। भारतवासियों को संसार के सभी देशों से उत्तमोत्तम पुस्तकें संगृहीत करनी चाहिए, जिनमें विश्व की ज्ञान-निधि की कुंजी छिपी रहती है। इसके विपरीत हम देखते यह हैं कि विदेशों से रद्दी, विकृत और अनैतिक पुस्तकों के ढेर आयातित हो रहे हैं। इनसे भावी पीढ़ी का कितना अहित होगा, इसका अनुमान करना भी कठिन है। आधुनिक युग में मुद्रण-यंत्र के विकास के साथ-साथ नित्य सहस्र-सहस्र पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, अतः उनमें से पढ़ने लायक पुस्तकों के चुनाव में अत्यधिक सावधानी बरतने की जरूरत है। यही कल्याण का मार्ग है—पुस्तकों के अव्यावहारिक चुनाव और उनके सतत अध्ययन से भी कोई लाभ नहीं हो सकता।

सहकारिता-आंदोलन

अर्थशास्त्रियों और सरकारी विशेषज्ञों ने भारत में सहकारिता-आन्दोलन का आरम्भ कर एक ऐसे साधन का प्रयोग किया है, जिससे ग्रामीण जनता के बीच कृषि, स्वास्थ्य, सफाई और शिक्षा का समुचित विकास हो सके। जर्मनी में भी एक समय था जब कृषि की वे समस्यायें थीं, जिनसे हम छुटकारा पाने में कठिनाई का सामना कर रहे हैं और वहाँ सहकारिता प्रणाली से उनका सन्तोषजनक समाधान संभव हुआ। लेकिन यहाँ-जैसे रोग के लिए वहाँ जो उपचार सफल हुआ था, वह यहाँ प्रारम्भ में लाभ पहुँचाने में असमर्थ सिद्ध हुआ।

सन् १९०४ ई० में 'कोआपरेटिव क्रेडिट सोसाइटी ऐक्ट' लागू कर भारत में इस आन्दोलन का सर्वप्रथम सूत्रपात किया गया था। इस अनिधिनियम (ऐक्ट) की परिधि को १९१२ में व्यापकतर बनाया गया। १९१५ में मेकलेगन कमिटी (Maclagan Committee) ने केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंकों की स्थापना के लिए सुझाव उपस्थित किया। इसके उपरान्त १९१८ से १९२९ तक सहकारिता आन्दोलन ने काफी प्रगति की। १९३० के बाद जो विश्व-व्यापी मंदी शुरू हुई थी, उसका प्रभाव इस आन्दोलन पर भी पड़ा और भारत की सहकारिता-समितियों के संगठन और ढाँचे की अनेक त्रुटियाँ उद्घाटित हुईं। इन त्रुटियों में मुख्य ये थीं—ऋण लेनेवाले की, ऋण चुकाने की शक्ति पर ठीक से विचार किए बिना ऋण देना; जो ऋण चुकाए नहीं जा सकते थे, उनपर पर्दा डालने के लिए झूठी अदायगी दिखाना, और सामान्य रूप से सहकारिता के सिद्धान्तों और आदर्शों की अवहेलना करना। इस अवधि में सहकारिता-समितियाँ ग्रामीण आर्थिक समस्या के एक ही पहलू, ऋण-दान, पर ध्यान दे रही थीं। अन्य क्षेत्रों में ग्रामीणों का जो शोषण हो रहा था, उनकी ओर इनका ध्यान नहीं गया था। जहाँ तक ऋण-दान का प्रश्न है, इस क्षेत्र में भी समितियाँ ऋण की कुल आवश्यकता के दस प्रतिशत मात्र की पूर्त्ति कर पाती थीं।

सहकारिता-ग्रान्दोलन का ग्रगला महत्त्वपूर्ण कदम था—भारत के रिजर्व वैंक की स्थापना, जिसमें एक विशेष विभाग ही था कृषि-ऋण-विभाग (Agricultural Credit Department)। रिजर्व वैंक के द्वारा ऋण-संवंधी सहायता सुलभ वना दी गई थी। उसका लाभ ग्रनेक प्रान्तीय सहकारिता वैंकों ने उठाया था।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरकारी नियंत्रण ग्रौर निरीक्षण के बावजूद, ग्रान्दोलन को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उससे ग्रपेक्षित थी। चतुर ग्रामीणों ने ग्रान्दोलन के प्रवर्त्तकों की ग्राँखों में धूल झोंकने के लिए ऐसे लोगों को बहुत बड़ी संख्या में ग्रामीण-समितियों का सदस्य वनवा लिया था जिनके पास ग्रपनी कोई सम्पत्ति नहीं थी। केन्द्रीय बैंक से ये लोग वहुत कम ब्याज पर ऋण लेने की स्थिति में थे। इसका परिणाम यह होता था कि कृषि ग्रादि कार्यों के नाम पर लिये गए ऋण की रकम को ये मुकदमेवाजी, विवाह ग्रादि के उत्सवों ग्रौर ग्रन्य समारोहों पर खर्च कर देते थे। यदि सावधानी से काम किया गया होता, तो संपत्तिहीन सदस्य ऐसा ग्राचरण नहीं कर पाते, जो उस संस्था के लिए घातक सिद्ध होता, जिसने उन्हें ग्रार्थिक सहायता दी थी।

किन्तु इधर कुछ वर्षों से संगठन की त्रुटियों ग्रौर इसके मार्ग की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न चल रहा है ग्रौर यह सन्तोष का विषय है कि ग्रब सहकारिता-ग्रान्दोलन ग्रपेक्षित प्रगति कर रहा है। हाल-साल में देश भर में सहकारिता-समितियों की संख्या १,७३,००० थी। इनकी सदस्यता-संख्या एक करोड़ बीस लाख थी ग्रौर कार्यलग्न (Working) पूँजी २३३ करोड़ रुपये। इधर कृषकों को ऋण देने के ग्रतिरिक्त ग्रन्य क्षेत्रों में भी ग्रान्दोलन का विस्तार हुग्रा है, ग्रौर विभिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए समितियों का संगठन किया गया है; उदाहरणार्थ सहकारिता गृह-निर्माण, उपभोक्ता दूकानें (Comsumers Stores), कृषि-सम्बन्धी विक्रय-व्यवस्था (Agricultural marketing), मत्स्य-विभाग (Fisheries) दुग्ध-ग्रापूर्ति

और सहकारिता खेती। देश के विभिन्न भागों में विविध उद्देश्यों वाली समितियाँ (Multi-purpose Societies) भी स्थापित हुई हैं।

देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए इस आन्दोलन में असीम संभावनाएँ वर्त्तमान हैं; विशेषतः ग्रामीण पुनर्निर्माण के क्षेत्र में। यही कारण है कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना का एक लक्ष्य यह भी है कि भारत की आबादी की कम-से-कम एक-तिहाई १९५५-५६ तक बुनियादी (Primary) सहकारिता-समितियों की परिधि में लाई जा सके।

नदी-घाटी योजना

भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कुछ वर्ष पहले कहा था, "गत तीन या चार वर्षों में हमारी सरकार ने जो सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण बात की है, वह है योजना-कमीशन की नियुक्ति।"

भारत में आयोजन की विचार-धारा ने अक्तूबर, सन् १९३८ में प्रथम बार मूर्त्त रूप ग्रहण किया। उस समय भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने राष्ट्रीय आयोजन-समिति की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू हुए। इस समिति को अनेक बाधाओं के बावजूद देश को योजना के विचार के प्रति सचेत करने में सफलता मिली।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद भारतीय जनता के जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए, युद्ध तथा विभाजन आदि से भारत की कमजोर हुई अर्थ-व्यवस्था को सशक्त करने के लिए तथा बेइन्तहा प्राकृतिक सम्पत्तियों के सम्यक् विकास के लिए भारत-सरकार ने विकास की एक समग्र योजना की एक संस्था की स्थापना करने का निश्चय किया। इस प्रकार मार्च, सन् १९५० में योजना-कमीशन का जन्म हुआ। कमीशन से कहा गया था कि वह देश के जन, धन और सामग्री के साधनों की जाँच करे, उनके सर्वाधिक प्रभावशाली और

संतुलित उपयोग के उपाय सुझाए, प्राथमिकताओं को निर्धारित करने और समग्र योजना की कार्यान्विति के लिए आवश्यक प्रशासन-यन्त्र आदि के विषय में निर्णय करे।

पन्द्रह महीने तक कमीशन ने समस्याओं का अध्ययन किया और उसके बाद तीन भागों में विभक्त उसके प्रतिवेदन में कतिपय अन्य विषयों के साथ ही 'प्राकृतिक साधनों का विकास' कार्यक्रम को भी प्राथमिकता दी गई।

भारत में जल का प्राचुर्य्य है, पर इसका पूर्ण और जिस प्रकार चाहिए, उस प्रकार उपयोग नहीं किया जाता रहा है। विशेषज्ञों के अनुसार, इस समय हमारी नदियों में जितना पानी बहता है, उसमें से केवल छः प्रतिशत ही हमारे काम में आ रहा है। भारत में जितने क्षेत्र में सिंचाई होती है, उसका परिमाण लगभग ४ करोड़ ८० लाख एकड़, अर्थात् दुनिया के किसी भी देश के सिंचाईवाले क्षेत्र का दुगुना है। फिर भी, जितने बड़े इलाके में खेती होती है, उसके केवल पंचमांश को ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। शेष कार्ष्य भूमि वर्षा की दया पर ही निर्भर है। और कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्षा पर भरोसा किया नहीं जा सकता। फलस्वरूप हमारे देश के खाद्य-उत्पादन में सदा एक अनिश्चयता का उपादान रहता है।

आयोजन-आयोग ने यह अनुभव किया कि यदि किसानों को वर्षा की अनिश्चित गति से बचाना है, तो जल-सम्बन्धी साधनों का पूर्ण उपयोग अनिवार्य है। अतः योजना में सिंचाई तथा शक्ति-परियोजनाओं के लिए ४५० करोड़ रुपये निर्दिष्ट किये गये।

जल-सम्बन्धी साधनों के पूर्ण और सम्यक् उपयोग की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर भारत की वैसी नदियों—जिनमें बाढ़ आ जाया करती हो, अथवा जिनके जल को नियन्त्रित करने से सस्ती विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकती हो—के लिए लगभग ३०० नदी-घाटी परियोजनाओं की परिकल्पना की गई, जिनमें से एक दर्जन से ऊपर परियोजनाएँ बहुधंधी (multi-purpose) हैं। तात्पर्य यह है कि इन परियोजनाओं से बाढ़-नियन्त्रण, विद्युत्-उत्पादन तथा सिंचाई और पानीय जल-आपूर्ति प्राप्त होगी। ऐसी परियोजनाओं में प्रमुख

हैं—भाकड़ा-नंगल परियोजना, दामोदर-घाटी-योजना, कोशी-योजना, हीराकुंड योजना, कृष्ण-पेनार योजना, पाइकारा, वैतरणी आदि।

बिहार की नदियों में दामोदर, कोशी, गंडक आदि में भीषण बाढ़ आया करती है। बाढ़ से सुरक्षा तथा नियन्त्रित जल से लाभ उठाने के लिए कोशी तथा दामोदर की योजनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोशी से तो एकमात्र बिहार को ही लाभ होगा; किन्तु दामोदर-घाटी-योजना से बिहार तथा बंगाल, दोनों को लाभ होगा। साथ ही कोशी से दामोदर-घाटी-योजना अधिक विशाल तथा एकाधिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। निम्नलिखित पंक्तियों से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

पंचवर्षीय योजना में दामोदर-घाटी-योजना को प्राथमिकता दी गयी। इसका कारण केवल दामोदर की भीषण बाढ़ ही नहीं, विकास की संभावनाएँ भी थीं।

दामोदर में आनेवाली बाढ़ों के आँकड़ों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस नदी में हर दसवें वर्ष भीषण बाढ़ आती है और हर सौ वर्ष पर तो ऐसी बाढ़ आती है जिसकी भीषणता और विनाशकारिता का सहज अनुमान किया नहीं जा सकता।

फिर दामोदर-घाटी-क्षेत्र खनिज-सम्पत्ति का भांडार है। वस्तुतः इसे भारत का 'रूर' (Ruhr) कहा जाता है। इन खनिज-सम्पत्तियों में कुछ तो ऐसे खनिज हैं जो युद्ध एवं प्रतिरक्षा के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनका अभीप्सित विकास तभी सम्भव है जब इस क्षेत्र में कल-कारखाने खोले जा सकें।

इसके अतिरिक्त दामोदर-घाटी के निचले हिस्से में, जो बंगाल के अंतर्गत है, खेती के लिए बड़ी उर्वर मिट्टी है। लेकिन बाढ़ के चलते फसल मारी जाती है, साथ ही कुछ क्षेत्रों में जलाभाव के कारण सिंचाई का समुचित प्रबन्ध न होने से पैदावार जितनी हो सकती है, नहीं होती रही है।

दामोदर का नियन्त्रण इन तीनों कार्यों में सहायक होगा। निचली घाटी में सिंचाई की व्यवस्था हो सकेगी। बाढ़ के आने से रेलवे, सड़क, यातायात

आदि को जो लाखोंलाख की क्षति पहुँचती रही है, उससे सुरक्षा मिलेगी; और घाटी के खनिज के विकास के लिए जो सस्ती बिजली चाहिए, दामोदर-योजना के अन्तर्गत पनबिजली-उत्पादन से, वह भी सुलभ होगी।

नदी-घाटी-योजना की चेतना हमारे देश में अभी नयी है। अब तक बाढ़ आदि को रोकने के लिए ही बाँध आदि बनते रहे थे, और वे भी छोटे-मोटे। ऐसे विशाल बाँधों की परिकल्पना, जिनसे एक दिन लाभ उठाया जा सके, हाल की चीज है। जल को इस प्रकार नियन्त्रित करना कि उससे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक प्रकार के लाभ मिल सकें, अपेक्षाकृत नवीन चेतना है। दामोदर-घाटी-आयोग का जन्म ऐसी चेतना का प्रतिफल है।

दामोदर-घाटी के अन्तर्गत, प्रथम पक्ष में, तिलैया, कोनार, माइथन और पंचेत हिल बाँध तथा बोकारो का वाष्प-विद्युत् गृह बनाने का कार्यक्रम था। इनमें से तिलैया तथा कोनार बाँध और बोकारो का वाष्प-विद्युत्-गृह भी बन कर तैयार हो गये। इन कार्यों के सिलसिले में कुछ और भी कार्य इस योजना के अन्तर्गत अनिवार्य हो गये—बाँधों के साथ के जलागार के लिए भूमि अवाप्ति का कार्य, जलागारों में डूबनेवाली जमीन पर बसे लोगों के पुनर्वास का कार्य, भूमि अपक्षरण को रोकने के लिए छोटे-छोटे बाँध आदि के कार्य भी मुख्य कार्यक्रम के साथ चलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त बोकारो तथा तिलैया की बिजली के वितरणार्थ बिजली की लाइनें बिछाने का कार्य भी आवश्यक था, जो अधिकांशतः पूरा हो चुका है। दुर्गापुर का बराज भी बनकर तैयार है।

दामोदर-घाटी-योजना का पूर्ण अनुमानित व्यय लगभग एक सौ करोड़ रुपया है। आशा की जाती है कि जब ये सभी बाँध बनकर तैयार हो जाएँगे तो इस योजना से लगभग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से देश को साढ़े चार करोड़ रुपये का लाभ होगा। दूसरे शब्दों में, इसकी विभिन्न उपयोगिताओं से खाद्य-उत्पादन में वृद्धि होगी, मत्स्य-उत्पादन बढ़ेगा और बिजलीकरण के फलस्वरूप छोटे कुटीर-उद्योगों का विकास होगा। इन उपलब्धियों में, कुछ तो प्राप्त होने लग गये हैं। तिलैया के जलागार में मत्स्य-पालन का कार्य

शुरू हो चुका है; कोडरमा की अभ्रक-खानों तथा टाटा आदि कारखानों को विजली प्राप्त होने लग गयी है। हजारीबाग शहर को अपक्षरण-निरोधी छरवा बाँध से पानीय जल-आपूर्त्ति प्राप्त होने लग गयी है। साथ ही, छोटानागपुर का वह भाग, जहाँ पहले घना जंगल था, अब प्रवेश्य हो गया है और उन स्थानों में अब छोटे-मोटे शहर जगमगा रहे हैं।

दामोदर-घाटी-योजना को कार्यान्वित करनेवाला आयोग भी अपने ढंग का भारत में सर्वप्रथम आयोग है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि आयोग द्वारा सरकारी योजना कार्यान्वित करने का यह एक प्रयोग है। स्वभावतः ही यह अमरीका की 'टेनेसी वैली आथारिटी' के साँचे पर संगठित की गई है। निस्सन्देह भारत की अन्य किसी भी नदी-घाटी-योजना का कार्यान्वयन इस प्रकार के आयोग द्वारा नहीं किया जा रहा है। इस योजना के पूर्ण हुए कार्यों को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि यह प्रयोग सफल है।

दामोदर-घाटी-योजना के संवंध में इसके भूतपूर्व अध्यक्ष, श्री एस० एन० मजुमदार ने कहा था कि यह योजना सामाजिक तथा प्राविधिक अभियन्त्रणा का समन्वय है; क्योंकि आयोग पर न केवल घाटी के पूर्ण एवं बहुविध विकास का भार है, वल्कि उस पर घाटी में वसे लोगों के जीवन-यापन-स्तर को उन्नत एवं समृद्ध वनाने का भी उत्तरदायित्व है।

कोशी-योजना का विचार, कोशी-क्षेत्र में आनेवाली भीषण वाढ़ों के कारण हुआ। प्रत्येक वर्ष कोशी में वाढ़ आती हैं। वाढ़ के कारण प्रत्येक वर्ष उत्तर बिहार के उस भूभाग में, जिसे बिहार का अन्न-भांडार माना जाता है, भीषण नाश का तांडव उपस्थित हो जाता है। मोटे तौर पर ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष कोशी की बाढ़ के कारण ६ से १० करोड़ रुपये की क्षति होती है; जान-माल की जो अपार क्षति होती है, उसके अतिरिक्त कोशी क्षेत्र निवासियों को पूर्णिया, सहरसा, दरभंगा के पूर्वी क्षेत्र आदि से यातायात में अकथ कठिनाई होती है, क्योंकि इस नदी में आनेवाली बाढ़ से रेलमार्ग अव्यवस्थित और नष्ट हो जाता है। यातायात के साधनों के विकास की बात तो क्या, रही-सही साधन-सुविधाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त,

इस क्षेत्र के निवासियों का स्वास्थ्य भी, बाढ़ के बाद हैजा, शीतज्वर आदि के फैलने से नष्ट हो जाता है।

इस नदी में इस प्रकार की भीषण बाढ़ आने का कारण इस क्षेत्र की भूमि की बनावट है। यह नदी हिमालय से निकलकर उत्तर बिहार की समतल भूमि पर बहती है। फलस्वरूप, जब इसमें विशाल परिमाण में जल ऊपर से अनियन्त्रित ढंग से चलता है तो समतल में आकर चारों ओर फैल जाता है। इसके अतिरिक्त यह नदी बहुत जल्द-जल्द अपनी धारा बदलती रहती है। इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि विगत १५० वर्षों में इसकी धारा ७० मील पश्चिम की ओर खिसक आयी है। इसका कारण यह है कि इस नदी में आनेवाली बाढ़ों के साथ मोटे बालू और पत्थरों के बुरादे प्रचुर परिमाण में नीचे उतर आते हैं और समतल भूमि में आकर इस नदी की पेटी में बैठ जाते हैं। इससे यह नदी अपनी धारा बदलने को बाध्य होती है। अपने इस स्वभाव के कारण कोशी नेपाल-तराई के दो-से-तीन हजार वर्गमील के क्षेत्र को नष्ट करती रहती है।

सन् १९४५ ई० में भारत के तत्कालीन वायसराय तथा गवर्नर जेनरल, लार्ड वैवेल ने कोशी के बाढ़-ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया था। वे वहाँ की क्षति का दृश्य देखकर अत्यधिक विचलित हुए और उनके आदेश पर सन् १९४६ में केन्द्रीय जल-सिंचाई और जलमार्ग-आयोग ने, इसमें आनेवाली बाढ़ों को नियन्त्रित किया जा सकता है या नहीं, इस विषय पर जाँच-पड़ताल शुरू की। जाँच-पड़ताल के फलस्वरूप यह प्रस्तावित हुआ कि बाराहक्षेत्र में एक विशाल बाँध बनाकर इसमें आनेवाली बाढ़ों को नियन्त्रित किया जाय। लेकिन चूँकि उस प्रस्तावित बाँध पर अत्यधिक व्यय का अनुमान किया गया, इसलिए उसे बनाने का विचार त्याग दिया गया। बाराहक्षेत्र का प्रस्तावित बाँध संसार का सबसे ऊँचा बाँध होनेवाला था। उसके सम्बन्ध में यह आशंका भी हुई कि उस क्षेत्र के गर्भ में कड़े पत्थरों के न होने से उसकी मजबूती के विषय में इत्मीनान नहीं किया जा सकता था। साथ ही, उस विशाल बाँध के बनने से जो विद्युत्-उत्पादन होता, उसके लाभप्रद उपयोग के लिए कोई

रास्ता नहीं था। फिर समय भी बहुत लगने की सम्भावना थी। अतः इसके विकल्प-स्वरूप बाँध के लिए अन्य उपयुक्त स्थान की खोज होने लगी। एतदर्थ संघटित अभियन्ताओं की एक परामर्शदात्री समिति ने पहले तो बेल्का में बाँध-निर्माण की सिफारिश की। लेकिन अधिक छानवीन करने पर देखा गया कि इस बाँध पर भी अत्यधिक व्यय की सम्भावना थी, साथ ही कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी थीं; अतः बेल्का बाँध का भी विचार कार्य-रूप में परिणत नहीं हुआ।

किन्तु, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस बाढ़ से जान-माल की रक्षा के लिए उठाई गयी आवाज जोर पकड़ती गई और इस दिशा में कुछ करने की माँग इतनी बलवती हुई कि इसके सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचने की आवश्यकता को और भी टाला नहीं जा सका। इधर बिहार-सरकार भी भारत सरकार को इस सम्बन्ध में कुछ निश्चय करने के लिए बराबर स्मरण दिलाती रही। फलतः वर्त्तमान योजना की रूपरेखा सन् १९५३ के नवम्बर में, केन्द्रीय जल और विद्युत्-आयोग ने तैयार की। यह योजना विशेषज्ञों की एक समिति के सामने रखी गयी और उस समिति ने इसे स्वीकार किया। तब दिसम्बर, १९५३ में इस योजना को भारत-सरकार ने स्वीकृत घोषित किया। यह योजना कितनी पेचीदा और विशाल है, इसका अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि इस योजना को प्रस्तुत करने में ही एक करोड़ रुपए से अधिक खर्च हुए।

वर्त्तमान योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य होंगेः—

(१) हनुमाननगर से लगभग ढाई मील ऊपर एक बराज। बराज उस प्रकार के बाँध को कहते हैं, जिससे इच्छानुसार पानी रोककर उसके ऊपरी तल को ऊँचा उठाया जा सके। इस बराज की लंबाई लगभग तीन मील होगी, जिसका पक्का हिस्सा तीन हजार दो सौ फीट होगा। इस बराज का दो-तिहाई से कुछ अधिक भाग नेपाल के क्षेत्र में पड़ता है। इसका काम होगा बराज के ऊपर और नीचे के किनारों के बाँधों की पंक्तियों को बाँधना, मोटी मिट्टी को नीचे आने देने से रोकना और ढाल को समतल करना;

प्रति सेकेंड पचास हजार से एक लाख घनफुट जल के प्रवाह का दिशा-परिवर्त्तन कर कोशी के पूरब की ओर वाली चार पुरानी नहरों में बहा देना और पूरब की ओर की चौदह लाख एकड़ भूमि को सिंचाई के लिए जल देना।

पच्छिम की ओर जल ले जाने की भी व्यवस्था होगी, लेकिन सिंचाई की योजना क्लान और कमला जैसी शाखा-नदियों के सम्बन्ध में और जाँच-पड़ताल कर लेने के पश्चात तैयार की जायगी।

(२) पच्छिमी तट पर सत्तर मील लंबा झामता तक एक बाँध। इन दोनों बांधों की पंक्ति के बीच की चौड़ाई तीन से दस मील तक होगी। लेकिन ऐसी आशा की जाती है कि यह नदी आधे मील से एक मील तक की पतली और गहरी नहर बना लेगी।

(३) दिशा का परिवर्त्तन करने के लिए चार पुरानी धाराओं ढेमरा, तिलवा, परवानी, और मेंगा को पुनरुज्जीवित करके नहरें तैयार करना ताकि धारा का कुछ अंश इनमें चला आवे। ये धाराएँ समय-समय पर बड़ी सक्रिय रही हैं और बाढ़ के अवसर पर जलनिःसरण का कुछ भाग लेती रही हैं, वर्त्तमान निःसरण क्षेत्र में बाढ़ की तीव्रता को कम करना ही धारा-परिवर्त्तन का ध्येय होता है। धारा-परिवर्त्तनकारी नहरों से अतिरिक्त सिंचाई की व्यवस्था हो सकती है।

(४) भीमनगर से अररिया तक एक नहर-प्रणाली निकाली जायगी। इस प्रणाली में चार मुख्य वितरक शाखाएँ होंगी—सुपौल शाखा, प्रतापगंज शाखा, पूर्णिया शाखा और अररिया शाखा।

(५) बेल्का के पास भूमि-अपक्षरण रोकने के लिए पहाड़ी दर्रों पर जल-स्रोत-बाँध बनाये जायँगे और एक मिट्टी का बाँध भीमनगर के पास बनेगा। ये सब जल के साथ आनेवाली मिट्टी के नियंत्रण के लिये बनेंगे।

इन निर्माण-कार्यों के लिए निम्नलिखित व्यय का अनुमान है:—

(१) बराज—१३.२८ करोड़ रु०

(२) बचाव के लिए बनाये जानेवाले बाँध तथा धारा-परिवर्त्तन-कार्य—१०.६७ करोड़ रुपए।

(३) पूर्वी कोशी नहर और शाखाएँ—१३.४ करोड़ रुपए।

(४) पूर्वी तट से नेपाल में लगभग दो लाख एकड़ भूमि को सिंचाई का जल देने पर ३ करोड़ रुपए।

एसा अनुमान है कि बराज के पास के निर्झर से लगभग २१,००० किलोवाट जल-विद्युत् प्राप्त हो सकती है।

कोशी-योजना को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व विहार सरकार पर रहेगा। इसके लिए भारत सरकार विहार सरकार को लगभग ३७ करोड़ रुपये कर्ज देगी। योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए 'कोशी कंट्रोल बोर्ड' की स्थापना की गयी है। इस देश में यह सर्वप्रथम वड़ी नदी-घाटी-योजना है, जिसे राज्य-सरकार कार्यान्वित करेगी।

अणु-बम

मनुष्य ने आज तक अपनी वुद्धि के दुरुपयोग के द्वारा जिय भयंकर शस्त्रास्त्रों के आविष्कार किये हैं उनमें सव मे भयंकर है अणु-बम, यद्यपि उसके तुरत बाद आविष्कृत उदजन-बम उससे भी भयंकर साबित हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके आविष्कार का श्रेय एक जर्मन वैज्ञानिक ओटो हान को है, जिसे १९४४–४५ का नोवेल-पुरस्कार मिला था। कुछ लोग कहते हैं कि अँगरेज और अमरीकी वैज्ञानिकों ने पारस्परिक सहयोग से इसका निर्माण अमेरिका में किया था। यह भी कहा जाता है कि इंगलैण्ड में रदरफोर्ड नामक वैज्ञानिक के द्वारा इस सम्वन्ध में सर्वप्रथम प्रयोग किये गये थे। किंतु यह सत्य है कि अणु-वम के आविष्कार के लिए नोवेल-पुरस्कार तो उक्त जर्मन वैज्ञानिक को ही मिला था।

६ अगस्त, १९४५ को एक अमरीकी वायुयान ने जापान के एक नगर हिरोशिमा पर पहला अणु-बम गिराया था। इस बम के गिरते ही २५०,०००

निवासियों का यह नगर प्राय: भस्मसात् हो गया था। ९ अगस्त, १९४५ को एक दूसरे जापानी नगर नागासाकी पर भी अणु-बम गिराया गया और यह नगर भी राख का ढेर बन गया। इस नृशंस नर-संहार से क्षुब्ध होकर फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मो० लियो-क्यूरी ने कहा था—'जिन लोगों ने हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु-बम गिराया है, उन्होंने विज्ञान के साथ व्यभिचार किया है।'

अणु-बम की भयानकता का अनुमान इसीसे सहज ही किया जा सकता है कि एक बम के गिरने से इतनी शक्ति मुक्त हो जाती है कि चार वर्गमील भूमि और प्राय: ८०,००० मनुष्य तत्काल नष्ट हो जा सकते हैं। इस बम का विस्फोट एक प्रकार की रेडियो-प्रक्रिया (Radio-activity) से होता है, जिससे असंख्य मनुष्यों को तो तत्काल ही और अन्य बहुतों की कुछ ही दिनों के अन्दर मृत्यु हो जाती है। जो बच भी जाते हैं, उनमें नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

अणु-बम की भयंकरता से सन्तुष्ट न होकर वैज्ञानिकों ने अब उद्जन-बम का भी निर्माण कर लिया है। अणु-बम में उस शक्ति का उपयोग होता है, जो यूरेनियम जैसे शीर्ष-गुरु (Top-heavy) अणुओं के चूर्णित किए जाने पर मुक्त होती है। उद्जन बम में हाइड्रोजन जैसे लघु-भार अणुओं का गुरुतर भार वाले अणुओं से मिश्रण होता है; उनके आकर्षण से शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम है विस्फोट और अणु-बम से भी अधिक कष्टकर दाह-व्रण (Flash burns)। उद्जन-बम अणु-बम की अपेक्षा कितना अधिक विनाशकारी है, इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि वह अपने फूटने के स्थान से १६ मील की दूरी पर के पत्थरों को पिघला देता है और विस्फोट-स्थल से ८० मील की दूरी पर की इमारतों को धूल में मिला दे सकता है।

आज हम इसी अणु-शक्ति के युग में पहुँच चुके हैं। अणु-शक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है—उदाहरणार्थ मिल-मजदूरों का काम आसान बनाने के लिए इसके द्वारा यन्त्र चलाए जा सकते हैं। कच्ची युरेनियम धातु का

केवल एक पाउंड उतनी विजली पैदा कर सकता है जितनी १५०० सौ टन कोयले से उत्पन्न होती है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अणु-शक्ति की औद्योगिक संभावनाएँ क्या हैं। फिर ऐसे जहाज वनाये जा सकते हैं जो अणु-शक्ति से चलेंगे और उन्हें वार-वार कोयले से भरने की जरूरत नहीं रह जाएगी। युरेनियम से उत्पन्न विजली इतनी सस्ती होगी कि गाँव-गाँव में विजली की रोशनी पहुँचाई जा सकेगी। संक्षेप में उत्पादन, परिवहन, यातायात और यात्रा के क्षेत्र में अणु-शक्ति युगान्तर उपस्थित कर सकती है। किन्तु, यह तो मनुष्य पर निर्भर है कि वह अणु-शक्ति का प्रयोग किस काम के लिए करेगा—अपने विकास के लिए अथवा अपने संहार के लिए! मनुष्य में, कहते हैं, देवता और दानव एक ही साथ वास करते हैं। अणु-शक्ति के प्रयोग में वह किसकी सलाह मानेगा, यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ है! अमरीका के भूतपूव राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ठीक ही कहा था—अणु-युग मानो पूर्णतः ध्वंस का युग होगा, या वह एक ऐसा युग होगा जिसमें शक्ति के एक नये स्रोत से मनुष्य का श्रम हल्का हो जायगा।

अणु-वम के पहले तक जिन भयंकर शस्त्रास्त्रों के आविष्कार वैज्ञानिकों ने किए थे, उनसे नर-संहार होता था और मानव-सभ्यता को भयानक आघात पहुँचते थे, किन्तु अणु-वम तो मानव-सभ्यता के आमूल विनाश की शक्ति लिए हुए हैं। वैज्ञानिक एक ओर इसका प्रयास कर रहे हैं कि अणु-शक्ति से मनुष्य को वचाने के साधनों का आविष्कार किया जा सके और दूसरी ओर वे ही दिन-रात यह भी चेष्टा कर रहे हैं कि अणु-शक्ति भयंकर से भयंकर-तर युद्धास्त्र बन सके! ब्रिटेन के वैज्ञानिकों की परिषद के एक भूतपूर्व अध्यक्ष ने, थोड़े दिन हुए, वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों को चेतावनी देते हुए कहा था—'मनुष्य को इसके पहले कि वह अपने ऊपर वश रख सके, प्रकृति पर अधिकार प्राप्त हो गया है।' यही तो अणु-शक्ति के आविष्कार में निहित खतरा है!

इसी खतरे से आशंकित होकर कुछ ही रोज पहले वर्ट्रेंड रसेल और आइन्स्टाइन-जैसे दार्शनिक और वैज्ञानिक के द्वारा प्रेरित होकर समस्त संसार

के वैज्ञानिकों ने अणु-शक्ति के संभावित सामरिक प्रयोग के खिलाफ विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञों को चेतावनी दी है कि यदि उन्होंने तृतीय विश्व-युद्ध को अनिवार्य बनाया तो सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की ही समाप्ति हो जा सकती है! अब यह तो मनुष्य ही निर्णय कर सकता है कि अणु-शक्ति के द्वारा सभ्यता और मनुष्यता का पूर्णतः विनाश करेगा, या वह इसी शक्ति के शांति-साधक प्रयोगों से अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्तों पर अवलम्बित नवीन गाँधीवादी सभ्यता का निर्माण करेगा!

भारत के वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों का यही दूसरा ध्येय है। भारत में, इस पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए, यहाँ की वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद् के तत्त्वावधान में अणु-शक्ति-सम्बन्धी एक अनुसन्धान-मण्डल की स्थापना हो चुकी है, जिसके अध्यक्ष डा० भाभा जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। त्रावणकोर के समुद्री तटों पर अणु-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक 'मोनाजाइट सैंड' प्रचुर मात्रा में सुलभ है। भारत चाहे तो अणु-शक्ति की विनाशकारी दौड़ में कुछ ही दिनों में बहुत आगे निकल जा सकता है। किन्तु उसने मानव-कल्याण का रास्ता ही अपने लिए चुना है—वह अणु-शक्ति के शान्तिमूलक उपयोग के सम्बन्ध में ही अनुसन्धान कर रहा है।



अखबार पढ़ना

नगरों में, पौ फटने के साथ ही साथ, या शाम होते-होते अखबार बेचने-वाले समाचार-पत्र के शीर्षक चिल्लाते हुए दौड़-धूप करने लगते हैं। शहर हो या गाँव, रेलवे स्टेशन हो या जहाज का स्टेशन, जैसे ही डाक पहुँचती है; अखबार बेचने और पढ़नेवाले अखबारों पर टूट पड़ते हैं। सुदूर गाँवों में गाँव का डाक्टर या शिक्षक बड़ी उत्सुकता के साथ अखबार की प्रतीक्षा करता रहता है।

बहुतेरे लोगों को अखबार पढ़ने का अभ्यास होता है, कुछ को रोग भी हो जाता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें सुबह की चाय के साथ अखबार जरूर ही चाहिए नहीं तो वे परीशान हो उठते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो सार्वजनिक पुस्तकालयों में या चौराहों पर खड़े होकर दूसरों के हाथों में खुले अखबार के शीर्षक और समाचार पढ़ लेने की कोशिश करते हैं। हम ऐसे लोगों को भी देखते हैं, जिन्हें अगर समाचार-पत्र न मिले तो बदहजमी हो जाय!

एक समाचार-पत्र में समाचार और विचार दोनों ही पढ़ने को मिलते हैं। एक अखबार के लिए एक अभिनेता के कुशल अभिनय से लेकर अणु-बम के विस्फोट तक की जितनी बातें संभव हैं, सभी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं। ऐसा कोई भी विषय, जिसमें जनता की दिलचस्पी हो, समाचार-पत्र में स्थान पाता है, और उसके पक्ष तथा विपक्ष में विभिन्न विचार छापे जाते हैं। बाजार-दर, सट्टेबाजी, खेल-कूद के विवरण आदि समाचार की नियमित विशेषताएँ होती हैं। उसमें बच्चों और स्त्रियों के लिए भी अलग स्तंभ या पृष्ठ रहते हैं। समाचार-पत्र वस्तुत: दैनिक विश्वकोष के समान हैं, जिनमें बहुत कम मूल्य पर, ही ज्ञान और सूचनाओं का भांडार मिल जाया करता है। फलत: यह आधुनिक जीवन का एक अनिवार्य उपकरण बन गया है और हर शिक्षित व्यक्ति, वह व्यवसायी हो या राजनीतिज्ञ, अध्यापक हो या वैज्ञानिक, उच्चपदाधिकारी हो या मामूली किरानी, इस आवश्यकता का अनुभव करता है कि वह नियमित रूप से अखबार पढ़ा करे।

किंतु, 'अति सर्वत्र वर्जयेत'--अति किसी चीज की बुरी होती है--यह सिद्धांत अखबार पढ़ने के मामले में भी लागू है। यदि अखबार इसलिए पढ़ा जाता है कि कल की खबरें मालूम हो सकें, तो ठीक है। नींद बुलाने के लिए भी अखबार पढ़ने में कोई हर्ज नहीं! लेकिन यदि अखबार गीता या बाइबल का स्थान ले ले, वह ऐसा धर्म-ग्रंथ बन जाए, जिसे लेकर कोई घंटों अपना वक्त बरबाद करे, तो यह थोड़े ही वांछनीय माना जा सकता है!

हमें इसके लिए तो सावधान रहना ही चाहिए कि कहीं अखबार पढ़ने की आदत किसी अमल की आदत की तरह नहीं बन ज़ाती !

एक बात और है जिससे अखबार पढ़नेवालों को बचना चाहिए। वह यह कि अखबार में छपी सभी खबरें सर्वथा विश्वसनीय और सत्य मान ली जाती हैं। किन्तु, अखबार के एक समझदार पाठक को यह भूलना नहीं चाहिए कि अखबार की खबरें आखिर मनुष्यों के द्वारा ही तो प्रस्तुत की जाती हैं—ऐसे मनुष्यों के द्वारा जो अपनी रुचि और पूर्वाग्रहों से प्रेरित होते हैं, जो अपने मालिकों का हुक्म बजाते हैं, जो गलती करने से बच नहीं सकते, जो अपने स्वार्थों के साधन के लिए सचेष्ट रहा क ते हैं !

अतः अखबार पढ़ने के समय हमें अपनी बुद्धि और आलोचनात्मक निर्णय का व्यवहार करना उचित है। अखबार के मुख्य उद्देश्य में एक यह भी है कि जनमत को प्रेरित किया जाय, किन्तु इसके लिए बहुधा पक्षपातपूर्ण विचारों को सामने रखा जाता है। इसलिए जो कुछ अखबार में छपा है, उसके प्रति हमें आत्म-समर्पण नहीं कर देना चाहिए, बल्कि हमें उनपर तभी विश्वास करना चाहिए, ज़ब वे हमारे वैयक्तिक विवेक को ग्राह्य प्रतीत हों।

अखबार पढ़ने से हमें सिर्फ खबर ही नहीं मिलती। इससे दूभर समय कट पाता है। इससे अकेलापन दूर हो पाता है। दूर देश की यात्रा करते समय, जब हम अपने प्रिय-जनों से अलग रहते हैं, अखबार नीरव पर साथ न छोड़नेवाला मित्र सिद्ध होता है। हम जब नाना चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं तो अखबार उन्हें भूल सकने में हमारी सहायता करता है। और तो और हममें से कुछ लोग इतने व्यस्त होते हैं कि उन्हें खुद अखबार पढ़ने का समय नहीं मिलता; फिर भी वे अखबार खरीदते हैं जिससे प्रतीक्षा करनेवाले अभ्यागतों को समय काटने में कठिनाई का अनुभव न हो ! हममें से कुछ—केवल कुछ ही—ऐसे भी हो सकते हैं, जो केवल शान के लिए एक साथ अनेकों अखबार खरीदते हैं, पर पढ़ते एक भी नहीं।

एक प्रजातांत्रिक देश का विकास बहुत दूर तक वहाँ के निवासियों के अखबार पढ़ने की आदत पर निर्भर करता है। यह जरूरी है कि अखबार

स्वतंत्र हों, किन्तु इससे भी जरूरी यह है कि उनके समझदार पढ़नेवालों की बहुत बड़ी संख्या हो। जनता के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सावधान रखना अखबारों का कर्त्तव्य है। उनसे ही जनता को मालूम होता है कि शासक अपने अधिकारों और स्वतंत्रता की सीमाओं का अतिक्रमण तो नहीं कर रहे !

दुर्भाग्य से हमारे देश में समस्याओं और संघर्षों की कोई सीमा नहीं है। हमारे यहाँ असंख्य दल और संगठन हैं, जो आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। हमारे पत्रकारों को सांप्रदायिकता और प्रांतीयता पक्षपातपूर्ण बनाए रहती है। अतः हमें तो अखबार पढ़ते समय बहुत ही सावधान रहना चाहिए, अन्यथा हम घटनाओं की असलियत नहीं समझ पाएँगे और अपने को भावुकता के प्रवाह में वह जाने देंगे।

सामुदायिक विकास-योजना

सामुदायिक विकास-योजना (Community project) भारत-सरकार की अनेक राष्ट्रीय विकास-योजनाओं में से एक है; मगर अन्य योजनाओं से सर्वथा भिन्न और निराली भी है। दामोदर-घाटी-योजना, पंचवर्षीय योजना आदि जहाँ पूर्ण रूप से सरकारी योजनाएँ हैं, वहाँ सामुदायिक विकास-योजना एक अर्द्ध-सरकारी संस्था है। इसके अनुसार समुदाय यानी जनता के विकास-सम्बन्धी काम सामुदायिक रूप से, सरकार और जनता के सहयोग से, चलेंगे। बल्कि, समुदाय की उन्नति और कल्याण का सारा उत्तरदायित्व जनता पर होगा। इस योजना के चलाने में सारा श्रम जनता का होगा। सरकार अपेक्षित व्यय के लिए धन, औजार और प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले विशेषज्ञों की व्यवस्था करेगी। इस योजना का लक्ष्य यह है कि भारतवर्ष की जनता अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने के उपाय स्वयं करे। वह स्वावलम्बी बने और अपने परिश्रम एवं उद्योग से स्वयं ही ग्राम-स्वराज्य की स्थापना करे।

भारत के प्रधान मंत्री और सर्वाधिक लोकप्रिय नेता जवाहरलाल नेहरू ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि 'आज राष्ट्र को तरक्की और खुशहाली की ओर ले जाने के लिए मेहनत करनी है। हमको अपनी मेहनत, पसीने और खून से एक नया और सुखी भारत बनाना है और ऐसा कुछ करना है जिससे देश की जनता की तकलीफ हमेशा के लिए खत्म हो जाय।'

इस प्रकार के ग्राम-स्वराज्य की कल्पना सर्वप्रथम आधुनिक भारत के पिता महात्मा गाँधी ने ही की थी। उन्होंने कहा था कि 'ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना तो यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, वह परस्पर सहयोग से कार्य करेगा। हर गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी आवश्यकता का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास पैदा कर ले। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए कि वहाँ ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मनोरंजन के साधन और खेल-कूद के मैदान इत्यादि का प्रबन्ध हो सके। हर गाँव में गाँव की एक अपनी नाट्यशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना सुप्रबन्ध रहेगा। जहाँ तक हो सकेगा. गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायँगे।'

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत-सरकार को राष्ट्रपिता की इस कल्पना को साकार करने का अवसर मिला। यह अनुभव किया गया कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, किसानों का देश है। भारत वस्तुतः गाँवों में बसा है। यहाँ लगभग सौ में अस्सी लोग कृषि पर निर्भर करते और गाँवों में रहते हैं। अतः भारत का विकास और समृद्धि गाँवों के विकास और समृद्धि के बिना सम्भव नहीं है। ग्रामीण लोगों के जीवन का स्तर बहुत गिरा हुआ है अ र इसके कारण हैं—गरीबी, अशिक्षा और सामंती अर्थ-व्यवस्था। ये तमाम कारण तभी दूर हो सकते हैं, जब गाँवों का सारा समुदाय एक साथ मिलकर काम करे। किसी एक आदमी से कुछ नहीं हो सकेगा। गाँव के लोगों में इसी भावना को भरने के लिए, उनके सामने एक आदर्श रखने के लिए और

उनकी तंद्रा भंगकर उन्हें काम में लगा देने के लिए सरकार ने यह योजना उपस्थित की है, जो 'सामुदायिक विकास-योजना' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस योजना का उद्देश्य, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, गाँधीजी की ग्राम-स्वराज्य की कल्पना को साकार करना है यानी हर दृष्टि से ग्रामीण जीवन को उन्नत करना है, जैसे खेती के लिए भूमि तैयार करना, खाद, सिंचाई, अच्छे बीज, नल, सड़क, शिक्षणालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, स्वास्थ्यप्रद कुएँ, घर, गली, मनोरंजन के लिए खेल-कूद, कला-कौशल, सांस्कृतिक प्रदर्शन, प्रशिक्षण-केन्द्र, ग्रामोद्योग, उद्यान, पशु-चिकित्सालय, मछली-उत्पादन आदि की व्यवस्था करना।

इस योजना के अनुसार एक गाँव को एक इकाई माना जायगा। प्रत्येक गाँव में आबादी के अनुसार कम से कम एक या दो कुएँ और तालाब होंगे। कम-से-कम आधी जमीन के लिए सिंचाई का प्रबन्ध होगा। मवेशियों के लिए चारागाह होगा। एक पाठशाला होगी। मछली के लिए तालाब होगा। पशु-चिकित्सा और दाई की व्यवस्था रहेगी। यातायात का यथासम्भव इन्तजाम होगा। प्रत्येक गाँव को स्वास्थ्य, कृषि, और उद्योग-सम्बन्धी कामों के लिए विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त होगी।

कई गाँवों को मिलाकर मंडी-क्षेत्र बनेगा। प्रत्येक मंडी में कम-से-कम एक माध्यमिक शिक्षा देनेवाली संस्था, एक चिकित्सालय, मवेशी-अस्पताल, एक डाक-तार घर, ग्रामोद्योग (Village industries) मछली-केन्द्र, उद्यान और सड़क की व्यवस्था रहेगी।

फिर कई मंडियों को मिलाकर एक नागरिक क्षेत्र बनेगा; जहाँ, डाक-तार टेलीफोन-घर, बिजली, उच्च विद्यालय, कृषि एवं उद्योग-विद्यालय, प्रशिक्षण-केंद्र, बिक्री-केन्द्र, कुटीर-उद्योग (Cottage industries) के बड़े केन्द्र, दाई-शिक्षा-केन्द्र, अस्पताल आदि का इन्तजाम रहेगा।

यह योजना विगत २ अक्तूबर, १९५२ ई० से शुरू हुई है। सबसे पहले डेढ़ करोड़ आबादी वाले १८,४६४ गाँवों के २८,९५० वर्गमील क्षेत्र में इसका प्रयोग आरम्भ हुआ और ५५ योजनाएँ चालू हुईं। ८१ केन्द्रों में काम शुरू

हुआ। यह योजना अभी तीन वर्षों की है। इन तीन वर्षों में इन योजनाओं में ग्यारह करोड़ से ऊपर रुपए खर्च होंगे। खर्च का ७५ प्रतिशत केन्द्रीय सरकार देगी और २५ प्रतिशत राज्य-सरकार। इस खर्च का एक हिस्सा अमरीकी सरकार और अमेरिका-स्थित 'फोर्ड-फाउण्डेशन' से प्राप्त होगा।

सभी योजनाओं का प्रवन्ध एक केन्द्रीय समिति के द्वारा होता है, जिसके अधीन कई अफसर नियुक्त हुए हैं; जैसे एक प्रधान अफसर, दो सहायक अफसर, तीन कृषि-इन्जीनियर, तीन सिविल इन्जीनियर, साठ ग्राम्य कार्यकर्त्ता, संदेशवाहक, स्वास्थ्य प्रवन्धकर्त्ता, डाक्टर, दाइयाँ, पशु-चिकित्सक, कृषि-स्नातक इत्यादि।

थोड़े ही अर्से में इन योजनाओं की कार्यान्विति में आशातीत सफलता मिली है। पंजाब में लगभग एक हजार पोखरों की मरम्मत अथवा निर्माण हुआ है। नवाशहर में २० कृषि-फार्मों का निर्माण हुआ है, सात मील लंबी नहर वन चुकी है। उड़ीसा में ४०० तालाब बने हैं, सिंचाई के लिए पम्प लगे हैं, लम्वी सड़कें बनी हैं। उत्तर प्रदेश में सैकड़ों पाठशालाएँ इस योजना के अधीन आई हैं। बिहार भी किसी से पीछे नहीं है। दानापुर के पास एक आदर्श गाँव बना है, जिसके निर्माण का बहुत वड़ा श्रेय पटना रोटरी क्लव को है। एकंगरसराय और बरबीघा क्षेत्र में सहकारिता-संस्था खुली है। यहाँ चार योजना-क्षेत्रों में काम हो रहा है।

इतना होते हुए भी इस योजना की पूर्ण सफलता समस्त जनता के सहयोग पर निर्भर है।

वैसे कुछ लोगों ने इन योजनाओं की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि इस योजना में विदेशी धन लगा है और इसमें स्त्रियों, आदिम जातियों, हरिजनों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए स्थान नहीं है। किन्तु इन तर्कों में विशेष बल नहीं है। विदेशी धन किसी आदर्श की हत्या पर, किसी समझौते पर नहीं लिया गया है; बल्कि एक सौहार्दपूर्ण भेंट के रूप में। भारत किसी शक्ति-गुट में शरीक नहीं है। इसकी वैदेशिक नीति पूर्ण स्पष्ट है और यही उसकी शक्ति है। फिर स्त्रियों, हरिजनों और आदिम

जातियों के लिए अलग योजनाएँ हैं और वे चल रही हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन योजनाओं का उन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसका फायदा तो सबको मिलेगा।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि शीर-से शीघ्र हम इन योजनाओं को सफल बनायें। हम अपना पूरा श्रम इन्हें दें। १

—:०:—

भू-दान-यज्ञ

भू-दान-यज्ञ के विधाता हैं सन्त विनोबा भावे। उन्होंने इस यज्ञ की कल्पना १८ अप्रैल, १९५१ को की। यहाँ 'दान' शब्द प्रसंगवश विचारणीय है। यह शब्द साधारणतः परलोक के लिए अथवा दयावश किसीको कुछ दे देने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। लेकिन विनोबा जी इस शब्द का अर्थ सम-विभाजक यानी सम्यक् (उचित) बँटवारा बतलाते हैं और कहते हैं कि श्री शंकराचार्य ने इस शब्द का अर्थ 'संविभाग' ही किया है। इस प्रकार भू-दान का अर्थ हुआ भूमि का प्रेमपूर्ण सम-विभाजन या उचित बँटवारा। इस रूप में विनोबा का यह यज्ञ आधुनिक और क्रान्तिकारी है।

इस यज्ञ की प्रेरणा विनोबाजी को गाँधीजी से मिली। विनोबाजी के शब्दों में—'यह जो भू-दान-यज्ञ का कार्य मैंने आरम्भ किया है, वह मेरी ताकत नहीं है, उनकी (गाँधीजी की) प्रेरणा ही काम कर रही है।'

गाँधीजी 'रामराज्य' और 'ग्राम-स्वराज्य' आदि के प्रसंग में जमीन की समस्या पर भी सोचा-विचारा करते थे। एक बार मीरा बहन के यह पूछने पर कि स्वराज्य में जमीन का बँटवारा किस प्रकार किया जायगा, गाँधीजी ने

---

१. प्रस्तुत लेख के आँकड़े एवं उद्धरण 'नया समाज', अगस्त—१९५३ में प्रकाशित 'सामुदायिक विकास-योजनाएँ' शीर्षक निबंध पर आधारित है।

कहा था कि 'जमीन राज्य की होगी । मैं मान लेता हूँ कि शासन-तन्त्र ऐसे लोगों का होगा, जो कि इस आदर्श को माननेवाले होंगे । अधिकांश जमींदार खुशी से अपनी जमीनें छोड़ देंगे । जो नहीं छोड़ेंगे, उनसे कानून छुड़वा लेगा ।'

तो स्वराज्य होने पर विनोवाजी ने भूदान की कल्पना की और एक योजना बनाई जिसके अनुसार १९५७ तक पाँच करोड़ एकड़ जमीन मिल जानी चाहिए। वे गाँव-गाँव जाते हैं और जमीनवालों से उनकी जमीन का छठा हिस्सा माँगते हैं और जहाँ जो जमीन मिलती है, उसे वहाँ के वेजमीन या कम जमीनवालों में बाँट देते हैं। संक्षेप में यही विनोबा की योजना है। इधर उन्होंने भू-दान के साथ सम्पत्ति-दान की योजना भी बनाई है और जहाँ जो सम्पत्ति मिलती है, उसे जमीन की तरह ही, वहाँ के ग़रीबों को दे देते हैं।

वैसे जमीन का बँटवारा जापान और चीन में हुआ है, किन्तु विनोवा की योजना निराली है। वे कानून के जरिए नहीं, बल्कि प्रेम से जमीन लेते हैं। वे वस्तुतः वेजमीन को जमीन, निर्धन को धन देनेवाले एक देवदूत हैं। चांडिल के प्रवचन में उन्होंने कहा कि 'भू-दान-यज्ञ' में हम किसी तरह जमीन बटोरते नहीं। हम दवाब से जमीन नहीं लेते । न किसी को ठगकर जमीन लेते हैं। विचार समझा कर जमीन लेते हैं। जमीन देते हैं तो मनुष्य के मन में प्रेम और दया होनी ही चाहिए, और वेदखिलियाँ बन्द होनी चाहिएँ।"

अपने अनुष्ठान में विनोबा को आशातीत सफलता मिली है। महाराष्ट्र में बारह-तेरह सौ एकड़ जमीन मिली। केवल बिहार प्रान्त में ग्यारह लाख एकड़ से भी अधिक जमीन मिल चुकी है। उत्तर प्रदेश में पाँच लाख एकड़ से अधिक, राजस्थान में दो लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल चुकी है। ३१ अगस्त १९५३ तक सम्पूर्ण भारत में २०,६६,८९५ एकड़ जमीन मिल चुकी है। इस यज्ञ में सभी राजनैतिक दलों का सहयोग प्राप्त है। भारतीय समाजवादी दल के संस्थापक श्री जयप्रकाशनारायण तो इसके लिए विनोबाजी की तरह गाँवों का दौरा भी कर रहे हैं। विनोबा गीता का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि

जो व्यक्ति समाज को कुछ दिये विना खाता है, वह चोर है। गीता के इस वचन को विनोबा के साथ काम करनेवाले कार्यकर्त्ता भी मानते हैं और उनमें से वहुतों ने, जिन्हें केवल साठ रुपए मिलते हैं, अपने १२ वें भाग का दान देना स्वीकार किया है। इस वचत से उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले में एक कार्यकर्त्ता वहाल किया गया है।

कुछ लोग इस यज्ञ में सन्देह करते हैं। विनोबाजी कहते हैं कि बहुत-से लोग पूछते हैं कि गाँधी-निधि है, कस्तूरबा-निधि है, उन सबका जैसा हाल हुआ, वैसा ही इस का भी हाल होगा। हम कहते हैं नहीं, जमीन तो कहीं उठकर नहीं जा सकती। जमीन तो गाँव में रहेगी। यह एक क्रांति का काम हो रहा है। किसके हाथ में क्या रहेगा, इसका कोई सवाल ही नहीं रहता। अगर ऐसा हो कि खुद उठकर गाँव के वेजमीनवाले को जमीन दे दें, तो हमारा क्या विगड़ेगा? पर आज ऐसा नहीं हो रहा है। इसलिए हमें बीच में पड़ना पड़ता है। हमने वँटवारे के जो नियम बनाए हैं, उनमें पक्षपात की कोई गुंजाइश नहीं है। हाँ, गलती की गुंजाइश है।'

कुछ लोग कहते हैं कि यदि शीघ्र-से-शीघ्र और अधिक-से-अधिक जमीन लेनी है, तो विनोबाजी भारतीय सरकार पर जोर डालकर इस सम्बन्ध का एक कानून क्यों नहीं वनवा लेते। इसके पहले कि इस सम्बन्ध में हम विनोबाजी के विचार जानें, हमें समझ लेना है कि यह भूदान-यज्ञ एक शोषण-हीन समाज स्थापित करने का पहला कदम है और शोषणहीन समाज के लिए शासनहीन समाज का होना जरूरी है। शासनहीन समाज की कल्पना दुनिया के सभी महान् विचारक खासकर समाजवादी और साम्यवादी करते रहे हैं। किन्तु अभी तक अराजकता और हिंसा से यह समस्या हल नहीं हो पाई है और इस प्रकार के सभी प्रयत्न विफल हुए हैं। विनोबा ने सर्वोदय-शैली अपनाकर एक प्रेम और स्वेच्छित दान का नया तरीका प्रस्तुत किया है। भू-दान इस मानी में एक नया दर्शन है। यदि यह सफल हुआ तो गाँधीजी के सत्याग्रह की तरह यह संसार को भारत की महान् देन होगा। और जो काम मार्क्सवाद नहीं कर सका, उसे यह कर सकेगा। यदि सफल नहीं हुआ

तो सम्भव है कानून का सहारा लिया जाय। विनोवाजी का ऐसे प्रश्नकर्त्ताओं को जवाव होता है--'मैं कानून बनाने से रोकता कहाँ हूँ। आप कानून वनवाइए न, लेकिन मेरा तो यज्ञ का ही तरीका है। अगर कानून विना ही भूमि-समस्या हल होगी तो मैं नाचूँगा, लेकिन अगर अन्ततोगत्वा कानून वनाना ही पड़े तो मैं उसे वर्दाश्त कर लूँगा।'

भू-दान यज्ञ की सम्भावनाएँ अपार हैं। यह समता का अपूर्व मार्ग है। मार्क्सवाद भी समता चाहता है, किन्तु उसके तरीकों से दुनिया भयभीत है। भूदान-यज्ञ उस भय को प्रेम में वदल रहा है।

इन संभावनाओं की ओर संकेत करते हुए श्री जयप्रकाशनारायण कहते हैं कि 'भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने अब जन-मानस पर अच्छा असर जमाया है। आज यद्यपि कम्यूनिस्ट भू-दान का विरोध कर रहे हैं; परन्तु आगे चलकर उनको भी भू-दान-यज्ञ की शरण में आना होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। राष्ट्र में भूदान-यज्ञ के कारण आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्त्तन होकर हमारे जीवन में पूर्णतः क्रांति होनेवाली है। भूदान-आन्दोलन की एक और वड़ी संभावना ध्यान देने योग्य है। इसकी सफलता में से एक नया राजकीय तत्त्व-ज्ञान का निर्माण होनेवाला है। आज पक्षनिष्ठ राजनीति के कारण सब कार्यकर्त्ता जनता की आवश्यकताओं और अन्न-समस्या-सम्बन्धी विषयों पर एक नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, विरोध करने से आज काफी शक्ति नष्ट हो रही है।

परन्तु भूदान-यज्ञ के कारण अब सहयोग की एक ऐसी हवा बन रही है कि उसके फलस्वरूप कभी वह दिन भी आयेगा, जब इस देश में निर्दलीय शासन स्थापित होगा और कदाचित् संसार के प्रत्येक देश में ऐसी ही सरकारें होंगी।

विनोबा जी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि 'हमने तो यह ठानी है कि आज की रचना बदल कर ही ठहरेंगे। उसके लिए भूदान-यज्ञ पहला कदम है। हमारा उद्देश्य मामूली नहीं है, गैर-मामूली है। स्वराज्य के वाद आर्थिक क्रांति सामाजिक क्रांति होगी, आर्थिक क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र में

समता होगी तभी हमारी अहिंसा विजयी होगी। 'विश्व-विजय करके दिखलावें तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।' इसका अर्थ यह नहीं होता कि दुनिया को गुलाम बनाकर हम विजयी होना चाहते हैं। सारी दुनिया में समता होगी तभी हमारा प्रण पूर्ण होगा।"

अनुशासन, नागरिकता और शिक्षा

अक्सर अनुशासनहीनता और नागरिक उत्तरदायित्वों की उपेक्षा की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। समाचार-पत्र ऐसी खबरों से भरे रहते हैं और लोग परीशान हैं कि किस तरह इस अस्तव्यस्तता को दूर कर एक अनुशासित और दायित्वपूर्ण नागरिक-समाज की स्थापना की जाय।

अनुशासनहीनता के प्रधान क्षेत्र हैं—शिक्षण-संस्थाएँ, राजनैतिक पार्टियां और शहरों के मजदूर-संगठन। रोज ही ऐसे समाचार मिलते हैं कि किसी स्कूल या कालेज का विद्यार्थी परीक्षा में चोरी करते पकड़ा गया और उसने पकड़नेवाले शिक्षक को अपमानित ही नहीं किया, उनपर हाथ भी छोड़ दिया; इम्तहान की तारीख बढ़ा देने के लिए छात्रों ने आम-हड़ताल कर दी और उन दूकानों को लूट भी लिया जो उनकी सहानुभूति में हड़ताल के दिन बन्द न थीं; लड़की को छेड़ने के कारण जिसके प्रति अनुशासन की कार्रवाई की गई थी, उसने सजा उठा देने के लिए अधिकारी के दरवाजे पर अनशन शुरू कर दिया; टिकट माँगने के जुर्म में बस-कंडक्टर की टोपी किसी ने फेंक दी और प्रतिवाद करने पर उसके साथियों ने बस के शीशे तोड़ दिये; इत्यादि। राजनैतिक सभाओं में होनेवाले हुड़दंग, छोटी-छोटी बातों पर होनेवाली मेहतरों और मजदूरों की हड़ताल, आवश्यक विभागों जैसे रेल, डाक, बिजली इत्यादि के कर्मचारियों की धमकियाँ इत्यादि तो अब अत्यन्त साधारण बात हो गई है! खैरियत है कि सेना अभी तक पूर्ण अनुशासित है। बिहार में

पुलिस ने एक बार हड़ताल की थी, किन्तु वह जनता की सहानुभूति के अभाव में तुरन्त खत्म हो गई ।

आखिर इस व्यापक अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलता के क्या कारण और इन्हें कैसे रोका जाय ? कुछ लोग इसपर तो गलत ही ढंग से विचार करके निराश हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि इससे तो अच्छा था कि अँगरेजी राज्य ही बना रहता, जहाँ भय था और जिस भय के कारण बाघ-बकरी एक घाट पानी पीते थे। मगर क्या कोई भी अच्छा विचारक और भारत का नागरिक सही मानी में ऐसी कल्पना भी कर सकता है ? हम किसी भी कीमत पर भारत की स्वतन्त्रता बनाए रखना चाहेंगे और किसी विदेशी शासन की छाया भी अपनी भूमि पर पड़ने नहीं देंगे। विदेशी शासन से जर्जर अपने पुराने घर की मरम्मत करेंगे, उसकी फटी दीवारों को भरेंगे और उसके हिलते खम्भों को अचल करेंगे । जो लोग अँगरेजी राज्य की तुलनात्मक अच्छाइयों की वंदना करते हैं, वे या तो ऐसे लोग हैं जो तत्कालीन शासन के लूट-खसोट में शामिल थे और जिनकी अब नहीं चलती, या ऐसे लोग हैं जो विदेशी हुकूमत को दिल से बुलाना नहीं चाहते; बल्कि देश में छाई हुई उच्छृङ्खलता और उत्तरदायित्वहीनता की परिस्थिति से ऊबकर, झुंझलाहट में ऐसी बात कह जाते हैं और ऐसे लोगों की झुंझलाहट अकारण नहीं है। मगर निराश होने का भी विशेष कारण नहीं है।

जब हम अनुशासन और नागरिक भावना के अभाव पर विचार करेंगे तो अनेक बातें सामने आयेंगी और हमें निराश होने नहीं देंगी।

पहली बात तो यह है कि हम अभी एक संक्रांति-काल (Transitional period) से गुजर रहे हैं । कुछ दिन पहले हम गुलाम थे और अपने को स्वतन्त्र करने के लिए तरह-तरह से क्रांतियाँ कर रहे थे। हमने कानून तोड़े क्योंकि हम उन्हें अनुचित समझते थे। हमने कर-बन्दी-आन्दोलन किया। हमने सत्याग्रह किया और अपने तरीकों को अहिंसात्मक रखा। यह अहिंसात्मक कार्य इसीलिए लोकप्रिय हुआ कि हम निहत्थों के लिए तोपों के मुकाबिले में खड़े होने का यही एकमात्र सफल तरीका था। वैसे हिंसात्मक

क्रांतियाँ १८५७ से होती रहीं और प्रायः विफल ही रहीं। गाँधीजी के प्रयत्नों के बावजूद चौराचौरी-कांड हुआ। १९४२ में क्रांति का बिल्कुल दूसरा तरीका था। वह द्वितीय विश्व-युद्ध का जमाना था और उस साम्राज्यवादी युद्ध में लगी अँगरेजी सत्ता को हिन्दुस्तान से निकाल-बाहर करने की अन्तिम चेष्टा थी। रेल की पटरियाँ उखाड़ी गईं। तार काटे गए। अनेक अँगरेजों की हत्या हुई। पुल तोड़े गए। सशस्त्र क्रांति की चेष्टा हुई। 'भारत छोड़ो' के साथ 'स्कूल-कालेज छोड़ो' के नारे लगाये गये। जयप्रकाशजी कई साथियों के साथ साथ हजारीबाग जेल से भाग निकले। इस प्रकार हमने आजादी हासिल की और इस प्रकार आजादी के पूर्वकाल में उग्रता देशसेवा का पर्याय था। शांति चाहनेवाले को हमने गद्दार कहा। स्कूल-कालेजों को गुलाम बनानेवाले कारखाने माना। रेल को विदेशी सरकार की सम्पत्ति मानने के कारण तब बिना टिकट चलने में विशेष दुविधा नहीं होती थी। पुलिसवालों के साथ दुर्व्यवहार करने में आत्मा को विशेष चोट नहीं पहुँचती थी; क्योंकि वे विदेशी शासन के पुर्जे थे। सरकारी आज्ञा की अवहेलना करने में ताजगी मिलती थी। अधिकारियों को चकमा देने में नैतिक आनन्द मिलता था।

इसलिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति-काल के प्रथम चरण में थोड़ी अस्तव्यस्तता रहेगी ही। उग्र से उदार बनने में थोड़ी कठिनाई होगी। उन्मुक्तता से संयम की ओर आने में कुछ दिक्कत होगी ही। विद्यार्थी नौजवान लोग होते हैं। घर की जिम्मेदारियों से मुक्त होने के कारण उनमें स्वच्छंदता की एक विशेष प्रवृत्ति रहती ही है। फिर हमारे नेता क्रांति का सारा श्रेय उन्हें देते रहे हैं। कुछ राजनैतिक पार्टियाँ तो अब भी छात्रों को दीक्षित किए बैठी हैं। कुछ ने राजनैतिक छात्र-संघ बना लिए हैं। गरज यह कि राजनैतिक संस्थाएँ विद्यार्थियों को बहकावे दे-देकर उन्हें अपना पुछल्ला बनाए रखना चाहती हैं। ऐसी परिस्थिति में उनसे अनुशासन की माँग करना ही मुश्किल है। यदि हम चाहते हैं कि विद्यार्थी अनुशासन और नागरिक-भावना (Civic sense) बनाये रखें, तो जरूरी है कि राजनैतिक दल विद्यार्थियों पर कृपा करें और उनसे क्रियात्मक सहयोग की अपेक्षा न करें। छात्र-जीवन बटोरने का है;

बाँटने का नहीं। यह सीखने का समय है, पंक्तिवद्ध (Regimented) होने का नहीं। अपरिपक्व मस्तिष्क को वरगलाने से राष्ट्र का अहित होगा, ऐसा राजनीति के नेता समझें। फिर पढ़ाई में थोड़ा अन्तर लाना होगा। अब तक केवल नौकरियों के लिए पढ़ाई होती थी। अब आदमी को कामकाजू बनाने के लिए होनी चाहिए। यह जरूरी है कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच घना सम्वन्ध हो। दोनों एक-दूसरे के निकट आवें। यह निकटता शिक्षालयों में अनुशासन के पहले कदम का निर्माण करेगी। फिर अधिक-से-अधिक प्रकार के खेल-कूद, आदि ललित कलाओं की शिक्षा-दीक्षा की भी व्यवस्था हो और विद्यार्थियों की रुचि को इनकी ओर मोड़ा जाय। देखा गया है कि जिन शिक्षण-संस्थाओं में खेल-कूद, गायन-वादन, नृत्य-नाटक, वाद-विवाद, भाषण आदि की समुचित व्यवस्था नहीं रहती, वहाँ के विद्यार्थी खाली समयों में लड़ाई-झगड़े, हल्ला-गुल्ला, राजनैतिक चर्चा, गुटबन्दी आदि किया करते हैं। और जहाँ इनकी व्यवस्था है, वहाँ के विद्यार्थी अपेक्षाकृत अधिक अनुशासनप्रिय होते हैं; क्योंकि खेल-कूद एवं ललित कलाएँ उनकी अतिरिक्त शक्ति को अनजाने ही उनके मनोनुकूल मनोरंजन शैली पर एक रचनात्मक योग्यता की ओर ले जाती हैं। शिक्षण-संस्थाओं के अहाते में काफी खुली जमीन होनी चाहिए। विभाग अलग-अलग हों। देखा गया है कि जहाँ खुली जगह कम है वहाँ क्लास खत्म होते ही हजार-पन्द्रह सौ विद्यार्थी छोटे-से वरामदे या सहन पर धक्कामधुक्की करने लगते हैं और यहीं से अशान्ति का वातावरण शुरू हो जाता है।

जो अपढ़ मजदूर आदि हैं, वे भी राजनैतिक दलों से परिचालित होते हैं; इसे रोकना होगा। उन्हें सर्वप्रथम शिक्षित करना होगा। उन्हें बतलाना होगा कि किसी देश में जन्म लेने के साथ आदमी उस देश का नागरिक हो जाता है। नागरिक होने से ही उसे नागरिकता के सारे अधिकार (Civic rights) मिल जाते हैं। मगर प्रत्येक नागरिक अधिकार के साथ एक नागरिक दायित्व भी लगा हुआ है। हमें स्वतन्त्रतापूर्वक, सुखपूर्वक, विकासपूर्वक रहने का हक है, किन्तु साथ ही उस समाज के प्रति भी हमारा कर्त्तव्य होता है जिसकी

समुचित व्यवस्थां से हम उपर्युक्त अधिकार पाते हैं । किन्तु व्यवहार में हम इसे भूल जाते हैं । हम छोटी-से-छोटी बातों का भी ध्यान रखना होगा। देखिए न, हम सस्ते मूल्य पर सुखपूर्वक रेल म चलने का अधिकार माँगते हैं, किन्तु दूसरी ओर रेल के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं--मूँगफली खाकर छिलके डब्बे में ही फेंक देते हैं; औरतें बर्थ पर ही बच्चों को पेशाव करा देती हैं; क्योंकि एक स्टेशन बाद ही उन्हें उतर जाना है; बैठने की जगह पर हम पाँव फैलाकर सो जाते हैं और दूसरों को खड़े रहने को मजबूर करते हैं । मजदूर एक ओर मजदूरी बढ़ाने के लिए आन्दोलन करते हैं और जनता की सहानुभूति माँगते हैं, मगर अगर भीड़ हो, तो जहाज-घाट पर, मेलों में कुली भाई साधारण लोगों की मजबूरियों से फायदा उठाकर उनसे अधिक-से-अधिक मजदूरी वसूलना चाहते हैं; पिछले जमाने के पण्डों की तरह। लुटे जानेवाले लोग साधारण ही होते हैं; क्योंकि बड़े लोगों के पास तो अपने चपरासी, नौकर-चाकर होते हैं । किन्तु हमारा विश्वास है कि धीरे-धीरे नागरिक दायित्व की भावना भी जनता में आवेगी । यह जो लूट-खसोट की भावना है, वह इसलिए कि देश में किस्म-किस्म के वर्ग हैं— अवर्ण और सवर्ण, अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर, जमींदार और किसान इत्यादि। अब कुछ वर्ग तो समाप्त हो चले । हिन्दुस्तान से अस्पृश्यता लगभग उठ गई। जमींदारियाँ उठ चलीं । संत विनोबा अमीर-गरीब के भेद को मिटाने चले हैं। इस प्रकार जब आर्थिक भेद ज्यादा नहीं रहेगा तब परस्पर ईर्ष्या की जो भावना है, वह नष्ट हो जायगी और परस्पर सहानुभूति उत्पन्न होगी। हम शासनहीन समाज की ओर चल रहे हैं । अतः अगले चरण म अनुशासन और नागरिक-उत्तरदायित्व का विशेष आग्रह होगा। अवश्य हम अभी से उसके लिए प्रयत्न कर और जनमत को शिक्षित करें।

एक और बात है। हिन्दुस्तान में अभी तक नेता पूजे जाते रहे हैं। और ये नेता भी सर्वसाधारण से नहीं आए हैं, समाज के उच्च वर्गों से आये हैं। सो आज भी लीडरी की हवस है। हरेक आदमी लीडर ही होना चाहता है, स्वयं-सेवक कोई नहीं। हरेक आदमी के मन में सबके आगे खड़े हो जाने की

लालसा है और आगे खड़े होनेवाले के प्रति उसकी यह शिकायत है कि वह सिफारिश से, पिछले दरवाजे से आगे बढ़ा है। यह मनोवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है और यह उच्चवर्गीय नेतागिरी का परिणाम है । हमें इसे दूर करना है। सोचिए तो सही, कि अगर सभी आदमी नेता ही हो जाएँगे, तो समाज चलेगा कैसे ? हमें इस मनोवृत्ति को रोकना है और इसका तरीका यह है कि लोगों को इस प्रकार प्रेरित करें कि वे काम को पूजें, व्यक्ति को नहीं।



अल्प बचत योजना

प्रत्येक मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भविष्य के लिए आय में से कुछ हिस्सा बचाकर रखे। इसके पीछे व्यक्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ है, अपनापन है, अपने से मोह है, इसी कारण अपने बुरे दिनों के लिए वह कुछ बचाकर रखना चाहता है। यदि व्यक्तिगत रूप से देखा जाय तो यह स्वार्थ की चीज है परन्तु सामाजिक दृष्टि से राष्ट्रीय-निर्माण में अल्प-बचत योजना के द्वारा सहायता मिलती है। राष्ट्र-निर्माण के यज्ञ में व्यक्ति की अपनी ओर से बचा रखने की यह वृत्ति उसकी आहुति है। अल्प-बचत योजना में जो धन जमा किया जाता है वह सुरक्षित रहता है, निश्चित समय के पश्चात् वह फिर व्यक्ति के पास आ जाता है उसमें और अधिक वृद्धि होती है क्योंकि सूद की रकम उसमें आ मिलती है। अवधि के पूर्ण होने पर व्यक्ति को तो रुपया मिलता है और राष्ट्रनिर्माण के कार्य में संपूर्ण अवधि तक वह रुपया सरकार द्वारा लगाया जाता है।

जब द्वितीय महायुद्ध की आतंककारी लपटें फैल रही थीं उस समय ब्रिटिश शासन द्वारा इस योजना का श्रीगणेश हुआ। सरकार द्वारा राष्ट्रीय बचत योजना चालू की गयी थी। सरकार को युद्ध के खर्च के लिए रुपये की

ग्रावश्यकता थी ग्रतः सरकार ने उस मद की पूर्ति के लिए इस योजना का श्रीगणेश किया। परन्तु युद्ध में विनाशकारी प्रभाव का जब डर जा रहा था तो भारतीय स्वतंत्रता का उन्मेष हुग्रा। राष्ट्र के सम्मुख एक नयी समस्या उपस्थित हुई। स्वतंत्र भारत के पुनर्निर्माण के लिए हमें रुपयों की जरूरत है। जहाँ से भी संभव हो देश के विकास के लिए रुपये चाहिए। ऐसी स्थिति में देश के हर व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है कि वह राष्ट्रीय निर्माण के कार्य में यथाशक्ति ग्रपना योग दे। तन, मन, धन सबसे यह योग ग्रावश्यक है। धन से प्रत्येक व्यक्ति कैसे सहयोग देगा—ग्रल्पबचत योजना का महत्त्व इसी जगह पर ग्रांका जा सकता है।

तब एक बार इस समस्या पर विचार करना होगा कि देश की गरीब जनता जो खुद भूखे पेट रहती है क्यों त्याग करे। क्यों ग्रौर कैसे बचावे ? ग्रभी तक पाते हैं कि जीवन-स्तर ऊँचा नहीं उठ सका है। ग्रपने खर्च के लिए, जीवन की मूल समस्याग्रों को सुलझाने के लिए यदि ग्रार्थिक व्यवस्था ठीक नहीं तो बचत कैसे हो ? ऐसा कहकर हम इस योजना को ग्रनुपयुक्त नहीं कह सकते। सरकार सचेष्ट है कि हमारा जीवन का स्तर ऊपर उठे। देश में हर क्षेत्र में एक क्रांति मची हुई है। परिवर्त्तन की बेला में हम सबको सचेष्ट रहकर देश का नवनिर्माण करना है। दासता के बंधन से हम मुक्त हुए, गरीबी के बंधन को दूर करना होगा। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति की मुट्ठी में जो होगा वही वह दे। उसके दो पैसे भी यदि बचेंगे तो राष्ट्र के निर्माण में करोड़ों व्यक्ति के हिसाब से वे दो पैसे भी ग्रधिक महत्त्व के होंगे। नागरिकों के हाथ में ही देश का भविष्य है। जब हम ग्रपने साधनों को संगठित कर लें ग्रौर उनके संचालित करने के लिए कमर कस कर तैयार हो जायँ तो इस देश की उन्नति संभव है। हम ग्रपनी ग्राय का कुछ हिस्सा ग्रपने जीवन के स्तर को ऊपर उठाने में लगावें। कांग्रेस ने समाजवादी ढंग से समाज के निर्माण की रूपरेखा तैयार की है ग्रौर उस निर्माणकार्य में जब तक हमारा सहयोग नहीं होगा हम किसी भी भाँति देश का नवनिर्माण नहीं कर सकते हैं।

अतः देशव्यापी आंदोलन चल रहा है--अल्प-वचत योजना के लिए केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारें इस ओर सजग हैं। प्रत्येक व्यक्ति तो एक-दूसरे की तरह नहीं बचा सकता। सवकी आय देखते हुए अल्प-वचत योजना संवंधी विभिन्न प्रकार की योजनाएँ चालू हैं। इस तरह अधिक आय वाले तथा कम आय वाले व्यक्ति भी इस योजना में शरीक हो सकते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ४८०० करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान है। यह रकम प्रथम पंचवर्षीय योजना की दुगुनी है। इसम से १२०० करोड़ की रकम का हिसाब वड़ी मुश्किल से पूरा होगा। ५०० करोड़ रुपये अल्पवचत योजना द्वारा पूर्ण किये जाने को हैं। इस योजना को अल्पबचत योजना से पूर्ण करना बड़ा कठिन कार्य है। यदि सभी लोग इसमें सहायता न दें तो इतना रुपया कहाँ से आयेगा। विदेशी सहायता से भी अधिक देश के लोगों की सहायता पर विश्वासहै। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता जनसमुदाय के सहयोग पर ही सफल हो सकती है। इस योजना द्वारा भारत की गणतंत्रीय सरकार ने लोगों को इसे सफल बनाने के लिए एक चुनौती दी है। इसका जवाव हम एक तरीके से दे सकते हैं कि हम बचायें और अपनी बचत की रकम सरकार दे दें जिसमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना सफल हो सके। गरीब से गरीब व्यक्ति इस योजना द्वारा सरकार को इस योजना की पूर्ति में सहायता दे सकता है।

इस योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित रूप में रुपये जमा किये जा सकते हैं—१२ वर्षीय राष्ट्रीय योजना परिपत्र (३) १० वर्षीय ट्रेजरी बचत परिपत्र (३) पंद्रहवर्षीय परिपत्रक, (४) पोस्ट आफिस के सेविंग्स वैंक के सर्टिफिकेट, (५) समय-समय पर जमा की गई एक निश्चित अवधि तक की रकम।

वारह वर्षीय बचत योजना में बारह वर्षों की अवधि के पश्चात् 5.41. प्रतिवर्ष की दर से अवधि पूर्ण हो जाने पर सूद मिलते हैं। परन्तु उससे पहले यदि कोई रुपया ले ले तो सूद कम मिलता है।

१० वर्ष की ट्रैजरी सेविंग्स योजना में ४ प्रतिशत व्याज मिलते हैं।

१५ वर्ष की Annuity Certificates में चक्रवृद्धि व्याज की दर

४।। प्रतिशत है। और १५ वर्ष वाद २६६००) रु० ३६०००) में परिणत हो जाते हैं।

पोस्ट ग्राफिस सेविंग्स वैंक में २।। प्रतिशत सूद की दर है। इसमें १०,००० रु० तक जमा किये जा सकते हैं और इससे अधिक रुपये पर सूद की दर २ रु० है।

यदि व्यक्ति के पास रुपया हो तो वह सोने-चाँदी के जेबर बना लेता है या गाड़कर रखता है। दोनों कार्य खतरे से खाली नहीं और चोर और ठगों द्वारा वह लूटने पर हाय हाय करने लगता है। यदि उपर्युक्त योजना में वह रुपया बचाकर लगाये तो रुपये तो सुरक्षित रहेंगे ही साथ ही साथ अतिरिक्त रुपये सूद के रूप में प्राप्त होंगे। यह तो हुई रुपये वालों की वात। जिनके पास रुपये नहीं हैं वे तो एक वार न तो Annuity Certificate खरीद सकते हैं और न हजार-डेढ़ हजार रुपये ही जमा कर सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों के लिए एक निश्चित अवधि के लिए हर माह छोटी-छोटी रकम जमा करने की व्यवस्था है। यदि हम पाँच वर्ष के लिए रुपये लगाना चाहते हों तो प्रति माह १० रु० देने पर ६५०) रु० पाँच वर्षों की समाप्ति पर उपलब्ध होंगे। १० वर्ष में १४५०) रु० इसी भाँति जमा करने पर प्राप्त किये जा सकते हैं।

इसके लिए जो दूसरा आकर्षण है कि अल्प-बचत योजना में वचायी हुई रकम पर आयकर तथा अतिरिक्त कर नहीं लगते हैं।

इसमें रुपये वचाने वाले व्यक्ति के लिए उसकी सुविधानुसार रुपये वैंक अथवा पोस्ट आफिस में जमा किये जा सकते हैं—रुपया जमा करने वाला किसी भी शेड्युल्ड वैंक से इसके विषय में परामर्श ले सकता है। उस वैंक द्वारा उसके लिए रुपये जमा किये जायेंगे। Cheque के रूप में रुपया जिला वचत अधिकारी को किसी प्रकार के (Certificates) परिपत्र खरीदने के लिए दिये जा सकते हैं। या ये चेक राष्ट्रीय बचत योजना के अधिकृत एजेंटों को दिये जा सकते हैं या स्त्रियों के लिए वचत-योजना के पदाधिकारी को जो १२ वर्षीय सर्टिफिकेट खरीद कर उन्हें देंगे। या नहीं तो किसी भी

पोस्ट आफिस में निश्चित अवधि के लिए रुपया जमा करने की योजना में रकम जमा की जा सकती है। अपनी सुविधानुसार जो मनुष्य जहाँ चाहे उपर्युक्त स्थानों में रुपया जमा कर सकता है।

देहात में रहने वाले लोगों के लिए देहाती पोस्टमैन योजना है जिसके द्वारा राष्ट्रीय बचत सर्टिफिकेट खरीदे जा सकते हैं। किसी भी डाक्यिे द्वारा उसे आवेदन-पत्र पर जरूरी सूचनाएँ भरकर देनी होंगी तथा उसे २००) रु० तक का अधिकतम मूल्य के परिपत्रक प्राप्त होंगे। शहरों में तथा देहातों में सभी स्थान में यह योजना चालू हो इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति की सुविधा का ध्यान रखा गया है।

एक और आकर्षक योजना का उल्लेख करना अनिवार्य होगी जो आदमी पाँच रुपये भी नहीं बचा सकता है वह 'सेविंग्स स्टाम्प' खरीद कर जमा करने की आदत डालें। २५ नये पैसे से लेकर १ रु० तक के 'स्टाम्प' पोस्ट आफिस में विकते हैं उसे लेकर वह एक सेविंग्स कार्ड पर साटते जाय जो पोस्ट आफिस द्वारा ही प्राप्त हो जाता है तथा जब ५ रु० या १० रु० के टिकट जमा हो जायँ तो उन्हें फिर १२ वर्षीय परिपत्रक के रूप में बदल दे सकता है। इसी भाँति 'Gift Coupon' भी बड़े लोकप्रिय हो रहे हैं, ये ५ रु० लेकर १००० रु० तक की कीमत के पोस्ट आफिस द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। ये उपहार कूपन जन्म-दिन पर, विवाह पर दिये जा सकते हैं। ये उपहार के कूपन भी १२ वर्षीय बचत योजना परिपत्रक में बदले जा सकते हैं। इन कूपनों के खरीदने की तारीख से तीन मास के अन्दर ही राष्ट्रीय बचतयोजना परिपत्रक से बदले जा सकते हैं। बचाने वाले के लिए सरकार ने यथेष्ट सुविधाएँ दी हैं तथा यह आदत सब लोगों में फैले इसके लिए विभिन्न प्रकार की आकर्षक योजनाएँ चल रही हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें रुपये बचाने से अपने कल्याण के साथ देश का भी तो कल्याण है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने इसे सफल बनाने के लिए अनेक कार्यकर्त्ताओं तथा अधिकारियों द्वारा इसका प्रचार किया है तथा लोगों से बचाने के लिए आग्रह किया है। आप डाक-घर की

टिकटों पर मुहरों में देखते होंगे कि रुपया बचाइये, अपने बच्चों के लिए, अपने बुरे दिन के लिए, अपने बुढ़ापे के लिए रुपया बचाना जरूरी है, सबसे जरूरी है देश के नवनिर्माण के लिए और जब एक चिट्ठी आपके हाथ लगती है तो उस पर मुहरों में पड़े संकेत देश की जनता को एक बार चेतावनी देते हैं। अखबारों में विज्ञापनों द्वारा, रेलवे स्टेशनों में पोस्टरों द्वारा तथा डाकखानों में लगे चित्रों द्वारा उनके आकर्षक सूद की दरें मनुष्य को इस ओर प्रेरित करती हैं कि वह कुछ बचाये। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ रही है तथा भारतवर्ष में बचाने की प्रवृत्ति लोगों में किस तरह बढ़ चली है वह तो इन योजनाओं की लोकप्रियता द्वारा मापी जा सकती है।

राष्ट्र के पुनर्निर्माण कार्य में सहायता देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह अपने खर्च में से कुछ कम करके बचावे तथा इस रकम को जिस भाँति भी वह चाहे बचत योजनाओं में लगावे। अपने भावी दिनों के लिए बचाना परम आवश्यक है—पर यदि इसीके साथ देश के निर्माण में भी सहायता पहुँचा सके तो क्यों न वह एक ही हाथ दोनों लड्डू लूटे। अपनी भी भलाई होगी तथा परोपकार भी। इस कारण इसमें स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों हैं। अहं का इदं के लिए त्याग है। भारतीय ऋषियों ने अहं को इदं से साक्षात्कार करने को कहा था—चंद पैसों द्वारा भी बचत योजना में सम्मिलित होकर वह स्वार्थ का विस्तार यदि कर सकता है तो क्यों न करे?

ग्राम पंचायत

हमारा भारतवर्ष एक विशाल देश है, जहाँ गाँवों की संख्या बहुत अधिक है। यहाँ की जनसंख्या का ७५ प्रतिशत भाग गाँवों में निवास करता है। जब तक गाँवों का उत्थान नहीं होगा, हमारे देश का उत्थान नहीं हो सकता।

गांवों की क्या जरूरतें हैं, गाँवों में रहनेवाले अच्छी तरह अनुभव करते हैं। उनकी जरूरत की चीजों को किसी भाँति पूर्ण करना होगा—इनकी जानकारी भी उन ग्रामवासियों को ही है। ग्राम पंचायत का महत्त्व, ग्राम-जीवन की उन्नति के लिए आँका जा सकता है। हमारे शासनकर्त्ता गाँवों से सैकड़ों मील दूर रहते हैं, वे वहाँ की जरूरतों को समझ नहीं सकते। कभी-कभी सरकार की कारवाई शुरू होने के लिए कागजों की अधिक दौड़-धूप होती है। ग्राम पंचायत के द्वारा ग्राम निवासी अपनी आवश्यकताओं को तुरत पूर्ण कर सकते हैं।

सन् १९४७ से ही ग्राम पंचायत कानून द्वारा देश के विभिन्न भागों में ग्राम पंचायतों की स्थापना हुई। इस ग्राम पंचायत का मुख्य अधिकारी एक मुखिया होता है। मुखिया अपने कामों में सहायता करने के लिए कुछ सदस्यों को मनोनीत (Nominate) करता है। ये मनोनीत सदस्य मुखिया के कामों में सहायता देने के लिए ही हुआ करते हैं। इन सदस्यों की समिति कार्यसमिति कहलाती है। गांवों की जनसंख्या के आधार पर कार्य-समिति के सदस्यों की संख्या निर्भर करती है। अगर किसी गाँव में अधिक संख्या हुई तो वहाँ दो पंचायतें भी हो सकती हैं। कार्यसमिति के सदस्यों की कुल संख्या ७ से लेकर १५ तक होती है। परन्तु ७ से कम तथा १५ से अधिक की संख्या नहीं होती। मुखिया भी गांव के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति द्वारा जो २१ वर्ष या उससे अधिक उम्र का रहता है, चुना जाता है। अतः मुखिया ग्राम पंचायत का निर्वाचित सदस्य है। जब मुखिया का चुनाव सम्पन्न हो जाता है तथा उसके द्वारा कार्यसमिति बना दी जाती है, तो जिला के पंचायत अधिकारी द्वारा उस ग्राम पंचायत को स्वीकृति मिलती है। जिला का पंचायत अधिकारी सरकारी अधिकारी होता है। ग्राम पंचायत के अन्तर्गत मुकदमों की सुनवाई भी होती है। मुकदमों के फैसले के लिए इस ग्राम पंचायत में ग्राम कचहरी नाम का अलग विभाग होता है। ग्राम कचहरी के सदस्य निर्वाचन के द्वारा आते हैं। इनका चुनाव देश में लागू वयस्क मता-धिकार पर होता है। ग्राम में कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका दोनों अलग-

अलग कार्य करती हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कार्यकारिणी के सदस्य ग्राम-न्यायालय के सदस्य नहीं हो सकते। दोनों के निर्वाचन पद्धति में भी कुछ भेद है। न्यायालय के सदस्यों का पहले चुनाव हो जाता है। तव वे चुने हुए सदस्यों में से एक का सरपंच के लिए चुनाव करते हैं। ग्राम की धरती के मुताविक ही पंच और सरपंच नाम दिये गए जो उनके वातावरण के साथ ठीक जँचता है। ग्राम पंचायत अपने ग्राम में सुव्यवस्था वनाने के लिए स्वयंसेवकों को रखती है। ग्राम स्वयंसेवक दल अपने ग्राम से हरएक नवयुवक को इसकी सुविधा देता है। इस दल का मुख्य व्यक्ति नायक होगा जिसे प्रान्तीय सरकारों की ओर से विशेष प्रशिक्षण प्राप्त रहता है। यह तो कार्यकारिणी की वात हुई। अव आइये न्यायपालिका की ओर। न्यायपालिका की देखभाल के लिए ग्रामसेवकों की नियुक्ति होती है। सभी ग्रामीण इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। ग्रामसेवकों को ट्रेनिंग देने की व्यंवस्था शासन की ओर से है तथा ग्रामसेवक वैतनिक कर्मचारी होते हैं। ये ग्राम पंचायत के कार्य करते हैं। इनसे दूसरा काम भी लिया जाता है जैसे कर वसूलने का काम जो इनके कार्य के अतिरिक्त है।

ग्राम पंचायतों में फसल के वाद वैठक होने की व्यवस्था की गई है। यदि इसके पूर्व भी जरूरत पड़े तो वैठक बुलाई जा सकती है। ग्राम पंचायत का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण जीवन में विकास करना है। ग्रामीण विकास के सारे कार्य उसके अन्तर्गत आते हैं। कोई भी ऐसा कार्य नहीं, जो ग्राम पंचायत के अधीन न हो। सरकार को इससे वड़ी सहायता मिलती है। गाँवों में शिक्षा की व्यवस्था, खेती सम्बन्धी समस्या, सड़कों का निर्माण, स्वास्थ्य, पशु-धन, ऋण, लाइब्रेरी और वयस्क-शिक्षा के कार्य इसके अधीन हैं। दूसरी ओर न्यायालय के द्वारा मुकदमों पर फैसले दिये जाते हैं। ग्राम न्यायालय को तृतीय श्रेणी के दंडाधिकारी का अधिकार दिया गया है, जिसका अधिकार अधिक से अधिक ५०) का जुर्माना तक एवं एक महीने के कैद की सजा है। आवश्यकतानुसार अपराध की गम्भीरता को विचार में रखते हुए फैसले किये जाते हैं। कभी-कभी ग्राम न्यायालयों में कुछ लोग विद्वेषवश भी गलत फैसले

सुना देते हैं, लोगों को व्यर्थ का दंड दे देते हैं। ऐसे कई मामले सरकार द्वारा सुने गए हैं जो ग्राम न्यायालयों में गलत फैसले के कारण उपस्थित हुए।

ग्राम पंचायत की स्थापना, ग्रामीण जीवन की सर्वांगीण उन्नति को ध्यान में रखकर की गई थी। परन्तु परस्पर के घृणा-द्वेष के कारण, उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही है। कभी-कभी चुनावों में भी शक्ति का उपयोग कर लिया जाता है और तव पंचायत का मुखिया या न्यायालय का सरपंच ऐसा व्यक्ति हो जाता है जो योग्य नहीं रहता या कभी-कभी लाठी के जोर पर अयोग्य व्यक्ति को चुन लिया जाता है। शासन करना तथा तथा न्याय करना दोनों ही गुरुतर कार्य हैं। इनके लिए योग्य व्यक्ति यदि न चुने जायँ तो ग्राम पंचायत एक अनावश्यक वोझ के रूप में लद जाएगा। ग्राम पंचायत की सफलता के लिए पंचायत के प्रत्येक सदस्य को जागरूक रहना होगा। जो अपने मताधिकार को समझता हो और उचित व्यक्ति को चुन सकता हो— ऐसे ग्रामीणों के बल पर ही उसका संचालन निर्भर करता है। इसका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि हम अपने देश में गणतांत्रिक राज्य के सदस्य हैं। ३६ करोड़ व्यक्तियों का शासन और न्याय—केन्द्रीय संसद और सुप्रीम कोर्ट द्वारा प्रत्यक्ष रूप में संभव नहीं और न प्रान्तीय सरकार के केन्द्रों से ही प्रत्यक्ष शासन हो सकता है। इसी कारण जनता को अपने शासन भार चलाने तथा अपने पड़ोसियों के झगड़े का फैसला करने का सौभाग्य प्राप्त हो— इस कारण इन ग्राम पंचायतों की स्थापना हुई। गणतांत्रिक शासन के लिये ग्राम में ये अनुभव, उसके सफल प्रयोग के रूप में सिद्ध होंगे। ग्रामीण लोग अपने इन छोटे अनुभवों के साथ देश के वृहत्तर शासन में उत्तरदायित्व का भार संभाल सकेंगे। साथ ही एक-एक ग्राम पूर्णतः स्वावलम्वी वने, अपनी समस्याओं का निदान ढूँढ़े और परमुखापेक्षी नहीं रहे—इसकी व्यवस्था इससे होती है। इस ओर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों का ध्यान लगा हुआ है और वे चाहती हैं कि ग्रामीण जनता अपना शासन-भार स्वयं संभाले। देश के आजाद हो जाने पर देश के नागरिक स्वतंत्र हैं। उन पर कोई दूसरा

शासन नहीं कर रहा है। स्वयं वे शासनकर्त्ता हैं। इस भावना की पुष्टि भी ग्राम पंचायत द्वारा होगी। अब यह योजना बहुत प्रान्तों में सफलतापूर्वक चल रही है। इसके दिन प्रतिदिन के कार्य करने से ही इसकी खामियों और इसकी खूबियों का पता चल सकता है। सैद्धान्तिक रूप में किसी भी सिद्धांत से किसी का विरोध नहीं। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में ही अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस पर तहेदिल से विचार करना होगा कि पंचायत के संचालक शिक्षित नागरिक हों, जो उत्तरदायित्व समझें तथा अपने गुरुतर भार को ठीक रीति से निभायें।

ग्राम पंचायतों को भी अपनी दृढ़ता के लिए शिक्षा के महत्त्व पर ध्यान देना होगा। शिक्षा का खूब प्रचार करना चाहिए; ताकि उनके यहाँ समुचित सूझ-बूझ वाले सदस्य बनें। गाँवों के अंधविश्वासों को दूर करने के लिए ग्रामवासियों में कुछ प्रदर्शन किये जायँ जैसे रोगों के निदान के लिए औषधियाँ कारगर होंगी न कि देवी-देवता। ग्राम की सुरक्षा के लिए भी उन्हें सतर्क रहना होगा। बहुत से ग्रामों में ग्राम पंचायतों द्वारा पंचायत दल के स्वयंसेवकों ने अभूतपूर्व कार्य किये हैं जैसे डाकुओं से ग्राम की रक्षा। इसी तरह महामारी, बाढ़ तथा अन्य दुर्घटनाओं में स्वयंसेवकों ने जीतोड़ मिहनत की है। ग्राम जीवन के विकास के लिए ग्राम पंचायत अत्यन्त आवश्यक है। आपस की दलबन्दियों से पंचायत के सदस्यों को मुक्त रहना होगा तथा सेवा, त्याग और सद्भाव की भावना से कार्य करने पर ही ग्राम पंचायत का कार्य सफल होगा।

आज से २१ वर्ष पूर्व गाँधीजी ने हरिजन में लिखा था—"मैं यह कहता रहा हूँ कि यदि छूतछात की भावना कायम रही तो हिन्दूधर्म का अस्तित्व खत्म हो जाएगा, उसी तरह मैं कहूँगा यदि ग्राम विनष्ट हुआ तो भारत भी नष्ट होकर रहेगा। वह फिर भारत नहीं रह जायगा। विश्व में स्वयं उसका अपना आदर्श खत्म हो जाएगा। ग्राम पंचायतें ग्राम-प्रशासन में बड़ा महत्त्व रखती हैं। इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ विद्वानों के विचार द्रष्टव्य हैं; डा० एस० राधाकृष्णन के शब्दों में यह राष्ट्र को एक उद्देश्य, एक मन्तव्य, और विश्वास

प्रदान करती है। चार्ल्स मेटकाफ के शब्दों में ग्राम-पंचायतें छोटे लोकतंत्र हैं जिनके स्वयं अपने भीतर प्रायः प्रत्येक चीज जिसकी उन्हें जरूरत हो सकती है, मौजूद है और जो किसी भी विदेशी सम्बन्ध से लगभग मुक्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे नश्वरों के बीच अनश्वर हैं। शासन पर शासन ध्वस्त होते जाते हैं. क्रान्ति के बाद क्रान्ति आती है लेकिन ग्राम-पंचायत का अनवरत क्रम जारी है। श्री डी० एच० कोल के शब्दों में गाँव के लोगों के भाग्य का कुशल शिल्पी होना है। यदि उसे सामूहिक जीवन-यापन का उदाहरण प्रस्तुत करना है और डा० राधाकुमुद मुखर्जी के शब्दों में, ग्राम-पंचायत को राष्ट्रीय लोकप्रिय और सामूहिक जीवन का केन्द्र होना है। पंचायतों के कार्यों को प्रशासनिक एवं न्याय-सम्बन्धी कार्यों में बाँट दिया गया है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन में योजना-आयोग ने पंचायत के कार्यों पर विशेष ध्यान दिया है। उसमें अध्याय ७ के अनुच्छेद १२ में निम्नलिखित बातों की व्यवस्था की गई है।

(अ) भूमि-सुधार लागू करने में पंचायतों का सहयोग।

(आ) भूमि के उपयोग का नियम और खास तौर पर प्रतिमान। अच्छे प्रबन्ध और कृषि के तरीके अपनाना।

(इ) खेती और गाँव में उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रम कार्यान्वित करना।

(ई) सहकारिता और सहकारी प्रयत्नों को बढ़ावा देना।

(उ) कुटीर, ग्रामीण और लघु उद्योगों को बढ़ावा देना।

(ऊ) समूचे रूप में योजना कार्यान्वित करने के लिए जनता के सहयोग का उपयोग।

भारत की गरीबी तथा उसके पिछड़ेपन की वास्तविकता से हम अलग नहीं रह सकते। ग्राम-पंचायतों के माध्यम से देश की ग्रामीण जनता का इस बात के लिए आह्वान किया जा सकेगा कि वह देश के जीवन के भावनात्मक, सांस्कृतिक और उत्पादन के क्षेत्रों में हाथ मिलाकर चले।

रेड क्रास

रेडक्रास के द्वारा ग्राज विश्व में जो कार्य हो रहे हैं, उन्हें देखकर लोग ताज्जुब हो जाते हैं। रेडक्रास की संस्थाओं द्वारा जो सेवा कार्य होते हैं, उनमें मनुष्य की करुणा, त्याग एवं सहानुभूति की भावना रहती है। युद्ध की विकराल लपटें जब छा जाती हैं, मशीनगन गड़गड़ाती रहती हैं, वायुयानों से बमों की वर्षा की जाती है और तोपें आग उगलती रहती हैं, उस समय भी मनुष्य की सेवा निरन्तर चलती रहती है। आग से, आतंक से कोई घबराता नहीं तथा युद्ध की विभीषिका में निडर होकर रेडक्रास के कार्यकर्त्ता कार्यरत रहते हैं। युद्ध के कार्यों में संलग्न सैनिक जब असहाय हो जाते हैं उस समय इस संस्था का उपयोग देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, जब कभी मनुष्य की भावनाओं पर क्रूरता के बादल मँडराते हैं किसी भाँति विनाश का चित्र खिंच आता है तो वह दुनिया के किसी कोने में क्यों न हो, रेडक्रास संस्था अपना कार्य करती हैं। कभी यह प्रश्न उठता है कि रेडक्रास क्या है और इस संस्था की कार्य करने की क्षमता से अधिक लोगों की माँग हो जाती है। जिस समय इसकी स्थापना हुई थी उस समय रेडक्रास से इतनी आशा न की गई हो परन्तु आज रेडक्रास विभिन्न रूपों में समाज की सेवा कर रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी आवश्यकता पड़ी है, रेडक्रास संस्था की स्थापना के पश्चात् इसने यथेष्ट सहायता की है। धर्म के द्वारा इस बात की दुहाई दी जाती है कि घायलों की सेवा करना परम धार्मिक कार्य है। बन्दियों की रक्षा करना तथा अस्पताल में पड़े हुए मरीजों, बच्चों और स्त्रियों की रक्षा करना मानव का परम धर्म है। कोई भी धर्म सेवा के कार्य से अपने को अलग नहीं रख सका। युद्ध के समय मनुष्य की ये भावनाएँ दूर हो जाती हैं। वह निर्दोष लोगों की हत्या करता है। बन्दियों को मौत के घाट उतार देता है और अस्पतालों में पड़े हुए मरीजों की परवाह नहीं करता। मनुष्य के मानवीय विचारों का बहुत मूल्य

है। मानवीय आदर्श की रक्षा करने के लिए कभी-कभी व्यक्ति अपनी जान दे देते हैं। रूसो के युग में ही मानवीय मूल्यों की ओर अधिक ध्यान दिये गये थे।

मानवीय मूल्यों की विवेचना करते हुए सर्वप्रथम मनुष्य के बीच यह वास्तविक सत्य प्रकट हुआ होगा कि सेवा को अपनाना परम आवश्यक है। कम-से-कम मनुष्य अपने हृदय की अन्तर्वृत्तियों को समझे, अपने भीतर जागे हुए इंसान को देखे। रेडक्रास ने सर्वप्रथम यही कार्य किया। सम्पूर्ण विश्व मानव की दृष्टि से एक है। परन्तु उसकी ये भावनाएँ मिट जाती हैं और वह उदार के स्थान पर कठोर बन जाता है, लड़ने के समय उसके गुण भूल जाते हैं। लड़ती हुई जाति दया नहीं करना जानती। लेकिन मनुष्यों के मन में ऐसी भावना आई और इन मनुष्यों में एक ऐसे ही सन्त हेनरी डुनेन्ट थे जिन्होंने हृदय की इस पुकार को सुना था।

रेडक्रास के जन्म के लिए भूमिका तैयार हो चुकी थी और जून १८५९ में इसका सूत्रपात हुआ, जिस समय डुनेन्ट के मन में नयी विचारधारा उठी उसने आने वाले काले भविष्य की भयंकर परिस्थितियों को भाँपा और सोचा कि मानवता के लिए बड़े बुरे दिन आवेंगे। भावनाओं के उस प्रवाह में वह बह रहा था और उसीके साथ रेडक्रास के आधारभूत सिद्धान्त जड़ जमा रहे थे। उसने यह निश्चय किया कि युद्ध के काल में किसी सैनिक की राष्ट्रीयता पर विचार न किया जाय। घायल घायल है। उसकी जाति घायल की है। इसके साथ ही साथ उसके मन में एक और भावना जगी कि दान के लिए एक नया अध्याय खोला जाय, अन्त में उसने इन दोनों की सहायता के लिए तत्कालीन चिकित्सालय की सेवा से सहायता ली। इसके साथ ही एक समस्या खड़ी हुई कि चिकित्सक किसी भी पक्ष के लिए पक्षपात न रखे और अपनी सेवा के लिए देश, जाति आदि का बिना खयाल किये हुए, सेवा करें।

इसके पश्चात् कास्टीगलादन में एक आदमी ठीक डुनेन्ट की भाँति ही ख्यालों में डूबा हुआ मिला। जीवन में उसके सिद्धान्त कुछ अधिक सच्चाई

के साथ थे तथा डुनेन्ट के भाग्यवादी ख्यालों से दूर थे। डुनेन्ट पक्के विश्वास का आदमी था और विश्वास फलदायक होता ही है। उसने कुछ प्रत्यक्ष उदारहणों द्वारा महत्त्वपूर्ण परिणाम की खोज की। उसने आँखों से देखी हुई घटनाओं का वर्णन किया तथा अपने मानवीय विचारों को लिपिबद्ध किया जिस पुस्तक का नाम 'The Souvenir De Solferino' था। वह १८६२ में प्रकाशित हुई जिससे रेडक्रास का सूत्रपात हुआ। हो सकता है इसमें उसके असाधारण भाव व्यक्त हुए हों परन्तु उसने जो चीजें दी थीं वे बड़ी ही रोचक थीं। उसने युद्ध छिड़ने की कहानी, युद्ध के दृश्य और युद्ध के भीषण परिणामों की चर्चा की थी। उसमें बड़े साधारण एवं आकर्षक ढंग से सम्पूर्ण विश्व के समक्ष क्रूरता के भीषण दृश्य का वर्णन किया गया था। विश्व की मानवता से करुणा की अपील की गई। इस तरह उसने चिकित्सकों की असुविधाओं पर प्रकाश डाला था। घायल लोगों के प्रति करुणा दर्शायी थी और उनके स्वास्थ्य तथा सेवा के लिए खेद प्रकट किया था। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि उसने विश्व के सम्मुख दो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे जो घायलों की सेवा के लिए एक संस्था स्थापित करें तथा मनुष्य के मानवीय मूल्यों का विवेचन करें। मिलान में 'टूरिन रिलीफ सोसाइटी' खुली और इस योजना का श्रीगणेश हुआ। डुनेन्ट को इससे अपार हर्ष हुआ तथा ऐसे समितियों के खुलने की योजना के लिए अन्य देशों से अपील की गई। उसने इसे अन्य देशों में फैलाना चाहा। उसके समक्ष घायलों की दर्दनाक तस्वीरें फिरती थीं तथा उसके लिए वह विश्व जनमत की सम्मति की माँग कर रहा था। उसने इस सेवा-कार्य के आदर्शों को सम्मुख रखते हुए बल डाला। उसकी पुस्तक की धूम मच रही थी तथा अनेक लोग सेवा के लिए तैयार हो रहे थे। जेनेवा निवासी लोगों में से अधिक लोगों ने इस पुस्तक का ठीक अर्थ समझा। इसके पश्चात् 'कमिटी आफ फाइव' (Committee of five) द्वारा (जिसमें गुस्ताभ मोनियर, लूइ पाल एपिदा, थियोडोर मौन, जेनरल डफर थे तथा डुनेंट थे) एक समिति की स्थापना की गयी जो पीछे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-कार्य की

समिति वनी। असंख्य सहयोगियों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर इस पुस्तक तथा रेडक्रास द्वारा की गई वहुमूल्य सेवाओं पर प्रकाश डाला। १८६३ में जव पेरिस और र्बालन में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्टेटिसटिकल' समिति की बैठक हुई, तो रेडक्रास पर और अधिक श्रद्धा वढ़ी। स्वयं डुनेंट ने इसके प्रचार में कोई कमी उठा नहीं रखी और रेडक्रास द्वारा अनेक देश के भागों में सहायता-कार्य शुरू हुए। रेडक्रास आज विश्व में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। रेडक्रास सचमुच जो सेवाएँ कर रहा है, वे महान् हैं। विश्व के कोने-कोने में रेडक्रास समितियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर इनके द्वारा कार्य हो रहे हैं।। मानवता की अमूल्य सेवा भावना से ओतप्रोत लोग इस संस्था में कूद पड़े हैं। रेडक्रास १८६४ में जेनेवा कान्फरेन्स में सुरक्षा का निशान मान लिया गया तथा ऐम्बुलेंसों में, अस्पतालों में, तथा स्टोरों में रेडक्रास को एक पवित्र भावना प्रदान की गई। आज तो रेडक्रास द्वारा शरणार्थी, अयोग्य तथा महामारी, बाढ़, भूकम्प एवं आकस्मिक दुर्घटनाओं से पीड़ित लोगों तक सेवाएँ र्अपित की जाती हैं। क्या युद्ध क्या शान्ति---दोनों में इस संस्था की अपूर्व देन हैं।

भारतवर्ष में अभी भारतीय रेडक्रास सोसाइटी द्वारा एक नये घरेलू परिचर्या का कार्यक्रम शुरू किया जा रहा है जिसमें लोगों को सफाई, स्वास्थ्य, भोजन आदि पर प्राथमिक परिचर्या की सहायता की जाय। भारत में इस योजना की रूपरेखा मिस स्लेन एग्रड द्वारा की जा रही है जो अमेरिकी रेडक्रास में गृह-परिचर्या कार्यक्रम की निर्देशिका रह चुकी हैं। दिल्ली में रेडक्रास की इस नयी योजना के सम्बन्ध में शिक्षार्थी प्रशिक्षित होंगे। मिस एग्रड दिल्ली में, नर्सिङ्ग कालेज में, छात्राओं को गृहविज्ञान की शिक्षाएँ दे रही हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों में जब ये शिक्षिकाएँ लौटकर जायेंगी, तो एक नये आन्दोलन का सूत्रपात करेंगी। गाँवों के लिए स्वास्थ्य एवं सुख का नया अध्याय खुलेगा।

रेडक्रास की शाखा न सिर्फ देशों में वरन् अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर काम करती है। इसे लोगों की सहायता एवं सहयोग प्राप्त रहे हैं। सेवा करने

वालों को उचित मूल्य मिलता है। दुःख में, आँसू पोछनेवाले, मानवता की पहचान करनेवाले, इन संतों का जो सेवा में भाग लेते हैं तथा उन पवित्र आत्माओं का, जिन्होंने सेवा का व्रत उठाया है, सम्पूर्ण संसार ऋणी रहेगा।

जनसंख्या की समस्या

हम यह जानते हैं कि हमारा देश अनेक प्रकार की विकास-योजनाओं में संलग्न है। देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु जनसंख्या की समस्या एक ऐसी समस्या है कि अन्य समस्याओं के सम्मुख यह खड़ी हो जाती है। न सिर्फ भारतवर्ष में, बल्कि सम्पूर्ण संसार में बढ़ती हुई आबादी के कारण भविष्य अंधकारमय लगता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्रत्येक क्षेत्र में, स्वास्थ्य, शिक्षा, गृह, मनोरंजन, नैतिक तथा सांस्कृतिक स्तर में कमी होती चली जा रही है। विश्वविख्यात विद्वान जुलियन हक्सले ने सन् १९५९ फरवरी १४ से २१ ता० तक हुई दिल्ली की अन्तर्देशीय सभा में जो परिवार नियोजन पर हो रही थी, अपने विचार प्रकट किये कि यह सम्पूर्ण संसार के लिए एक वहुत बड़ा खतरा है पर फिर भी कहीं-न-कहीं आशा की एक किरण दिखाई देती है। यह समस्या इतनी गम्भीर वन गई है कि हर प्रकार के लोग चाहे वे किसी भी ज्ञान से सम्वन्ध रखते हों, विचार करने लगे हैं, चाहे वह समाजशास्त्री हो, चाहे वह अर्थशास्त्री हो, चाहे वह शरीरशास्त्री या डाक्टर हो विशेषतः भारतवर्ष में इस

समस्या का समाधान ढूँढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश की आबादी उतनी नहीं जितनी कि चीन की। फिर भी जब एक ओर हम आबादी को रखते है तो दूसरी ओर उसके जीवन-यापन के साधनों को भी रखना होगा। भारतवर्ष की जनसंख्या यहाँ के साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ चुकी है। हमारी जनसंख्या प्रतिवर्ष १२ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ती चली जा रही है। सचमुच यह गति पश्चिमी देशों की अपेक्षा कुछ न्यून ही है। परन्तु हर वर्ष हमारी आबादी में ५ लाख नये लोग चले आते हैं और तब हर दस वर्षों में करीब ५० लाख आदमियों की वृद्धि होगी। अभी हमारी जनसंख्या करीब ३६८ लाख है और १९६१ तक ४० करोड़ से ऊपर यह संख्या चली जाएगी तो साधन और भी कम होते जायेंगे। हमारे देश में यदि हम जन्म की संख्या लें तो करीब प्रत्येक एक हजार में ४० जन्म होते हैं। यह भी कोई बहुत बड़ी संख्या नहीं पर हमारे देश के लिए यह अपेक्षित नहीं। इसके कारण निम्नलिखित हो सकते हैं:—

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है जहाँ ७५ प्रतिशत से अधिक भाग सिर्फ इसी पर निर्भर करता है। अभी देश में अन्य उद्योग पूर्ण विकसित नहीं हुए हैं। अतः हमें मुख्य रूप में इसी पर निर्भर करना होता है। तब बड़ी मुश्किल हो जाती है कि इतनी बड़ी जनसंख्या का भाग देश की उपज पर ही निर्भर करे। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मालथस (Malthus) के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि अत्यन्त द्रुतगति से होती है। उसने यह कहा था कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक अनुपात के अनुसार तथा साधनों की वृद्धि गणितीय अनुपात की रीति से होती है। मनुष्य की जनसंख्या इतनी जल्दी बढ़ जाती है कि उसी अनुपात में खाद्यान्न नहीं बढ़ पाते। अतः मनुष्य के लिए प्रकृति सहायक बनती है वह महामारी, भूकम्प आदि के द्वारा स्वयं जनसंख्या को सीमित कर देती है, अर्थात् उसने ये सुझाव दिये कि मनुष्य अपनी जनसंख्या को रोके अन्यथा प्रकृति भूकम्प आदि के द्वारा इसे रोकने को उद्यत हो जाएगी। परन्तु मालथस के सिद्धान्त में कुछ कमी थी। उसने खाद्यान्न के अतिरिक्त अन्य साधनों को ध्यान में नहीं दिया था, मनुष्य सिर्फ उदर के

साथ ही जन्म नहीं लेता, वरन् उत्पादन करने के लिए हाथ और पाँव की शक्तियाँ भी उसके साथ ही आती हैं। जो कुछ भी हो, पर उसने जनसंख्या सम्वन्धी मतों का प्रतिपादन मनुष्य के अंधकारमय भविष्य को देखते हुए किया था!

जनसंख्या की वृद्धि जो भारतवर्ष में हो रही है, यदि उसके आँकड़े देखे जायँ तो इसकी नाजुक हालत पर प्रकाश पड़ेगा। सन् १९४१ में भारत की जनगणना के अनुसार इसकी संख्या ३८ करोड़ ९० लाख थी। इससे पहले की जनसंख्या पर दृष्टिपात किया जा सकता है जो निम्न प्रकार है।

१९०१—२३ करोड़ ५५ लाख;
१९११—२४ करोड़ ९५ लाख;
१९२१—२५ करोड़ ८१ लाख;
१९३१—२७ करोड़ ५५ लाख;
१९४१—३८ करोड़ ४८ लाख;
१९५१—३५ करोड़ ६८ लाख;

१९४१ से '५१ के बीच हमारी जनसंख्या में १३.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९५१ की जनगणना के फलस्वरूप बहुत से तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। भारतवर्ष की एक वर्गमील की आवादी २९६ है, जबकि दूसरे देशों में चीन १२३, रूस २३, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ५०, जापान ५७९, जर्मनी ५०६, और इंगलैंड ५३६ तथा पाकिस्तान २१०। भारतवर्ष में सम्पूर्ण दुनिया का २.४ प्रतिशत क्षेत्र है, तथा १५.१ प्रतिशत आवादी है जो सिर्फ प्रत्येक व्यक्ति के हिसाव से ०.७७ एकड़ में निर्वाह के लिए भूमि है। भारत में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक निकली है। प्रत्येक हजार पुरुषों पर ९४७ स्त्रियाँ हैं। जनसंख्या का कुल ४१ प्रतिशत भाग ही काम करता है और करीव ड्योढ़ा वैठकर खाते हैं; जवकि इंगलैण्ड में ६४ प्रतिशत लोग काम करते हैं। अतः हम यह देखते हैं कि इतनी बड़ी जनसंख्या का निर्वाह यहाँ के सीमित साधनों से कहाँ तक हो सकता है! जब कभी देश में बाढ़ आती है या अकाल पड़ता है, उस समय देश के खाद्यान्न की समस्या इतनी बड़ी जनसंख्या के

कारण चिन्तनीय हो जाती हैं। मनुष्य की शक्तियों का उपयोग ठीक रीति से नहीं किया जा रहा है। अभी हाल ही में पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने से गृहउद्योग तथा औद्योगिक विकास की संभावनाएँ बढ़ रही हैं। लेकिन अब तक तो हमें अपने सीमित साधनों से ही अपने देश की जनसंख्या की समस्या को सुलझाना होगा। यहाँ विवाह भी कम उम्र में होता है तथा संतान का जन्म लेना पितृऋण से उऋण होने के लिए आवश्यक माना जाता है। धार्मिक तथा आर्थिक कारणों से जनसंख्या बढ़ती ही जाती है। जिनके पास धन नहीं हैं वे विवाह कर धन कमाने के लिए एक अतिरिक्त व्यक्ति की सहायता पाते हैं। अतः निर्धन लोगों में भी यह लालसा उनकी गरीबी को हल्का करने के लिए नहीं, वरन् जनसंख्या की वृद्धि में सहायक है। भारतवर्ष में रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं है। यह भी जनसंख्या की वृद्धि का एक कारण है। अतः एकमात्र मनबहलाव का साधन उनके सम्मुख उनकी स्त्रियाँ होती हैं और जनसंख्या की वृद्धि इस कारण होती है। लोगों का मानसिक धरातल शिक्षा के अभाव में उतना उच्च नहीं अतः वे इस समस्या की गहराई को नहीं सोच सकते। जब शिक्षा का प्रचार होगा तो इस ओर वे उदासीन होंगे और जनसंख्या कुछ कम हो सकती है। भारतीय परिवारों में ८० प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियाँ अपने पुरुषों की आय पर ही निर्भर करती हैं। अतः वे उपार्जन नहीं कर पातीं और उनकी गरीबी दिनोंदिन भीषण रूप धारण करती जाती है। कुछ जातियों में बाल-विवाह तथा बहुविवाह की प्रथा चालू है, जिस कारण जनसंख्या की वृद्धि होती है। जहाँ दूसरे देशों में जन्म लिए हुए बच्चों में २० या तीस मर जाते हैं, हमारे यहाँ प्रत्येक एक हजार में २० या तीस के स्थान पर, ११५ मौत को प्राप्त होते हैं। देश के नौनिहालों का मौत का ग्रास होना बड़े दुःख की बात है। परन्तु इस संख्या में भी अधिक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण फलस्वरूप दवाइयों के कारण कुछ कमी हुई है और तब जाकर यह ११५ है।

देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मजात प्रतिभा को विकसित करने की पूर्ण सुविधा होनी चाहिए। परन्तु सीमित साधनों के द्वारा यह कैसे हो

सकता है? हमारी आर्थिक स्थितियाँ, रहन-सहन का नीचा स्तर, इसमें बाधक हैं। यदि १९५१ की जनगणना का प्रतिवेदन पढ़ा जाय तो बड़ी रोचक चीजों पर प्रकाश पड़ेगा। अब इस समय एक ही रास्ता सामने है कि अपनी इस आबादी को जो सम्मुख है, लेकर चलें। आबादी की वृद्धि को रोकना एक-मात्र उपाय मालूम पड़ता है। इस वैज्ञानिक युग ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं। फिलहाल हम गर्भ-निरोध की समस्या पर विचार करें। यदि इसका व्यापक प्रचार होगा तो जनसंख्या की वृद्धि रोकी जा सकती है अन्यथा हम जितने अधिक विकास करते जायँगे और औद्योगिक संभावनाएँ बढ़ाते जायेंगे परन्तु बढ़ती हुई मानवों की यह सेना फिर समस्या बनकर उपस्थित हो जायगी। इसके लिए स्त्रियों को शिक्षित करना तथा उन्हें देश की अवस्था से परिचित कराना और उनके भविष्य के होनेवाले बच्चों के भविष्य की चिन्ता करना अनिवार्य होगा। बहुत हर्ष की बात है कि परिवार नियोजन को हमारे प्रधानमंत्री का समर्थन प्राप्त है। यद्यपि इसमें धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक कारण उपस्थित हो जाते हैं कि हम परिवार नियोजन क्यों करें पर फिर भी इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा।

एक दम्पति को दो या तीन संतानों से अधिक बच्चे उत्पन्न न हों।

अपने देश की जनसंख्या को बढ़ने से रोकना होगा। उसमें जितनी कम वृद्धि होगी उतने ही अमन और चैन से हम रह सकेंगे। हमारे भविष्य की संतानें खाये बगैर मर जायँ, इससे तो अच्छा यह होगा कि वह दिन देखना ही न पड़े और जो उत्पन्न हों वे आराम से सुख और समृद्धि के साथ अपना जीवन-यापन कर सकें। दिल्ली में जो परिवार-नियोजन की सभा हुई थी, उसमें मारगैरेट सैंगर ने अपने बहुमूल्य विचार दिये थे। उसने गर्भ-निरोध पर यथेष्ट बल दिया है तथा हमारे प्रधानमंत्री, डा० एस० राधाकृष्णन् और केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री द्वारा उन्हें उचित सहयोग भी मिला। वह सर्वप्रथम महात्मा गाँधी के जीवनकाल में ही भारत आयी थी और इसके पश्चात् जब वह आई तो उसका अत्यधिक स्वागत हुआ। भारतवर्ष को परिबार-नियोजन की अत्यन्त आवश्यकता है तथा यदि इसकी गम्भीरता पर विचार

न किया गया तो स्थिति भयंकर रूप धारण कर लेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके लिए यथेष्ट धन दिया गया है। सम्पूर्ण देश में परिवार-नियोजन सम्बन्धी प्रचार हों, इसके लिए अनेक केन्द्र हों, ऐसी व्यवस्था है। इसके लिए गर्भ-निरोध सम्बन्धी दवाइयों का या कन्ट्रासेप्टीव्स का उपयोग किया जाय या शल्य-चिकित्सा द्वारा संतति-निरोध की व्यवस्था की जाय। हो सकता है कि अभी जनमत इसके विरोध में हो परन्तु वह दिन नजदीक आवेगा जब लोग इसकी उपयोगिता पर विश्वास करने लगेंगे।

यात्रा की उपयोगिता

'यात्रा के बिना शिक्षा पूरी नहीं होती'—यह एक पुरानी कहावत है पर यह कहावत आज भी उतनी ही सत्य है जितना दिन का प्रकाश।

प्राचीन काल में जब यातायात के साधन सुगम नहीं थे तब भी भारत में तीर्थाटन की बड़ी महिमा थी। बात यह थी कि चारों धाम घूम आने में आदमी भारत भर का चक्कर लगा आता था। इस सिलसिले में प्राप्त अनुभव उसे समृद्ध और पूर्ण मानव बनाते थे।

यात्रा करने में आदमी अनेक प्रकार के लोगों, देशों और परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है। इससे उसकी जानकारी बढ़ती है। उसे सफर में अन्य व्यक्तियों की सहायता की आवश्यकता होती है। इससे आदमी का अहंकार दूर होता है। उसमें दूसरे के प्रति उदारता आती है, दूसरे के प्रति प्रेम उमड़ता है। इस प्रसंग में उसे अनुभव होता है कि आदमी चाहे कहीं का हो उसकी मनुष्यता या मानवीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व एक-से हैं। यह अनुभव मनुष्य का सबसे अधिक मूल्यवान अनुभव है और यह किताबों में नहीं बल्कि यात्रा के विनिमय में ही प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है।

इन दिनों संसार में दृश्य-श्रव्य-शिक्षा (Audovisual Education) का बड़ा जोर है। कुछ दिन पहले गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दुःख के साथ कहा था कि 'हमारे अधिकांश अध्यापकों के लिए उनके पाठ्य-विषय किसी युग की जीवित वस्तुओं के मृत चिह्न होते हैं। उनके सम्बन्ध में उन्हें

किताबी ज्ञान तो होता है, पर वे उनके लिए न तो सजीव होते हैं और न उनसे उन्हें प्यार होता है।' इन्हीं निर्जीव विषयों को सजीव रूप में पेश करना आधुनिक दृश्य-श्रव्य-शिक्षा का उद्देश्य है। अमेरिका आदि देशों में इस शिक्षा ने बड़ा जोर पकड़ा है। भारत में भी जगह-जगह दृश्य-श्रव्य-शिक्षा-परिषदें काम कर रही हैं। अपने प्रान्त में राँची स्थित दृश्य-श्रव्य-शिक्षा-परिषद प्रसिद्ध साहित्यकार प्रो० केसरी कुमार की अध्यक्षता में ईर्ष्येय काम कर रही है। अभी-अभी भारत के शिक्षा-मंत्रणालय और अमेरिकी टैक्निकल सहयोग मिशन के सम्मिलित प्रयत्नों से दिल्ली में 'राष्ट्रीय दृश्य-श्रव्य-शिक्षा-संस्थान' की स्थापना हुई है। इस संस्थान के व्यवस्थापक श्री जी० के० अथालिये ने इस नयी शिक्षा-पद्धति की उपादेयता की चर्चा करते हुए कहा कि 'हम कक्षा में संसार की सभी चीजों को किसी रूप में पेश करते हैं और आसानी से दूसरों को ज्ञान दे सकते हैं। गणित से लेकर अध्यात्म-विद्या तक किसी भी विषय में दृश्य साधनों का उपयोग लेकर उसे मनोरंजन बनाया जा सकता है।.....भारत ने समस्त जनता से सम्पर्क कायम करने और करोड़ों ग्रामवासियों को साक्षर बनाने का जो कार्यक्रम शुरू किया है वह दृश्य-श्रव्य-साधनों की सहायता से और ग्रामों में उपलब्ध सामग्री की सहायता से दृश्य साधनों का बड़े पैमाने पर निर्माण करके ही पूरा हो सकता है। यह संस्थान यह जानने में मदद कर सकता है कि इन साधनों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव कितना है।' इस नवीन शिक्षा-पद्धति के एक अमेरिकी विशेषज्ञ डा० फ्रांसिस नोएल के शब्दों में 'अमेरिका के अनुभव से पता चलता है कि दृश्य-श्रव्य-शिक्षा से समूचे समाज को लाभ पहुँचता है। उनके प्रयोग से शिक्षा की प्रगति की रफ्तार ३० प्रतिशत बढ़ जाती है और दृश्य साधनों का समुचित उपयोग करने पर बच्चे अपनी पढ़ी हुई बातों की स्मृति ५० प्रतिशत अधिक रखते हैं।'

वस्तुतः दृश्य माध्यमों की शिक्षा में बड़ी उपयोगिता है। आग की कहानी कहने का वैसा असर बच्चों पर नहीं होगा जैसा विभिन्न उपकरणों से आग बनाते हुए उसके विकास को दिया-सलाई तक लाकर दिखाने का। भूगोल

अथवा भूगर्भ-विद्या तो दृश्य माध्यम के विना सम्भव ही नहीं है। जमीन, पहाड़, पत्थर आदि को देखे बिना उनका समुचित ज्ञान नहीं हो सकता। चूँकि यात्रा में दृश्य साधन सुलभ रहते हैं, इसलिए आज भी यात्रा शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंग है।

इसीलिए भूगोल, इतिहास, भूगर्भ, अर्थशास्त्र, नृतत्त्व-विज्ञान आदि के विद्यार्थी हर वर्ष पर्यटन में निकलते हैं। एक यात्री को, स्वभावतः, उपर्युक्त विद्याओं का ज्ञान हो आता है। नदी-नाला, झरनों, पहाड़ों आदि के जरिए भूगोल का, ऐतिहासिक अवशेषों को देखकर इतिहास की गतिविधि का, पत्थरों की तहों आदि को देखककर भूगर्भ का, विभिन्न समुदाय के आदमियों के रहन-सहन, आमद-खर्च, रोजगार, बेकारी आदि देखकर अर्थशास्त्र का और विभिन्न जातियों के रीति-रिवाज, उत्सव आदि देखकर नृतत्त्व-विज्ञान की शिक्षा एक यात्री को मिल जाती है।

यात्रा के बिना आदमी का ज्ञान महज किताबी होता है और ऐसे ज्ञान से वह दृढ़ विश्वास नहीं होता जो उच्च एवं वास्तविक शिक्षा के लिए आवश्यक है।

यात्रा तो जैसे एक झरोखा है जिससे आदमी की जिन्दगी में बड़ी ताजगी आती है। जरा इस झरोखे से बाहर झाँकिए जहाँ जीवन का एक विशाल समुदाय प्रवाहित हो रहा है। यदि आप उदास हैं तो ज़रा घूम आइए, ताजा हो जाइएगा। नाना प्रकार के लोगों से मिलने और नाना प्रकार के दृश्यों के देखने से ही आपका जीवन रस से भर जाएगा। न जाने जानने, सुनने, समझने की कितनी चीजें मिलेंगी। एक नवीन उत्साह, विशाल दृष्टि एवं प्रेरणा से आप अभिभूत हो उठेंगे।

अंग्रेजी के विश्वविख्यात नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ को यात्रा से ही लिखने की प्रेरणा मिलती थी। जब उन्हें लिखने के लिए भाव-संग्रह करना होता तो वे लन्दन में बस के ऊपरी तल्ले पर सवार हो जाते और प्रेरणाओं से भर कर ही उतरते। रूस के प्रख्यात उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की के साहित्य को अमरता की घूँट उन यात्राओं ने ही पिलायी थी जिनमें वे

दुर्भाग्यवश भटकते और खाक छानते रहे पर जिनके अनुभवों की खमीर ने उन्हें दुर्लभ साहित्य-संपदा दी। फारसी के ख्यातनामा कवि शेख सादी की रचनाओं में उनकी यात्राओं का एक बड़ा हाथ है क्योंकि वे सदा ऐसी यात्राओं से अपनी काव्यानुभूतियों को सम्पुटित करते रहते थे। हिन्दी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, भगवतशरण उपाध्याय, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' आदि के महत्त्वपूर्ण साहित्य का बहुलांश यात्राओं का ही परिणाम है। त्रिपिटिकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के 'घुमक्कड़ शास्त्र', 'हिमालय परिचय', 'राहुल यात्रावली', 'यात्रा के पन्ने', और 'रूस में पच्चीस मास'; भगवतशरण उपाध्याय के 'वो दुनियाँ' तथा 'मैंने देखा'; अज्ञेय के 'अरे यायावर याद रहेगा' तथा 'एक टायर की राम-कहानी' जैसे ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं।

यात्रा करने की एक सहज इच्छा होती है। प्रतिभावान लोगों में तो यह इच्छा और भी उत्कट रूप में रहती है। बचपन में स्वामी विवेकानन्द की इच्छा होती कि वे घोड़ागाड़ी हाँकने का काम करते। इस रोजगार में सैर-सपाटा भी होता और रोजी भी चलती। सुनते हैं, किशोरावस्था में प्रेमचंद की उत्कट लालसा गार्ड बन जाने की थी।

यात्रा में अनुभव के अनमोल मोती मिलते हैं। आखिर जीवन भी तो एक यात्रा है। इस यात्रा में भू-यात्रा से बड़ी मदद मिलती है।

आधुनिक काल में भी, जब यातायात के द्रुतगामी साधन उपलब्ध हैं, कुछ पद-यात्राएँ भारतीय इतिहास में अमर हो गई हैं। गांधीजी की दांडी-यात्रा ने नमक-कानून तोड़ने के लिए जो तूफान खड़ा किया वह सैकड़ों सभाओं और लाखों उपदेशों से नहीं होता। इसी प्रकार बापू की नोआखाली-यात्रा ने हिन्दू-मुस्लिम-दंगे को अपूर्व ढंग से शांत किया था। इधर संत विनोबा की भूदान-यात्रा सर्वोदय का ऐतिहासिक अध्याय गढ़ रही है। ये यात्राएँ भारतीय इतिहास की चिरस्मरणीय घटनाएँ हैं।

हमारा प्रस्ताव है कि स्कूलों और कालेजों की शिक्षा-पद्धति में व्याख्यान-कक्षा, प्रयोग-कक्षा, अभ्यास-कक्षा आदि के साथ ही यात्रा-कक्षा की व्यवस्था

भी हो। हमारे छात्र यात्रा करें और देखें कि हमारा देश कितना बड़ा है, उसकी कैसी शोभा है, उसके दुःख कैसे हैं, उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं, उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं। अन्तर्प्रान्तीय भेदभाव, साम्प्रदायिक मनमुटाव और भाषासम्बन्धी मतभेद को मेटने के लिये भी विश्वविद्यालयों के पाठय-क्रम में यात्रा का समावेश आवश्यक है।

विज्ञापन

'सूर्य को दीप दिखाना' और 'चाँद पर थकना' ये दोनों मुहावरे पुराने हैं तथा इनका यह तात्पर्य भी सर्वविदित है कि जिस तरह सूर्य के दर्शन के लिए दीपक के प्रकाश की जरूरत नहीं होती उसी तरह किसी प्रसिद्ध अच्छी चीज के लिए विज्ञापन आवश्यक नहीं होता और जिस तरह चाँद पर थूकने-वाले के चेहरे पर ही थूक के छींटे पड़ जाते हैं उसी तरह किसी प्रमाणित अच्छी वस्तु के विरुद्ध प्रचार करनेवाले को मुँह की खानी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, अच्छी चीज विज्ञापन के बिना भी चलती है और बरी चीज लाख प्रचार करने पर भी नहीं चल पाती।

पर उपर्युक्त बातें सूर्य और चन्द्र जैसे लाखों वर्ष पुराने तथा दिन-रात करोड़ों लोगों के सामने नग्न होकर उपस्थित होनेवाले पदार्थों के लिए ही सही हैं। पर संसार में ऐसे पदार्थ बहुत थोड़े हैं और आदमी की आवश्य-कताएँ अनन्त हैं। यह भी किसी आदमी के लिए संभव नहीं कि वह अपनी आवश्यकता की हर चीज का व्यवहार करके सदा के लिए जान ले कि वह अच्छी चीज है या बुरी। एक बार इंगलैंड के एक लेखक किताबों की एक प्रसिद्ध दूकान पर गये। उन्होंने एक पुस्तक ली और पढ़ने के बाद उसे लौटाते हुए दुकानदार से कहा—'आपको पढ़कर पुस्तकें रखनी चाहिए। हमारा इतना समय बर्बाद हो गया।' दुकानदार ने बड़ी विनम्रता से कहा—

'महोदय, यदि आप दवाई की दुकान रखते तो क्या मैं उम्मीद करता कि आप हर दवाई को चख कर अपनी दुकान में रखते।' लेखक महोदय निरुत्तर हो गए। वस्तुतः यही दशा हर आदमी की है। वह प्रत्येक वस्तु का व्यवहार कर उसका गुण-दोष नहीं जान सकता। ऐसा करने के लिए न तो उसके पास समय है और ऐसा करना खतरे से खाली भी नहीं है। फलतः दूसरों से पदार्थों के गुण-दोष जानकर ही वह उनका व्यवहार करता है। इसलिए विज्ञापन समाज की एक आवश्यकता है। उसका उद्देश्य है व्यवहार की वस्तुओं के गुणों से भोक्ता को परिचित कराना।

हाँ, आजकल प्रायः विज्ञापन के सिद्धान्त का दुरुपयोग भी होता है। आप जानते होंगे कि पत्र-पत्रिकाएँ विज्ञापन के बल पर चलती हैं। खरीदारों से जो पैसे मिलते हैं वे इतने स्वल्प होते हैं कि उनके सहारे कोई भी पत्र वा पत्रिका नहीं चल सकती। विज्ञापन से ही असल पूँजी आती है। जिस पत्र को जितने अधिक विज्ञापन मिलते हैं उसकी आर्थिक स्थिति उतनी ही अच्छी समझी जाएगी। इसका नतीजा अच्छा नहीं होता। हर पत्र की अपनी नीति होती है। उस नीति के प्रतिकूल उसमें लेख आदि नहीं छपते। पर विज्ञापन के सम्बन्ध में कोई भी नीति नहीं बरती जाती। उदाहरण के लिए सम्पादकीय स्तम्भ में तो शृंगारिक साहित्य की निन्दा की जाती है पर पत्र के उसी अंक में अन्यत्र कोकशास्त्र, मदन-बटिका अथवा ऐसी ही गंदी चीजों के रंगीन विज्ञापन निस्संकोच भाव से छपे रहते हैं। पिछले महायुद्ध के समय डा० रामविलास शर्मा ने भारतीय पत्रकारों की इस विज्ञापन-नीति पर व्यंग करते हुए लिखा था—

"उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक ने इस युद्ध का काफी विरोध किया है। उसकी नजरों में ब्रिटेन और अमेरिका तो साम्राज्यवादी हैं ही, रूस भी युद्ध से लाभ उठाकर अपना साम्राज्य-विस्तार करने में लगा है।

यह राष्ट्रीय पत्र और पत्रों की तरह यह नहीं मानता कि इस लड़ाई में जनता की विजय हो रही है; लेकिन जन-युद्ध भले न हो, सरकारी जंग तो है ही! इसलिए सम्पादकीय कालमों में जहाँ 'जन-युद्ध' का विरोध छपता

है, वहाँ विज्ञापन के कालमों में सरकारी लड़ाई की तारीफ छपी रहती है। संगीन ताने हुए सिपाही, कनटोप लगाए हुए उड़ाके, नेशनल सेविंग्स सार्टि-:फकेट के नोटों की गड्डियाँ—इनके नीचे रिक्रूटिंग स्टेशन का पता या 'नेशनल वार फ्रांट द्वारा विस्तारित', यह इबारत आपको पढ़ने को मिल जायगी। पत्रकार और पत्र-संचालकों की न्याय-प्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? जन-युद्ध अलग, सरकारी लड़ाई अलग, दूध का दूध और पानी का पानी।

एक विज्ञापन के नीचे लिखा था—'स्वाधीनता के सैनिक'। ऊपर लिखा था 'पालसन्स बटर'। स्वदेशी और स्वाधीनता का कैसा कलात्मक प्रचार हुआ! बीस सम्पादकीय कालमों की कालिमा भी इस विज्ञापन की तुलना में ठहर सकती है? पता नहीं, हमारे पत्रकारों को पोलसन्स बटर मिलता है या नहीं; न मिलने पर उनके स्वाधीनता के सैनिक होने में सन्देह होने लगेगा। लेकिन एक दूसरे विज्ञापन में हाथ उठाए नौजवान दौड़ रहे हैं और लिखा है—'शक्ति अर्थात् सफलता'। नीचे लिखा है—'दालदा'। इस पत्र ने लिखा था। इस पत्र ने लिखा—'कांग्रेस-लीग एकता का नारा मूर्खतापूर्ण है'। इस ज्वलंत राष्ट्रीयता की तुलना दालदा से उत्पन्न होनेवाली शक्ति से ही की जा सकती है।

कहीं पुराने अखबारों का ढेर मिल जाय तो विज्ञापन के कालमों पर नजर दौड़ा जाइए और मानव-हृदय की चिरन्तनता में आपको विश्वास हो जाएगा। गंजे या बाल जमे हुए सिर, दर्द से या खुशी से खीसें निपोरे हुए चेहरे, लम्बे और नुकीले नाखूनों से मुँह खुरचते हुए 'स्नो' या 'क्रीम' के विज्ञापन जैसे पहले देखते थे, वैसे अब भी। सुन्दर और नयी उम्र की पत्नियों की जैसी जरूरत पहले थी, वैसी ही अब है। राष्ट्रीय साप्ताहिकों में अब भी नसें मजबूत करनेवाले तेल का विज्ञापन छपता जाता है।"

पर पत्र-पत्रिकाएँ ही क्यों, आज तो विज्ञान के असंख्य साधन हैं—हाथ-पर्चे, रेलवे-स्टेशन की दीवारें, ट्राम, बस, बिजली के अक्षर, रेडियो,

सिनेमा आदि। इन विज्ञापनों का व्यापक प्रभाव होता है। इनसे बच निकलना न सम्भव है, न बुद्धिमानी।

आप सिलोन-रेडियो हल्के गानों के मनोरंजन के लिए खोलते हैं पर उसका व्यापार-विभाग सरस गानों के बीच-बीच में तरह-तरह की सुरीली-तीखी आवाजों में नाना पदार्थों का विज्ञापन सुना जाता है।

आप सिनेमा देखने गए हैं। खेल शुरू होने के पहले समाचार-चित्रों को आप चाव से देखते हैं और तभी पर्दे पर किसी साबुन, किसी दवाई या किसी दांत-कूची का विज्ञापन करनेवाले बोलते चित्र गुजर जाते हैं।

आप शाम को बाजार करने निकले हैं। तभी आप देखते हैं कि आपके सामने एक ऊँचे मकान के मुरेड़े पर बिजली का एक छाता खुल और बंद हो रहा है, सिलाई का मशीन रंग-बिरंगे कपड़े सी रहा है, इत्यादि।

आप अखबार पढ़ रहे हैं। कोई दिलचस्प समाचार नहीं है। तभी आपकी नजर एक शीर्षक पर जाती है—'ईश्वर की माया

कहीं धूप, कहीं छाया।'

बगल में एक हाथ में झाड़ू और दूसरे हाथ में एक नया कोट लिए हुए एक नौकर की तस्वीर है। नीचे लिखा है—'कलतक यह कोट मेरा न था पर आज इस पर सम्पूर्ण मेरा अधिकार है, क्योंकि मेरे मालिक ने इसे सिलवाया तो उत्कृष्ट दर्जी से पर कपड़ा खरीदते वक्त उस पर 'सेन्फोराइज्ड' की छाप देखने का कष्ट नहीं उठाया। काश, मेरे मालिक हमेशा ऐसी गलती करते रहें, उनके कपड़े हमेशा ऐसे ही सिकुड़ते रहें ताकि मुझे हमेशा ऐसे कोट मिलते रहें।'

आप पद्यात्मक पंक्तियों से अपनी थकान मिटाना चाहते हैं और पाते हैं कि वह समूचा पद्य थंडर ताले पर लिखा है।

आप स्कूल का चित्र देखते हैं और पाते हैं कि स्कूल के शिक्षक कह रहे हैं—'हमें किसी को यह नहीं सिखाना पड़ता कि बुकबाँड के हर पैकेट से अधिक प्याले अच्छी चाय बनती है।'

आप चाहे इन विज्ञापनों का ध्यान न रखें या कभी इन पर झुंझला भी उठें किन्तु आपके अचेतन मन पर इनका असर पड़ कर रहता है।

आज का विज्ञापनदाता इस मानव-मनोविज्ञान को खूब समझता है। इसलिए आज की विज्ञापन-कला अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक होती जा रही है। कभी-कभी तो निषेधात्मक विज्ञापन भी छपता है क्योंकि इससे विधेयात्मक विज्ञापन से भी अधिक लाभ होता है। उदाहरण के लिए किसी शृंगारिक पुस्तक के बारे में यह विज्ञापन छपेगा—'इसे बच्चे और स्त्रियाँ न पढ़ें। केवल वयस्कों के लिए।' नतीजा होगा कि सभी उसे पढ़ने लगेंगे।

एक बार ब्रिटेन के एक नए लेखक ने एक मोटा-सा उपन्यास लिखा। पर उस असफल उपन्यास की बिक्री नहीं हुई। तब उसके प्रकाशक ने एक उपाय किया। उसने हजारों लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों को इस आशय के पत्र भेजे कि यह उपन्यास आपको अच्छा लगेगा क्योंकि इसके पात्रों में आप भी हैं। हाँ, इसमें कहीं-कहीं आपकी बुराई भी की गई है। बस क्या था, महीना बीतते न बीतते उसके तीन संस्करण समाप्त हो गए।

संक्षेप में, आज का यग विज्ञापन का युग है। आज कोई भी अच्छी चीज विज्ञापन के अभाव में पिछड़ जाएगी। अच्छी से अच्छी पुस्तकों के लिए विज्ञापन आवश्यक है। कहावत है—ललाट से भी बढ़कर मलाट (पुस्तक का आवरण) है। इसलिए वाणिज्य-व्यापार में ही नहीं अन्य संस्थानों में भी जन-सम्पर्क-अधिकारी और प्रचार-विभाग रहते हैं।

हाँ, इस बात की आवश्यकता है कि विज्ञापन सच्चे हों। आज धोखेबाजों और नक्कालों की भीड़ लगी हुई है। राज्य-सरकारों की ओर से यदि रोक-थाम हो और विशेषज्ञों द्वारा समर्थित पदार्थों को ही विज्ञापित होने का अधिकार दिया जाय तो बड़ा लाभ हो।

——o——

भिखारियों की समस्या और निदान

वेश्यावृत्ति और भिखारी-वृत्ति से बढ़कर किसी देश के लिए कोई दूसरा कलंक नहीं हो सकता। किसी भी समाज में वेश्याओं और भिखारियों का

रहना इस बात का सूचक है कि उसका ढाँचा सड़ा हुआ है और उसके जीवन में उसके प्राणतत्त्व को खानेवाले सांघातिक कीटाणु लगे हैं।

स्वभावतः भारत के विभिन्न राज्यों और नगरपालिकाओं ने उपर्युक्त वृत्तियों के विरुद्ध कानून बनाये हैं। वेश्यावृत्ति-निरोध की योजना तो सफल हो चली है। बड़े-बड़े शहरों से इस वृत्ति का उन्मलन हो गया है और इस वृत्ति को सदा के लिए छोड़ देनेवाली स्त्रियों के पुनर्वास की व्यवस्था हो रही है। पर भिखारी-वत्ति अब भी मुँह वाये खड़ी है और हमारी राष्ट्रीय चेतना के लिए एक जलती हुई चुनौती बनी है।

वेदों में भिक्षुक शब्द नहीं मिलता। भिक्षा शब्द अथर्ववेद में आया है जिसका अर्थ मैकडानेल और कीथ ने याचना से प्राप्त जीविका लगाया है। धर्म के क्षेत्र में भिक्षुक शब्द का प्रचलन बौद्धकाल में हुआ। पर तब भिक्षा का तात्पर्य दानी को सम्मान देना था। तात्पर्य यह कि भिखारी-वृत्ति वैदिक काल में नहीं थी। वर्णाश्रम-व्यवस्था में धार्मिक भिक्षुओं का सम्मानपूर्ण स्थान था। भिक्षुक बनने का तात्पर्य साधना का कठिनतम जीवन अपनाना था। ये निस्पह साधक समाज के सबसे ज्ञानी लोग थे और उनका उद्देश्य प्राणधारण भर का साधन लेकर समाज को अपनी समस्त साधना का वरदान देना था। पर कालक्रम से इस वर्णाश्रम-व्यवस्था का अधःपतन हुआ। सभी आश्रमों की नैतिकता गिर गई। संन्यासी या भिक्षुक के नाम पर ठग और उचक्के धर्मभीरु समाज को लूटने लगे। ढोंग बढ़ गया। फलतः ऐसे भिक्षुओं का सम्मान भी कम हो गया। उधर सम्मिलित परिवार की प्रथा जब तक भारत में दृढ़ थी तब तक परिवार के रोगी, पंगु और असमर्थ सदस्यों के निर्वाह का दायित्व समूचा परिवार उठाता था। अतः किसी भी हालत में किसी के लिए भिखारी बनने का प्रश्न ही नहीं उठता था। पर भारत का विश्वप्रशंसित यह सम्मिलित परिवार भी बिखरने लगा। देश में सामंती व्यवस्था ने सर उठाया। अजीब वातावरण पैदा हुआ। सामंत भूमि के स्वामी थे। वे काम नहीं करते थे और सबसे ज्यादा सुख भोगते थे। उनके कारिन्दों का भी यही हाल था। वे कमानेवालों को नोचकर सुख लूटते

थे। गुणियों का वर्ग सामंतों की विरुदावली गाकर जीता था। वणिक् वर्ग उत्पादित वस्तुओं का व्यवसाय ही नहीं करता था बल्कि महाजन बनकर सूद के नाम पर उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा यों ही ले लेता था। उत्पादकों का केवल एक् ही वर्ग था—किसान या खेतिहर-मजदूर। इसी वर्ग पर उपर्युक्त चार भोक्ता वर्गों का भार था। यह भार इतना बढ़ा कि निम्न श्रेणी के लोगों के सम्मिलित परिवार चर-चूर होकर बिखर गए। कहाँ तो घर में बूढ़ों का आदर होता था और कहाँ अब वे दाने-दाने के लिए मुँहताज होने लगे। बेटियाँ बिकने लगीं। विधवाओं के लिए घर में जगह तंग होने लगी। बूढ़ियाँ दरवाजे के बाहर हो आँचल पसारने लगीं। अंधे, गूंगे, लंगड़े, अनाथ आदि का तो कहना ही क्या। इस प्रकार भिखमंगों की टोलियाँ, सामंती व्यवस्था के अभिशाप-स्वरूप, मंदिरों के पास, तीर्थस्थानों में, राजपथों पर दयालु-श्रद्धालु-धर्मालु व्यक्तियों के चारों ओर जमा होने लगीं। मुट्ठीभर अन्न या पैसा-दो-पैसा या फटा-पुराना कपड़ा देकर अपने सौ-सौ पापों से मुक्त होकर परलोक बनानेवाले लोगों को इनकी झोलियों में कुछ रखते बड़ा मजा आता। ऐसी बरकत देखकर समाज के बेकार, कामचोर और आलसी पर हट्ठे-कट्ठे लोग भी यह पेशा करने लगे। अंधों और अपाहिजों के साथ छोटे-छोटे बच्चे भी घूमने लगे। सबसे खतरनाक बात यह हुई कि देश में पुश्तैनी पेशेवर भिखारी पैदा हो गए जो अपने बालबच्चों से भी यही काम कराते। पतन की यह चरम सीमा है।

और आज स्थिति इतनी भयावह है कि भारत में भिखमंगों की संख्या तीस लाख पहुँच गई है। इस देश में सात लाख अंधे, एक लाख पागल, ढाई लाख गूँगे-बहरे और डेढ़ लाख कोढ़ी भिखमंगे हैं। इनके अतिरिक्त शरीर से अपंग, गृहहीन वृद्ध एवं बालक, असमर्थ बेकार तथा सांघातिक रोगों से पीड़ित लोगों की भी एक बड़ी संख्या भिक्षा-वृत्ति पर जीवन-यापन करती हैं। ये ऐसे अभागे लोग हैं जिनके लिए स्वराज्य का कोई मतलब नहीं है।

पर भिखारियों का एक दूसरा दल भी है। इसमें सक्षम-समर्थ शरीरवाले कामचोर या भिक्षा-वृत्ति को एक रोजगार समझनेवाले सयाने लोग हैं, भीख

से पैसा कमानेवाले किशोर या बालक हैं तथा धर्म के नाम पर भीख मांगनेवाले व्यक्ति हैं। समर्थ शरीरवाला यह दूसरा दल बहुत खतरनाक और देश के लिए विशेष चिंता का कारण है। इस दल में ठग और उचक्के भी होते हैं। इस दल का एक विशेष रोजगार है छोटे-छोटे बच्चों से भीख मँगवाना क्योंकि ये छोटे बच्चे राहगीरों की संवेदना जगाने में अधिक सफल होते हैं। ऐसे बच्चे आगे चलकर बड़े-बड़े अपराधों में पकड़े गए हैं। इधर के अनुसन्धानों से ऐसी बातों का पता चला है जिनके सुनने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह प्रमाणित हुआ है कि भिखारी बनाने के लिए बच्चे उड़ाये और बेचे जाते हैं। इन बच्चों को विकलांग भी कर दिया जाता है ताकि वे लोगों की करुणा के पात्र हो सकें। इससे घृणित और दयनीय बात क्या होगी। इस प्रक्रिया में अनेक बच्चों की जान तक चली गई है।

भिखारी-वृत्ति के कई कारण हैं जैसे—(१) दरिद्रता, (२) आर्थिक उन्नति के बिना ही जनसंख्या में अपार वृद्धि, (३) अशिक्षा और अज्ञान जिनके कारण देश के विशाल समुदाय में सामाजिक चेतना जग नहीं पाती, (४) दान देकर पुण्य लूटने का धार्मिक संस्कार (यही संस्कार है जिसके कारण पन्द्रह हजार भिखारी प्रतिदिन एक रुपया कमा लेते हैं) तथा (५) देश में गृहविहीन असमर्थ जनों के लिए आश्रय-गृहों तथा वित्तहीन रोगियों के लिए दातव्य चिकित्सालयों का अभाव।

अधिकांश भिखारी गाँव में जन्म लेते और शहरों में पलते हैं। फलतः भिखारी-समस्या का निदान गाँव और शहर दोनों के क्षेत्रों में करना होगा।

फिर समर्थ और असमर्थ भिखारियों के लिए अलग-अलग उपाय होंगे। समर्थ भिखारियों को कानून से रोका जाएगा और असमर्थ भिखारियों के पुनर्वास की व्यवस्था होगी।

देश की राज्य-सरकारों, निगमों, नगरपालिकाओं तथा अन्य संस्थाओं ने इस सम्बन्ध में अनेक योजनाएँ उपस्थित की हैं। अब भीख मांगना कानून की दृष्टि में अपराध है। १५ फरवरी १९४१ से कानून बनाकर रेलवे-आहातों में भिखमंगी बन्द कर दी गई है। बिहार, बंगाल, बम्बई, मद्रास ने

एक विशेष कानून बनाकर सार्वजनिक स्थानों में भिखमंगी को अवैध करार दिया है। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के पुलिस कानून में भिखमंगी के विरुद्ध दंड का विधान भी है।

इधर भिखारियों के पुनर्वास के लिए उद्योग भी हो रहे हैं। जगह-जगह इन्हें बसाने और रोजगार में लगानेवाली संस्थाएँ कायम हुई हैं। बम्बई में १८ तो प्रमाणित संस्थाएँ हैं जिनमें दो हजार भिक्षार्थियों की जगह है। बंबई के वर्ली और चेम्बूर केन्द्र काफी प्रसिद्ध हो चके हैं। 'केन्द्रों में आ जाने पर भिखारियों की व्यक्तिगत स्थिति का अध्ययन होता है और फिर उन्हें मझगांव, कुर्ला, थाना, विखरोली या कल्याण की अदालतों में से किसी एक में भेजा जाता है। विशेषज्ञों द्वारा पेश की गई रिपोर्टों के आधार पर या तो इन्हें मुक्त कर दिया जाता है या फिर भिखारी-वासों में दाखिल कर दिया जाता है जहाँ इनके पुनर्वास का प्रयत्न किया जाता है। बम्बई राज्य में ऐसे उन्नीस भिखारी-वास है, जिनमें बारह को सरकार चलाती है और शेष खानगी संगठनों द्वारा चलाये जाते हैं। साथ ही पाँच चिकित्सालय हैं, तीन कोढ़ी-खाने हैं, दो अंध-निवास हैं, दो पंगु-निवास हैं और स्वस्थ-समर्थ भिखारियों की सात संस्थाएँ हैं जिनमें दो नागरिक इलाकों में हैं और पाँच दिहाती इलाकों में। ये सारे भिखारीवास बम्बई राज्य में —अहमदनगर, अहमदाबाद, पूना, थाना और अन्य स्थानों में फैले हुए हैं। इनमें भिखारियों को दर्जीगीरी, सुनारी, लुहारी, बुनकरी, चमड़े और बांस का काम तथा 'डेयरी कीपिंग' आदि कला-कौशल सिखाये जाते हैं।'—वी०

पश्चिमी बंगाल में पाँच भिखारी-निवास हैं जिनमें उन्नीस सौ भिखारियों के लिए जगह है। मद्रास, केरल तथा अन्य स्थानों में भी ऐसे निवास हैं।

पर ये प्रयत्न तो छिटपुट जैसे हैं। भिखारी-वृत्ति-निवारण की एक केन्द्रीय नीति एवं एक सुनिश्चित योजना होनी चाहिए। समाज की भी नीति यह होनी चाहिए कि दान समर्थ भिखारियों को न देकर भिखारियों के पुनर्वास की योजनाओं में संलग्न संगठनों को दे। जनतांत्रिक सरकार, कल्याण-

राज्य तथा समाजवादी सामाजिक ढाँचे की हमारी कल्पना तभी सार्थक एवं साकार होगी जब देश में एक भी भिखारी नहीं होगा।

मानव की स्वाभाविक आवश्यकता और उनकी सहज पूर्ति

मानव-मात्र को नित नव रस, अमरत्व, एवम् सामर्थ्य की आवश्यकता स्वाभाविक है। स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः हमारी जो स्वाभाविक आवश्यकता है, उसकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है। ऐसा तभी संभव है, जब पर से विमुख होकर जो नित्य प्राप्त है उसका वोध हो, अथवा उससे प्रीति हो। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो नित्य प्राप्त है उसका वोध क्यों नहीं होता? उससे प्रीति क्यों नहीं होती? तो, कहना होगा कि पर की ओर गतिशील होने से ही जो नित्य प्राप्त है उससे दूरी प्रतीत होने लगती है, यद्यपि नित्य प्राप्त से देशकाल की दूरी सम्भव नहीं है, परन्तु प्रमादवश हम उसे अपने से दूर मान लेते हैं, कारण कि प्रतीति की ओर गतिशील हो जाते हैं। प्रतीति की ओर प्रवृत्ति तो होती है, पर उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीति की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी प्रतीति कैसे होती है? तो, कहना होगा कि अल्प ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मान लेने से उस अनन्त-नित्य सत्ता में ही राग के अनुरूप प्रतीति होती है। जिस काल में वैराग्य राग को खाकर स्वयं विलीन हो जाता है, उसी काल में अनन्त, नित्य, चिन्मय तत्त्व से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् उसका बोध हो जाता है और फिर प्रतीति में सर्वत्र उस अनन्त का ही दर्शन होने लगता है, जो नित्य प्राप्त में प्रीति उत्पन्न करने में समर्थ है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल

तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान-विज्ञान में और प्रीति प्रियतम में विलीन होती जाती है। अथवा यों कहो कि जिस प्रकार नदी समद्र में अभिन्न होने पर भी गतिशील रहती है, उसी प्रकार प्रीति प्रियतम से अभिन्न रहने पर भी नित नव रहती है। इसी कारण प्रीति नित नव रस प्रदान करती है। नित-नव-रस की न तो पूर्ति होती है और न अभाव। इस विलक्षणता से ही प्रीति प्रियतम को और प्रियतम प्रीति को नित्य प्रिय है।

अल्प ज्ञान में सद्भाव होने से राग की उत्पत्ति होती है और निज विवेक से वैराग्य का उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश स्वयं विलीन हो जाता है, उसी प्रकार वैराग्य में राग विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि इन्द्रियों का ज्ञान निजज्ञान में विलीन हो जाता है और फिर भोग-वासना की निवृत्ति और योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। योग का वास्तविक अर्थ है 'पर' से विमुख 'स्व' में स्थित होना, अथवा यों कहो कि विषयों से विमुख होकर जो अपने अत्यन्त निकट है उससे तद्रूप होना। यह नियम है कि अत्यन्त निकट से मिलने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं होता, उसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता उसकी नित्य प्राप्ति सिद्ध होती है।

प्राप्त की प्रीति और अप्राप्त की विमुखता ही नित्य-योग प्राप्त कराने में समर्थ है। अप्राप्त की विमुखता का अर्थ है संयोग में वियोग का अनुभव। यदि संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लिया जाय, तो संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही अपने ही में अपने प्रियतम का बोध होता है, अर्थात् अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस जीवन का नाम ही अमर जीवन है।

अप्राप्त की विमुखता अमर जीवन से अभिन्न करती है और नित्य प्राप्त की प्रीति प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद में निरन्तर प्रेम का ही आदान-प्रदान रहता है। यह तभी संभव होगा

जब प्रेमी और प्रेमास्पद में किसी प्रकार का भेद न रहे, अर्थात् एक होकर दो हों। तभी परस्पर में प्रेम की क्रीड़ा होती है। यह सभी को मान्य होगा कि भेद मिटाने में विवेक ही समर्थ है और मोह की नियृत्ति में भी विवेक ही समर्थ है। मोह की निवृत्ति होने पर ही प्रेम का उदय और अविवेक मिटाने पर ही स्वरूप की एकता होती है। इस दृष्टि से निज-विवेक का आदर, स्वरूप से एकता और प्रेम के उत्पादन का हेतु है।

विवेक का आदर जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न करता है और असत् का त्याग सत् से अभिन्न करता है। यह नियम है कि असत् से सम्वन्ध-विच्छेद होते ही दुःख सदा के लिए आनन्द में विलीन हो जाता है। आनन्द का अर्थ है, जिसका कभी त्याग न हो सके। जिसका त्याग नहीं हो सकता वह ही सत् है और जो अपने को आप प्रकाशित करे वही चित् है। यह तीनों विशेषण किसी एक में ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो सर्वदा-सर्वत्र है, वही सत् है, उसका त्याग हो ही नहीं सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता, उसी में अपार आनन्द है और सत् अपने को प्रकाशित करने में आप ही समर्थ है। अतः वही चित् है। इस दृष्टि से सत् में ही चित् तथा आनन्द की सिद्धि होती है। जिस प्रकार असत् में ही जड़ता तथा दुःख की प्रतीति है, उसी प्रकार सत् में ही चित् और आनन्द की अनुभूति है। अनुभूति का अर्थ यह नहीं है कि यह तीनों किसी और से प्रकाशित हैं, क्योंकि स्वयं प्रकाश कभी दो हो ही नहीं सकते।

अब विचार करना है कि प्रेम का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो, कहना होगा कि प्रेम में किसी प्रकार की चाह तथा भोग की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि चाह तथा भोग से तो अहम् भाव की पुष्टि होती है और अहम् भाव की पुष्टि से ही भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही अनेक प्रकार के राग-द्वेष तथा वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु, जब विचार की अग्नि अहम् भाव को भस्म कर देती है, तब स्वतः प्रेम की गङ्गा लहराने लगती है। इतना ही नहीं, अहम्भाव के मिटते ही निर्गुण का बोध और प्रेम का उदय स्वतः सिद्ध है। यह प्रेम की महिमा है कि निर्गुण में अनन्त दिव्य

गुणों का दर्शन होता है और यह ज्ञान की महिमा है कि अनन्त गुणों में निर्गुण का बोध होता है। इस दृष्टि से किसी एक में ही निर्गुण तथा सगुण का समावेश है। अतः प्रेम और ज्ञान में स्वरूप से भेद नहीं है, केवल रस का भेद है, क्योंकि सभी का लक्ष्य एक है, तत्त्व एक है, दो नहीं। यदि ज्ञान दो को एक करने में समर्थ है, तो प्रेम एक को दो करने में समर्थ है। एक में दो और दो में एक यह उस अनन्त में ही है, किसी अन्य में नहीं। अतः योग, ज्ञान और प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं और कुछ नहीं। योग के बिना सामर्थ्य, ज्ञान के बिना जीवन और प्रेम के बिना आनन्द की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः मानव-मात्र को योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त करना अनिवार्य है। इन तीनों में से किसी एक की पूर्णता तीनों की पूर्णता हो जाती है। इन तीनों के स्वरूप में भेद नहीं है, केवल साधन-भेद है। साधन-भेद होने पर भी प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है। अतः हम सब किसी भी साधना को अपनाकर अपने को साधन से अभिन्न कर साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्ति सभी की एक है, क्योंकि हम सब की आवश्यकता एक है।

सारांश यह निकला कि प्रत्येक साधक की योग्यता एवं रुचि के अनुसार साधन में भेद होने पर भी परस्पर में प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है, जो वास्तव में मानवता है।

चरित्र निर्माण

चरित्र-निर्माण मानव-जीवन में एक महान् बल है। उसकी आवश्यकता मानव-मात्र को है। उसके बिना मानव मानव नहीं हो सकता। वीतराग होने में ही चरित्र-निर्माण की पराकाष्ठा है और वीतराग होने में ही पूर्ण मानवता का विकास है। चरित्र-निर्माण में ही अपना कल्याण तथा समाज

का हित निहित है। इस दृष्टि से चरित्र-निर्माण जीवन का आवश्यक अंग है।

चरित्र-निर्माण वास्तव में अन्तर प्रेरणा है, क्योंकि किसी को भी चरित्र-हीन की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से समाज को एक-मात्र चरित्रवान व्यक्ति की ही आवश्यकता है। इतना ही नहीं, अपनी निर्बलताएँ मिटाने में भी सच्चरित्रता ही समर्थ है।

चरित्र को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, किन्तु चरित्र किसी के बदले में नहीं दिया जा सकता। अतः चरित्र का महत्त्व शरीरादि सभी वस्तुओं से अधिक है। चरित्र-निर्माण करने में जिते-न्द्रियता अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि इन्द्रिय-लोलुपता के कारण ही हम चरित्र-हीन हो जाते हैं। मुक्त इच्छाओं के रस की स्मृति और अमुक्त इच्छाओं की आशा ही इन्द्रिय-लोलुपता को पुष्ट करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन में उत्पन्न हुई नीरसता को दबाने तथा भुलाने के लिये प्राणी इन्द्रिय-लोलुपता का आश्रय लेता हैं, यद्यपि नीरसता मिटाने के लिये नित-नव रस की आवश्यकता है, चरित्रहीनता की नहीं। नित-नव रस की प्राप्ति प्रीति से होती है, किसी सुख-भोग से नहीं। प्रीति की उत्पत्ति अचाह से होती है, किसी राग से नहीं। अचाहपद की प्राप्ति विवेक से होती है, जो मानव-मात्र में विद्यमान है।

उस विद्यमान विवेक के प्रकाश में ही हमें अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति देखना है। ऐसा करने से हमें अपनी निर्बलताओं का तथा अपने बनाये हुए दोषों का ज्ञान हो जायगा। अपनी निर्बलता का ज्ञान वेदना जागृत करने में समर्थ है। यदि उस वेदना को पर-दोष दर्शन से दबाया न जाय, तो वेदना स्वतः सब ही दोषों को भस्मीभूत कर निर्दोषता की स्थापना में समर्थ हो जाती है और फिर निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती। इस दृष्टि से वेदना और दोषों का न दोहराना ही निर्दोष बनाने का मुख्य हेतु है।

वेदना और दुख में अन्तर है। वेदना अभाव मिटाने की पीड़ा है, अथवा यों कहो कि वेदना मानव की वास्तविक भूख है। दुख के दो रूप हैं; एक

तो सुख-भोग की आशा और दूसरा सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की अभिलाषा। दुख का वाह्य रूप पूर्ण दुख नहीं है। दुख का आन्तरिक रूप जो वेदना के रूप में जागृत होता है, मानव के विकास की भूमि है। यह भूमि सुरक्षित तब ही रह सकती है, जब हम अपने लक्ष्य से निराश न हों।

वेदना जागृत होने पर एक आन्तरिक गहरी मांग उत्पन्न होती है, जो वास्तव में प्रार्थना है। प्रार्थी उस अनन्त को भले ही न माने अथवा न जाने तो भी वह अनन्त अपनी अहैतुकी कृपा से प्रार्थी की प्रार्थना की पूर्ति कर देता है, किन्तु अपने को प्रकट नहीं करता। यह उस अनन्त की महिमा है और कुछ नहीं। यदि प्राणी व्यथित हृदय से उन्हें पुकारे, तो उसे सब कुछ मिल सकता है। इस दृष्टि से अपने को निर्दोष बनाने में प्रार्थना का मुख्य स्थान है। वह प्रार्थना सजीव तब ही होती है, जब कि हुई भूल को न दोहराकर प्रायश्चित्तपूर्वक प्रार्थना की जाय। यदि किसी का प्रार्थना पर विश्वास न भी हो, तो कहना होगा कि जिस प्रकार प्यास का लगना ही पानी का माँगना है, उसी प्रकार अभाव की वेदना ही प्रार्थना है। प्रार्थना का अर्थ दीनता तथा पराधीनता नहीं है, प्रत्युत अपने में वास्तविक आवश्यकता की जागृति है, अथवा यों कहो कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्रीति है।

चरित्र-निर्माण के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम विवेक तथा न्याय का प्रयोग अपने पर तथा विश्वास, क्षमा और प्रेम का उपयोग दूसरों पर करें। विवेक से दोष का ज्ञान होगा और न्याय से निर्दोषता की स्थापना होगी। न्याय वही सार्थक होता है जो अपने पर किया जाय। न्याय का अर्थ दण्ड देना नहीं, अपितु सुधार करना है। अतः अपना सुधार करना ही अपने प्रति न्याय करना है। ज्यों-ज्यों अपना सुधार होता जाता है, त्यों-त्यों न्याय प्रेम में, क्रोध क्षमा में, अविश्वास विश्वास में, वैर-भाव निर्वैरता में और भिन्नता एकता में बदलते जाते हैं। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, वही दूसरों के प्रति प्रेम नहीं कर सकता। प्रेम को विकसित करने के लिये अपने

प्रति न्याय करना अनिवार्य है। वास्तविक न्याय करने के लिये यह आवश्यक है कि दोष का यथार्थ ज्ञान हो। जितना ज्ञान हमें अपने दोष का होता है, उतना अन्य के दोष का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविक न्याय अपने पर ही किया जा सकता है, दूसरों पर नहीं। दूसरों से प्रेम तो किया जा सकता अथवा दूसरों को क्षमा किया जा सकता है। क्षमा और प्रेम, निर्वैरता और अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। निर्वैरता हमें निर्भय बना देती है और अभिन्नता नीरसता का अन्त कर सरस बना देती है, जो सभी को अभीष्ट है।

चरित्र-निर्माण के लिये हमें इन्द्रिय-लोलुपता को जितेन्द्रियता में और स्वार्थ-भाव को सेवा में तथा विषय-चिंतन को भगवद्चिंतन में परिवर्तित करना तथा असत् को असत् जानकर सत् की खोज करना अनिवार्य हो जाता है। यह नियम है कि सत् की खोज असत् को खाकर सत् से अभिन्न कर देती है। सत् स्वयम् तो असत् का प्रकाशक है, विनाशक नहीं, किन्तु सत् की खोज असत् की विनाशक है। इस दृष्टि से सत् की खोज सत् से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है; क्योंकि सत् की खोज ही सत् के अभिलाषी को सत् से अभिन्न कर देती है। परन्तु, व्यर्थ चिन्तन की आसक्ति सत् की खोज जागृत नहीं होने देती। सत् की खोज जागृत करने के लिये व्यर्थ चिन्तन को सार्थक चिन्तन में अर्थात् वस्तु आदि के चिन्तन को भगवद्चिन्तन में बदलना अनिवार्य होगा। व्यर्थचिन्तन को सार्थक चिन्तन में परिवर्तित करने के लिये स्वार्थ-भाव तथा इन्द्रिय-लोलुपता को सेवा-भाव तथा जितेन्द्रियता में बदलना होगा, तभी हम अपना निर्माण कर सकेंगे।

अपने निर्माण को सुरक्षित रखने के लिये अक्रोध तथा हृदय-शीलता एवं निरभिमानता अत्यन्त आवश्यक है। क्रोध-रहित होने के लिये यह अनिवार्य होगा कि हम दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार न मानें। अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्त्तव्य मानें, क्योंकि यदि किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मान लेंगे तो उसकी पूर्ति में राग तथा अपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध सभी दिव्य गुणों को भस्मीभूत कर देता है। अतः क्रोधरहित

होने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार न मानें। हृदयशील रहने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अपने प्रति होनेवाली उदारता को अपना गुण न मानें, अपितु जिसने उदारता की है, उसकी महानता जानें। ऐसा करने से हृदयशीलता सुरक्षित रहेगी। हृदयशीलता सुरक्षित रहने से परस्पर में स्नेह की वृद्धि होगी, जो विकास का मूल है। वह विकास तव ही सुरक्षित रह सकेगा, जब किसी की निर्बलता को अपना बल न मान लिया जाय। जब हम प्रमादवश किसी की निर्बलता को अपना बल मान लेते हैं, तब अभिमान में आबद्ध हो जाते हैं, जो ह्रास का मूल है।

अपने निर्माण के लिये कर्म शुद्धि का जीवन में मुख्य स्थान है। पर, वह तब ही संभव होगा, जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ तथा सम्बन्ध शुद्धभाव से भावित हों, अर्थात् हम सभी को अपना कुटुम्ब जानें। इतना ही नहीं, कर्म का भेद होने पर भी प्रीति का भेद न हो। कर्म की भिन्नता तो अनिवार्य है; क्योंकि योग्यता तथा मान्यता का भेद है। परन्तु, स्नेह की भिन्नता महान् दोष है। उसका अन्त किये विना सच्चरित्रता संभव नहीं है। स्नेह की भिन्नता मिटाने के लिए हमें सभी के प्रति परिवार के समान ही सद्भाव रखना तथा संबोधन करना होगा। यह सभी को मान्य होगा कि भाव के अनुरूप सम्बोधन करने से भाव में दृढ़ता आती है और भाव के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के अनुरूप ही कर्त्ता का स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीवन पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। अतः वाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता सुरक्षित रखना चरित्रवान होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि सच्चरित्रता सुरक्षित रखने के लिए हृदय सर्वदा असीम स्नेह से भरा रहे। यह तभी संभव होगा जब हम अपने निकट-वर्तियों की क्रियात्मक रूप से यथाशक्ति सेवा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहें, कारण कि सेवा स्वार्थ को खाकर स्नेह की वृद्धि करने में समर्थ है। अतः स्नेह को सुदृढ़ तथा विभु करने के लिए प्राप्त सुख का सद्व्यय निर्मोहतापूर्वक कर्त्तव्यबुद्धि से करते रहना चाहिए जो वास्तव में सेवा है।

सेवा करने की योग्यता तभी आती है, जब हम स्वावलम्बी हों और स्वावलम्बी वे ही हो सकते हैं, जिनका आहार-विहार सुख-लोलुपता को त्याग शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हित की भावना से हो। सुख और हित में बड़ा भेद है। सुख की आसक्ति हमें पराधीन तथा निर्बल बनाती है और हित हमें स्वाधीन तथा सबल बनाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति में सुख बुद्धि का त्याग और हित-बुद्धि की स्थापना करना अनिवार्य है। सुखकर प्रवृत्ति से चरित्रहीनता तथा हितकर प्रवृत्ति से सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है, कारण कि सुख हमें आलस्य तथा विलास की ओर और हित हमें श्रम तथा संयम की ओर गतिशील करता है। सुख से दुख दब जाता है और हित से दुख मिट जाता है। दुख मिटाना सभी को अभीष्ट है। अतः सुख-लोलुपता को त्याग सर्वहितकारी भावना से प्रत्येक प्रवृत्ति करना चाहिए जो चरित्र-निर्माण के लिये महामंत्र है।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि शरीर श्रमी हो, कारण कि शरीर के श्रमी होने से आवश्यक कार्य पूरे हो जाते हैं और अनावश्यक कार्य मिट जाते हैं। अनावश्यक कार्य मिटते ही मन संयमी हो जाता है; मन के संयमी होने पर बुरे संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प पूरे हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों संयम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का सुख मिटता जाता है। संकल्प-पूर्ति का सुख मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। मन के निर्विकल्प होने पर स्वतः विचार का उदय होता है और फिर बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि वासनाओं के मिटाने में समर्थ है। वासनाओं के मिटते ही हृदय अनुरागी हो जाता है। यह नियम है कि अनुराग अहं भाव को अभिमान-शून्य कर देता है, क्योंकि अनुराग का प्रादुर्भाव होते ही किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। अचाह हो जाने पर अहम्भाव स्वतः गल जाता है। अहंभाव के गलते ही जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती और हृदय अनुरागी एवम् अहम् अभिमान-शून्य करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है।

अपनी सुन्दरता सुरक्षित रखने के लिए यह सभी को मान्य होगा कि सत्य को जीवन में सभी से उत्कृष्ट स्थान देना चाहिए। यह तभी संभव होगा कि जब हम अपने को सिक्के की दासता से मुक्त कर सकें। सिक्के ने ही आलस्य, विलास तथा अभिमान को जन्म दिया है, जिससे चरित्रहीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला, जो सुन्दरता को सुरक्षित नहीं रहने देती। यद्यपि सिक्के का जीवन में कोई विशेष मूल्य नहीं है, वह केवल आदान-प्रदान का साधन, अर्थात् माध्यम-मात्र है। इस दृष्टि से सिक्का वस्तु-उत्पादन का साधन मात्र है और कुछ नहीं। वस्तु का उत्पादन सिक्के को संग्रह करने के लिये नहीं है, प्रत्युत व्यक्तियों की रक्षा के लिये है और व्यक्ति का जीवन विवेकपूर्वक सत्य को प्राप्त करने के लिये है, कारण कि असत् का त्याग सत् की प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक एवं विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है जो चरित्र-निर्माण में हेतु है। इतना ही नहीं, सच्चरित्र होने के लिये व्यर्थ चिन्तन का त्याग तथा वर्तमान का सदुपयोग करना अत्यन्त अनिवार्य है। वर्तमान के सदुपयोग का अर्थ है सुख-दुख का सदुपयोग और व्यर्थ चिन्तन के त्याग का अर्थ है सार्थक चिन्तन, अर्थात् तत्त्व-चिन्तन एवं भगवद्चिन्तन का उदय होना। सुख का सदुपयोग उदारता और दुख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर प्राणी सुख-भोग के बन्धन से मुक्त हो जाता है और विरक्ति आ जाने पर आत्म-अनुरक्ति अथवा परम प्रेम की जागृति स्वतः होती है, जिसके होने से जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से सम्पन्न हो जाता है अथवा यों कहो कि सब प्रकार के अभावों का अभाव होकर पूर्ण हो जाता है अथवा कहो कि जीवन जड़ता, पराधीनता, शक्ति-हीनता आदि दोषों से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय परम तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, जो मानव का उद्देश्य है। अतः चरित्र-निर्माण करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि चरित्र-निर्माण के लिये ही मानव-जीवन मिला है।

सुख-दुख का सदुपयोग साधन का मूल है। वह तभी संभव होगा, जब

सुख-दुख को जीवन न मानकर उसे साधन-सामग्री जान लिया जाय। मानव-जीवन में सुख-दुख के उपभोग का कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि सुख-दुख तो पशु-पक्षी आदि भी भोगते हैं। मानव-जीवन तो सुख-दुख के वन्धन से मुक्त होकर पवित्र प्रेम तथा अमर-जीवन की प्राप्ति के लिए मिला है। वास्तव में ऐसा साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है।



राष्ट्रभाषा की समस्याएँ

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और भारत ने हिन्दी के माथे पर राज-भाषा का मुकुट रखा है। और, गौरव अकारण नहीं, वल्कि एक प्राकृतिक निष्कर्ष के रूप में मिला है, क्योंकि यह न केवल देश में अधिक-से-अधिक लोगों द्वारा वोली और समझी जाती है बल्कि भारतीय साहित्य की अनादि काल से आनेवाली समस्त परम्पराओं की विपुल विरासत को इसने यत्न-पूर्वक सँभाल कर रखा है और इसी भाषा ने पिछले अनेक दशकों में, स्वतन्त्रता के आन्दोलन-काल में, अन्तरप्रान्तीय संगठन का माध्यम बनकर, देश के विशाल जन-जीवन के जागृत प्रवाह का संचालन किया है तथा इस प्रकार देश की एकता का प्रतीक रही है। इसका मतलब यह हुआ कि समस्त भारतीय साहित्य की परम्पराओं का रक्षण और दिशा-निर्देशन इसका निजी दायित्व है।

हम तो भारतीय भाषाओं के साहित्य की मूलवर्ती एकता के इतने कायल हैं कि हमारी दृष्टि में किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य का अध्ययन भारत की अन्य भाषाओं के तत्कालीन साहित्य का अध्ययन किये बिना पूरा ही नहीं हो सकता। वात यह है कि एकाध को छोड़कर भारत की सभी वर्त्तमान भाषाओं के साहित्य का जन्मकाल ही नहीं, बल्कि विकास के क्रम भी, भारत के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विकास-क्रम पर आधृत होने

के कारण, समानान्तर रहे हैं। आदि, पूर्वमध्य, उत्तरमध्य और आधुनिक काल-खंडों में समान रूप और तिथिक्रम से विकसित इन साहित्यों में सिद्ध-साहित्य, संतसाहित्य, प्रेमाख्यानक, रामकाव्य, कृष्ण काव्य, शृंगारकाव्य और आधुनिक साहित्य का प्रायः एक ही साथ विकास हुआ है। चूँकि सब का प्रेरणा-स्रोत भारत का अमर प्राचीन साहित्य रहा है और चूँकि सब पर एक ही प्रकार की राजनैतिक और सांस्कृतिक घटनाओं का प्रभाव पड़ा है, अतः सभी भाषाओं के साहित्य में विषय, विचार, भाव आदि की ही नहीं वरन् शैली-स्वरूप की भी सामान्य एकता रहती है। इसलिए यह कहना निरर्थक नहीं है कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।'

स्पष्ट है किसी भी साहित्य-प्रवृत्ति का अध्ययन तभी पूरा होगा जब वह एक भाषा के साहित्य की एकान्तता में नहीं, बल्कि नाना भाषाओं में प्रकट तत्सम्बन्धी भारतीय चिंताधारा की समग्रता में आकलित हो।

हम नाना सम्प्रदायों में व्याप्त भारतीय राष्ट्र की जातीय एकता के ही नहीं, नाना भाषाओं में प्रकट भारतीय साहित्य की रागात्मक अखंडता के भी विश्वासी हैं।

भाषा-भेद भी बहुलांश में एक हौआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी-फारसी, पुर्तगाली और अंग्रेजी से आनेवाले शब्दों का भांडार सभी भाषाओं में इतना बड़ा है कि भाषा-भेद बहुत-कुछ लिपि-भेद मात्र रह जाता है। अनेक भाषाओं की तो लिपियाँ भी समान हैं और अनेक का व्याकरण एक है। मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, उर्दू, पंजाबी आदि के अनेकानेक लेखक हिन्दी में अधिकारपूर्वक लिखते रहे हैं, और इसी प्रकार हिन्दी के लेखक भी अन्यान्य भाषाओं में।

हमें इस बात का अभिमान है कि हिन्दी अपने अध्ययन-अध्यापन, संकलन एवं शोध में भारतीय राष्ट्र और भारतीय साहित्य की इस चेतना से उद्बुद्ध है। अखिल भारतीय हिन्दी शोध-मंडल द्वारा प्रकाशित विभिन्न भाषाओं का काव्य-संग्रह 'शांतिदूत', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा आयोजित भाषा-

गोष्ठियाँ तथा प्रकाशित 'चतुर्दश भाषा-निबंधावली', विहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा संचालित वदरीनाथ सर्वभाषा महाविद्यालय तथा प्रकाशित विहार के उर्दू शायर और शायरी' आदि तो केवल इसी पटना शहर के प्रयत्न हैं।

किन्तु जब हिन्दी भारत की विशाल साहित्यिक विरादरी के संगठन और उद्‌घाटन के पुनीत कार्य में संलग्न है तब उसके चारों ओर विघटन का व्यूह रचा जा रहा है।

आपको मालूम होगा कि आज से नौ वर्ष पहले देश भर के प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से जो निर्णय लिए थे उनके फलस्वरूप भारतीय संविधान की धारा ३४३ में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को भारत-संघ की राजभाषा स्वीकार किया गया और यह भी तय हुआ कि संविधान के लागू होने से १५ वर्षों तक, अर्थात् १९६५ ई० के जनवरी मास तक, सभी राजकीय कार्यों के लिए अंग्रेजी का पूर्ववत व्यवहार होता रहेगा, लेकिन राष्ट्रपति, इस अवधि में, किसी भी राजकीय कार्य के लिए हिन्दी के प्रयोग की आज्ञा दे सकते हैं। संविधान में यह प्रतिश्रुति भी अंकित हुई कि हिन्दी का विस्तार और विकास करना संघ का कर्त्तव्य होगा। तभी धारा ३४४ में, अन्य बातों के अतिरिक्त इस वात पर विचार करने के लिए कि १५ साल की अवधि में हिन्दी का प्रयोग कैसे उत्तरोत्तर बढ़ाया जाय और कैसे अंग्रेजी के प्रयोग पर उत्तरोत्तर रोक लगायी जाय, एक आयोग संगठित करने तथा आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए संसद की एक समिति निर्मित करने का निर्णय भी लिया गया और कहा गया कि राष्ट्रपति इस समिति के प्रतिवेदन पर विचार करके इस सम्बन्ध में आदेश जारी करेंगे।

फलस्वरूप संविधान वनने के कुल पाँच साल वाद, अर्थात् १९५५ ई० में, राजभाषा-आयोग और वाद में, अर्थात् १९५७ ई० में, संसद की राजभाषा-समिति का संगठन हुआ। पर राजभाषा-आयोग ने काम भी शुरू नहीं किया था कि देश में प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने हिन्दी के विरोध में सर उठाना शुरू किया और हमारे शीर्षस्थ प्रतिनिधियों द्वारा, विना मतभेद के, जो निर्णय लिया गया था उसे उलट देने पर उतारू हो गईं।

ज्ञातव्य है कि संविधान में क्षेत्रीय भाषाओं और अंग्रेजी के प्रति पर्याप्ताधिक सतर्कता बरती गई है। उसमें कहा गया है कि हिन्दी केवल संघ और राज्यों तथा अन्तरराज्यों के विनिमय की भाषा रहेगी और राज्यसभाओं को अधिकार होगा कि वे एक या अनेक क्षेत्रीय भाषाओं को अपनी राजभाषा बनावें और कहीं का कोई भी नागरिक किसी भी क्षेत्रीय भाषा में आवेदन कर सकता है। राज्यों को निर्देश दिया गया है कि वे उन अल्पसंख्यक भाषा-भाषी छात्रों को समुचित सुविधा दें जो अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाना चाहते हैं। अंग्रेजी के बारे में तो यहाँ तक कहा गया है कि १९६५ ई० के बाद भी यदि आवश्यकता हो तो कानून बनाकर कार्यविशेष के लिए उसे रखा जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में हिन्दीकरण के लिए तो समय भी निर्धारित नहीं किया गया। यह भी कहा गया है कि संघ हिन्दी को समस्त भारत की समन्वयात्मक संस्कृति को अभिव्यक्त करनेवाली भाषा के रूप में विकसित करेगा, फलतः हिन्दी सभी क्षेत्रीय भाषाओं से आवश्यकतानुसार शब्द-संचय करेगी।

फिर भी हिन्दी की अयोग्यता और अंग्रेजी की सर्वांगीण उपयोगिता के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी से होनेवाली क्षति जैसी झूठी, अनर्गल और गर्हित बात का प्रचार निर्लज्जता के साथ किया गया।

उधर हिन्दी-भाषाभाषी १६ करोड़ से भी अधिक लोगों का विशाल समुदाय अजगर की तरह पड़ा रहा और राजभाषा-आयोग और संसदीय समिति ने जैसे-तैसे अपने सुझाव या उलझाव उपस्थित कर दिए।

अभी-अभी राजभाषा-आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए नियुक्त संसद को राजभाषा-समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है। यह प्रतिवेदन अंग्रेजी में है। केवल एक सदस्य ने अपनी असहमति हिन्दी में प्रकट की है---यह कहते हुए कि 'संसद की राजभाषा-समिति की रिपोर्ट का मसविदा मेरे पास अंग्रेजी में है। मतलब यह हुआ कि अगर मुझे अंग्रेजी नहीं आती हो, तो समिति की सदस्यता मेरे लिए निरर्थक है।'

इस समिति की १६-११-५७ ई० से २८-११-५८ ई० तक २६ बैठकें हुई। इन २६ बैठकों के परिणामस्वरूप जो अन्तिम निर्णय किए गए वे राजभाषा-आयोग के निर्णयों से भी अधिक दुर्बल और निष्क्रिय हैं।

सिद्धान्त में तो इस समिति ने भी स्वीकार किया है कि एक जनतांत्रिक सरकार बहुत दिनों तक एक ऐसी भाषा में काम करके नहीं चल सकती जो बहुत कम लोगों द्वारा समझी जाती है। कल्याण-राज्य और समाजवादी ढाँचे की हमारी कल्पना के लिए तो यह और भी जरूरी है कि राज्यों में अंग्रेजी का स्थान क्षेत्रीय भाषाएँ ले लें और केन्द्र में हिन्दी। हिन्दी न केवल राष्ट्र की जनसंख्या के एक बड़े हिस्से की मातृभाषा है बल्कि यह देश के उन हिस्सों में भी, जहाँ की क्षेत्रीय भाषाएँ भिन्न हैं, समझी जाती है। बोलचाल की हिन्दी ही भारत के सभी तीर्थों और बाजारों की भाषा है। उन क्षेत्रों के बाहर, जहाँ की यह मातृभाषा है, हिन्दी के प्रचार एवं विस्तार की एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है और आधुनिक काल में भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने उसमें योग दिया है। इसके अतिरिक्त यातायात, व्यापार और जनसम्पर्क के माध्यम, जैसे रेडियो एवं सिनेमा, के विकास के साथ हिन्दी की जानकारी बढ़ती जा रही है। हिन्दी सीखने में बहुत सरल है और शब्दभांडार एवं लिपि की दृष्टि से भी अंग्रेजी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं के निकट है।

समिति ने यह भी स्वीकार किया है कि स्कूल-कालेजों में क्षेत्रीय भाषाओं का माध्यम हो जाने के कारण अंग्रेजी का स्तर गिरता जा रहा है और स्वभावतः नयी पीढ़ी का अंग्रेजी का ज्ञान उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है। उधर सात राज्यों ने क्षेत्रीय भाषाओं को अपनी राजभाषा स्वीकार किया है और अन्य राज्यों की प्रवृत्ति भी इसी ओर उन्मुख है, और इधर दस साल में अंग्रेजी का स्तर इतना गिर गया है कि उसके माध्यम से जन-सेवा का काम चलाना मुश्किल हो रहा है। फलतः अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी तथा देशी भाषाओं को लाना एक व्यावहारिक आवश्यकता है। यह कहना वृथा है कि इनमें प्रशासकीय योग्यता नहीं है; क्योंकि गाँव, तहसील और एक हद तक जिला-स्तर एवं देशी राज्यों का प्रशासन इन्हीं के माध्यम से चलता रहा है।

समिति ने स्वीकार किया है कि हिन्दी और अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के बीच संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। भारत की संस्कृति विविधता में एकता की संस्कृति है और यह उचित ही है कि जहाँ इसका वैविध्य विभिन्न-क्षेत्रों में प्रचलित भाषाओं में प्रकट हो वहाँ इसकी मूलभूत एकता की अभिव्यक्ति एक ऐसी सामान्य भाषा में हो जो अखिल भारतीय उद्देश्यों एवं अन्तरराज्य-विनिमय के काम आती हो। अतः समिति ने सिफारिश की है कि संघ की राजभाषा हिन्दी का विकास एक जनभाषा के रूप में हो, यानी सभी क्षेत्रीय भाषाओं के आवश्यक शब्दों से उसे समृद्ध किया जाय।

पर यह सब मानकर भी और यह स्वीकार करके भी कि भाषा व्यवहार से ही विकसित होती है, राजभाषा-समिति अथवा राजभाषा-आयोग ने उन दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर कोई सुझाव ही नहीं दिया मुख्यतः जिनके लिए ही उनका निर्माण हुआ था।

संविधान की धारा ३४४ में लिखा है कि आयोग का कर्त्तव्य होगा कि वह सुझाव दे कि संघ के कार्यों के लिए राजभाषा के रूप में किस क्रम से हिन्दी का प्रयोग बढ़ाया जाय और इसी प्रकार किस क्रम से अंग्रेजी का व्यवहार रोका जाय (ताकि १९६५ ई० तक हिन्दी अंग्रेजी की समूची जगह ले ले) पर खेद है कि दोनों में से किसी ने न तो हिन्दी के उत्तरोत्तर व्यवहार की समय-तालिका उपस्थित की और न अंग्रेजी का व्यवहार रोकने का कोई कार्यक्रम उपस्थित किया। संसद की इस राजभाषा-समिति के कुछ सदस्यों ने, जिनमें अहिन्दी-भाषी भी हैं, यह ठीक ही कहा है कि समिति ने ऐसा न करके विधेयात्मक रूप में अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया है।

समिति ने यह कह दिया है कि १९६५ ई० तक पूर्ण हिन्दीकरण सम्भव नहीं है। उसने ज्ञान-विज्ञान के नाम पर अंग्रेजी को १९६५ ई० के बाद भी रखने की सिफारिश की है—जैसे कि रूस, फ्रांस और जापान अंग्रेजी के बिना किसी भी देश से पिछड़े हों!

आयोग और समिति, दोनों ने अखिल भारतीय नौकरियों की परीक्षाओं के माध्यम के रूप में अभी अंग्रेजी को ही चलाने का सुझाव दिया है और आँसू

पोंछने के लिए यह कहा है कि कभी आगे चलकर हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि सागर, आगरा, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, लखनऊ, नागपुर, उस्मानिया, राजस्थान, सरदारवल्लभ भाई विद्यापीठ, बड़ोदा, बिहार और पटना विश्वविद्यालयों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को अपना लिया है। इन विश्वविद्यालयों के स्नातकों के भविष्य के साथ, हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम भी न रखकर, जो खिलवाड़ किया जा रहा है वह सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार के अराष्ट्रीय निर्णयों का देश के नौजवानों के चरित्र पर जो कुप्रभाव पड़ सकता है उसे हम-आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं।

चूँकि स्कूलों में अब अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम नहीं है, इसलिए राज-भाषा-आयोग ने यह सिफारिश की थी कि राष्ट्रीय सुरक्षा अकादमी (नेशनल डिफेन्स एकेडेमी)-जैसी संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो। पर संसद की राजभाषा-समिति ने इसे भी स्वीकार नहीं किया और इसे भविष्य के भाग्य पर छोड़ दिया है।

एक ओर तो यह कहा जाता है कि अंग्रेजी का स्तर गिर रहा है और उसके माध्यम से प्रशासन चलाना कठिन है, पर दूसरी ओर अंग्रेजी का जड़ मोह हमें इस प्रकार बाँधे हुए है कि हम उसे छोड़ नहीं रहे हैं। परिणाम-स्वरूप एक जकथक की स्थिति एवं अनिश्चय का वातावरण बना हुआ है और इन नौ वर्षों के निष्क्रिय चिंतन के बाद भी हम वहीं हैं जहाँ १९५० ई० में थे, बल्कि उत्साह की दृष्टि से तो और भी पीछे हैं।

जब एक बार हमने मान लिया कि जिस प्रकार विदेश का आदमी चाहे कितना भी बड़ा हो हमारा राष्ट्रपति नहीं हो सकता, तो उसी प्रकार विदेशी भाषा चाहे कैसी भी हो हमारी राष्ट्रभाषा या राजभाषा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में एक राष्ट्रीय अनिवार्यता के रूप में हिन्दी के विकास और प्रयोग की एक सुनिश्चित योजना बननी चाहिए।

यह सभी मानते हैं कि विदेशी भाषा के कारण शासन और जनता में नैकट्य नहीं आ पाता तथा एक छलपूर्ण दुराव बना रहता है। इस बात को

ध्यान में रखकर राजभाषा-आयोग ने अखिल भारतीय और केन्द्रीय नौकरियों की परीक्षाओं के लिए हिन्दी का एक अनिवार्य पत्र रखने की सिफारिश की और कहा कि कहीं अहिन्दी-भाषियों का अहित न हो इसके लिए यह पत्र वहुत हल्की किस्म का हो और दक्षिण भारत के प्रतियोगियों को केवल सरलतम उत्तर देने की छूट हो। भेद-भाव की गंध न आवे इसलिए यह सुझाव भी दिया गया कि हिन्दी-भाषी प्रतियोगी भी अन्य भाषाओं में परीक्षा दें। पर खेद है कि संसद की राजभाषा-समिति ने इसे भी स्वीकार नहीं किया।

उधर देश और विदेश के षड्यंत्री भारतीय एकता को तोड़ने के लिए हिन्दी के विरुद्ध मोर्चाबन्दी कर रहे हैं। स्मरणीय है कि हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा एवं शिक्षा के माध्यम के रूप में सर्वाधिक उपयुक्त माननेवाले अग्रदूत थे अहिन्दी क्षेत्र के अर्थात् गुजरात के ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी, बंगाल के न्यायाधीश शारदाचरण मित्र, ऋषि बंकिमचन्द्र, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस प्रभृति, आंध्र के श्री टी० प्रकाशम् इत्यादि। बंकिमचन्द्र ने कहा था 'जो सज्जन हिन्दी-भाषा द्वारा भारत में एकता पैदा करना चाहते हैं, वे निश्चय ही भारत-बंधु हैं। हम सब को संगठित होकर इस ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए।' पर आज तो ऐसे भारत-बंधुओं के लिए आँखें तरस रही हैं। आपने सुना होगा कि अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, बंगाल के कलकत्ता-अधिवेशन में, जिसमें पाकिस्तान के प्रतिनिधि भी आए थे, यह घोषणा हुई है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के उर्दू साहित्यकार एक संग चलने को कटिबद्ध हैं। आपने सुना होगा कि अंग्रेजी को सदा के लिए राजभाषा बनाने के आवेदन पड़े हैं, किन्तु देश में इस असम्भव सिद्धान्त का समर्थन होते न देखकर अब संस्कृत का दूसरा असम्भव आन्दोलन आरम्भ किया गया है। दिलचस्प बात है कि पिछले अप्रील महीने में, पुरी में होने-वाली संस्कृत विश्व-परिषद् के अधिवेशन में जब हिन्दी की जगह संस्कृत को संघ की राजभाषा बनाने के प्रस्ताव को उसके अध्यक्ष डा० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने संविधान के प्रतिकल कहकर उपस्थित नहीं होने दिया,

तब उसी महीने (२४-२५ अप्रील) अमृत बाजार पत्रिका में, संस्कृत-आयोग के प्रधान ने 'हिन्दी वनाम संस्कृत' शीर्षक लेख में यह लिख डाला कि 'संस्कृत को वास्तविक खतरा अंग्रेजी से नहीं, हिन्दी से है।' यह भी दिलचस्प बात है कि दो मुँहवाले प्रचारक उत्तर में तो संस्कृत की बात करते हैं, पर दक्षिण में संस्कृत के विरोध से डरकर अंग्रेजी के हिमायती बन जाते हैं। इसीसे ही जाना जा सकता है कि संस्कृत को किन लोगों से वास्तविक खतरा है। हिन्दी का दोष तो यही है कि उसने संस्कृत के समस्त साहित्य को हिन्दी के माध्यम से करोड़ों लोगों के पास पहुँचा दिया हैं, उसकी समस्त परम्पराओं को आत्मसात् किया है तथा अपने व्याकरण एवं शब्दावली को संस्कृत के निकट रखा है।

पर यह देश है जहाँ जनतंत्र के नाम पर किसी को भी गाली दी जा सकती है। अभी-अभी यथार्थदर्शिन् की एक पुस्तक छपी है 'आवर नेशनल लैंगुएज : इट्स डेफिनेशन, स्कोप एण्ड च्वायस' अर्थात् हमारी राष्ट्रभाषा, इसकी परिभाषा, क्षेत्र एवं चुनाव।' इसमें कहा गया है कि हिन्दी संघ की राजभाषा के रूप में संविधान के प्रतिकूल है, यह संस्कृत की सबसे बड़ी दुश्मन है और यह भारत की अन्य भाषाओं का गला दबानेवाली है। जिस देश में ऐसी गंदी पुस्तक निकले उसका भगवान् ही मालिक है। हमारा प्रस्ताव है कि सरकार ऐसी पुस्तकों एवं वक्तव्यों की रोक-थाम करे, अन्यथा यदि इनकी प्रतिक्रिया हिन्दी क्षेत्र में हुई तो ऐसी आग लगेगी जिसे बुझाना मुश्किल होगा। हम जानते हैं कि हिन्दी के किसी प्रवक्ता ने कभी किसी अन्य भाषा के विरोध में कुछ नहीं कहा है, पर कुछ लोग देश की शांति भंग करने पर तुले हैं। संसद की राजभाषा-समिति के प्रतिवेदन में संलग्न श्री फ्रैंक अन्थोनी की असहमतिवाली टिप्पणी में जो जहर उगला गया है उसका उल्लेख ही काफी है। उसमें हिन्दी को अंग्रेजी से भी अधिक विदेशी, ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से विहीन, हिन्दुस्तान की साहित्यिक भाषाओं में पिछड़ी, साम्प्रदायिक एवं अत्याचार की प्रतीक आदि ही नहीं कहा गया है, बल्कि हिन्दी स्नातकों को अर्द्धशिक्षित एवं मैट्रिकुलेशन

से भी कम योग्यता रखनेवाला कहा है। इसी टिप्पणी में वह झूठ भी दर्ज है कि उर्दू के प्रति घृणा से प्रेरित होकर दिल्ली कारपोरेशन-भाषा-समिति ने निर्णय किया है कि राजभाषा हिन्दी में अन्ततः कोई भी उर्दू शब्द प्रयुक्त न हो। इस असत्य के प्रतिवाद में उक्त संसदीय राजभाषा-समिति के अध्यक्ष को यह पादटिप्पणी लगानी पड़ी है कि दिल्ली कारपोरेशन-भाषा-समिति ने ऐसा कोई निर्णय नहीं लिया है। श्री अन्थोनी का यह कथन उन असंख्य असत्यों में एक है जिनके आधार पर हिन्दी का विरोध किया जाता है। खैरियत है, यह प्रतिवेदन अंग्रेजी में है और बहुत कम लोगों के पास पहुँचा है।

एक और सूचना मैं आपको देना चाहता हूँ। अभी-अभी एक खतरनाक गश्ती चिट्ठी चली है। उसमें लोकसभा के अध्यक्ष के नाम पं० सत्वेल्कर का १४ पृष्ठों का आवेदन संलग्न है, जिसमें हिन्दी के विपक्ष में अनर्गल बातें लिखकर नए सिरे से एक भाषा-नीति-आयोग को नियुक्त करने तथा उसके सिफारिश देने तक, १९५० ई० की स्थिति बनाए रखने की माँग की गई है। इसके लिए हस्ताक्षर-संग्रह हो रहा है। हाँ, यह चिट्ठी जितनी खतरनाक है उतनी ही हास्यास्पद भी। इसका प्रथम पृष्ठ अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-कारिणी-सभा के मंत्री श्री चक्रदेव इन्जीनियर के पैड पर लिखा है और उसमें उनके बनाये हुए औजारों का विज्ञापन है। लोक-परलोक दोनों बनाने का यह अच्छा तरीका है।

पर ये प्रयत्न चाहे कितने भी हास्यास्पद और असम्भव हों, विघटन के कीटाणु तो फैलाते ही हैं। अतः यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उग्र तो न हों, और न हम कभी रहे ही हैं, पर देश की एकता के लिए जागरूक अवश्य रहें। और, हमारी जागरूकता का प्रमाण यही होगा कि हम जहाँ रहें, हिन्दी का अधिक-से-अधिक प्रयोग करें और करायें।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और सेठ गोविन्द दास ने हिन्दी मंत्रिमण्डल की माँग की है। हम कम-से-कम हिन्दी के लिए पंचवर्षीय योजना की माँग तो कर ही सकते हैं। अनिश्चय की स्थिति से निश्चित कार्यक्रम की ओर

आये विना काम नहीं चल सकता। हिन्दी क्षेत्र के प्रतिनिधि संसद और राज-सभाओं में, हिन्दी में ही वोलकर अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। हिन्दी में वोट माँगनेवाले ये प्रतिनिधि कितनी वार अंग्रेजी में वोले हैं—इस आँकड़े से अगर उनके निर्वाचनक्षेत्र का परिचय हो तो ये प्रतिनिधि स्वतः लजाकर हिन्दी में ही बोलेंगे।

श्री अन्थोनी की बातें चाहे कितनी अनर्गल हों, उनका सही प्रतिवाद यही होगा कि हम उनकी इस चुनौती को स्वीकार करें कि 'हिन्दी प्रचार के अभिलाषी राज्य अपने क्षेत्रों में ही पहले उसकी उपयोगिता सिद्ध कर लें।'

और यह हर्ष की बात है कि बिहार आदि हिन्दी राज्यों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। यद्यपि नवम्बर, १९५७ ई० से बढ़ाकर बिहार सरकार ने हिन्दीकरण की अंतिम तिथि नवम्वर, १९६० ई० कर दी है, पर उसके मुख्य मंत्री ने इसे अंतिम तिथि मानने की घोषणा की है और महालेखापाल और संघ के साथ होनेवाले पत्राचारों के अतिरिक्त जिस अनुपात से विभिन्न विभागों में हिन्दीकरण हो रहा है उसे देखते हुए बिहार-सरकार की बात में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

बिहार और पटना विश्वविद्यालयों ने, इसी वर्ष से हिन्दी को परीक्षाओं का अनिवार्य माध्यम वनाने का जो निश्चय किया था उसमें संशोधन कर, दो वर्षों की अतिरिक्त अवधि ली है। स्तर के एकीकरण के लिए तथा इसलिए भी कि इस दरिद्र राज्य में, अनेक भाषाओं में परीक्षाएँ चलाने में अकारण बहुत खर्च होता है, यह अवधि और नहीं बढ़ायी जाएगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। १

---

१. प्रो० केसरी कुमार के पटना-मंडल-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के महा-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से २५ जुलाई, १९५९ को दिए गए अभिभाषण से।

—०—

नाप-तौल की मेट्रिक प्रणाली

उत्तर-प्रदेश विधान परिषद् के सदस्य श्री अलगूराय के शब्दों में 'भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश और जिले में बाटों की बहुत अधिक विविधता है। भारत में निवास करनेवाले जितने देवी-देवता हैं शायद उतने ही बाट हैं और हर देवी-देवता इन बाटों की सहायता से माप-तौल को अपने अनुकूल बनाए हुए हैं और इन अनुकूल बाटों से ही ये तौलते हैं। मेरे जिले आजमगढ़ के गाँव में द्रव्य के स्थान पर वस्तुओं में मजदूरी देने की प्रथा है। इन वस्तुओं में अधिकतर अनाज का प्रयोग किया जाता है। किसानों को मजदूरी देते समय अनाज तौलने के लिए जिन बाटों का प्रयोग किया जाता है वे पत्थरों को घिस कर बनाये जाते हैं। इन पत्थरों में विभिन्नता हो जाने के कारण किसानों और मजदूरों को विशेषकर हानि उठानी पड़ती है। किसान भारतीय अर्थ-व्यवस्था की अब भी रीढ़ हैं। इसलिए इन किसानों की हानि से सम्पूर्ण भारत की उन्नति में बाधा पड़नी स्वाभाविक है।

देहातों में खटकिनें फल, खरबूजा-तरबूजा आदि बेचती हैं। वे भी अपने ही बाटों को व्यवहार में लाती हैं। हँसी की बात तो यह है कि वे किसी भी ईंट के टुकड़े को पाव तथा आध-सेर बना लेती हैं और तौलने में उसी का प्रयोग करती हैं। निरन्तर प्रयोग में आने के कारण यह बराबर घिसता रहता है और इसका भार घटता रहता है, परन्तु कोई भी पूछनेवाला नहीं होता। यदि आप तौल के भार पर कोई सन्देह प्रकट करें तो अपने आपको भाग्यशाली समझिएगा, यदि खटकिन आपके सिर पर कोई चीज न दे मारे। वह अपने कहने पर अडिग रहती है। इस प्रकार के झगड़ों को निपटाने के समय पंच लोग और भी रोचकता उत्पन्न कर देते हैं। खटकिन से होनेवाले विवाद में मध्यस्थता करते हुए वे कह उठते हैं, 'बाबूजी, वह ठीक ही कहती है। तौल कम है तो न लीजिए। इसे पुलिस में देने की धमकी क्यों देते हो? हम सब भी इसी बाट से प्रतिदिन खरीदते हैं।' ऐसे रोचक वार्तालाप हमारे छोटे-छोटे बाजारों में प्रायः नित्य ही देखे और सुने जाते हैं।

माप-तौल के बाट और पैमानों का विद्यार्थी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्कूलों में बाट और पैमानों का हिसाब-किताब में प्रयोग होता है। बचपन में ये बाट और पैमाने कंठगत करने पड़े थे और उनकी दुरूहता पर जो चपतें अध्यापकों से खानी पड़ती थीं वह अब तक नहीं भूली है। बड़े होने पर बारह इंच का एक फीट, ३ फीट का एक गज और १७६० गज का एक मील, यह असंगत प्रणाली हमको वैसी ही निरंकुश दिखाई दी जैसे अंग्रेजी वर्णमाला का क्रम, उसकी अक्षर-ध्वनि और उन अक्षरों से बनने वाले अनिश्चित उच्चारण के शब्द।'

अन्य प्रदेशों का भी यही हाल है। मध्यप्रदेश के सेठ गोविन्ददास (संसद-सदस्य) के शब्द सुनिए—'मेरे मध्यप्रदेश की दशा भी इस दृष्टि से अच्छी नहीं है। एक जिले में यदि एक चीज तौलकर बिकती है, तो दूसरे जिले में वही चीज नापकर बिकती है। फिर इसी एक चीज को नापने और तौलने के पैमाने और बाट भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

इस तरह नापने और तौलने में कठिनाई तो होती ही है, समस्त देश में एकता की भावना भी उत्पन्न नहीं होने पाती। एक प्रकार का बाट काम में लानेवाला एक जिले का व्यक्ति दूसरे प्रकार के बाट इस्तेमाल करनेवाले दूसरे जिले के व्यक्ति को पराया-जैसा मानता है। फिर ऐसे दो जिलों के मध्य जब किसी वस्तु की खरीद-बिक्री होती है तो हिसाब-किताब में बड़ी झंझटें होतीं हैं और विनिमय की दरों का ठीक वैसे ही प्रयोग करना पड़ता है मानों भारत और अमरीका अथवा चीन और इंगलैण्ड के बीच कोई खरीद-बिक्री हो रही हो। इसलिए जब संसद ने समस्त देश में एक-सी प्रणाली के बाट और पैमाने चलाने का निश्चय किया तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरे विचार से इससे देश में एकरूपता तो उत्पन्न होगी ही, साथ ही खरीद-बिक्री में भारी सुविधा भी हो जायगी।

फिर अपने देश में माप-तौल के जितने तरीके प्रचलित हैं उनमें से शायद ही कोई वैज्ञानिक या आदर्श हो। भारत-सरकार के वाणिज्य और उद्योग-मंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री के० वी० वेंकटाचलम् के अनुसार इस

समय भारत के विभिन्न भागों में १०० से भी अधिक तरह के सेर प्रचलित हैं। यही हाल मानों और उनसे छोटी तौलों का है। इसी तरह नहीं कहा जा सकता कि देश में कितने तरह के बीघे प्रचलित हैं। नाप-तौल की यह समस्या हमारे यहाँ शताब्दियों से चली आ रही है। कहीं भी एक प्रणाली पूरी तौर से लागू नहीं है। इससे होने वाली असुविधाओं का अन्त नहीं है। लोग ठगे जाते हैं और उन्हें धोखा होता है। व्यापार और वाणिज्य की उन्नति में भी ये बाधक हैं। कभी-कभी एक ही चीज पौंड में, सेर में और ऐसे ही दूसरे बटखरों में बिकती हुई पाई जाती है। जगह-जगह के बाटों में अन्तर भी होता है। इससे होनेवाली परेशानी को सहज ही में समझा जा सकता है।

इस तरह की विभिन्न प्रणालियों को चालू रखना किसी तरह उचित नहीं जँचता; क्योंकि नाप-तौल के यह बटखरे नित्य के व्यवहार में शिक्षा, विज्ञान, उद्योग-धंधों, खरीदने और बेचने में काम आते हैं। एक तरह की मुद्रा-प्रणाली की भाँति पूरे देश में एक-सी नाप-तौल की प्रणाली भी चलाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

१. यह सरल होनी चाहिए, जिससे लोग इसे समझ सकें और काम में ला सकें।
२. माप-तौल और परिमाण के सभी पैमानों का क्रम एक-सा होना चाहिए।
३. यह उद्योग-धंधों और व्यापार-वाणिज्य में सरलता से राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रिय स्तर पर चलाई जा सकती है।

संक्षेप में प्रणाली वैज्ञानिक हो, छोटे-बड़े हिस्सों में कायदे से बांटी गई हो और अन्तरराष्ट्रिय चलन में भी आती हो।

भारत में माप-तौल के जितने भी तरीके प्रचलित हैं, उनमें से एक भी आदर्श प्रणाली की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उदाहरण के लिए तौल के बटखरे सेर या पौंड को लिया जा सकता है। देश में विभिन्न तरह के सेर प्रचलित हैं। वैसे एक सेर में १६ छटाँक या ८० तोले होते हैं। एक तोले

में १८० ग्रेन होते हैं। ४० सेर का एक मन होता है। तोले की इकाइयाँ ५ तोला = १ छटांक २॥ तोला और १। तोला तक आती है। उसके बाद कोई इकाई नहीं है। इसी तरह १ गज = ३ फुट या ३६ इंच का होता है। जबकि एक फर्लांग = २२० गज और ८ फर्लांग = १ मील होता है। माप का कोई भी निर्धारित परिमाण नहीं है। जहाँ जो प्रचलित है वही चलता है। यही स्थिति क्षेत्रफल और दूसरे परिमाणों की भी है।

इससे स्पष्ट होता है कि देश में कोई भी ऐसी प्रणाली नहीं है जिसे राष्ट्रीय प्रणाली का रूप दिया जा सके।"

फलतः भारत को एक अन्तरराष्ट्रीय प्रणाली स्वीकार करनी पड़ी है। नाप-तौल की अन्तरराष्ट्रीय प्रणालियाँ दो हैं—(१. फुट, पौण्ड प्रणाली और (२) मेट्रिक प्रणाली। पहली प्रणाली ब्रिटेन, अमेरिका और राष्ट्रमंडल के देशों में चालू है और दूसरी संसार के अन्य सभी देशों में प्रचलित है तथा ब्रिटेन, अमेरिका और राष्ट्रमंडल के देशों में भी इस दूसरी प्रणाली को कानूनी मान्यता मिली हुई है।

फुट, पौण्ड प्रणाली में अनेक बुराइयाँ हैं। गज और पौण्ड के अलग-अलग पैमाने होने के कारण इसके पैमानों में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा इसकी इकाइयों के अलग-अलग होने के कारण इसे याद रखना भी कठिन है। फिर ब्रिटेन और अमेरिका के मापों के यद्यपि नाम एक हैं पर पैमाने भिन्न-भिन्न हैं। अतः भारत ने मेट्रिक प्रणाली स्वीकार की है।

यह मेट्रिक शब्द मीटर से बना है। एक किलोग्राम जल जितनी जगह घेरता है उसे मीटर कहते हैं। इसमें दा ामिक प्रणाली लागू होती है। दा ा-मिक पैमाने में एक विशेषण लगाकर उसका परिमाण बताया जाता है। इसमें लीटर, ग्राम तथा मीटर नामक तीन प्रमख इकाइयाँ हैं। प्रत्येक इकाई के आगे जो परिमाण-बोधक छः विशेषण लगाए जाते हैं वे हैं—किलो (१०००), हैक्टो (१००), डेका (१०), डेसी (१/१०), सेंटी (१/१००) तथा मिली (१/१७००)।

यह दा ामिक प्रणाली कोई आज की खोज नहीं है। इसका आविष्कार

आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले हो चुका था और यह भारतीय मस्तिष्क की ही सूझ है। आज से दो हजार वर्ष पहले एक भारतीय गणितज्ञ ने 'शून्य' की खोज की थी। पर इतना ही क्यों? दाशमिक प्रणाली का उल्लेख तो वेद में भी हुआ है—

एकन्चते दशंचते शतंचते सहस्रंचते कल्पयामि अर्थात् एक, दस, सौ, हजार तेरे लिए कल्पित करता हूँ। निरुक्त के वचन के अनुसार सहस्र शब्द असंख्यार्थक है। दस से गणा करते जाओ और अन्य संख्याओं को प्राप्त करते जाओ।'

पर अमेरिका और योरप ने इस प्रणाली का उपयोग किया और इसके प्रवर्त्तक कहलाए।

भारत में मुद्राओं में दाशमिक प्रणाली व्यवहार करने तथा भारतीय नाप-तौल में एकरूपता लाने की पहली चेष्टा १८६७ ई० में हुई। उस समय भारत सरकार जाँच के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि दाशमिक प्रणाली ही उचित प्रणाली है। किन्तु सरकार को सफलता न मिली और इसे अमल में नहीं लाया गया। इस सम्बन्ध में एक विधेयक भी १८७१ ई० में पास हुआ किन्तु वह लागू नहीं हुआ। बाद में 'इण्डियन साइंस कांग्रेस' आदि गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी मुद्राओं तथा नाप-तौल में दाशमिक प्रणाली लागू करने के सवाल समय-समय पर उठाये। १९४६ ई० में केन्द्रीय असेम्बली में एक बिल भी उपस्थित किया गया किन्तु वह पास नहीं हुआ। इसके बाद राष्ट्रीय योजना-आयोग ने दाशमिक और मेट्रिक प्रणाली की जोरदार सिफारिश की। १९५५ और १९५६ ई० में भारत-सरकार ने इस सम्बन्ध में विधेयक बनाए। फलस्वरूप १९५७ ई० की पहली अप्रेल से भारतीय सिक्कों में दाशमिक प्रणाली लागू करने तथा १९५८ की पहली अप्रेल से भारतीय नाप-तौल में मेट्रिक प्रणाली व्यवहृत करने का निश्चय हुआ।

इससे बड़ा लाभ हुआ है और होगा। अलग-अलग बाटों के अलग-अलग स्थानों पर चलने से लगता है मानो हमारा देश अलग-अलग टुकड़ों में विभक्त है। दाशमिक और मीटर-प्रणाली व्यवहार में एकरूपता और मन में

एकता की भावना लायेगी। इससे अनेक प्रकार की राष्ट्रीय बचत होगी। गणित में सुविधा होगी। शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि मीटर-प्रणाली से शिक्षा देने पर विद्यार्थियों की मैट्रिक तक की शिक्षा में एक वर्ष की बचत तो निश्चित रूप से हो जाएगी।

—o—

कृत्रिम उपग्रह, राकेट और स्पुत्निक

मनुष्य की उड़ने की लालसा ने वायुयान का आविष्कार किया। किन्तु इतने से आदमी को सन्तोष नहीं हुआ। वह उड़कर चन्द्र, मंगल आदि उपग्रहों तक जाना चाहता है। इसमें साधारण वायुयान सहायक नहीं हो सकता क्योंकि वायुयान वाय में ही उड़ सकता है और वाय पृथ्वी के दस मील ऊपर तक ही समाप्त हो जाती है। दस मील के ऊपर वायु इतनी क्षीण हो जाती है कि वायुयान नहीं चल सकता। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए ऐसे साधन बनाये जा रहे हैं जो आदमी को उस स्थान में भी ले जायें जो वायु तथा गुरुत्वाकर्षण के नियमों से मुक्त है।

ऐसे ही साधनों के निर्माण के प्रसंग में राकेट (प्रक्षेपणास्त्र), कृत्रिम उपग्रह और स्पुतनिक जैसे शब्द प्रचलित हो गए हैं।

साधारणतः राकेट एक प्रक्षेपणास्त्र है। वह एक ऐसी नली का नाम है जिसका एक छोर बंद रहता है और जिसके दूसरे छोर में, जो विस्फोटक द्रव्यों से भरा रहता है, एक छोटी-सी सुराख होती है। इस सुराख में जब आग लगाई जाती है तब विस्फोटक द्रव्यों से गैसें उत्पन्न होती हैं। ये गैसें उपर्युक्त छोटी सुराख से निकलती हैं और इनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राकेट गैस निकलने की उल्टी दिशा में उड़ता है। इस प्रक्रिया में वायु की आवश्यकता नहीं होती। इस कारण राकेट वहाँ भी जा सकता है जहाँ वायु और वायुयान नहीं पहुँच पाते।

राकेट का प्रथम प्रयोग १३ वीं शताब्दी में मंगोलिया की लड़ाई में हुआ था। यह वारूद से भरी हुई एक साधारण नली थी। फिर भी राकेट के प्रथम व्यवहार का श्रेय चीनियों को ही मिलेगा।

भारत में भी राकेट का उपयोग होता था। हैदरअली ने लोहे की नली वाले ऐसे राकेटों का, जो चीन में प्रयुक्त राकेटों से अधिक बड़े थे और आधा मील तक जाते थे, व्यवहार अपनी लड़ाइयों में किया था।

पर अब तक के राकेट अत्यन्त साधारण और आरम्भिक अवस्था में थे। उनका निशाना ठीक नहीं था क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति से उनकी दिशा निर्दिष्ट नहीं हो पायी थी।

ठीक निशाना मारनेवाले राकेट को एक विकसित रूप में उपस्थित करने का श्रेय ब्रिटेन के कर्नल विलियम कानग्रेव नामक व्यक्ति को है जिसने करीब वीस सेर वजन का राकेट बनाया था।

किन्तु राकेट बनाने में एक बड़ी और वास्तविक उपलब्धि मिली अमेरिका के वैज्ञानिक श्री राबर्ट एच गोडार्ड को जिन्होंने १९३५ ई० में एक राकेट को डेढ़ मील ऊपर पहुँचाया तथा गैसोलीन और आक्सीजन के ईंधन से राकेट को सात सौ मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलाया था।

पर युद्ध में राकेट का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जर्मनी ने द्वितीय महायुद्ध में। इन्हीं राकेटों ने लंदन को बर्बाद किया था।

जर्मनी के हारने के बाद इन्हीं जर्मन वैज्ञानिकों की सहायता से अमेरिका और रूस में राकेट का बहुत अधिक विकास हुआ। राकेट अब एक सफल आयुध है। इसकी दिशा निर्दिष्ट हो गयी है।

रूस ने इसी राकेट की सहायता से १९५७ के अक्टूबर महीने में पहला कृत्रिम उपग्रह (स्पुतनिक) छोड़ा था और उसे अंतरिक्ष में पहुँचाया। इस सफलता से उत्साहित होकर रूस ने दूसरा उपग्रह छोड़ा जिसमें लाईका नामक एक कुतिया भी थी जो लगभग सात दिनों तक जिन्दा रही। इसके बाद अमेरिका ने भी कई उपग्रह छोड़े पर उसे रूस जैसी सफलता नहीं मिली।

१९५७ में रूस ने और १९५८ में अमेरिका ने अपने राकेटों का सफल

प्रयोग करके देख लिया है कि ये पाँच हजार मील तक का निशाना लगा सकते हैं। सामरिक आयुध के रूप में इन राकेटों ने अणुवम को भी हतप्रभ कर दिया है। राकेट आज का आखिरी अमोघ अस्त्र है।

पर ये शान्ति-काल में भी कम उपयोगी नहीं। ये वायुमंडल के ऊपर के दवाव, ताप, परिस्थिति आदि का हाल वताते हैं। १९५८ ई० में एक राकेट की सहायता से दो कुत्ते २८० मील ऊपर जाकर सकुशल लौट आए हैं। ऐसा लगता है अव चन्द्रलोक की यात्रा सुगम हो जाएगी। रूस तो कहता भी है कि उसके पास चन्द्रलोक तक पहुँचने में समर्थ दो राकेट मौजूद हैं।

भारत इस दौड़ में अभी वहुत पिछड़ा है। यों यहाँ भी प्रयोग हो रहे हैं और १९५८ में यहाँ भी वंगलोर से एक राकेट छोड़ा गया था जो सात मील ऊपर गया था।

जिस दिन मनष्य अंतरिक्ष में उड़ने लगेगा और चाँद तक पहुँच जाएगा उस दिन संसार के इतिहास में वस्तुतः एक विराट् अध्याय उपस्थित होगा।

भारत की आजादी की कहानी

यद्यपि भारत की आजादी की कहानी मुख्यतः १८५७ की क्रांति से शुरू होती है पर वस्तुतः यह क्रांति आकस्मिक न थी बल्कि इसके पीछे भारत के दमन, संघर्ष और वलिदान का इतिहास था। १७६५ ई० में अंग्रेजों को वादशाह शाह आलम द्वितीय से बंगाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी मिली और इस प्रकार ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का आरम्भ हुआ। तभी विहार नें विद्रोह किया। और, जब १७७२ ई० में बिहार के रामगढ़ राज्य के राजा मुकुन्द सिंह ने निर्भीकतापूर्वक अपने को अंग्रेजों का विद्रोही घोषित

किया और पलामू में होनेवाले ब्रिटिश साम्राज्यविस्तार को धनजन से रोका, तब उन्हें निर्वासित कर दिया गया। पर इसी निर्वासन ने जैसे विद्रोह की चिनगारियों को छोटानागपुर में दूर-दूर तक फैला दिया। फलस्वरूप १७८९ ई० में पहली जनक्रांति की आग तमाड़ में जली और १७९५ ई० तक अनवरत जलती रही। उधर १८१६ ई० में बरेली में अंग्रेजी शक्ति के विरुद्ध एक बलवा हुआ और इधर १८२० ई० में तमाड़ में दूसरा प्रबल विद्रोह हुआ। इस विद्रोह के नेता थे दो आदिवासी रुदन और कोन्टा। दोनों जेल में डाले गए पर सर नहीं झुकाया और दोनों ने जेल में मृत्यु का आलिंगन किया। तब इन सभी विद्रोहों से एक बड़ा विद्रोह हुआ १८३१ ई० में जिसे इतिहासकार कोल-क्रांति के नाम से जानते हैं। छोटानागपुर का यह विप्लव कर्नल डाल्टन के शब्दों में एक दीर्घकाल तक मचलती रहनेवाली अग्नि का विस्फोट था। २० वर्षों के बाद प्रसिद्ध संथाल-क्रांति हुई १८५३ ई० में। भागलपुर, वीरभूम, छोटानागपुर और विशेषतः हजारीबाग इस आन्दोलन के केन्द्र थे। और तब १८५७ ई० का तूफान आया। १० मई १८५७ ई० को मेरठ के सिपाहियों ने खुला विद्रोह किया। मेरठ से विजय करते हुए ये सिपाही दिल्ली आए, दिल्ली नगर तथा शाही राजमहल पर अधिकार कर लिया और मुगल राजपरिवार के अंतिम प्रतिनिधि बहादुरशाह को दिल्ली का सम्राट् घोषित किया। फिर यह आग कानपुर, लखनऊ, बनारस, बरेली, मध्यप्रदेश तथा बिहार में फैल गई। सिपाहियों ने विद्रोह किया, जनता ने साथ दिया और जमींदारों ने वीरतापूर्वक नेतृत्व किया। प्रमुख नेता थे नाना साहब, तांतिया टोपी, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, दिल्ली के बहादुर शाह और बिहार-अन्तर्गत जगदीशपुर के बाबू कुँअर सिंह। कुछ दिनों के लिए तो जैसे अंग्रेजों का राज्य ही उठ गया था। पर अनेक कारणों से यह क्रांति सफल न हो सकी। बहादुर शाह को निर्वासित कर दिया तथा उनके बेटों तथा पोतों की निर्ममता से हत्या कर दी गई। तांतिया टोपी को फाँसी दी गई। झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई तथा बाबू कुँअर सिंह वीरगति को प्राप्त हुए।

१८५७ की क्रांति दबा दी गई, मगर भुस्सी की आग की तरह इस दवाब के नीचे विद्रोह सुलगता रहा। १८५९ ई० में बंगाल में नील उपजाने वाले लुटेरे अंग्रेजों के विरुद्ध नील-विद्रोह हुआ और १८६३–६४ में वहावी नामक मुसलमानों के सम्प्रदाय ने आन्दोलन किया जिसके कारण ८ मुसलमानों को काले पानी और तीन को फाँसी की सजा दी गई। २० सितम्बर १८७१ को कलकत्ता हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस माननीय जान पैक्सटन नारमैन को कलकत्ता टाउन हाल के बरसाती में छुरे से मार डाला गया। इसी साल अंडमन में भारत के बड़े लाट मेयो की हत्या कर दी गई। लेकिन हिन्दुस्तान के कठोर वायसराय लार्ड लिटन के समय में अर्थात् १८७६ और १८८० के बीच भयंकर दमन हुआ। १८७८ में शस्त्र-कानून (Arms Act) बना। इसने भारतीयों से हथियार रखने का अधिकार छीन लिया। भारतीय निहत्थे हो गए। हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जहरीला भेद पैदा हुआ। इसी साल भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों की आजादी रोकने के लिए वर्नेकुलर प्रेस एक्ट नामक कानून बना। १८७७ में नमक-कर लगा। कपास-कर लगा। आमदनी-कर लगा। शोषण सहन की सीमा पार कर रहा था। समूचे देश में एक अजीब कसमसाहट थी। तभी १८७७ में विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित करने के लिए दिल्ली में खर्चीला दरबार लगा। पर इसी दरबार ने स्वदेशी आन्दोलन को देशव्यापी बनाने की प्रेरणा भी दी। बात यह हुई कि इस दरबार में देश के गण्य-मान्य लोगों को एक साथ एकत्र देखकर तत्कालीन बंगाल के एकछत्र नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के मन में एक देशव्यापी संगठन बनाने की प्रेरणा जगी। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १८७६ ई० में कलकत्ता में इण्डियन ऐसोसिएशन नामक एक संस्था कायम की थी एक मजबूत जनमत के निर्माण के लिए, भारतीय एकता के लिए और हिन्दू-मुस्लिम दोस्ती के लिए। इटली के उद्धारक मेजिनी इनके आदर्श थे। सबसे बड़ी घटना घटी १८८५ में जब अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई। अभी तक यह रहस्य है कि अखिल भारतीय कांग्रेस की कल्पना किस दिमाग ने की। लेकिन श्री ह्यम १ ने इस सम्बन्ध में पहला कदम उठाया। १८८३

ई० में इन्होंने एक राष्ट्रीय सभा कायम करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्रों के नाम एक सुप्रसिद्ध चिट्ठी लिखी थी। २३ मार्च १८८५ को इन्होंने एक गश्ती चिट्ठी (नोटिस) निकाली जिसमें लिखा था कि '२५ से ३१ दिसम्बर १८८५ तक पूना में इण्डियन नेशनल यूनियन की एक सभा की जाएगी।......अप्रत्यक्ष रूप से यह सभा एक देशी पार्लमेन्ट का वीज बनेगी और यदि इसका काम अच्छी तरह चलता रहा तो कुछ ही दिनों में इस आक्षेप का मुँहतोड़ जवाब होगी कि हिन्दुस्तान प्रातिनिधिक शासन-संस्थाओं के विल्कुल अयोग्य है।' लेकिन पहला अधिवेशन पूना में, हैजा हो जाने के कारण, नहीं हुआ। वह अधिवेशन बम्बई में हुआ २८ दिसम्बर १८८५ को दिन के बारह बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के भवन में। कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर उमेश बनर्जी सभापति हुए। इस प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनके द्वारा भारत की माँगों का बनना आरम्भ हुआ। यह अधिवेशन उस छोटे-से बीज की तरह था जिससे विशाल वट-वृक्ष निकलता है। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सभापतित्व में। इसमें भारतीय कौंसिल में सुधार करने के लिए एक योजना उपस्थित की गई। १८८६ से १८९१ तक के अधिवेशनों में इस प्रस्ताव को दुहराया गया। १८९२ में भारतीय कौंसिल सुधार-सम्बन्धी कानून पास हो गया। इससे कांग्रेस का हौसला बढ़ा। निर्भीकता से अधिकारों की माँग होने लगी।

इसी समय भारतीय राजनीति में एक अलौकिक व्यक्तित्व का आगमन हुआ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के रूप में। महाराष्ट्र के इस अद्वितीय नेता ने १८९३-९४ में महाराष्ट्र में राजनैतिक चेतना के प्रसार के लिए दो

---

१. श्री ह्यम १८७० से १८७९ तक भारत सरकार के मंत्री रहे किन्तु अपनी ईमानदारी और स्वतंत्र विचार के कारण इन्हें वहाँ से हटना पड़ा था। तब वे भारतीय आन्दोलन में कूद पड़े।

उत्सव चलाये 'गणेश-उत्सव' और 'शिवाजी-उत्सव'। ये वस्तुतः सांस्कृतिक-राजनैतिक उत्सव थे। हजारों की संख्या में लोग इकट्ठे होते और राजनैतिक विषयों पर विवाद करते। राजनैतिक जागृति के लिए इन्होंने 'केसरी' और 'मरहटा' नाम के पत्र भी निकाले। १८९७ में इन पर राजद्रोह का मुकदमा चला और इन्हें १८ मास की कड़ी कैद की सजा दी गई। स्वराज्य का मंत्र तिलक ने ही दिया था और कहा था 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर ही रहूँगा।'

इस प्रकार कांग्रेस में सरगर्मी आ रही थी यद्यपि १८८५ से १९०५ तक उसने शान्तिपूर्ण आन्दोलन ही चलाया।

तभी एक विस्फोट हुआ। ७ अगस्त १९०५ को सरकार ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट देने की घोषणा की। बंगाल में तूफान आया। सारा देश झनझना उठा। बंग-भंग के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन हुआ और साथ ही विदेशी चीजों के वहिष्कार की शपथ ली गई। १८ अक्टूबर को रक्षाबंधन का दिन मनाया गया। अजीब समा था। लोग एक दूसरे के हाथ पर राखी बाँधते और नारा लगाते 'हम एक हैं।' सचमुच राखी के इस धागे ने समूचे देश को एक राजनैतिक एकता में बाँध दिया। इस वर्ष गोपालकृष्ण गोखले के सभापतित्व में जो कांग्रेस का अधिवेशन काशी में हुआ उसमें पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने सिंहर्गजन करते हुए कहा कि अब हमने गिड़गिड़ाने की नीति छोड़ दी है।

राजनीतिक वातावरण कुछ और गर्म हुआ। बंगाल में सशस्त्र क्रांति का सूत्रपात हुआ। कांग्रेस में दो दल हो गए—एक नरम दल और दूसरा गरम दल। गरम दल में लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल प्रसिद्ध थे। यह त्रिमूर्ति लाल-बाल-पाल के नाम से भारतीय इतिहास में अमर हैं। बंग-भंग-आन्दोलन को दबाने की सरकार ने भरपूर कोशिश की, पर परिणाम उल्टा हुआ। उधर बंगाल की आग पंजाब पहुँची। १९०७ में यह प्रदेश एकाएक जोर से भभक उठा। यदि बंगाल में 'के बले मा तुमि अबले' का स्वर गूँज रहा था तो उधर पंजाब में 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा'

का नारा बुलन्द हो रहा था। जाटों की इस जागृति और स्वराज्य के नारों से सरकार बौखला गई। पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय, और सरदार अजित सिंह निर्वासित किये गए। बंगाल से नौ नेता निकाले गए। पर इस निर्वासन ने विद्रोह की चिनगारियों को घर-घर पहुँचा दिया। उधर कलकत्ता में क्रांतिकारियों का एक दल तैयार हो गया था। नेता थे श्री अरविन्द घोष के भाई वारीन्द्र कुमार घोष। इस दल के दो युवक मुजफ्फरपुर आए जहाँ ३० अप्रैल १६०८ को खुदीराम बोस ने कलकत्ते के अनेक राजनैतिक मुकदमों में कठोर फैसला देकर आनेवाले मुजफ्फरपुर के जिला-जज की गाड़ी पर बम फेंका। १८ वर्ष के खुदीराम बोस फाँसी पर चढ़ गए। उनके साथी प्रफुल्ल चाकी जब पकड़े गए तो उन्होंने आत्महत्या कर ली। शहीद खुदीराम बोस की तस्वीर देश के कोने-कोने में टँग गई। फिर तो तलाशियों की धूम मच गई। ४० व्यक्ति गिरफ्तार हुए जिनमें प्रमुख थे श्री अरविन्द घोष, वारीन्द्र घोष, उपेन्द्रनाथ बनर्जी, उल्लासकर दत्त, हेमचन्द्र दास। अलीपुर में मुकदमा चला। इसलिए यह अलीपुर बमकेस के नाम से प्रसिद्ध है।

उधर प्रवासी भारतीयों का दक्षिण अफ्रिका में आन्दोलन चल रहा था, इसी अंग्रेजी सरकार के प्रति जो दक्षिण अफ्रिका में बसे भारतीयों को तंग कर रही थी। इस सत्याग्रह-आन्दोलन के सूत्रधार थे तत्कालीन राजनीति की सबसे बड़ी प्रतिभा महात्मा गांधी।

राष्ट्रीय आन्दोलन रंग पकड़ता गया। अंग्रेज भी जानते थे कि बंग-भंग को रद्द किए बिना शांति का होना असम्भव था। फलतः १६११ में बंग-भंग रद्द कर दिया गया और राजधानी कलकत्ता से दिल्ली चली गई।

१६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध छिड़ा। इसमें भारतीय सेनाओं ने बड़ी वीरता दिखाई और अंग्रेजों को जर्मनी के संकट से बचाया। मगर भारत को इससे कोई लाभ न हुआ। १६१४ ई० में मद्रास-कांग्रेस के सभापति-पद से श्री भूपेन्द्रनाथ वसु को कहना पड़ा कि—'यदि भारत में अंग्रेजी शासन का अर्थ नौकरशाही का गोला-बारूद ही है, यदि इसका अर्थ पराधीनता और भारत की आत्मा पर बढ़ता हुआ भार ही है, तो यह सभ्यता का शाप और

मनुष्यता पर कलंक ही है।' पर इसी समय कांग्रेस के रंगमंच पर दुर्गा-सी शक्ति एवं ओज रखनेवाली एक अंग्रेज महिला आईं। उनका नाम था श्रीमती एनी बेसेण्ट। वे धर्म से राजनीति के क्षेत्र में आई थीं। उन्होंने भारत के अधिकारों को इनाम या दान के रूप में नहीं बल्कि जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में पेश किया था। उन्होंने 'जैसे के साथ तैसा' का विचार भी उपस्थित किया था। १९१४ में तिलक जेल से बाहर आए और सदा की तरह एक दुर्जेय उत्साह से स्वराज्य का आन्दोलन चलाया जिसे होमरूल-आन्दोलन कहते हैं। पर तभी गोखले की अचानक मृत्यु हो गई। आजादी का एक पाया टूट गया। लेकिन तिलक ने उत्साह बनाए रखा। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस एक विराट् ऐतिहासिक घटना है। इसमें गरम दल और नरम दल मिलकर एक हो गए। इसमें तिलक आए, माता एनी बेसेन्ट आईं और आए महात्मा गांधी। इसी साल तिलक ने होमरूल-लीग नामक संस्था स्थापित की। इसके तुरंत बाद इसी साल एनी बेसेन्ट ने भी अखिल भारतीय होमरूल-लीग की स्थापना की। होमरूल-आन्दोलन बड़े वेग से बढ़ा। जवाहरलाल जैसे नेता अपनी जवानी का समूचा तेज लेकर इस आन्दोलन में कूदे। राजगोपालाचारी आए, मौलाना अबुल कलाम आजाद आए। आखिर माता बेसेन्ट और उनके साथी नजरबन्द किए गए। मगर जंगल की आग की तरह आन्दोलन फैलता गया। १९१७ में देश ने माता बेसेन्ट को कांग्रेस की सभानेत्री बनाया और उनके होमरूल-लीग के झंडे को अपना झंडा बनाया जिसके नीचे नजरबन्दों को छुड़ाने के लिए सत्याग्रह की एक योजना बनी।

इधर अनायास ही सत्य और अहिंसा की भूमि बिहार में सत्याग्रह का सूत्रपात हो गया। यह चम्पारण-सत्याग्रह हमारे इतिहास का पहला गांधीवादी सत्याग्रह है और है गांधी-युग के आरम्भ की पहली अंगड़ाई। चम्पारण उत्तरी बिहार का एक जिला है। यहाँ कुछ गोरों ने बेतिया महाराज आदि से जमीन के बड़े-बड़े इलाके अपने हाथों में ले लिए और वहाँ के किसानों से अपने लिए नील की खेती शुरू करवाई। बड़ी आमदनी हुई। नील के अनेक कारखाने खुले। रिवाज के अनुसार प्रत्येक किसान को अपने अच्छे-से-

अच्छे तीन कट्ठे खेत में नील बोना पड़ता था। यह निराली प्रथा 'तिन कठिया' के नाम से प्रसिद्ध थी। इससे किसानों को कोई लाभ न था क्योंकि मजदूरी नाममात्र को मिलती थी। पर कोई शिकायत नहीं कर सकता था। यदि किसी ने जीभ खोली तो उसे पिटवा देना, उसे मुर्गीखाने में बन्द कर देना, उसके मकान को लूट लेना, अछूतों को उसके घर पर बिठा देना, उसके नाई, धोबी, चमार आदि बन्द कर देना निलहे गोरों के लिए मामूली बात थी। फिर ५० तरह के नजराने वसूल किये जाते। यदि साहब हवा-खोरी के लिए पहाड़ पर जाते तो किसानों को 'पहाड़ही' नामक नजराना देना पड़ता। यदि साहब को सवारी के लिए घोड़ा चाहिए तो किसानों को 'घोड़ासाही' नामक लगान देना पड़ता और यदि हाथी या हवागाड़ी चाहिए तो 'हथियाही' या 'हवाई' देना पड़ता। गरज यह कि निलहे कोठीवालों का हर खर्च किसानों के माथे पड़ता। पर २० वीं सदी के आरम्भ में नकली नील के आविष्कार ने असली नील की खेती को भारी धक्का दिया। नील के कारखाने बन्द होने लगे। किन्तु धूर्त्त गोरों ने इस घाटे को भी किसानों के माथे मढ़ दिया। इन्होंने किसानों को 'तीन कठिया' की कैद से रिहा कर दिया और इसके बदले उनकी लगान की दर बढ़ा कर 'शहरबेशी' के नाम से जबरदस्ती इकरारनामे लिखवाये या 'तमान' के नाम से नकद रुपए वसूल किए। इस प्रकार इन निलहे गोरों ने गरीब किसानों से कोई बारह लाख रुपए वसूल किए। हाहाकार मच गया। मगर इसी हाहाकार से हमारी आजादी का एक नया अध्याय भी खुला। जिस बिहार में गज की पुकार पर भगवान् आए थे उसी बिहार में किसानों की पुकार पर गांधी आए। १९१७ की जिस रात को गांधी जी चम्पारण के मुख्य स्थान मोतीहारी पहुँचे वह निलहे गोरों के अत्याचार की आखिरी रात थी। गांधी जी के साथ में थे बिहार के दो महान् भावी नेता बाबू राजेन्द्र प्रसाद और बाबू अनुग्रह नारायण सिंह। रास्ते में आचार्य कृपलानी भी मिल गये जो मुजफ्फरपुर में प्रोफेसर थे। आखिर सरकार को झुकना पड़ा। किसानों का बढ़ा लगान कम कर दिया गया। वसूल नकद रुपए का एक हिस्सा किसानों को लौटा दिया गया। 'तिनकठिया' की प्रथा सदा के लिए उठ गई।

अब तो गांधी जी का यश देश में फैल गया। दूसरे साल पुकार आई गुजरात के खेड़ा जिले से। १६१८ में यहाँ की सारी फसल खराब हो गई। अकाल पड़ गया। गरीब किसानों ने दरखास्त दी कि उनका लगान स्थगित हो जाना चाहिए। पर कौन सुनता है? सारे उपाय बेकार गए। तभी गरीबों के भगवान् गांधी जी आए। उन्होंने सत्याग्रह का मंत्र दिया और लोगों को स्वयंसेवक बनने को ललकारा। उनकी ललकार पर जो व्यक्ति सबसे पहले स्वयंसेवक बनने को आगे बढ़े थे वे थे सरदार बल्लभभाई पटेल, जो आगे चलकर भारतीय राजनीति के लौहपुरुष हुए। फिर तो सत्याग्रहियों का हुजूम उमड़ आया। लगान देना बन्द कर दिया गया। बहुत लोग गिरफ्तार हुए। जानवर कुर्क हुए, जमीन जब्त हुई। मगर उत्साह बढ़ता ही गया। अन्त में किसानों की विजय हुई। लगान स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार गांधी जी देश पर छा गए। भारत में साक्षात् गांधी-युग आ गया।

११ नवम्बर १६१८ को महायुद्ध का अन्त हो गया। इस युद्ध में भारत ने बहुत मदद पहुँचायी थी। पर इसके पुरस्कारस्वरूप भारत को मिला रौलट-एक्ट नामक काला कानून। इस कानून के अनुसार किसी भी व्यक्ति को सन्देह पर गिरफ्तार और नजरबन्द किया जा सकता था और लगातार जेल में रखा जा सकता था। क्रांतिकारियों से अपील करने का हक भी छीन लिया गया था। इस कानून के विरोध में १६१६ में गांधी जी के नेतृत्व में देशव्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन हुआ। देशभर में हड़ताल हुई। सभायें हुई। जुलूस निकले। गोलियाँ चलीं। अनेक लोग मरे। बहुत लोग गिरफ्तार हुए। मगर गांधी जी की गिरफ्तारी से बहुत उत्तेजना फैली। अहमदाबाद और कलकत्ता में गोलियाँ चलीं। अनेक जन शहीद हुए। पर सबसे बड़ी घटना घटी अमृतसर के जालियाँवाला बाग में। जालियाँवाला बाग शहर के बीच में एक खुला स्थान है। उसके चारों ओर मकान हैं। आने-जाने का एक ही रास्ता है, सो भी इतना संकड़ा कि उससे होकर एक गाड़ी भी नहीं निकल सकती। १३ अप्रेल १६१६ को इस बाग में एक सभा हो रही थी। अचानक

जेनेरल ओडायर नामक एक अंग्रेज फौजी अफसर सौ हिन्दुस्तानी और पचास गोरे सैनिकों के साथ आया और आते ही गोली चलवा दी। सोलह सौ फायर किए गए। गोली तब तक चली जब तक कारतूस खाली न हो गए। स्वयं सरकार के बयान के अनुसार ४०० आदमी मरे और करीब दो हजार घायल हुए। पंजाब में अत्याचारों की सीमा न रही। हवाई जहाज से गाँवों में गोलियाँ चलाई गईं। लोगों को नाक के बल चलाया गया। पर जोश नहीं कमा। आँसू पोंछने के लिए सरकार ने एक जाँच कमिटी बनाई। कांग्रेस ने इस सरकारी कमिटी का बहिष्कार किया और अपनी कमिटी बनाई। गांधी जी ने थोड़े समय के लिए सत्याग्रह स्थगित कर दिया। पर कुछ ही महीनों बाद १९२० में सत्याग्रह का डंका फिर बजा। यह असहयोग-आन्दोलन पंजाब के अत्याचारों के साथ ही खिलाफत के प्रश्न को लेकर उठा था। गांधी की आँधी फिर आई। १ अगस्त को असहयोग आरम्भ होनेवाला था। ठीक उसके कुछ ही क्षण पहले ३१ जुलाई की आधी रात को तिलक का देहान्त हो गया। ऐसा लगा कि क्रांति का एक युग सो गया और उसी के आशीर्वाद से एक नया युग उठ खड़ा हुआ।

१९२१ में यह असहयोग-आन्दोलन तूफान बन गया। असंख्य व्यक्ति कांग्रेस के सदस्य बने। स्वराज्य-कोष में १५ लाख रुपए आए। बीस लाख चर्खे चलने लगे। १ अगस्त को सभी कांग्रेसियों ने विदेशी वस्त्र छोड़कर खद्दर धारण कर लिया। माथे पर गांधी टोपी चढ़ी। इस गांधी टोपी और तिरंगे से लैस सत्याग्रही स्वयंसेवकों की कभी न खत्म होनेवाली फौज सागर की तरह लहरा रही थी। विदेशी वस्त्रों और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग होने लगी। सदा की तरह दमन का भयावह चक्र चला। जगह-जगह गोलियाँ चलीं। अनेक शहीद हुए। २०–२१ के असहयोग-आन्दोलन में लगभग ५० हजार आदमी जेल गए। पर एक अशुभ घटना हो गई। उत्तर-प्रदेश में गोरखपुर के निकट चौरी-चौरा नामक स्थान है। ५ फरवरी १९२२ को वहाँ एक जुलूस निकला। सिपाहियों को देखकर यह भीड़ इतनी उत्तेजित हुई कि उसने २१ सिपाहियों और एक दारोगा को थाने में बन्द कर आग लगा दी।

सब जल मरे। इस दर्दनाक घटना से मर्माहत होकर गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। अनेक कांग्रेसी नेताओं ने इसके लिए गांधी जी की आलोचना की। पर गांधी जी ने कुछ नहीं कहा। एक तूफान आया और निकल गया। गांधी जी पर्वत की तरह अटल रहे। सरकार से यह देखा नहीं गया। उसने १३ मार्च को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह के अपराध में उन्हें छः वर्ष की सजा दी।

इसके बाद देश के आन्दोलन के इतिहास में एक उतार का समय आता है। १९२३–२४ में कई जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए। हिन्दू-मुस्लिम मेल का वह पुराना दृश्य कैसे बदल गया? लगा कि एक नवयुवती अचानक विधवा हो गई। गांधी जी ने, जो बीमारी के कारण जेल से छोड़ दिए गए थे, साम्प्रदायिक दंगे रोकने के लिए इक्कीस दिनों का ऐतिहासिक उपवास किया। इसका बड़ा अनुकूल असर हुआ। वस्तुतः १९२३ से १९२८ तक का समय कांग्रेस की तैयारी और रचनात्मक कार्यक्रम का समय है। इसी १९२८ में भारत की शासन-व्यवस्था की जाँच के लिए साइमन-कमीशन नामक एक जाँच-समिति इङ्गलैण्ड से भारत आई। चूँकि इस कमीशन में कोई भारतीय न था, इसलिए कांग्रेस ने इसके विरोध का निश्चय किया। इस कार्यक्रम ने आजादी के आन्दोलन को फिर उभार पर ला दिया। ३ फरवरी को कमीशन बम्बई में उतरा। उस दिन देश भर में हड़ताल मनाई गई। मद्रास में गोली चली। तीन शहीद हुए। कलकत्ते में विद्यार्थियों और पुलिस में मुठभेड़ हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया, विरोधी प्रदर्शन हुए। काले झंडे दिखाए गए। 'साइमन लौट जाओ' के गुब्बारे उड़ाए गए, काली पतंगें उड़ाई गईं, तख्ते दिखाए गए। आसमान नारों से गूँज उठा—'साइमन लौट जाओ। साइमन लौट जाओ। भारत भारतीयों का है। भारत भारतीयों का है।' ३० अक्टूबर को कमीशन लाहौर पहुँचा। विरोधी जुलूस निकला। जुलूस के नेता थे पंजाब के शेर लाला लाजपत राय। जब जुलूस स्टेशन पहुँचा तो पुलिस ने उस पर अंधाधुन्ध लाठियाँ बरसाना शुरू कर दिया। लालाजी की छाती पर लाठियाँ पड़ने लगीं। किन्तु वे अपनी जगह से टस से मस न हुए। उसी

शाम को लाहौर में विराट् सभा हुई जिसमें लाला जी ने कहा—'मेरी छाती पर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील बनेगा।' १७ दिनों के बाद लाठियों की इसी चोट से लाला जी की मृत्यु हो गई पर उनके वचन असत्य न हुए। जिस दिन यह कमीशन लखनऊ आया उस दिन तो कई वार निहत्थी और शाँत भीड़ पर लाठी-चार्ज किया गया। भीड़ पर घोड़े दौड़ा दिए गए। जवाहरलाल तक पर डंडे वरसाये गए। जव कमीशन पटना पहुँचा तो विरोधी प्रदर्शन के लिए ५० हजार की भीड़ इकट्ठी थी। एक भी गैरसरकारी आदमी स्वागत में नहीं गया।

१९२८ में एक और बड़ी घटना हुई—बारडोली का सत्याग्रह। बारडोली गुजरात की एक तहसील है। वहाँ के किसानों के विरोध करने पर भी सरकार ने २२ प्रतिशत मालगुजारी बढ़ा दी। किसानों में असंतोष फैला। उन्होंने लगान न देने और सत्याग्रह करने का निश्चय किया। सरदार बल्लभ भाई पटेल ने नेतृत्व किया। घोर दमन हुआ। बहुत जब्तियाँ और गिरफ्तारियाँ हुईं। मगर कानी कौड़ी भी देने पर कोई तैयार न हुआ। टाइम्स आफ इंडिया के संवाददाता ने लिखा था—'बारडोली से अंग्रेजी शासन उठ चुका है।' आखिर सरकार को झुकना पड़ा। कैदी छोड़ दिए गए। लगान कम हो गया। बारडोली में विजयोत्सव मनाया गया।

उधर देश में आतंकवादियों का जोर भी बढ़ रहा था। १९२७ में प्रसिद्ध काकेरी षड्यंत्र केस हुआ जिसमें २१ व्यक्तियों पर ब्रिटिश हुकूमत को उलट देने का मुकदमा चला। इस केस में जो एक व्यक्ति नहीं पकड़ा जा सका वह था महान् क्रांतिकारी चन्द्रशेखर आजाद। मुजरिमों की तरफ से पंडित गोविन्दवल्लभ पंत भी एक वकील थे। इस केस में राम प्रसाद विस्मिल, राजेन्द्रनाथ लाहिरी और रौशन सिंह को फाँसी तथा अनेकों को ५ से १४ वर्ष की सजाएँ मिली थीं। मगर यह सब को मालूम है कि फाँसी की सजा सुनने के बाद रामप्रसाद विस्मिल का वजन बढ़ गया था और जब अंतिम पुकार हुई उस समय वे गीता पढ़ रहे थे। तब उनका यह प्रिय गीत लाखों कंठों ने गाया था—

सर फरोसी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजु-ए कातिल में है ।।

८ अप्रैल को दिल्ली के असेम्बली-भवन में दो वम गिरे। पकड़े गए सरदार भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव और उनके साथी। लाहौर-षड्यंत्र केस चला। इन तीनों को फाँसी दे दी गई। ये 'वन्देमातरम्' का उच्चारण करते हुए सूली पर चढ़े। इसी १९२९ में प्रसिद्ध मेरठ-षड्यंत्र-केस चला।

तभी कांग्रेस की वागडोर जवाहर लाल नेहरू के हाथ में आई। १९२९ में लाहौर-कांग्रेस हुई। सभापति की हैसियत से जवाहर लाल नेहरू ने कहा—'मैं समाजवादी और प्रजातंत्रवादी हूँ। मैं वादशाहों और राजाओं को नहीं मानता।......हमारे सामने एक ही ध्येय है और वह है पूर्ण स्वाधीनता। और पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है ब्रिटिश प्रभुत्व और ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्णतः मुक्त होना।' कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया और ३१ दिसम्बर को ठीक आधी रात के समय सारी कांग्रेस ने मिलकर पूर्ण स्वाधीनता का झंडा फहराया। स्वाधीनता की सबसे कठिन यात्रा शुरू हुई। २६ जनवरी १९३० को देशभर में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। नगर-नगर, गाँव-गाँव में स्वाधीनता का घोषणा-पत्र पढ़ा गया। देश में एक नयी धूम मची। दमन का चक्र भी तेज हुआ। तब सबसे बड़ी घटना हुई। गांधी जी ने करो या मरो का व्रत लिया। साबरमती आश्रम में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक हुई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का निश्चय हुआ और समस्त भारत-वासियों से आग्रह किया गया कि वे लाभ-हानि छोड़कर इस अंतिम संग्राम में कूद पड़ें। यह अंतिम आन्दोलन कैसे शुरू हो? तभी गांधी जी की अन्तर्वाणी सुनाई पड़ी। नमक कानून भंग हो। फिर तो भारत के समूचे वातावरण में नमक ही नमक छा गया। निश्चय हुआ, गांधी जी साबरमती से दाण्डी जाकर नमक कानून तोड़ेंगे। दाण्डी साबरमती से दो सौ कोस दूर समुद्र के किनारे बसा एक गाँव है। १२ मार्च १९३० को गांधी जी की ऐतिहासिक दाण्डी-यात्रा शुरू हुई। साथ में साबरमती के तपे-तपाये ७९ साथी। दोनों ओर जय-जयकार करनेवालों की अपार भीड़। पहले तो

नौकरशाही को मामूली नमक के लिए यह यात्रा मजाक-सी लगी पर तुरंत ही इस जादू की लकड़ी का असर मालूम होने लगा। गांधी जी की इस पद-यात्रा में २४ दिन लगे। इसके बीच गांधी जी के भाषणों का देश पर विचित्र असर हुए। गांधी जी ने घोषणा की 'स्वराज्य नहीं मिला तो या तो रास्ते में मर जाऊँगा या आश्रम के बाहर रहूँगा।' एक दूसरे भाषण में कहा---'अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है। हम किसी को मारना नहीं चाहते, किन्त सत्यानाशी इस शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्त्तव्य है।' इन भाषणों से सारा देश प्रेरणापूर्ण हो उठा। मोतीलाल नेहरू ने अपना आनन्द-भवन कांग्रेस को दान दे दिया। बहुत लोगों ने नौकरियाँ छोड़ दीं। पाँच अप्रैल को गांधी जी ने समुद्र के किनारे से नमक उठा लिया। नमक कानून टूट गया। पूर्वनिश्चय के अनुसार अब सब जगह नमक बनाकर लोग नमक-कानून तोड़ने लगे। देश में एक छोर से दूसरे छोर तक आग लग गई। सभाओं में लाखों की उपस्थिति मामूली बात हो गई। पेशावर, मद्रास, कलकत्ता, और शोलापुर में भयंकर दमन हुआ। मद्रास और पेशावर में गोलियों से बहुत आदमी मरे। पेशावर में एक जलूस पर तीन घंटों तक गोलियाँ बरसती रहीं। अनुमानतः २-३ सौ आदमी मरे। गांधी जी को चुपके से गिरफ्तार कर यरवदा-जेल पहुँचा दिया गया। पटना में लाठियाँ चलीं। राजेन्द्र बाबू को भी चोट लगी। मगर आन्दोलन जोर पकड़ता गया। करबन्दी और बहिष्कार आन्दोलन भी चला। बिहार में चौकीदारी टैक्स न देने की अवज्ञा चली। पेशावर में एक खास घटना हुई। एक सभा में शांत बैठे हुए लोगों पर गोली चलाने का हुक्म मिला। मगर गढ़वाली सिपाहियों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया। इस कारण इन सिपाहियों पर फौजी अदालत में मुकदमा चला और १० से १४ साल तक की लम्बी लम्बी सजाएँ दी गईं। लगभग ९० हजार आदमी जेल गए।

तब सरकार का आसन डोला। समझौते का स्वांग किया गया। गांधी-इरविन समझौता हुआ। सत्याग्रही कैदी छोड़ दिए गए। तय हुआ कि भारत का भाग्यनिर्णय करने के लिए इङ्गलैण्ड में एक गोलमेज परिषद् हो और

गांधी जी कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उसमें शरीक हों। गांधी जी लन्दन के लिए रवाना हुए। लेकिन परिषद् में सफलता नहीं मिली। वह तो एक चाल थी। उस परिषद् में भेद-नीति का पुराना ढंग अपनाया गया और अछूतों को हिन्दुओं से अलग प्रतिनिधित्व देने तथा अलग जाति मानने की बात उठाई गई। बस बात विगड़ गई। गांधी जी ने कहा 'किसी ऐसे प्रस्ताव या योजना पर, जिससे कि खुली हवा में पैदा होनेवाला आजादी और उत्तरदायी शासन का वृक्ष कभी न पनप सकेगा, अपनी सहमति प्रकट करने की अपेक्षा कांग्रेस चाहे कितने वर्ष जंगल में भटकना स्वीकार कर लेगी।' परिषद् भंग हो गई। गांधी जी हिन्दुस्तान के लिए चल पड़े। इधर हिन्दुस्तान में सरकार ने गांधी-इरविन समझौते के सारे वादे तोड़ दिए। बारडोली के किसानों की पूरी जाँच नहीं हुई। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने लगान में जिस छूट की घोषणा की वह काफी नहीं थी। अतः कांग्रेस ने किसानों को सलाह दी कि वे लगान देना बन्द कर दें। बस धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं। जवाहर लाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन और शेरवानी गिरफ्तार कर लिए गए। बंगाल के नजरबन्द कैदियों पर अमानुषिक अत्याचार हुए। सीमांत-गांधी अब्दुल गफ्फार खां भी कैद हुए। ऐसी ही परिस्थिति में गांधी जी २८ दिसम्बर १९३१ को बम्बई उतरे। फलतः गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को फिर से जारी करने की घोषणा की। गांधी को ४ जनवरी १९३२ ई० को गिरफ्तार कर लिया गया। अब तो शायद ही कोई नेता बाहर था। पर सत्याग्रह फिर भी चलता रहा। कांग्रेस गैरकानूनी संस्था घोषित हुई। उसके दफ्तरों को बन्द कर दिया गया। मगर सत्याग्रह फिर भी चलता रहा। जो कोई बाहर रहता वही नेता बन जाता। हर घर कांग्रेस का दफ्तर था। ३२–३३ का आन्दोलन हर मानी में एक जन-आन्दोलन था।

१९३४ में बिहार में प्रलयंकर भकम्प हुआ। तीस हजार वर्गमील में यह भूकम्प हुआ। लगभग १० लाख वीघे खेत पर रेत छा गई। २० हजार आदमी मरे। दस लाख मकान टूटे। गांधी जी बिहार आए। सामूहिक सत्या-ग्रह बन्द कर दिया गया था, पर व्यक्तिगत सत्याग्रह चालू था। राँची और

पटना में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठकें हुईं। तय हुआ कि कौंसिल में जाकर राजनैतिक कैदियों की रिहाई कराने के अतिरिक्त उन तमाम कानूनों को रद्द किया जाएगा जो राष्ट्र की उन्नति और देश की आजादी में बाधक हैं। असेम्बलियों का चनाव हुआ। नेताओं ने, विशेषतः जवाहरलाल नेहरू ने दौरा करके जनता में एक नवीन भावावेश पैदा किया। चुनाव में कांग्रेस की शानदार विजय हुई। बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई और मध्य-प्रदेश में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। सीमाप्रांत और आसाम में कांग्रेसी प्रभाव से सरकारें बनीं। देश में एक नया जागरण आया। लेकिन १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध छिड़ा और उसमें व्यवस्थापिका सभाओं की राय लिए बिना ही, भारत को शरीक कर लिया गया तब इस नीति के विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिए।

गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया और विनोबा भावे को पहला सत्याग्रही चुना। विनोबा भावे ने सत्याग्रह किया और नारा लगाया—न एक पाई, न एक भाई। १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह का यही नारा था। सत्याग्रही एक निश्चित स्थान पर जाता और नारा लगाता—न एक पाई, न एक भाई अर्थात् इस साम्राज्यवादी युद्ध में भारत न एक पैसा देगा, न एक आदमी देगा। कल के मंत्री आज सत्याग्रह करके गिरफ्तार होने लगे। इसका बड़ा असर हुआ।

१९४१ में घटनाएँ बड़ी तेजी से बढ़ीं। २६ जनवरी को स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया और २७ जनवरी को मालूम हुआ कि सुभाषचन्द्र बोस, अपने घर के चारों ओर दिनरात बैठे रहनेवाले खुफिया विभाग के ६४ आदमियों को धत्ता बताकर, एक रहस्यपूर्ण ढंग से लापता हो गए हैं। बाद को मालूम हुआ कि यह आजादी का दीवाना देश की स्वतंत्रता की खोज में काबुल होता हुआ बर्लिन और टोकियो पहुँच गया है। उधर अन्तरराष्ट्रिय परिस्थिति बिगड़ती गई। समझौते का सिलसिला फिर शुरू हुआ। भारत सरकार ने सत्याग्रही कैदियों को छोड़ दिया। कांग्रेस ने शुभेच्छा के रूप में व्यक्तिगत सत्याग्रह उठा लिया।

सिंगापुर पर जापानियों ने कब्जा कर लिया। अब युद्ध भारत के दरवाजे पर आ गया था। तब ब्रिटेन की आँख खुली। ब्रिटिश सरकार की ओर से अप्रैल १९४२ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स समझौता करने भारत आए। दो हफ्तों तक बातें चलती रहीं। ब्रिटिश सरकार की ओर से कहा गया कि युद्ध के बाद भारत की स्वतंत्रता को वह स्वीकार करेगी किन्तु युद्धकाल में स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की मांग उसने स्वीकार नहीं की। अतः समझौता टूट गया। गांधी जी ने सरकार के इस प्रस्ताव के बारे में कहा कि 'यह तो एक दिवालिया बैंक पर बाद की तारीख का चेक है।'

देश में फिर सरगर्मी आई। गांधी जी एक नयी भूमिका में आ गए थे। उनका रुख अभूतपूर्ण ढंग से कड़ा था। उन्होंने कहा—'अबकी बार कहीं पर भी नहीं रुकेंगे, आगे बढ़ते चले जायेंगे, इसकी परवाह नहीं करेंगे कि चौरीचौरा हो या शोलापुर हो।' ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में कहा गया कि 'भारत में ब्रिटिश शासन के अन्त हो जाने पर ही युद्ध का भविष्य निर्भर है। खतरे को देखते हुए भारत को स्वतंत्र कर देने और ब्रिटिश आधिपत्य को समाप्त कर देने की आवश्यकता है। स्थिति में सुधार तभी हो सकता है जब भविष्य की गारंटियाँ न देकर तुरंत भारत छोड़ा जाय।' इस प्रस्ताव को पेश किया क्रांति के देवदूत पं० जवाहरलाल नेहरू ने। मगर अंग्रेजी सरकार तो दमन का भरोसा किए बैठी थी। तूफान के लिए चट्टान चाहिए। इसलिए कांग्रेस ने आन्दोलन की बागडोर गांधी के हाथों में दी और तब एक मंत्र गूँजा—"करो या मरो।' यह राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की आवाज थी। सेनानायक गांधी ने कहा—'अब क्या करना है, वह सुना दूँ।......मैं नमक की सुविधा या शराब-बन्दी लेने नहीं जा रहा हूँ। मैं तो एक ही चीज लेने जा रहा हूँ, आजादी। नहीं देना है तो कत्ल करे। मैं वह गांधी नहीं जो बीच में कुछ चीज लेकर आ जाय। आप को तो एक मंत्र देता हूँ—करो या मरो।', उसी रात गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए। दूसरे दिन अर्थात् ९ अगस्त १९४२ को देशभर के प्रमुख नेता गिरफ्तार हो गए। बारूद में आग लग

गई। जुलूस, सभाएँ, पिकेटिंग, प्रदर्शन! अंग्रेजी राज अंत कर डालने का बीड़ा! १०-११ अगस्त तक समूचा भारत बलिदानों के खून से लाल हो गया। विहार क्रांति की अगली कतार में खड़ा था। ९ अगस्त को पटना के विद्यार्थियों का एक जुलूस सेक्रेटेरियट पर झंडा लगाने चला। उस पर गोली चली। सात छात्र शहीद हुए। सेक्रेटेरियट के फाटक पर आज भी उनका स्मारक खड़ा है। फिर तो झंडे पर शहीद होने को सारा बिहार उमड़ आया। झंडा-सत्याग्रह की अन्य घटनाएँ भी असाधारण हैं; एक डुमराँव की और दूसरी सिवान की। डमराँव में १६ अगस्त को पाँच हजार का एक बड़ा जुलूस झंडा फहराने निकला। कपिल मुनि नामक एक नौजवान अगुआ थे। उन्हें गोली मार दी गई। मगर ज्यों ही कपिल मुनि गिरे त्यों ही उनके हाथ के झंडे को लेकर रामदास लोहार आगे बढ़े। उन्हें भी गोली मार दी गई। तब ६० वर्ष के एक वृद्ध आगे बढ़े। उन्हें भी मार डाला गया। तब १९ वर्ष का एक किशोर गोपाल राम आगे बढ़ा। वह भी गोली का शिकार हुआ। मगर झंडा रुका नहीं, झुका नहीं। १९४२ की क्रांति की यह एक अमर घटना है। सेवान थाने पर झंडा फहराने के लिए प्रान्त के पुराने कार्यकर्त्ता श्री फुलेना प्रसाद चले। उन्हें गोली लगी, पर उनके पाँव नहीं रुके। उन्हें एक-एक कर आठ गोलियाँ लगीं, पर आठ गोलियों तक फुलेना प्रसाद बढ़ते ही गए। नवीं गोली माथे में लगी और उनके सिर के टूकड़े-टुकड़े हो गए। उनकी पत्नी श्रीमती तारावती साथ थीं। उन्होंने साड़ी फाड़ कर अपने पति के सिर को बाँध दिया और खुद झंडा लगाने चली। कौन रोके? झंडा लग गया। पर जब वे लौटीं तो फुलेना प्रसाद शहीद हो चुके थें। ४२ के इतिहास में अमर शहीद फुलेना प्रसाद और वीरांगना तारावती की जोड़ी को कोई भूल नहीं सकता।

सरकार ने नेताओं को अचानक गिरफ्तार करके एक चालाकी की थी। मगर सरकार से एक भूल हो गई। १२ अगस्त के अखबारों में भारत-सचिव श्री एमरी का एक भाषण छपा जिसमें उन्होंने बताया था कि इस आन्दोलन में कांग्रेस ने जो काम करना चाहा था वह था—'उद्योग-धंधों,

व्यापार, राज्य-परिचालना, अदालत आदि में हड़ताल करना, टेलीग्राफ और टेलीफोन के तार काटना तथा फौज की भर्ती करनेवाले केन्द्रों पर धरना देना।' बात चाहे जो हो पर जनता को जैसे एक सूत्र मिल गया। फिर तो टेलीग्राफ और टेलीफोन के तार कटने लगे, रेल की पटरियाँ उखाड़ी जाने लगीं। थानों पर कब्जा किया गया। अनेक दिनों तक ऐसा लगा कि हिन्दुस्तान से ब्रिटिश शासन उठ गया है। १९ अगस्त तक उत्तर-प्रदेश के बलिया जिले की प्रधान जगहों पर क्रांतिकारियों का कब्जा हो गया। २० अगस्त को बलिया में प्रजातंत्र घोषित हुआ। क्रांतिकारी चीतू पांड़े प्रथम जिलाधीश हुए। आसाम में चारीगाँव, हाथीगढ़, तेवका आदि स्थानों में स्वतंत्र राज्य की घोषणा हुई। बंगाल के महिपादल की २० हजार जनता ने अपनी स्वतंत्रता का एलान किया। समूचे हिन्दुस्तान में लगभग ऐसा ही नजारा था। पर शीघ्र ही शहरों में गोरी फौजें आ गईं। हर चौराहे पर फौज! स्कूल-कालेज खाली कर दिए गए। वे फौजी पड़ाव बन गए। दमन की आँधी चली। बेशुमार लोग गिरफ्तार हुए। कम-से-कम १५ हजार आदमी गोलियों के शिकार हुए। करोड़ों की सम्पत्ति लूटी गई। नृशंसता बेपर्दा होकर नाच उठी थी। अनेक लोग भूमिगत हो गए थे, जैसे अच्युत पटवर्धन, बालकृष्ण केसकर, श्रीमती अरुणा आसफ अली, श्रीमती सुचेता कृपलानी प्रभृति। इन छिपे हुए लोगों की एक अंतरंग कमिटी थी जो निर्देश के पर्चे छपवाकर बँटवाती थी और बुलेटिन निकालती थी। इनके द्वारा एक रेडियो-स्टेशन भी चलता था। क्रांतिकारी आकाशवाणी के इस केन्द्र से आन्दोलन के समाचार और आदेश दिए जाते थे। दीपावली की अँधेरी रात को जयप्रकाश नारायण अपने साथियों को लेकर हजारीबाग जेल से निकल गए जैसे जनता की निराश घड़ियों में दीप जलाने के लिए। ४२ के आन्दोलन में अनेक जगहों पर सरकारी हिंसा का जवाब हिंसा से दिया गया था। इसके प्रायश्चित्त में गांधी जी ने १० फरवरी १९४३ से २१ दिनों का अनशन किया। २१ फरवरी को तो नाड़ी छूट गई थी। पर वे बच गए। डाक्टरों ने इसे दैवी चमत्कार कहा। पर सरकार ने गांधी जी को नहीं छोड़ा। जेल में माता

कस्तूरवा की २२ फरवरी १९४४ को मृत्य हो गई। तव गांधी जी ४ मई १९४४ को छोड़ दिए गए। फिर धीरे-धीरे अन्य नेता भी छोड़े जाने लगे। जवाहरलाल ने छूटते ही भारतीय जनता को ४२ के आन्दोलन पर बधाई दी।

६ मई १९४४ को एक वार फिर समूचे देश में एक नई सनसनी दौड़ गई। नेताजी सुभाषचन्द्र वोस जापान के आजाद हिन्द रेडियो पर वोल रहे थे—'भारत की आजादी की आखिरी लड़ाई शरू हो गई है। इस समय आजाद हिन्द फौज भारत की जमीन पर लड़ रही है और अनेक कठिनाइयों के वावजूद धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से आगे वढ़ रही है। यह फौजी लड़ाई तव तक चलेगी जव तक सभी अंग्रेज भारत से बाहर नहीं चले जाते तथा हमारा तिरंगा झंडा नई दिल्ली के वायसराय-भवन पर शान के साथ नहीं लहराता।' यह फौज आसाम के मणिपुर के करीब पहुँच गई थी। देश में हलचल मची। वायसराय लार्ड वेवेल ने एक वार फिर समझौते की बात-चीत शुरू की किन्तु मुस्लिम लीग के अध्यक्ष जिन्ना के दुराग्रह के कारण वार्ता असफल रही। उधर युद्ध में जापान हार गया। नेताजी की आजाद हिन्द फौज के लोग पकड़े गए। ५ नवम्बर १९४५ को दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में एक फौजी अदालत के सामने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला। तभी आजाद हिन्द फौज की पूरी बातें मालूम हुईं। मालूम हुआ १९४२ के १५ जून को यह फौज जापान में प्रवासी भारतीयों ने बनाई थी। शीघ्र ही इसकी संख्या ३० हजार हो गई। जब सुभाषचन्द्र बोस जर्मनी से जापान पहुँचे तब २१ अक्टूबर १९४३ को आजाद हिन्द सरकार की स्थापना हुई। सुभाषचन्द्र वोस राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री और महासेनानायक हुए। आजाद हिन्द फौज ने १९४४ के मई महीने में भारतभूमि में प्रवेश करके मोऊडूक को जीत लिया और उस स्वतंत्र भाग पर बाकायदा तिरंगा झंडा फहराया। भारत की यह मुक्तिसेना अराकान, कलादान, टिड्डिम, पलेस, कोहिमा और हाकाहम में सर्वत्र विजयी रही। इम्फाल में भी वह बहुत बहादुरी से लड़ी। अन्न नहीं, वस्त्र नहीं, सामरिक सामान नहीं, पर एक धुन सवार थी कि लाल किले पर झंडा चढ़ाकर रहेंगे। मगर वर्षा ने प्रगति रोक

दी। उधर जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया। इधर जापान भी हार गया। पर सबसे बड़ा दुर्भाग्य हुआ १६ अगस्त १९४५ को जब एक हवाई-जहाज की दुर्घटना में नेता जी सुभाषचन्द्र बोस की मृत्यु हुई। जब ये बातें मालूम हुईं तो समूचा देश आजाद हिन्द की फौज के उन बहादुरों को छुड़ाने के लिए, जिन पर लाल किले में मुकदमा चल रहा था, टूट पड़ा। जवाहरलाल भी वकील की हैसियत से अदालत में उपस्थित हुए। ये लोग रिहा हो गए। देश खुशी में नाच उठा।

उधर इङ्गलैण्ड में मजदूर सरकार (लेबर पार्टी की सरकार) स्थापित हो चुकी थी। उसकी ओर से एक सचिव-मंडल (कैबिनेट मिशन) भारतीय नेताओं से समझौते की बातचीत करने आया। दिल्ली और शिमला में हफ्तों बातचीत चली। मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री जिन्ना अड़ंगा लगाते रहे। विवश होकर मुस्लिम लीग के सहयोग के बिना ही कांग्रेस ने केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार बनाने का निर्णय किया। २ सितम्बर १९४६ को जवाहरलाल ने दिल्ली में अन्तरिम सरकार स्थापित की और वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् (एक्जेक्यूटिव कौंसिल) को पूर्ण भारतीय रूप दिया। जवहारलाल ने वायसराय की इस परिषद् (एक्जेक्यूटिव कौंसिल) का रूप ही बदल दिया। वायसराय का हस्तक्षेप शिथिल पड़ गया। अपनी शक्ति को शिथिल होते देख लार्ड वेवेल ने मुस्लिम लीग के नेताओं को कौंसिल में शरीक होने के लिए उत्प्रेरित और आमंत्रित किया। वे राजी हो गए। तब जवाहरलाल को इस कौंसिल का फिर से संगठन करना पड़ा। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने आते ही अड़ंगेबाजी शुरू की और संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को नहीं माना। उधर मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी लड़ाई' का आन्दोलन चलाया। उसके लिए १६ अगस्त की तारीख नियत थी। उसी दिन कलकत्ता में भयानक अमानुषिक हिन्दू-मुस्लिम दंगा शुरू हुआ। तुरंत ही नोआखाली में ऐसे दंगे हुए जैसे भारतीय इतिहास में कभी न हुए थे। लूट, व्यभिचार, बलात्कार, धर्मपरिवर्तन, हत्या, अग्निकांड! बंगाल की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। पंजाब और सीमाप्रांत में भी भयंकर दंगे हुए।

गांधी जी ने कहा कि अगर विहार में दंगे शान्त नहीं हुए तो मैं आमरण अनशन कर दूँगा। विहार शान्त हो गया। एक भी घटना बाद को नहीं हुई। गांधी जी नोआखाली गए। गांधी जी को पाकर हिन्दू और मुस्लिम दोनों जातियों की जनता धन्य थी। वे जहाँ जाते वहाँ स्थिति सुधर जाती। मगर मुस्लिम लीग अशान्ति फैलाने पर उतारू थी। केन्द्र में स्थापित राष्ट्रीय सरकार कुछ करना चाहती तो मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि कोई न कोई बाधा उपस्थित कर देते। अजीब परिस्थिति थी। केन्द्रीय सरकार में दो दल। फलतः अफसरों के दो दल। भीतर अड़ंगेबाजी, बाहर सीधी लड़ाई की तैयारी! लगता था कि देश गृह-युद्ध के द्वार पर खड़ा है। यदि यह हुआ तो आजादी के सपने धूल में मिल जायेंगे। इसलिए कांग्रेस के नेताओं ने, इच्छा न रहते हुए भी, देश को दो टुकड़ों में बाँटने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। वेवेल की जगह पर अंतिम और सर्वाधिक लोकप्रिय गवर्नर जेनरल लार्ड माउंट बैटेन आए। उन्होंने बड़ी तेजी से काम किया और १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत संघ और पाकिस्तान इन दो स्वतंत्र राज्यों का जन्म हुआ।

१४ अगस्त १९४७ ई० की आधी रात को दिल्ली में स्वतंत्रता का ऐतिहासिक समारोह हुआ। आधी रात का अंतिम घंटा बजा। भारत स्वतंत्र हो गया। संविधान-सभा के सदस्यों ने उसी क्षण भारत की सेवा की शपथ ली। उसी समय समूचे देश में मशाल-जुलूस निकले। भारत स्वतंत्र है! भारत स्वतंत्र है! इन नारों से हिन्दुस्तान की सभी सड़कें गूँज उठीं।

१५ अगस्त १९४७ ई०! स्वतंत्र भारत का पहला दिन! देश भर में खुशियों का ज्वार! सुबह में प्रभात-फेरी! जागरण-घोष! स्वतंत्रता की बिगुल! दिन में प्रदर्शन! रात में दीपावली! जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री की हैसियत से लाल किले पर झंडा फहराया। उन्होंने देश के नाम पहला संदेश दिया—

'भारत में हमारे लिए, सारे एशिया के लिए और संसार के लिए, यह एक महान् क्षण है। एक नए नक्षत्र का उदय होता है, पूरब की स्वतंत्रता

के नक्षत्र का, एक नई आशा उत्पन्न होती है, एक कल्पना साकार होती है। यह नक्षत्र कभी न डूबे, यह आशा कभी विफल न हो।'

——o——

जवाहरलाल नेहरू

आज से कई साल वर्ष पहले ३१ दिसम्बर १९२९ ई० की रात को लाहौर कांग्रेस में भारतवर्ष ने पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा ली थी और उस प्रतिज्ञा-पत्र के विधाता थे पं० जवाहर लाल नेहरू जिनके बारे में लाहौर-कांग्रेस से पूर्व ही गांधी जी ने कहा था—'बहादुरी में कोई इनसे बढ़ नहीं सकता और देशप्रेम में उनके आगे कौन जा सकता है।.....वह स्फटिक मणि की भाँति पवित्र है; उनकी सत्यशीलता सन्देह के परे है। ......राष्ट्र उनके हाथ में सुरक्षित है।'

कौल कैसे नेहरू हो गए—यह एक मजेदार कहानी है। १८वीं सदी के आरम्भ में राजकौल नामक एक कश्मीरी ब्राह्मण दिल्ली आकर बस गए। चूँकि दिल्ली में उनका मकान नहर के किनारे था, वे कौल-नेहरू और बाद को केवल नेहरू कहलाने लगे। १८५७ की क्रांति के बाद यह परिवार दिल्ली से आगरा आ बसा और यहीं जवाहरलाल नेहरू के सौभाग्यशाली पिता पं० मोतीलाल नेहरू का जन्म हुआ। पं० मोतीलाल अपने समय के विख्यात वकील थे और उनके बड़े भाई पं० नन्दलाल नेहरू तो पहले से ही इस पेशे में आए थे। इसलिए जब हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो ये लोग भी इलाहाबाद आ गए। यहीं १४ नवम्बर १८८९ ई० (मार्ग शीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६) को जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ।

बचपन का नाम नन्हा था। नन्हा बड़े दुलार में पला। पिता की आमदनी अपार थी और रुपया जमा करना वे रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना समझते थे। फिर स्वरूप रानी नेहरू जैसी माँ! पर

नन्हें के बचपन में कुछ और लोग भी थे जिनकी याद जवाहर लाल को आज भी नहीं भूली। एक थे पिता जी के मित्र मुंशी मुबारक अली जिनके कुनबे को १८५७ के गदर में अंग्रेजी फौज ने जड़मूल से उखाड़ फेंका था और जो लेटे-लेटे घंटों गदर की रोमांचक बातें सुनाया करते थे, जाने किस भविष्य की प्रेरणा से। दूसरी थीं उनकी चाची जिनसे सुनकर तो इन्होंने हिन्दू ग्रंथों की पौराणिक कथाओं का एक खजाना तैयार कर लिया था। तीसरे थे उनके शिक्षक एफ० टी० ब्रुक्स जिन्होंने ११ वर्ष के जवाहर में साहित्य और विज्ञान दोनों की रुचि जगायी थी। जवाहरलाल नेहरू ने तब एक प्रयोगशाला खोल ली थी और उधर केरोल, किप्लिंग, स्काट, डिकेन्स, थैकरे, एच० जी० वेल्स आदि की पुस्तकें पढ़ डाली थीं। काव्य की रुचि तो इतने परिवर्तनों के बीच आज भी एक हद तक उनमें बनी है। एक और घटना थी रूस-जापान-युद्ध जिसने इनके मन पर गहरा असर डाला था। ये पुराने जापान के सरदारों की कहानियाँ पढ़ते। जापान के इतिहास में मानो वे मन गँवा बैठे थे। उनका हृदय राष्ट्रीय भावों से भरा रहता और वे मंसूबे बाँधा करते कि कैसे हाथ में तलवार लेकर वे हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लड़ेंगे। ऐसी ही राजनैतिक चेतना लेकर १९०५ ई० में पन्द्रह साल की उम्र में इङ्गलैण्ड रवाना हुए। हैरो और फिर केम्ब्रिज में भर्ती हुए। १९०६–७ ई० की हिन्दुस्तानी खबरें इन्हें बेचैन करती रहीं। लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह को देशनिकाला दिया गया था। तिलक का नाम बिजली की तरह चमक रहा था। स्वदेशी बहिष्कार की आवाज की गूँज वे सुनते और भीतर-भीतर उबल पड़ते। स्कूल में गैरी-बाल्डी सम्बन्धी एक पुस्तक इनाम में मिली थी। वे गैरीबाल्डी की सभी किताबें पढ़ गए और आजादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगे और मन में इटली तथा हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गए। उन्हें अपने ऐशो-आराम की जिन्दगी से ऊब होती और वे आन्दोलन में वीरता से भाग लेना चाहते। ये बातें मन में भँवर-सा पैदा कर देतीं। केम्ब्रिज में उनके समकालीन थे—जे० एम० सेनगुप्त, सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद

और तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी। इन सब ने आगे चलकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। केम्ब्रिज में ट्राइपस लेने के बाद १९१२ में बैरिस्टरी पास की और हिन्दुस्तान लौट आए तथा उसी साल डेलीगेट की हैसियत से बाँकीपुर कांग्रेस में शामिल हुए। तिलक जेल में थे। आन्दोलन मंद था। जवाहर उदास थे। वकालत में जी नहीं लगा। शिकार खेलने गए तो एक घटना हो गई। एक छोटा-सा बारहसिंगा चोट से मर कर उनके पैरों पर गिर पड़ा और आँसूभरी आँखों से उनकी ओर देखने लगा। जवाहर की आत्मा मर्माहत हो गई।

तभी विश्वव्यापी युद्ध शुरू हुआ। राजनीतिक जीवन फिर बढ़ने लगा। तिलक जेल से बाहर आए। तिलक और मिसेज बेसेन्ट ने होमरूल लीगें कायम कीं। जवाहर लाल दोनों में शामिल हुए। मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी से उत्तेजना बढ़ी और आन्दोलन में जान आ गई। जब १९१५ में इलाहाबाद में प्रेस-कानून के विरोध में होनेवाली सभा में अपना पहला सार्वजनिक भाषण जवाहरलाल नेहरू ने दिया तब डाक्टर तेजबहादुर सप्रू ने सबके सामने उन्हें छाती लगाकर चूमा था। पर सबसे बड़ी घटना एक साल बाद (१९१६ में) लखनऊ-कांग्रेस में हुई जब जवाहरलाल की पहली भेंट गांधी जी से हुई। उसी साल जवाहरलाल की शादी बसंत पंचमी को कमला नेहरू से हुई। ये दोनों जवाहर के प्रेरणा-स्रोत रहे। १९१९ में जब तत्कालीन वायसराय ने रौलट-बिल को कानून न बनाने की गाँधी जी की अपील की परवाह न की तब देश-व्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ। गांधी जी इसके अगुआ थे। जवाहर की उलझन को जैसे एक रास्ता मिल गया। वे इस आन्दोलन में सपरिवार कूद पड़े। सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। सारे देश में हड़तालें हुईं। दिल्ली, अमृतसर और अहमदाबाद में गोलियाँ चलीं। जालियाँवाला-बाग का भीषण हत्याकांड हुआ। जवाहरलाल जाँच करने को अमृतसर दौड़े। गाड़ी के जिस डब्बे में वे चढ़े थे उसमें एक फौजी अफसर बड़े घमण्ड से कह रहा था कि एक बार मैंने सोचा कि इस सारे बागी शहर को खाक में मिला दूँ। बाद को मालूम हुआ कि यह जालियाँवाला बाग का

हत्यारा मि० डायर था। १९१९ में अमृतसर-कांग्रेस हुई। सभापति मोतीलाल नेहरू ने निमंत्रण लिखा—'पंजाब का आहत हृदय आप को बुला रहा है। आप उसकी पुकार न सुनेंगे ?' यह पहली गांधी-कांग्रेस थी। इसमें 'महात्मा गांधी की जय' का नया नारा लगा था। अब राष्ट्रीय आन्दोलन एक रूप धारण कर रहा था, एक नयी नीति का निर्माण हो रहा था।

१९२० की १ अगस्त को असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ और इसी साल जवाहरलाल नेहरू के जीवन में एक नया अध्याय खला—किसान आन्दोलन का। १९२० में प्रतापगढ़ के सैकड़ों किसान देहात से ५० मील पैदल चल-कर इलाहाबाद आए अपनी मुसीबतों की ओर जवाहरलाल का ध्यान आकृष्ट करने को। बस क्या था, जवाहरलाल उनके साथ हो लिए। जहाँ जाते गाँव के गाँव खाली हो जाते। अपार जनसमूह उनकी बातें सुनने को उमड़ पड़ता। फटे-चिटे चिथड़े पहने मर्द-औरतों पर अजीब जोश छा गया। जवाहरलाल का वह पहला तूफानी दौरा था। सभा क्या होती, तूफान आ जाता। नंगी भूखी जनता का अमिट चित्र तभी जवाहरलाल के मन में अंकित हो गया। किसान सीना तानकर, सर ऊँचा करके चलने लगे। मुकदमेबाजी कम हुई। पंचायतें कायम हुईं। जमींदार घबराये। और, यह सब कुछ कांग्रेस के १९२१ के जेल के कार्यक्रम बनने के पहले हुआ। १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया कि 'हम हैरान और परेशान हैं।' ज्यों-ज्यों हमारा तेज बढ़ा, सत्य बढ़ा, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटा। १९२१ बड़ी तना-तानी का साल था। जवाहरलाल की बहन की शादी दस मई को निश्चित थी। उसी अवसर पर सुविधा के लिए इलाहाबाद में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक भी बुलाई गई थी। अंग्रेजों को इससे बड़ी घबराहट हुई। उन्होंने समझा कि शादी के बहाने किसी क्रांति की योजना बन रही है। वे साथ में पिस्तौल लेकर घूमते। स्मरणीय है दस मई १८५७ को मेरठ में गदर हुई थी। अंग्रेज सोचते कि यह शादी नहीं बल्कि उसी गदर का सालाना जलसा है। १९२१ एक असाधारण साल था। आन्दोलन में जवाहरलाल कूदे। 'गाँव में जाओ'—नारा था। फिर तो दफ्तर और कमिटी की मीटिंग और लोगों की

४७

भीड़ ही जवाहरलाल का घर बन गयी। बड़ी-बड़ी उग्र भीड़ों में वे भाषण देते और अनुशासन कायम करते। इससे उनमें प्रबल आत्मविश्वास आया। जवाहरलाल ने स्वयं कहा है कि 'मैं भीड़ को अपनी समझता और भीड़ मुझे अपना लेती'। कलकत्ता में १९२१ में देशबन्धु दास ने भाषण दिया था— 'मैं अनुभव कर रहा हूँ कि सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना हो गया है। कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए, चाहे मैं मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।' कांग्रेस ने युवराज के भारत-आगमन का बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम रखा। सरकार भी दमन करने पर तुली थी। जेल भरने लगे। सत्याग्रह के अप्रत्याशित उत्साह से सरकार भौंचक थी। जवाहरलाल और मोतीलाल दोनों गिरफ्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सजा मिली। मुकदमा क्या था, एक तमाशा था। एक फटेहाल आदमी को इनके विरुद्ध हलफिया बयान देने को खड़ा किया गया था और जिस कागज से वह बयान दे रहा था उस फार्म को वह उल्टा पकड़े हुए था। मोतीलाल ने हिन्दी में दस्तखत किया था। पर तभी चौरी-चौरा कांड हुआ जिसके फलस्वरूप गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। जवाहरलाल जेल से वापस इलाहाबाद आए। इसके बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का आन्दोलन चला। जवाहरलाल फिर गिरफ्तार हुए और उन्हें एक साल नौ महीने की सजा मिली। १९२३ में जेल के बाहर आए और कांग्रेस कमिटी के मंत्री बने। इसके बाद एक घटना घटी—भारत सरकार ने नाभा महाराज को गद्दी से उतार दिया और एक अंग्रेज को राज्य का व्यवस्थापक नियक्त कर दिया। इसके विरोध में आन्दोलन हुआ। जैतो में सिक्खों के जत्थे रौंदे गए। आचार्य के० सन्तानम्, गिडवानी और जवाहरलाल को हवालात में बन्द किया गया। सन्तानम् और जवाहरलाल को एक ही हथकड़ी डाली गई थी और दोनों इस प्रकार जैतो के बाजार में चल रहे थे। छः महीने की सजा हुई। अदालत में इनकी पैरवी करनेवाले कपिलदेव मालवीय का कागज छीन लिया गया था। इसके बाद आप इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हुए। १९२७ ई० में मास्को गए। इसी के बाद साइमन कमीशन भारत की जाँच करने आया। उसके

बहिष्कार का आन्दोलन चला। जवाहरलाल रूस से वापस आते ही इस आन्दोलन के भँवर में पड़े। १९२८ का आन्दोलन वस्तुतः नौजवानों का आन्दोलन था। जहाँ-जहाँ साइमन कमीशन जाता नौजवान हजारों-लाखों की संख्या में आवाज लगाते—'साइमन लौट जाओ'। कहते हैं, जब कमीशन दिल्ली पहुँचा तो रात को शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेश में रहनेवाले गीदड़ों की आवाज सुनकर कहा था कि ये लोग रात को भी पीछा नहीं छोड़ते। इसी बहिष्कार-आन्दोलन में लाहौर में लाला लाजपत राय की छाती पर डंडे पड़े थे और इसी चोट से बाद में उनकी मृत्यु हो गई थी। इससे साइमन का विरोध और तीव्र हुआ। लखनऊ के बहिष्कार-जुलूस के अगुआ थे पं० जवाहरलाल नेहरू। साथ में थे पं० गोविन्दवल्लभ पंत। जुलूस को घुड़सवारों ने रोका। स्वयंसेवकों पर डंडे पड़े। घुड़सवार जुलूस को रौंदने को आगे बढ़े। पर जवाहरलाल अड़े रहे। उनके शरीर पर अनेक डंडे पड़े। उन्हें चक्कर आ गया। पर वे अपनी जगह पर अडिग रहे। स्वयंसेवकों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। पुलिस पीछे हट गई। अपार भीड़ इकट्ठी हो गई। अब किसकी हिम्मत कि जुलूस का रास्ता रोके?

१९२८ में चार सूबों के राजनैतिक अधिवेशनों के सभापति हुए। १९२९ में ऐतिहासिक लाहौर-कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। प्रस्तावक थे स्वयं महात्मा गांधी। इसी कांग्रेस में इक्तीस दिसम्बर की आधी रात के घंटे की चोट के साथ जब पिछला साल बीत रहा था और उसकी जगह नया वर्ष आ रहा था, भारत ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया। २६ जनवरी १९३० को स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। देशभर में सभाएँ हुईं और आजादी की प्रतिज्ञा ली गई। जवाहर नौजवानों के नायक थे। उन्होंने कहा कि भारत ने मेरे माथे पर कांग्रेस का ताज रखा है। जब तक यह ताज मेरे माथे पर है, यह सर किसी के सामने नहीं झुकेगा। तभी गांधी जी ने नमक-कानून तोड़ने के लिए दांडी-यात्रा की। विराट् आन्दोलन हुआ। मोतीलाल ने अपना प्यारा घर—आनन्द-भवन राष्ट्र को दान दे दिया। आनन्दभवन का नाम स्वराज्य-भवन हो गया। ऐसा लगा, मानों गांधी जी ने बटन दबा दिया और सारे देश

में नमक-कानून तोड़ने की धूम मच गई। जवाहरलाल गिरफ्तार हुए और नमक-कानून तोड़ने के लिए इन्हें छः महीने की सजा मिली। जवाहरलाल जी की बूढ़ी मां और बहनें गर्मी की तीखी धूप में विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर धरना देतीं। जगह-जगह गोलियाँ चलीं पर सीमाप्रान्त के गढ़वाली सैनिकों ने निहत्थी जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। जब जवाहरलाल जेल से छूटे तब सामने करबंदी-आन्दोलन मिला। फलतः राजद्रोह के अपराध में उन्हें फिर १८ महीने की सख्त कैद मिली। उनकी पत्नी कमला नेहरू भी गिरफ्तार हुईं। इसके वाद ही गांधी-इरविन-समझौता हुआ। विलायत में गोलमेज-परिषद् वुलाई गई। गांधी जी उसमें शरीक होने गए। पर परिषद् विफल हुई। गांधी जी लौट आए। आन्दोलन की तैयारी होने लगी। बस गांधी जी के आने के दो दिन पहले जवाहरलाल गिरफ्तार कर लिए गए। गांधी जी ने वायसराय से मुलाकात चाही पर जवाव में कांग्रेस के प्रधान वल्लभ भाई पटेल गिरफ्तार कर लिए गए। इस प्रकार आन्दोलन अनायास ही छिड़ गयी। जेल फिर भर गए।

१९३९ में आप लंका गए और हिन्दुस्तान एवं लंका में निकट सम्बन्धों की नींव डाली।

आजादी की आखिरी लड़ाई १९४२ में शुरू हुई और जवाहरलाल फिर गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए।

१९४६ में प्रान्तीय असेम्वलियों का चुनाव हुआ। कांग्रेस ने इसमें हिस्सा लिया और असाधारण रूप से सफल हुई। विहार, उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, वम्बई, मद्रास, आसाम और सीमाप्रान्त में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने। उधर इंगलैण्ड की मजदूर सरकार (लेवर पार्टी की सरकार) की ओर से एक सचिव-मंडल (कैविनेट मिशन) भारतीय नेताओं से समझौता करने भारत आया। फलस्वरूप २ सितम्बर १९४६ को जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली में अन्तरिम सरकार स्थापित की। १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र घोषित किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने आजाद भारत के प्रथम प्रधान मंत्री की हैसियत से लाल किले पर तिरंगा फहराया। उन्होंने स्वतंत्र देश के नाम

जो पहला संदेश दिया उसके कुछ शब्द हैं—'भारत आज फिर एक लंबी नींद और कोशिशों के बाद जगा है और शक्तिशाली, मुक्त और स्वतंत्र हुआ है। हमारे लिए नया इतिहास शुरू होता है.......भारत में हमारे लिए, सारे एशिया के लिए और संसार के लिए, यह एक महान् क्षण है। एक नए नक्षत्र का उदय होता है, पूरब की स्वतंत्रता के नक्षत्र का, एक नई आशा उत्पन्न होती है, एक कल्पना साकार होती है। यह नक्षत्र कभी न डूबे, यह आशा कभी विफल न हो।.....आज के दिन सबसे पहले हमें इस स्वतन्त्रता के निर्माता राष्ट्रपिता का ध्यान आता है, जो भारत की पुरानी भावना के मूर्त्त रूप होकर स्वतंत्रता की मशाल ऊँची किए हुए थे और जिन्होंने हमारे चारों ओर फैले हुए अन्धकार को दूर किया था।....हम स्वतंत्रता की इस मशाल को, चाहे जैसी आँधी और तूफान आवें, कभी बुझने न देंगे। तब से आज तक जवाहरलाल नेहरू हमारे प्रधान मंत्री हैं। उन्होंने दुनिया को पंचशील का नया दर्शन दिया है। जवाहरलाल दीर्घायु हों।

—०—

आचार्य विनोवा भावे

भूदान के जन्मदाता विनोवा भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेंगे। इस महान् पुरुष का जन्म महाराष्ट्र प्रदेश में कुलावा जिले के गागोदा गाँव में सन् १८९५ की ११ सितम्बर को हुआ। आपने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया। आपके पिता का नाम नरहरि भावे और माता का नाम रुक्मिणी देवी था। आपकी प्रारम्भिक पढ़ाई वहीं ग्राम की पाठशाला में हुई। गागोदा के ग्राम में कौन जानता था कि भारत की एक महान् विभूति छिपी हुई है। आप बहुत अधिक विश्वविद्यालय की शिक्षा में भी पढ़ नहीं सके। आपकी शिक्षा बड़ौदा के हाई स्कूल में तथा आगे की शिक्षा सिर्फ आई० ए०

तक हो सकी। लेकिन पढ़ने में और खासकर देश की शिक्षापद्धति पर आपकी रुचि नहीं थीं। मन के अन्दर एक दूसरी विचारधारा जाग रही थी। अनायास ही मन के अन्दर कहीं से पुकार आती थी और तब आप संतों की खोज में ही अधिक संलग्न रहे। १६ वर्ष की अवस्था में ही आपका पदार्पण इतिहास-प्रसिद्ध काशी नगरी में हुआ। तब से २१ वर्ष की अवस्था तक (सन् १९१६ तक) आपने वहाँ संतों के साहचर्य में समय विताये। आपको जीवन के प्रति निराशा जाग रही थी तथा विराग की भावना के प्राबल्य के कारण आप जीवन से उदासीन हो बैठे। संसार के प्रति विराग होने के कारण आपकी आत्मा में नव भावनाओं का उदय हुआ और इतनी मिहनत से हासिल किए गए अपने सारे प्रमाणपत्रों को आपने अग्नि को समर्पित कर दिया। इसके बाद महात्मा गांधी के प्रभाव में आने पर आपने नयी प्रतिज्ञा की। आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करना तथा देशसेवा के व्रत में सहयोग देना आपका उद्देश्य हुआ। इसके साथ ही साथ ज्ञान की पिपासा जगी। आपने देश के सांस्कृतिक मूल को ढूँढ़ना चाहा। विशेषत: अध्यात्म तथा दर्शन की ओर रुचि हुई। आपने विधिवत् दार्शनिक पुस्तकों का, उपनिषदों का तथा स्मृतियों का अध्ययन किया। भारतीय दर्शन के गहन अध्ययन के फलस्वरूप आप में ज्ञानोदय हुआ। एक ओर आप अध्ययन और मनन में लगे रहते और दूसरी ओर दिन-रात सेवा के कार्यों में। गांधी जी के साथ रहकर कुछ दिन आपने 'साबरमती' तथा 'वर्धा' में भी बिताये थे। उनके आदेशों पर चलने के कारण नागपुर में जब आपने सत्याग्रह में भाग लिया था तो १८ जून १९२३ को आप प्रथम बार जेल के सीकचों में बंद हुए। सन् १९२४ में आप जेल से मुक्त होकर निकले। इसी समय आप दक्षिण की ओर गए और वहाँ भगवान् के मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश पर जो रोक लगी हुई थी उसमें भाग लिया। सन् १९३२ में आप दूसरी बार पुन: जेल में डाल दिए गए। यह सजा आपको जलगाँव में भाषण देने के कारण भुगतनी पड़ी। कभी-कभी अभिशाप भी वरदान बन जाता है। आपके लिए यही सिद्ध हुआ। आप धुलिया जेल में कैद थे और वहीं मराठी साहित्य के

प्रसिद्ध लेखक साने गुरुजी से आपका सम्बन्ध स्थापित हुआ और उन्हीं के द्वारा आपकी पुस्तक गीता प्रवचन लिपिबद्ध हुई। सचमच गीता प्रवचन एक ऐसी पुस्तक है जो आपके कहने की कला पर, श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देने की शक्ति पर तथा विचारों की गहनता पर प्रकाश डालती है। तिलक की गीता भाष्य, गांधी की गीता माता के साथ ही आपकी यह रचना गीता प्रवचन अत्यन्त अनूठी है। इसमें बद्धि का विलक्षण प्रयोग और किसी बात को समझाने के लिए सरस, सुन्दर और सरल शैली का उपयोग किया गया है। विनोवा जी जब धुलिया जेल में थे तो वहीं पर आपके मन में एक बिजली कौंध उठी। आपने यह सोचा कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद आप भूदान का आन्दोलन उठायेंगे, उस समय जेल के अन्य कैदियों के लिए यह एक सुनहला स्वप्न था पर आज वह सत्य है। धुलिया जेल भूदान आन्दोलन के लिए तीर्थराज था जिसकी पवित्र भूमि में यह पावन कल्पना उत्पन्न हुई थी। जेल से मुक्त होने पर आप वर्धा में आकर रहने लगे तथा ग्रामसेवा मंडल की स्थापना आपके द्वारा हुई। गांधी जी आप पर वहुत स्नेह रखते थे और वे आश्रम में रहते हुए आप पर बहुत ख्याल रखते थे। सन् १९४१ में गांधी जी ने आपको व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन का सर्वप्रथम सत्याग्रही चुना। आप देश-सेवा के लिए कई बार जेल गए हैं। गांधी जी के आप सच्चे शिष्य हैं और उनके जीवनकाल में ही आपने ग्रामों की ओर तथा हरिजनों की ओर अपना सहयोग दिया था। सन् ४२ की क्रान्ति के समय आप एक बार पुनः जेल गए।

महात्मा गांधी के निधन के पश्चात् आपको अपना आश्रम-जीवन छोड़ देना पड़ा। आपने अपने कार्य-क्षेत्र के लिए तेलंगाना को चुना। वहाँ साम्यवादियों का दौरदौरा बढ़ रहा था इस कारण आपने तेलंगाना के पोचम--पल्ली गाँव में १८ अप्रैल १९५१ को भूदान-यज्ञ का प्रवर्तन किया। आपने यह बात बड़े दावे के साथ घोषित की कि भूमि किसी की क्रीतदासी नहीं। तेलंगाना के दयनीय किसानों की दशा सुधारने के लिए जमीन्दारों से आपने आग्रह किया कि वे भमिहीन खेतिहर मजदूरों को भूमि दें। भूदान का अर्थ

है धीरे-धीरे देश की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को बदल देना। जिस चीज के लिए अन्य देशों में रक्तपात हुए, भीषण क्रान्तियाँ हुईं, उसी को शान्तिपूर्ण तरीके से सुधारने के लिए विनोबा जी चेष्टा कर रहे हैं। सबसे महान् वस्तु तो हृदय है। कानून बनाकर जोर-जबरदस्ती से छीनी गई भूमि जमीन्दारों के मन में बहुत दिन तक दुख उत्पन्न करती रहेगी। किन्तु देश का पुण्य कार्य समझ कर दान दी गई भूमि गर्व और प्रसन्नता का विषय होगी। देश के किसानों की स्थिति यदि सुधर जाय तो देश के अधिकांश नागरिक अपने को समुन्नत समझेंगे। विनोबा जी भूदान के माध्यम से गांधी जी के रामराज्य की कल्पना को साकार करना चाहते हैं। प्रत्येक गाँव अपने में एक आदर्श ग्राम बने। वहाँ के लोग प्रेमपूर्वक रहें तथा उनके हृदय से पारस्परिक इर्ष्या-द्वेष की भावना दूर हो जाय। इस कारण गाँवों के आन्तरिक परिवर्तन के लिए विनोवा जी हर तरह से सचेष्ट हैं। वे चाहते हैं कि उनके यहाँ के कुटीर-उद्योग पनपें। वहाँ के लोग अपनी सारी चीजों में एक दूसरे को सहभागी समझें। उनके अन्तःकरण तथा मानसिक स्तर में आमूल परिवर्तन हो।

इसी भूदान आन्दोलन के साथ ही साथ अनेक आन्दोलन छिड़े हुए हैं। समाज में सभी चीजें सबके लिए हैं। जिसके पास जो कुछ हो, दूसरों की सेवा में लगा दें। जिसके पास सम्पत्ति हो वह सम्पत्ति दे, जिसके पास श्रम हो वह श्रम दे, जिसके पास बुद्धि हो वह बुद्धि दे और नहीं तो अपना जीवन दान दे दे। विनोवा के आदर्श को सरकार समझती है और इस संत के दूरदर्शी परिणामों को भाँप रही है। हमारे देश में जो चीजें बड़ी मुश्किल से होतीं, विनोवा ने उसे प्रेम से हृदय-परिवर्तन कराके कर दिया है। भूदान के द्वारा भारतीय समाज के आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रान्ति आ रही है। इसे समझने के लिए मस्तिष्क चाहिए और हृदय भी और तब तो जयप्रकाश जी का उदाहरण सम्मुख है जिन्होंने इनको समझा।

गांधीवादी दर्शन के प्रवर्तन में विनोवा का श्रेय महान् है। गांधी जी के वे शिष्य जो उनकी नीति का समर्थन करते थे आज सत्ता और अधिकार के

वश में मदांध हो रहे हैं। सेवा करनेवाला सत्ता नहीं चाहता। वह तो पाँव प्यादे चलकर उन आंगनों में जायेगा जिनके द्वार पर युग-युग से प्रतीक्षा है। विनोबा देश के हर भाग में घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं।

विनोबा संत हैं, ऋषि हैं, दार्शनिक हैं, समाजसेवी हैं और दरिद्रनारायण के नारायण हैं। इनके बहुमुखी रूपों को देखकर आश्चर्य करना पड़ता है कि कंकाल सदृश देह में भी प्राणों की अमर विभूति है।



देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजेन्द्र बाबू भारत की अन्यतम विभूति हैं। इनका जन्म सारन जिले के जीरादेई नामक ग्राम में, एक सम्पन्न परिवार में महादेव सहाय जी के घर ३ दिसम्बर १८८४ ई० को हुआ। पाँचवें-छठे वर्ष में इनकी पढ़ाई शुरू हुई और एक मौलवी साहब पढ़ाने के लिए रखे गये। इनके मौलवी साहब भी बड़े विचित्र आदमी थे और हर काम में अपनी टाँग अड़ा देते थे। इनकी पढ़ाई मकतब से शुरू हुई और पीछे ये उर्दू, फारसी की शिक्षा पाकर छपरा में पढ़ने के लिए गये। फिर पटना के टी० के० घोष एकाडमी में दाखिल हुए। १६०२ में आप मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात् बंगाल में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के हेतु इन्हें भेजा गया। कलकत्ते के प्रेसिडेंसी कालेज से आपने एम० ए० की परीक्षा पास की। आपको हमेशा छात्रवृत्तियाँ मिलती रहीं क्योंकि आप विश्वविद्यालय में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। सन् १६०७ के फरवरी या मार्च महीने में आपके बाबूजी की मृत्यु हुई और आपकी परीक्षा अगले नवम्बर में होनेवाली थी फिर भी आप उसमें प्रथम ही आये। परीक्षा देने के बाद मुजफ्फरपुर

कालेज में सन् १६०८ की जुलाई में आपने अध्यापन कार्य शुरू किया। परन्तु इससे आपको संतोष नहीं था तथा कालेज की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण आपने निश्चय किया कि वकालत पढ़ी जाय। फिर वहाँ से कलकत्ता जाकर पढ़ाई शुरू की। मार्च १६०९ में आप कलकत्ते पहुँचे थे। १९११ के अगस्त महीने से आपने बी० एल० पास करने के बाद वकालत शुरू की। बंगाल में जिस राष्ट्रीय भावना का उत्थान हो रहा था तथा बंग भग का आन्दोलन चल रहा था, उससे आपका संपर्क हुआ। १९१० में आपकी मुलाक़ात गोखले से हुई थी और तब उन्होंने इनसे यह कहा था कि देशसेवा में शरीक हो जायँ। मुल्क का दावा कुछ लड़कों पर होता है और इसलिए कि ये पढ़ने में अधिक तेज थे इन पर और भी अधिक दावा था। गोखले की सेवाभावना से ये इतने प्रभावित हुए कि उसमें शरीक होना चाहते थे परन्तु कारणवश नहीं हो सके। १९१६ के मार्च में पटने में हाई-कोर्ट खुलनेवाला था और इस कारण एम० एल० की परीक्षा पास करनी आवश्यक थी। १९१६ के मार्च में ही ये पटना आये और यहाँ वकालत करने लगे। फिर इनकी वकालत यहाँ चमक उठी। उसी समय युनिवर्सिटी के बिल के विरुद्ध एक बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ जिसमें इन्होंने भाग लिया और फिर लखनऊ में जब १९१६ के दिसम्बर में काँग्रेस की सभा हुई तो गाँधीजी से सम्बन्ध स्थापित हुआ। १९१६ की काँग्रेस में ही चम्पारन के निलहे गोरों के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ। चम्पारन का नील का प्रश्न महात्मा गाँधी के सम्मुख आया तो वे स्वयं वहाँ का दौरा करने को उत्सुक हो उठे। १९१७ में चम्पारन के सत्याग्रह में गाँधीजी ने देश में सत्याग्रह का सूत्रपात किया। गोरे निलहों के लगान सम्बन्धी कानून बना दिये गये और तब चम्पारन में जो जुल्म हो रहा था, गाँधी ने उसमें सक्रिय भाग लिया था।

इसके बाद १९१९ का समय आया। १९१९ में देश में ब्रिटिश ताना-शाही ने जलियानवाला बाग में जुल्म ढाये। अमृतसर में जहाँ काँग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था, जंगी कानून के नाम पर हत्याकांड हुआ। १९२० में

गांधीजी, देशवन्धुदास आदि ने मिलकर विचार किया तथा १९१९ में ही राजेन्द्र बाबू को देश की स्थिति देखकर बकालत छोड़ देनी पड़ी तथा गाँधी जी के साथ असहयोग आन्दोलन में शरीक हुए। उड़ीसा में १९२० में महात्मा जी के साथ आपने यात्रा की थी तथा उत्साहपूर्वक रुपये इकट्ठे किये थे। बिहार में राजेन्द्र बाबू ने उत्तर बिहार के जिलों में गाँधीजी के विचारों को फैलाया। आपके द्वारा पटने में बिहार विद्यापीठ की स्थापना में सक्रिय सहयोग मिला तथा सदाकत आश्रम की स्थापना करने में आपने अपनी सहायता दी। मजहरुलहक साहब के पास जब पटना इन्जीनियरिंग कालेज के विद्यार्थी गये तो वे स्वयं उन विद्यार्थियों के साथ जो हड़ताल करके आये थे, एक स्थान में रहने लगे, जिसका नाम सदाकत आश्रम पड़ा। हक साहब मुसलमान होते हुए भी हिन्दू लड़कों के प्रति बड़ा खयाल रखते थे। सदाकत आश्रम में चर्खे का भी कारखाना खोल दिया गया। बिहार में काँग्रेस के पुराने और वयोवृद्ध नेताओं ने जो असहयोग में भाग नहीं लिये थे, बिहार प्रान्तीय लीग की स्थापना की। सर्चलाइट द्वारा असहयोग आन्दोलन को सहयोग दिया गया और यह आश्वासन मिला कि वह असहयोग आन्दोलन का विरोध नहीं करेगा। बिहार में काँग्रेस को दृढ़ बनाने में आपका हाथ रहा है। चर्खे का प्रचार तथा खादी के प्रचार में आपने सहयोग दिया है। यहाँ तक कि जब आवश्यकता हुई है आप स्वयं स्वयंसेवकों के साथ सहायता-कार्यों में डटे रहे हैं। छपरा में जब भयंकर बाढ़ आई हुई थी तो आप स्वयं वहाँ जाकर सेवा काम में जुट गये। १९१४ की बाढ़ में आपने कलकत्ते से ही सहायता देने का कार्य आरम्भ किया था। सन् १९२३ में जब शाहाबाद में बाढ़ आई थी तो आप नागपुर के झंडा सत्याग्रह से सहायता के लिए लौट आये।

सन् १९२३ में भारतीय काँग्रेस के आप महामंत्री नियुक्त हुए। तब तक काँग्रेस में आपकी ख्याति फैल चुकी थी। उन दिनों महात्मा गाँधी बंगाल की यात्रा कर रहे थे। आप भी उनके साथ जलपाईगुरी पहुँचे थे। इसी बीच देशबन्धु की अचानक मृत्यु हुई। उनका शव कलकत्ता आया और तब महात्मा

जी कलकत्ते में रहकर कुछ रुपये देशबन्धु स्मारक में जमा कर रहे थे। आप पटना म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन भी हुए तथा प्रिवीकौंसिल के एक मुकदमे में आपने इंगलैण्ड की यात्रा भी की थी। इगलैण्ड की यात्रा में जिन नयी चीजों का सम्पर्क हुआ उनका बड़ा सुन्दर उल्लेख आपने किया है। इंगलैंड की यात्रा में इजिप्ट, भूमध्यसागर तथा रास्ते में पड़नेवाली जगहों से आप वड़े प्रभावित हुए थे। प्रिवी कौंसिल में वकीलों की जो नयी रीति है, उस पर आपने प्रकाश डाला है। स्वीटजरलैंड में आपका सम्पर्क रोमारोलाँ से हुआ था। आपने पेरिस, जर्मनी, इटली तथा आस्ट्रेलिया की भी यात्रा उसी समय की।

बिहार के काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं में आप बड़े प्रमुख रहे हैं। गाँधीजी के परम भक्त तथा अहिंसात्मक सत्याग्रह के सेनानी रहे हैं। सन् '३४ में आपको काँग्रेस का राष्ट्रपति चुना गया था। १९४२ में 'क्विट इंडिया' आन्दोलन में आप जेल गए। इसके पूर्व ही सन् '३० से ३३ के बीच आप कई बार जेल जा चुके थे। '४२ में गिरफ्तार होने के बाद सन् '४३ में आप छोड़ दिये गये। '४५ में ही कैविनेट मिशन के साथ राय-मशवरा करने के लिए आप आये। ९ अगस्त १९४२ को आप जेल में थे। जेल में ही आपने ग्रन्थ लेखन का कार्य शुरू किया था और वहाँ रहते हुए आपने 'डिवाइडेड इडिया' में भारत की विभाजन-सम्बन्धी-भावनाओं को व्यक्त किया था। बाँकीपुर जेल में सन् १९४५ में १४ जून को यह कार्य समाप्त हुआ। 'इंडिया डिवाइडेड' सन् '४६ में ही प्रकाशित हुई। रामगढ़ काँग्रेस के संस्मरण भी आपने जेल में ही लिखे। १९४५ के १५ जून को आप छोड़ दिये गए। कैबिनेट मिशन के साथ जो बातचीत हुई, उसमें अन्तरिम केन्द्रीय सरकार की स्थापना की वात थी। १९४५ में शिमला कानफ्रेंस में आपने भाग लिया। २ सितम्बर १९४६ को अन्तरिम सरकार वनी जिसमें १२ मंत्री वनाये गये तथा आपको अन्न और खेती विभाग मिले। १९४५ में फसल ठीक नहीं हुई थी। वंगाल में भीषण अकाल '४३ में ही पड़ चुका था, ऐसे समय में यह बड़ा गुरुतर कार्य था। परन्तु आपने उसे वड़ी सूझ के साथ धैर्यपूर्वक

संभाला तथा देश के कष्ट को दूर किया। कन्सटीचुएन्ट असेम्बली के भी आप प्रेसिडेंट थे।

भारतीय गणतंत्र की स्थापना पर आप भारत के प्रथम राष्ट्रपति नियुक्त हुए। आपको दूसरी बार फिर राष्ट्रपति चुन लिया गया है। राष्ट्रपति के रूप में भी आपने अपने महान् त्याग का परिचय दिया है। अपने १० हजार के वेतन में से आपने स्वेच्छा से सिर्फ ५ हजार ही लेना कबूल किया। आप राजर्षि हैं। भारत के सर्वोच्च पद पर होते हुए भी अभिमान आपको छू नहीं गया है और आपके मन में स्नेह, एवं करुणा तो स्वाभाविक रूप में विद्यमान हैं। जब अनुग्रह बाबू रुग्ण होकर, शय्या पर पड़े हुए थे तो दिल्ली से आपने पटने आकर अपने स्नेह का परिचय दिया। उस समय आपके मन में तनिक यह अभिमान नहीं रहा कि आप भारत के राष्ट्रपति हैं। मिलनेवालों के साथ आप प्रेम से पेश आते हैं। आपके चेहरे पर एक अमित आभा तथा मुक्त हास्य है जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। धार्मिक विचारों में आपकी पूर्ण आस्था है। सादगी, सेवा, प्रतिभा तथा हृदय के सीधेपन में शायद कोई दूसरा आपकी बराबरी नहीं कर सकता।

अपने राष्ट्रपति पर जो महान् त्यागी हैं, देश के लिए हमेशा चिन्तित रहते हैं, भारत को बड़ा गर्व है। आपका व्यक्तित्व एवं चरित्र पठनीय एवं अनुकरणीय है। बिहार को अपनी इस विभूति पर गर्व है। आप देश के हर कोने में प्रसिद्ध हैं चाहे वह दक्षिण हो, चाहे वह आसाम का पूर्व प्रदेश हो या बम्बई अथवा शिमला की पार्वत्य उपत्यका हो। लोग अपने राष्ट्रपति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। गाँधीवादी दृष्टिकोणों में आपकी पूर्ण आस्था है तथा अब तक आप उनके सिद्धान्तों पर अमल करते रहे हैं।



महात्मा गांधी

'एक आलोक जाता रहा और वह सूर्य जो हमारे जीवन को गर्मी और प्रकाश देता था, डूब गया और हम ठंड और अंधकार में काँप रहे हैं।..... मैंने कहा वह प्रकाश जाता रहा, लेकिन मैंने गलत कहा; क्योंकि वह प्रकाश जिसने कि इस देश को आलोकित किया, कोई साधारण प्रकाश नहीं था। जिस प्रकाश ने इस देश को अनेक वर्षों में आलोकित किया है वह आनेवाले अनेक वर्षों तक इस देश को आलोकित करता रहेगा और एक हजार वर्ष बाद भी वह प्रकाश इस देश में दिखाई देगा और दुनिया उसे देखेगी और वह अनगिनत हृदयों को शांति देगा क्योंकि वह प्रकाश तात्कालिक वर्तमान से कुछ अधिक का प्रतीक था, वह जीवित और शाश्वत सत्यों का प्रतीक था और हमें ठीक मार्ग का स्मरण दिलाते हुए तथा इस प्राचीन देश को भूलों से बचाते हुए स्वतंत्रता की ओर ले जानेवाला था।.....'

इस पीढ़ी का सौभाग्य रहा है कि हम इस महान् व्यक्ति के सम्पर्क में आए। आनेवाले युगों में, अब से सैकड़ों, और संभवत: हजारों वर्ष बाद, लोग इस पीढ़ी का ध्यान करेंगे जब कि यह ईश्वरीय पुरुष इस धरती पर चलता था, और हमारा ध्यान करेंगे, जो कि चाहे जितने छोटे हों, उनके दिखाए हुए मार्ग पर और उस पवित्र धरती पर, जिस पर उनके पैर पड़े, चल सके हैं।'

ये शब्द गाँधीजी के उत्तराधिकारी प० जवाहरलाल नेहरू के हैं जो उन्होंने गाँधीजी की मृत्यु के बाद कहे थे।

गांधीजी भारत के राष्ट्रपिता ही नहीं, अपने काल के सबसे महान् पुरुष भी थे। उनका पूरा नाम मोहन दास करमचन्द गांधी था। उनका जन्म २ अक्टूबर १८६९ ई० (आश्विन कृष्ण १२, सं० १९२५ वि०) को काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान में, जो सुदामापुरी के नाम से भी प्रसिद्ध है, हुआ। मोहनदास जी इनके पिता थे और पुतली बाई माता।

प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुई। राजकोट के काठियावाड़ हाईस्कूल से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की। होनहार बिरवान के होत चीकने पात। चौथी कक्षा में ही गांधी जी के मन में प्रयोग की असाधारण चेतना उगने लगी थी। तब भारतीय विद्यार्थियों में यह बात प्रचलित थी कि अंग्रेज मांसाहारी होने के कारण लम्बे-तगड़े होते हैं और इसीलिए भारत पर शासन करते हैं। बालक गांधी ने सोचा कि यदि सभी भारतीय मांसाहारी हो जाएँ तो अंग्रेजों को पराजित किया जा सकता है। बस बालक मोहनदास, परिवार से अलग, क्योंकि परिवार विशुद्ध शाकाहारी था, एक गुप्त स्थान में मांस खाने लगे। पर एक साल बाद ही उन्होंने सदा के लिए मांस छोड़ दिया। जब मोहनदास १५ वर्ष के थे तब एक और घटना घटी। उन्होंने जाने किस प्रेरणा से सोने की एक चीज चुरा ली। जब उन्हें इसका बोध हुआ तो उन्होंने लिखकर पिता से अपना अपराध स्वीकार किया, उचित सजा दें का आग्रह किया और कभी न चोरी करने की प्रतिज्ञा की। जब पिता ने बेटे की वह चिट्ठी पढ़ी तो उनके गाल आँसुओं से तर हो गए। मोहनदास भी रोने लगे। गांधी जी ने लिखा है कि 'प्रेम के मोती की इन बूँदों ने मेरे हृदय को निर्मल कर दिया और मेरे पाप को धो दिया। मेरे लिए अहिंसा का पहला-पाठ था।'

तत्कालीन प्रथा के अनुसार १३ वर्ष की उम्र में ही गांधी जी की शादी कस्तूर बाई से हो गई। गांधी जी ने स्वयं लिखा है कि तब मेरे लिए इस विवाह का मतलब अच्छे कपड़े पहनने, ढोल बजने, बारात निकलने और एक अपरिचित लड़की के संग खेलने की सम्भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

गांधी जी १८८८ में इङ्गलैण्ड गए और बैरिस्टर बन कर १८९१ में लौटे तथा पोरबन्दर एवं बम्बई में बैरिस्टरी शुरू की। १८९३ में अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी के काम से दक्षिण अफ्रिका गए। गांधी जी का राजनैतिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है।

दक्षिण-अफ्रिका में हिन्दुस्तानियों का एक अच्छा खासा समाज बस गया था। पर गोरी अंग्रेजी सरकार इन भारतीयों को तरह-तरह से तंग करती थी। गोरे-काले का बड़ा भेद था। हिन्दुस्तानियों को बिना पास के यात्रा करने की और नौ बजे रात के बाद घूमने की इजाजत नहीं थी। रेल के पहले और दूसरे दर्जों में बैठने की तथा सार्वजनिक उद्यानों में आने-जाने की इन्हें आजादी नहीं थी। ट्राम से वे ढकेल दिए जाते थे, होटलों से निकाल दिए जाते थे। अंग्रेज उन्हें कुली कहा करते थे। गरज यह कि उनके साथ हर तरह से अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। गांधी जी के साथ भी ऐसा ही बर्ताव हुआ। गांधी जी ने ऐसे व्यवहार के विरोध में एक प्रबल जनमत का संगठन किया। हिन्दुस्तान के तत्कालीन कांग्रेसी नेता तिलक, गोखले और माता एनी बेसेंट से मिले तथा कांग्रेस में शरीक हुए। लौटकर फिर अफ्रिका गए। तभी गांधी जी तथा अन्य भारतीयों के विरोध करने पर भी 'काला कानून' (**Black Act**) नामक एक जहरीला कानून पास हो गया। अफ्रिका में इसके विरोध में भारतीयों की एक सभा हुई जिसके सारे काम हिन्दी, गुजराती, तमिल, और तेलगू में हुए। तय हुआ कि इस कानून को कोई भी भारतीय स्वीकार नहीं करेगा चाहे इसके लिए उसे कितना भी कष्ट सहना पड़े। यह 'काला कानून' (**Black Act**) १ जुलाई १९०७ से लागू होनेवाला था और इसके अनुसार सभी भारतीयों को ३१ जुलाई तक अपने पंजियन (**Registration**) के लिए आवेदन दे देना था। बस आन्दोलन छिड़ गया। गांधी जी नेता थे। उन्होंने इस आन्दोलन को अस्थायी रूप से **Passive resistance** का नाम दिया और घोषणा की कि सर्वश्रेष्ठ नाम देनेवाले को पुरस्कार दिया जाएगा। तब मगनलाल गांधी ने 'सदाग्रह' शब्द गढ़ा और पुरस्कृत हुए। पर अधिक स्पष्ट करने के लिए गांधी जी ने इसे 'सत्याग्रह' (जिसमें सत्य और प्रेम का बल हो) कर दिया। इस समय तक गांधी जी की बैरिस्टरी चमक उठी थी और उनकी मासिक आमदनी दस हजार रुपये के लगभग पहुँच चुकी थी। पर जब सत्याग्रह छिड़ा तो उन्होंने बैरिस्टरी सदा के लिए छोड़ दी और सदा के लिए फकीरी की जिन्दगी

अपना ली। गांधी जी को दो महीने कैद की सजा मिली। जीवन में नया अनुभव मिला। नया दौर शुरू हुआ। फिर तो भारतीयों से दक्षिण अफ्रिका के जेल भरने लगे। गांधी जी छूटे और फिर गिरफ्तार हुए। पहले दो महीने की कड़ी कैद और फिर नौ महीने की सजा मिली। इसी बीच उन्होंने एक सत्याग्रह-आश्रम भी चलाया जिसमें सत्याग्रहियों के परिवार रहते थे। सभी निरामिष। नशा बंद। सब काम करते। एक दूसरे के बाल भी काटते। गांधी जी खुद लड़कों को पढ़ाते। कभी किसी लड़के को पीटते नहीं। केवल एक बार गुस्से में एक लड़के की बाँह पर एक रूल मारा था जिसका उन्हें जीवनभर अफसोस रहा। आखिर सत्याग्रह सफल हुआ।

दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह की एक और बात स्मरणीय है। बात १९१० की है। तब गांधी जी दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह करने के कारण अपने साथियों के साथ कैद थे। जेल में काले कैदी भी थे और गोरे भी। एक दिन जेलर ने कालों को गोरों से अलग करने के लिए एक खास किस्म की उजली टोपी बनवाई और सबसे पहले गांधी जी को दी। गांधी जी को इस टोपी पर इतना अभिमान हो गया कि जेल से निकलने पर भी उसे पहनते रहे। तब इसका नाम 'गांधी टोपी' पड़ गया। आगे चलकर गांधी जी ने तो टोपी पहनना छोड़ दिया पर उसके पहननेवालों की सख्या करोड़ों की हो गई।

दक्षिण अफ्रिका की विजय के बाद गांधी जी १९१५ में भारत आए। सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। १९१६ की लखनऊ-कांग्रेस एक ऐतिहासिक घटना है जिसमें गांधी जी और जवाहरलाल नेहरू पहली बार मिले थे। गांधी जी देश का दौरा करने लगे। खुफिया पुलिस पीछा करने लगी। तभी १९१७ में चम्पारण-सत्याग्रह हुआ जो भारत के इतिहास का पहला गांधीवादी सत्याग्रह है और है भारत में गांधी-युग के आरम्भ की पहली अँगड़ाई।

चम्पारण उत्तरी बिहार का एक जिला है। यहाँ कुछ गोरों ने बेतिया महाराज आदि से जमीन के बड़े-बड़े इलाके अपने हाथों में ले लिये और वहाँ के किसानों से अपने लिए नील की खेती करवाई। बड़ी आमदनी हुई।

नील के अनेक कारखाने खुले। रिवाज के अनुसार प्रत्येक किसान को अपने अच्छे से अच्छे तीन कट्ठे खेत में नील बोना अनिवार्य था। यह निराली प्रथा 'तीन कठिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इससे किसानों को कोई लाभ न था क्योंकि मजदूरी नाममात्र को मिलती थी। पर कोई शिकायत नहीं कर सकता था। यदि किसानों ने जीभ खोली तो उसे पिटवा देना, उसे मुर्गीखाने में बन्द कर देना, उसके मकान लूट लेना, अछूतों को उसके घर पर बिठा देना, उसके नाई, धोबी, चमार बन्द करा देना आदि निलहे गोरों के लिए मामूली बात थी। फिर ५० तरह के नजराने वसूल किए जाते। यदि साहब हवाखोरी के लिए पहाड़ पर जाते तो किसानों को 'पहाड़ही' नामक नजराना देना पड़ता। यदि साहब को सवारी के लिए घोड़ा चाहिए तो किसानों को 'घोड़ाही' नामक लगान देना पड़ता। यदि हाथी या हवागाड़ी चाहिए तो 'हथियाही' या 'हवाई' देना होता। गरज यह कि निलहे कोठीवालों का हर खर्च किसानों के माथे पड़ता। पर बीसवीं सदी के आरम्भ में नकली नील के आविष्कार ने असली नील की खेती को भारी धक्का दिया। नील के कारखाने बन्द होने लगे। किन्तु मनचले गोरों ने इस घाटे को भी किसानों के माथे मढ़ दिया। इन्होंने किसानों को तीन कठिया की कैद से रिहा कर दिया और वदले में उनकी लगान की दर बढ़ाकर 'शहरबेशी' के नाम से जबरदस्ती इकरारनामे लिखवाये या 'तमान' के नाम से नकद रुपए वसूल किए। इस प्रकार इन निलहे गोरों ने किसानों से करीब १२ लाख रुपए वसूल किए। हाहाकार मच गया। मगर इसी हाहाकार से हमारी आजादी का एक नया अध्याय भी खुला। जिस बिहार में गज की पुकार पर भगवान् आए थे उसी बिहार में किसानों की पुकार पर गांधी आए। १० अप्रेल को गांधी जी पटना आए और पहली बार राजेन्द्र बाबू से मिले। १६ अप्रेल को हाथी पर चढ़कर मोतिहारी पहुँचे। १९१७ की जिस रात को गांधी जी चम्पारण के मुख्य स्थान मोतिहारी पहुँचे वह निलहे गोरों के अत्याचार की आखिरी रात थी। साथ में थे बिहार के दो महान् भावी नेता बाबू राजेन्द्र प्रसाद और बाबू अनुग्रह नारायण सिंह। सरकार के कान खड़े हुए। शांति-

भंग के नाम पर गांधी जी को दफा १४४ की नोटिस मिली और उन्हें पहली लौटती गाड़ी से चम्पारण से बाहर जाने का हुक्म मिला। गांधी जी ने हुक्म नहीं माना और तुरन्त काम में जुट गए। उन पर दफा १४४ भंग करने का मुकदमा चला। बड़ी सनसनी फैली। आखिर सरकार ने मुकदमा उठा लिया। यह गांधी जी की सविनय अवज्ञा का हिन्दुस्तान में पहला दृश्य था और पहली सफलता थी। २० हजार किसानों के बयान लिए गए। सरकार को झुकना पड़ा। किसानों का बढ़ा लगान कम कर दिया गया। तमान में वसूल किए गए नकद रुपयों का एक हिस्सा लौटा दिया गया। 'तिन कठिया' की प्रथा सदा के लिए उठा दी गई।

गांधी जी का यश फैल गया। दूसरे साल पुकार आई गुजरात के खेड़ा जिले से। १९१८ में यहाँ अकाल पड़ गया। गरीब किसानों ने दरखास्त दी कि उनका लगान स्थगित कर दिया जाय। पर कौन सुनता है। सारे उपाय बेकार हो गए। तभी आए गरीबों के भगवान् गांधी जी। उन्होंने सत्याग्रह का मंत्र दिया और स्वयंसेवक बनने को ललकारा। उनकी ललकार पर जो व्यक्ति सबसे पहले स्वयंसेवक बननें को आगे बढ़े वे थे सरदार वल्लभ भाई पटेल, जो आगे चलकर भारतीय राजनीति के लौहपुरुष हुए। फिर तो सत्याग्रहियों का हुजूम उमड़ आया। लगान-देना बन्द कर दिया गया। अद्भुत प्रयोग था। बहुत लोग गिरफ्तार हुए। अंत में किसानों की विजय हुई। लगान स्थगित कर दिया गया। गांधी जी देश पर छा गए।

इसी साल गांधी जी ने सत्याग्रह का तीसरा प्रयोग अहमदाबाद में किया जहाँ मिल-मालिक और मजदूरों में झगड़ा हुआ था। अहमदाबाद का वह पेड़ आज भी पवित्र माना जाता है जिसके नीचे गांधी जी ने मजदूरों से सत्याग्रह की प्रतिज्ञा करवाई थी। भारत में साक्षात् गांधी-युग आ गया।

१९१९ में रौलट-एक्ट नामक काला कानून बना जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को सन्देह पर गिरफ्तार और नजरबन्द किया जा सकता था और लगातार जेल में रखा जा सकता था। क्रांतिकारियों से अपील करने का हक

भी छीन लिया गया था। इस कानून के विरोध में गांधी जी ने इसमें पहला सार्वजनिक सत्याग्रह-युद्ध छेड़ा ६ अप्रेल १९१९ को। गांधी जी गिरफ्तार हुए। बड़ी उत्तेजना फैली। कई जगह गोलियाँ चलीं। अनेक लोग शहीद हुए। सबसे बड़ा कांड हुआ अमृतसर के जालियाँवालावाग में जहाँ एक शांत सभा पर अचानक सोलह सौ फायर किये गये और जिसमें ४०० आदमी मरे तथा दो हजार घायल हुए थे। कांग्रेस ने एक जाँच-समिति बनायी। गांधी जी ने थोड़े समय के लिए सत्याग्रह स्थगित कर दिया। पर कुछ ही महीनों बाद १९२० में सत्याग्रह (असहयोग-आन्दोलन) का डंका फिर बजा। इस बार का सत्याग्रह पंजाब के अत्याचारों के साथ ही खिलाफत के प्रश्न को लेकर उठा था। तुर्की के सुलतान यानी खलीफा के अपमान के विरुद्ध होने के कारण यह खिलाफत-आन्दोलन कहलाया। बड़े जोर का आन्दोलन हुआ। २०-२१ के असहयोग-आन्दोलन में लगभग ५० हजार आदमी जेल गए। तभी गोरखपुर के निकट चौरी-चौरा नामक स्थान में एक उत्तेजित भीड़ ने २१ सिपाहियों और एक दारोगा को थाने में बन्दकर आग लगा दी। सब जल मरे। इस घटना से मर्माहत होकर गांधी जी ने असहयोग-आन्दोलन स्थगित कर दिया। अनेक नेताओं ने इसके लिए गांधी जी की आलोचना भी की किन्तु धीर-वीर गांधी ने कुछ नहीं कहा। एक तूफान आया और निकल गया। गांधी पर्वत की तरह अचल रहे। पर सरकार से यह देखा न गया। गांधी जी पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें ६ वर्षों की सजा दी गई। १९२४ में जब अनेक जगह हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए तब गांधी जी ने, जो बीमारी के कारण जेल से छोड़ दिए गए थे, साम्प्रदायिक दंगे रोकने के लिए २१ दिनों का उपवास किया। १९२९ की लाहौर-कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया और ३१ दिसम्बर की आधीरात को पूर्ण स्वतंत्रता का झंडा फहराया। २६ जनवरी १९३० को देशभर में स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। नयी धूम मची। दमन का चक्र भी तेज हुआ। तब सबसे बड़ी घटना हुई। गांधी जी ने करो या मरो का व्रत लिया। फरवरी में साबरमती-आश्रम में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक हुई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का निश्चय हुआ

ग्रौर समस्त भारतवासियों से ग्राग्रह किया गया कि वे लाभ-हानि छोड़कर स्वतंत्रता के इस ग्रंतिम संग्राम में कूद पड़ें।

यह ग्रंतिम ग्रान्दोलन कैसे शुरू हो? तभी गांधी जी की ग्रन्तर्वाणी सुनाई पड़ी। नमक-कानून भंग हो। फिर तो भारतवर्ष के समूचे वातावरण में नमक ही नमक छा गया। गांधी जी ने निश्चय किया कि सावरमती-ग्राश्रम से पैदल चलकर दाण्डी में वे नमक कानून तोड़ेंगे। दाण्डी सावरमती से दो सौ मील दूर समुद्र के किनारे बसा एक गाँव है। १२ मार्च १९३० को गांधी जी की ऐतिहासिक दाण्डी-यात्रा शुरू हुई। साथ में थे सावरमती के तपे-तपाये ७५ साथी। लगता था कि राम लंका से सीता लाने चले है गांधी जी हाथ में एक लम्बी लाठी लिए बड़ी तेजी से चल रहे थे। उनकी सेना करीने से पीछे-पीछे जा रही थी। दोनों ग्रोर जय-जयकार करनेवालों की ग्रपार भीड़। ग्राकाश 'गांधी जी की जय' के नारों से गूँजता रहता।

पहले तो नौकरशाही को मामूली नमक के लिए यह यात्रा मजाक-सी लगी पर तुरंत ही इस जादूगर की लकड़ी का ग्रसर मालूम होने लगा। गांधी जी ने घोषणा की—'स्वराज्य नहीं मिला तो या तो रास्ते में मर जाऊँगा या ग्राश्रम के बाहर रहूँगा। नमक न उठा सका तो ग्राश्रम लौटने का इरादा भी नहीं है।' गांधी जी ने रास्ते में कहा—'....मुझे भिक्षांदेहि की राजनीति में विश्वास था। पर यह सब व्यर्थ हुग्रा। मैं जान गया कि सरकार को सीधा करने का यह उपाय नहीं है। ग्रब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है। हम किसी को मारना नहीं चाहते, किन्तु सत्यानाशी इस शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्त्तव्य है।' गांधी जी की इस पद-यात्रा में २४ दिन लगे। इसके बीच गांधी जी के भाषणों का देश पर विचित्र ग्रसर हुग्रा। सारा देश जैसे प्रेरणाग्रों से भर गया। मोतीलाल नेहरू ने ग्रपना ग्रानन्द-भवन कांग्रेस को दान दे दिया। बहुत लोगों ने सरकारी नौकरियाँ छोड़ दीं। देश नमक कानून तोड़ने को ग्राकुल हो गया। ५ ग्रप्रैल को गांधी जी दाण्डी पहुँचे ग्रौर समुद्र के किनारे से नमक उठा लिया। तब

गांधी जी ने अन्य लोगों को भी नमक-कानून तोड़ने की अनुमति दे दी। फिर क्या था। ६ अप्रैल से देश में धड़ाधड़ नमक-कानून टूटने लगा। एक छोर से दूसरे छोर तक आग लग गई। सभाओं में लाखों की उपस्थिति मामूली बात हो गई। पेशावर, कलकत्ता, मद्रास और शोलापुर में भयंकर दमन हुआ। गांधी जी ने सूरत जिले के धारासना और छरसाड़ा के नमक-कारखानों पर धावा बोलने का इरादा किया, तब सरकार ने गांधी जी को एक बजे रात में चुपके से गिरफ्तार कर यरवदा जेल पहुँचा दिया। लगा कि भगवान् का एक दूत हिरासत में ले लिया गया। देश भर में हड़ताल हुई। लाठियाँ बरसीं। गोलियाँ चलीं। इस आन्दोलन में लगभग ९० हजार आदमी जेल गए। गांधी-इरविन समझौता हुआ। सत्याग्रही कैदी छोड़ दिए गए। नमक-कानून एक हद तक उठा लिया गया। तय हुआ कि भारत का भाग्य-निर्णय करने के लिए इङ्गलैण्ड में एक गोल-मेज-परिषद् हो और गांधी जी कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उसमें शरीक हों। गांधी जी लंदन गए। लंदन में गांधी जी ने अपने निवास के लिए गरीबों का एक मुहल्ला चुना। वहाँ के लड़के गांधी जी से घुलमिल गए और इन्हें 'चाचा गांधी' कहते। लेकिन परिषद् में सफलता नहीं मिली। वह तो एक चाल थी। उस परिषद् में भेद-नीति का पुराना ढंग अपनाया गया और अछूतों को हिन्दुओं से अलग प्रतिनिधित्व देने तथा अलग जाति मानने की बात उठायी गई। बस बात बिगड़ गई। गांधी जी ने कहा—'किसी ऐसे प्रस्ताव या योजना पर, जिससे कि खुली हवा में पैदा होनेवाला आजादी और उत्तरदायी शासन का वृक्ष कभी न पनप सकेगा, अपनी सहमति प्रकट करने की अपेक्षा कांग्रेस चाहे कितने वर्ष जंगल में भटकना स्वीकार कर लेगी।' परिषद् भंग हो गई। गांधी जी लौट पड़े। इधर हिन्दुस्तान में गांधी-इरविन समझौते के सारे वादे तोड़ दिए गए और देश के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। ऐसी ही परिस्थिति में गांधी जी २८ दिसम्बर १९३१ को बम्बई उतरे। चारों ओर अत्याचार का राज्य था। उनके अनमोल साथी जेल में थे। गांधी जी ने सविनय आन्दोलन फिर से जारी करने की घोषणा की। वे गिरफ्तार कर

लिए गए। पर आन्दोलन चलता रहा। १९३२-३३ का आन्दोलन हर मानी में एक जन-आन्दोलन था।

१९३४ में जब बिहार में प्रलयंकर भूकम्प हुआ तब गांधी जी खुद बिहार आए और महीने भर रहे। इसी स .य राँची और पटना में कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई तथा असेम्बलियों के लिए चुनाव लड़ने का निश्चय हुआ। चुनाव में कांग्रेस को बड़ी सफलता मिली।

अंतिम आन्दोलन १९४२ में हुआ। तब तक द्वितीय महायुद्ध भारत के दरवाजे पर आ गया था। तब सरकार की आँख खुली। ब्रिटिश सरकार की ओर से सर स्टैफर्ड क्रिप्स समझौता करने भारत आए। ब्रिटिश सरकार की ओर से यह एलान किया गया कि युद्ध के बाद भारत की स्वतंत्रता को वह स्वीकार करेगी किन्तु युद्ध-काल में स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग उसने स्वीकार नहीं की। गांधी जी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए एक ऐतिहासिक वाक्य कहा कि 'यह तो दिवालिया बैंक पर बाद की तारीख की हुंडी है।' एक अजीब संकट का वातावरण आया। चारों ओर अंधेरा। युद्ध के तूफान, देश की नाव डगमग। पर एक आशा थी कि मांझी पुराना और अद्वितीय था। विश्वास का एक ही आधार था—महात्मा गांधी। गांधी जी एक नयी भूमिका में आ गए थे। उन्होंने कहा—'इस बार मैं मांगकर जेल जानेवाला नहीं हूँ।.....अबकी बार मेरा इरादा है कि आन्दोलन जहाँ तक हो सके शीघ्र और तीव्र किया जाय।.....अब की बार हम कहीं पर भी नहीं रुकेंगे, आगे बढ़ते जायेंगे, इसकी परवाह नहीं करेंगे कि चौरीचौरा हो या शोलापुर हो।' बम्बई में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक हुई। आन्दोलन का निश्चय हुआ। बागडोर गांधी जी के हाथों में दी गई। सेना-नायक राष्ट्रपिता गांधी जी ने कहा—

'अब क्या करना है, वह सुना दूं।....मैं नमक की सुविधा या शराब-बन्दी लेने नहीं जा रहा हूँ। मैं तो एक ही चीज लेने जा रहा हूँ—आजादी। नहीं देना है तो कत्ल करे। मैं वह गांधी नहीं जो बीच में कुछ चीज लेकर आ जाय। आपको तो मैं एक मंत्र देता हूँ—करो या मरो।'

गांधी जी उसी रात यानी आठ अगस्त की रात को २ बजे गिरफ्तार कर लिए गए। अन्य नेता भी गिरफ्तार कर लिए गए। पर भीषण आन्दोलन चला। दमन की तो सीमा ही न थी। १५ हजार आदमी तो केवल गोलियों से मरे। कहीं-कहीं हिंसा का जवाब हिंसा से भी दिया गया था। इसके प्रायश्चित्त में गांधी जी ने १० फरबरी १९४३ से २१ दिनों का अनशन किया। २१ फरबरी को तो नाड़ी छूट गई थी। पर वे बच गए। डाक्टरों ने इसे दैवी चमत्कार कहा। जेल में माता कस्तूरबा की मृत्यु हो गई। इसके बाद गांधी जी जेल से छोड़ दिए गए। अन्य नेता भी छूटे। समझौता हुआ। जवाहरलाल ने केन्द्र में अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार बनाई। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी लड़ाई' का आन्दोलन चलाया। कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब में भीषण दंगे हुए। गांधी जी ने कहा कि अगर बिहार में दंगे शान्त नहीं हुए तो मैं आमरण अनशन कर दूंगा। बिहार शान्त हो गया। एक भी दंगा बाद को नहीं हुआ। गांधी जी नोआखाली गए। उन्होंने जान की बाजी लगाई और कहा कि 'जिस कार्य में मैं यहाँ लगा हूँ, सम्भव है वही मेरा अन्तिम कार्य हो। यहाँ से यदि जीवित और अक्षत लौटा तो मेरा यह पुनर्जन्म होगा। मेरी अहिंसा की परीक्षा जैसी यहाँ हो रही है, वैसी कभी न हुई थी।.... मैं यहाँ अपने कुछ नए प्रयोग करूँगा। ....मैं अकेले गाँवों का भ्रमण करूँगा।... मेरा उद्देश्य यहाँ एक महीने तक रहकर अपने जीवन के महान् ध्येय साम्प्रदायिक एकता के लिए अन्तिम प्रयत्न करने का है। यदि आवश्यक हुआ तो अपनी जान भी दे दूंगा।'

गांधी जी के ये शब्द सत्य हो गए। उनका उद्देश्य सिद्ध हो गया। साम्प्रदायिक दंगे शान्त हो गए। वे जहाँ जाते हिन्दू और मुसलमान दोनों धन्य हो जाते। पर इसी प्रयोग में गांधी जी के प्राण भी गए। ३० जनवरी १९४८ (माघ कृष्ण ५, शुक्रवार २००४ वि०) को संध्या सवा पाँच बजे, दिल्ली में, प्रार्थना-सभा में जाते समय नाथूराम गोडसे नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने गांधी जी को गोली मार दी। गांधी जी 'राम राम' कहते हुए सदा के लिए सो गए।

गांधी जी ने कभी कहा था—'मैं उस भारत के लिए कार्य करूँगा जिसमें गरीब से गरीब आदमी भी अनुभव करेंगे कि यह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी प्रभावपूर्ण आवाज होगी, जिसमें लोगों की ऊँची और नीची श्रेणियाँ नहीं होंगी, जिसमें सभी जातियाँ परस्पर मेल से रहेंगी . . . । उस भारत छुआछत अथवा नशीली चीजों का अभिशाप नहीं रहेगा . . . । औरतों को मर्दों के समान ही अधिकार मिलेंगे . . . . । यही मेरे सपनों का भारत है।'

भारत स्वतंत्र हो गया है। पर क्या हम अभी तक राष्ट्रपिता के सपनों को साकार कर सके हैं ?

——o——